विश्व-इतिहास

(प्राचीन काल)

डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी

तृतीय संस्करण – 1988

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

हिन्दी समिति-ग्रन्थमाला—५४

विश्व-इतिहास

(प्राचीन काल)

लेखक

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी

भूतपूर्व उपकुलपति, सागर विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

विश्व-इतिहास

प्रथम संस्करण	1962
द्वितीय संस्करण	1968
तृतीय संस्करण	1988

मूल्य रु० 75

मुद्रक:—
ज्ञान सिक्योरिटी प्रेस (प्रा०) लि०
बी० एन० रोड चौलक्खी
लखनऊ 226001

प्रकाशकीय

इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी जी द्वारा रचित "विश्व-इतिहास (प्राचीन काल)" का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् 1962 ई० मे उत्तर प्रदेश शासन की तत्कालीन हिन्दी समिति द्वारा किया गया था।

उसके बाद सन् 1968 ई० मे उसी समिति के द्वारा इस ग्रन्थ का द्वितीय सस्करण प्रकाशित किया गया था।

फिर सन् 1977 मे वह समिति इस सस्थान मे विलीन कर दी गई। इधर इस ग्रन्थ का वह द्वितीय सस्करण भी समाप्त हो गया और इस पुस्तक की मांग बढती गई। अतः अब इस सस्थान के तत्त्वावधान मे इस ग्रन्थ का यह तीसरा सस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

हिन्दी समिति के तत्कालीन सचिव श्री लीलाधर शर्मा "पर्वतीय" ने द्वितीय संस्करण को प्रकाशित करते समय ये शब्द अंकित किये थे -

"इसके लेखक समिति के भूतपूर्व तथा प्रथम अध्यक्ष डॉ० राम प्रसाद त्रिपाठी हैं। आप इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान और अपने विषय के मर्मज्ञ है। आप ने प्राचीन जगत की प्रतापी हिट्टी, मिट्टनी, असीरियाई, मिस्री, यहूदी, सुमेरियन, सिन्धुघाटीय, आर्य- ईरानी, रोमन, यूनानी तथा चीनी मानव-जातियो के क्रम-विकास का थोड़े मे वर्णन कर गागर मे सागर भरने का सफल प्रयास किया है।"

दुर्भाग्यवश डॉ० त्रिपाठी जी इस बीच असार ससार से विदा लेकर परम पिता परमात्मा की शरण मे चले गये है। अतः उनकी पुनीत स्मृति मे श्रद्धा के ये पुष्प अर्पित करते हुये इस ज्ञानवर्धक ग्रन्थ का यह तीसरा सस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

मुझे आशा और विश्वास है कि इस ग्रन्थ को पहले से भी अधिक लोकप्रियता मिलेगी और इस का सर्वत्र स्वागत होगा।

लखनऊ
5 अप्रैल, सन् 1988 ई०

भक्त दर्शन
कार्यकारी उपाध्यक्ष,
उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान
लखनऊ

विषय-सूची

प्राक्कथन

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक आदि घटनाओं तथा प्रवृत्तियों के समन्वय से इतिहास की रूपरेखा बनती है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि एक अग का भी अभाव होने से इतिहास विकृत-सा हो जाता है। उपर्युक्त मानवीय व्यापारों की उत्पत्ति और उनका विकास प्रत्येक देश, प्रदेश, भूमि-भाग आदि की भौगोलिक स्थिति के अनुसार होता है। प्रकृति और मानव की क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ से इतिहास का विकास होता है। साधारण पाठको के लिए संक्षिप्त, सुलभ और छोटे आकार मे छः सहस्र वर्षो के इतिहास का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना एक प्रकार का दु साहस है। इसी कठिनाई से बचने के लिए लेखक इतिहास के एक अग का ही वर्णन करना सतोषजनक समझते हैं। किन्तु अंग-विशेष के सूक्ष्मतम वर्णन से भी व्यक्ति का स्वरूप मूर्तिमान् नही होता, उसी प्रकार मानव-व्यापार के किसी विशेष अग के वर्णन से इतिहास का स्वरूप प्रकट नही होता। लाचार, छोटे चित्र के भी निर्माण करने के लिए इतिहास के मुख्य अंगो की उपेक्षा नही की जा सकती। स्थान तथा समय के अभाव मे यह अनिवार्य हो गया कि ऐतिहासिक प्रवाह की मोटी तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओ और विषयों पर ही ध्यान रखा जाय। और जहाँ कही उचित हो ऐसे सकेत कर दिये जायँ जिनसे पाठको की कल्पना एव उत्सुकता को कुछ उत्तेजना प्राप्त हो और उन्हे अधिक जानने की प्रेरणा हो।

पुरातन इतिहास से सम्बन्धित नवीन सामग्री कभी कभी निकलती रहती है, जिससे प्रचलित विचारो मे काट-छाँट होती जाती है। कभी कभी नये दृष्टिकोण भी उपस्थित हो जाते हैं। अत. यह आवश्यक हो जाता है कि यदि हो सके तो प्रति पाँच या दस वर्ष के बाद पुरातन इतिहास की पुस्तक का सस्कार होता रहे। फिर भी मोटी तथा मुख्य घटनाओ की रूपरेखा मे आमूल परिवर्तन बहुत कम पाया जाता है।

विभिन्न भाषाओ और देशो के शब्दो का ठीक-ठीक उच्चारण तथा लेखन यों भी बड़ा कठिन है। पुरातन और प्राचीन देशो तथा भाषाओ का तो दुस्तर-सा है। इस समस्या के हल करने का कोई रास्ता न पाने के कारण उन सज्ञाओं और

शब्दो के लिए अँगरेजी भाषा के ही उच्चारण का प्रायः अनुकरण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना मे अनेक लेखो तथा ग्रन्थो का आश्रय लिया गया है। सामग्री के चुनने और उसका मूल्यांकन करने मे लेखक ने यथासभव अपनी समझ-बूझ से काम लिया है। सब स्रोतो का वर्णन छोटे-से ग्रंथ मे असंभव है। अतः जिन लेखको तथा ग्रन्थो का अवलम्ब लिया गया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करके सन्तोष करना ही व्यावहारिक उपाय जान पड़ता है।

हिन्दी समिति की पूर्व योजना के अनुसार ससार के मध्य तथा आधुनिक युगो के इतिहास को दो भागो मे प्रकाशित होना चाहिए। यदि आयु तथा स्वास्थ्य ने साथ दिया तो मध्ययुग (ईसा की ४०० से १६०० शती) का इतिहास लिखने का प्रयत्न हो सकेगा, अन्यथा प्रस्तुत ग्रन्थ से ही सतोष प्राप्त करना पड़ेगा।

—रामप्रसाद त्रिपाठी

भूमिका

सृष्टि का आरम्भ

सृष्टि का आरम्भ कब हुआ ?

सृष्टि का आरम्भ कब और कैसे हुआ, इतिहास नही जानता। यह विषय उसके क्षेत्र का नही। विज्ञान के अन्य शास्त्र इस पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करते है। इतिहास यह भी नही जानता कि आदिम मनुष्य पृथ्वी पर कब और कैसे उत्पन्न हुआ। जन्तु-विज्ञान एवं मानव-विज्ञानवेत्ता कहते है कि विकास-सिद्धात के अनुसार मनुष्य का आविर्भाव ऊँची नस्ल के वानरो से हुआ। मनुष्य वस्तुतः वानर का सर्वोत्तम विकसित रूप है। वानर का इतना परिष्कार हुआ कि वह अपनी कोटि से एक प्रकार से बाहर निकलकर दूसरी कोटि मे चला गया। यद्यपि मूलतः ढाँचा वही है तथापि शरीर की बाहरी रूपरेखा तथा मस्तिष्क की रचना में क्रान्तिकारी विभिन्नता है। मनुष्य की विशेषताएँ इतनी अधिक और महत्त्व-पूर्ण है कि उसकी किसी समय अक्षरशः मनुष्य होने की कल्पना दुष्कर ही नही, वरन् उपहासजनक प्रतीत होती है। उक्त सिद्धान्त पर विज्ञानवादी जितना जोर डालते है उतना ही उसका विरोध विभिन्न धर्मावलम्बी करते है। इस शती के लगभग पचास वर्ष से दोनों दलो में बहस होती रही है। धर्मावलम्बी प्रायः यही विश्वास करते है कि ईश्वर ने मनुष्य की वैसी ही स्वतंत्र कोटि बनायी है जैसी विभिन्न पशु-पक्षियो की, अस्तु।

मानव की उत्पत्ति

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आदिम मनुष्य का आविर्भाव कहाँ और कब हुआ। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि मनुष्यरूप में उसकी उत्पत्ति अफ्रीका मे हुई। मेकइन्स ने उस क्रान्किारी घटना का रंगमंच यूगाण्डा और केनिआ को निर्धारित किया, क्योकि आज भी वहाँ पुच्छहीन नराकार वानर मिलते है। सवा करोड़ वर्ष पूर्व अफ्रीका, अरब तथा भारत परस्पर मिले हुए थे, क्योकि उस समय लाल

सागर का अस्तित्व ही न था। अतः अफ्रीका से एशिया और वहाँ से यूरोप जाना सम्भव था। इसी मत का पोषण करते हुए सर आर्थर कीथ ने एक नया सुझाव दिया है। उन्होने जलवायु, ऋतु आदि का विचार कर, एक काल्पनिक रेखा खीची जिसका एक छोर अफ्रीका का पश्चिमी तट है। सहारा रेगिस्तान की उत्तरी सीमा छूती हुई वह पूर्व की ओर अरब होकर हिमालय के पश्चिमी भाग से मिल जाती है और उसके सहारे-सहारे बर्मा और चीन होकर फिलीपाइन द्वीपसमूह के पास रुक जाती है। (कीथ की धारणा, कवि कालिदास की उक्ति "..... हिमालयो नाम नगाधिराजः। पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थित. पृथिव्या इव मानदण्डः" से मेल खाती है।) उपर्युक्त रेखा से उत्तर के लोगो की खाल का रग निखरता हुआ धीरे-धीरे पीत अथवा श्वेत हो गया। किन्तु रेखा के दक्षिणी भू-भाग के निवासियो का रग हलके साँवले से नितान्त कृष्णवर्ण हो गया।

उपर्युक्त रेखा के उत्तरी भाग को कीथ ने फिर दो हिस्सों मे विभक्त किया। इस विभाजन की रेखा हिमालय के पश्चिमी कोने से लेंपलैंड तक जाती है। वह हिमालय के उत्तरी और पूर्वी भूभाग को, जिसे सिन (चीन) कहते हैं, पृथक् करती है। उसके पश्चिमी भाग मे जिनका जन्म और सवर्धन हुआ उन लोगो को काकेशियन और जिनका उत्तरी और पूर्वी भाग मे हुआ उनको मगोलियन अथवा चीनी नाम से सम्बोधित किया गया। हिमालय से पश्चिमोत्तर की ओर जानेवाली उपर्युक्त रेखा से निकलकर कुछ समूह फारस, भारत, पश्चिमी एशिया तथा अरब तक जा वसे। उसी प्रकार पूर्वी दक्षिणी भाग के लोग मलय द्वीपसमूह तक फैल गये। अरब और फारस मे उत्तरी और दक्षिणियों के संमिश्रण से उत्पन्न साँवले और काले रंग के लोग अरब, फारस मे भी पाये जाते हैं। काकेशियनो के आने के पूर्व श्याम वर्ण के ही लोग दक्षिणी अरब (फारस के अरविस्तान), बलूचिस्तान (ब्रहुई लोग) तथा भारत मे (द्रविण लोग) फैले हुए थे। दक्षिणी भारत के द्रविणों की रूपरेखा अफ्रीका के हेमेटिक लोगों से मिलती-जुलती है।

साराश यह है कि कीथ साहब के मतानुसार मनुष्यो की उत्पत्ति अफ्रीका में हुई और वही से निकलकर वे भू-मण्डल मे छा गये। इस घटना मे हजारो वर्ष लग गये होंगे। इतस्ततः वसे हुए समुदायो के रूप-रंग, व्यवहारों, वातावरणो, भोजन, रहन-सहन की व्यवस्था में वडे हेर-फेर हुए होंगे। नयी-नयी नस्लें असीम संख्या में बनती-बिगडती चली गयीं। सबल बच गयी, निर्बल नष्ट हो गयी, हजारों, सम्भव है लाखो वर्षों से वर्ण-संकरता की यह लीला पृथ्वी-मंडल पर चल रही है।

दूसरा उल्लेखनीय मत डा० डेविडसन ब्लेक का है। आपकी राय में आदिम मानवसृष्टि पूर्व मायोसीन युग (सवा करोड़ वर्ष पूर्व) में वानरो की उस कोटि से उत्पन्न हुई थी जिससे वनमानुस और क्रमशः मनुष्य का विकास हुआ। उसका समूह उत्तरी भारत से ही अफ्रीका की ओर बढ़ता गया। यह मत मनुजी के कथन से मिलता-जुलता है; "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:" श्लोक के शेषार्थ का अश "पृथिव्यां सर्वमानवा" उसकी पुष्टि करता है। "चरित्रम्" शब्द की व्याख्या व्यापक रूप से करने मे आपत्ति की विशेष गुंजाइश न होनी चाहिए। मनु अथवा कालिदास के कथनो का स्रोत विज्ञानमूलक न होते हुए भी अनुश्रुति या विश्वास वस्तुस्थिति के अनुसार हो सकता है।

इस मत के मानने मे कुछ शंकाओ को दूर करने के लिए एल्सवर्थ हण्टिंगटन ने यह निश्चित किया कि तिब्बत और उसके आस पास के भूभाग मे आदिम मनुष्य का होना अधिक सम्भव है। यह क्रान्तिकारी घटना बीस या तीस लाख वर्ष पूर्व हुई, जब हिमालय समुद्र की सतह से कुछ ऊँचा रहा होगा। उस युग में तिब्बत और उसके आसपास के प्रदेश जल और वृक्षादि वनस्पतियों से भरे हुए थे। ज्यो-ज्यो हिमालय उठता गया और वातावरण शुष्क होता गया त्यो-त्यो वनो की सघनता कम होती गयी और घाटियाँ तथा मैदान निकलते गये, जो घास से हरे-भरे थे। उनसे आकर्षित होकर अनेक प्रकार के पशु, जिनमे हिंसक पशु भी रहे होंगे, इधर उधर घूमते-फिरते रहे। दलो के बढने और भोजन की प्राप्ति के लिए बलिष्ठ और उत्साही वृन्द आगे बढते, बिखरते और फैलते चले गये। मनुष्यो के कुछ वृन्द नष्ट हो गये, कुछ कम विकसित हुए और कुछ वनमानुस की अवस्था में पीछे रह गये। उपर्युक्त बलिष्ठ और उद्यमशील वृन्दो की वृद्धि और विकास अनुपातत. शीघ्रता से हुए, यहाँ तक कि वे वनमानुस से प्रगतिशील मनुष्य-वृन्द हो गये और चारो ओर फैल गये। तिब्बत मे आदिम मनुष्य की सृष्टि का होना स्वामी दयानन्द भी मानते हैं, यद्यपि कालगणना मे भेद है। महाभारत मे एक अनुश्रुति के अनुसार सप्तचर तीर्थ के पास वितस्ता की लोकप्रिश्रुत देविका नदी के तट पर 'विप्रो' की सृष्टि का सकेत है। एक विद्वान् की राय मे विप्र से आशय आर्य का है। नर-नारायण के वदरिकाश्रम मे तप करने की पौराणिक कथा सम्भव है कि आदिम मनुष्य के बदरिकाश्रम के आस-पास होने का संकेत रखती हो। इसी प्रकार की अन्य कल्पनाएँ हो सकती हैं, किन्तु अभी तक कोई सन्देहरहित सिद्धान्त प्रतिष्ठित नही हो पाया। यह भी बहुत सम्भव है कि एशिया और अफ्रीका

के विभिन्न सानुकूल भौगोलिक वातावरणो में अनेक स्थानों पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई हो।

जातियों सम्बन्धी विवाद

मनुष्य की जातियों और उसके विभिन्न आकार-प्रकारो के सम्बन्ध में भी उन्नीसवीं शती से लेकर आज तक विवाद होता चला आ रहा है। विकासवादी वैज्ञानिको, विशेपतः हक्सली के मतानुसार जिस प्रकार पशु-पक्षी आदि के आकार, रग, कद, आकृति, लोमावली आदि से नस्लो का निर्णय किया जाता है, वैसे ही मनुष्य का भी निर्णय जन्तुशास्त्र के अनुकूल होना चाहिए। उस कसौटी से उन्होंने मनुष्य की जातियाँ खाल के रगो, बालो के ढग और रंग, चेहरे की विशेपता, नाक और आँख की वनावट के अनुसार पाँच श्रेणियो में—हेमेटिक, सेमेटिक, आर्यन, मंगोलियन तथा आस्ट्रेलियन मे विभक्त कर दी। इस विपय पर विवाद बढता गया और उस विभाजन को अधिकांश विद्वानों ने इस कारण छोड़ दिया कि उपर्युक्त कसौटी खोटी और अपर्याप्त है। वैज्ञानिकों ने नये मान और प्रतिमानों की इसलिए आवश्यकता समझी कि केवल बाहरी रूप-रेखा से ही नहीं, वरन् शरीर के भीतरी यत्रो की रचना और उनकी गतिविधि की जाँच के बाद जाति का निर्णय करना ही विज्ञानसम्मत माना जा सकेगा। हेडन (Haddon) ने खाल के रंग और उसकी वनावट, सिर के बालो के रंग, कद, सिर की शक्ल, मुख विशेपत. नाक, माथा, आँख आदि के अनुसार जाँच कर मनुष्य-जातियो की संख्या सत्रह निर्धारित की। क्लाइन्सवर्ग महोदय अधिक गहराई में उतरे। उपर्युक्त लक्षणो के सिवा उन्होंने रक्त की समानता, अन्त.स्रावी मांसग्रन्थियों की प्रक्रिया, रक्तचाप, श्वास-निश्वास के क्रम, मानसिक तथा शारीरिक विकास की प्रगति, नाडी की गति इत्यादि की जाँच-पडताल करके यह नतीजा निकाला कि रिप्ली (Ripley) की यह धारणा कि यूरोप मे केवल तीन जातियाँ हैं, भ्रामात्मक है। डा० कून (Coon) ने उपर्युक्त मतों पर तर्क-वितर्क करके यह निर्णय किया कि यूरोप में कम से कम बारह मुख्य और नौ उपजातियाँ अर्थात् इक्कीस जातियाँ हैं। यह ऊहापोह अभी जारी है, किन्तु यह स्पष्ट हो गया कि ससार भर की जातियों की अगणित संख्या हो सकती है और पुरानी, यद्यपि साधारण लोगों मे प्रचलित, रंग, बाल, नाक, आँख पर अवलम्बित गणना छिछली तथा अवैज्ञानिक होने के कारण मानी नही जा सकती। उनमें मूलगत तथा अनिवार्य विभिन्नताओ के संस्थापन अथवा निराकरण की

क्षमता नही पायी जाती । ऐतिहासिक युग मे तो पुराना माप-दण्ड सर्वथा अनुपयोगी एव भ्रममूलक है। जाति शब्द की वैज्ञानिक परिभाषा के अभाव मे उसका साधारणतया सभी भाषाओ मे अनेक अर्थो मे प्रयोग किया जाता है। सभ्यता संस्कृति अथवा अन्य भावनाओ या विचारो पर अवलम्बित एकता मे विश्वास करने वाले जनसमूह के लिए जाति शब्द का साधारणत प्रयोग होता है। यह आवश्यक नही कि ऐसे समूह की इकाई छोटी हो अथवा बडी हो। प्रसूति, वश, कुल, गोत्र, ट्यूटन, नारमन, रोमन ग्रीक, पारसी, ब्रिटिश, मराठा, हिन्दू, मुसलिम इत्यादि के लिए विना अधिक मीन-मेष निकाले जाति (Race) शब्द का प्रयोग चलता आ रहा है। उसका कोई सीमित क्षेत्र प्रयत्न करने पर भी अभी तक निश्चित नही हो सका। यदि हो सके तथा अन्य शब्द जैसे कि People Nation, Community आदि की भी परिभाषा निश्चित हो जाय तो अच्छा होगा। उन पर विचार करना यहाँ अप्रासगिक होगा

प्रकृति के साथ सघर्ष

आदिम मनुष्य को प्रकृति के साथ असीम सघर्ष करना पडता होगा। हिसक पशु, जहरीले जीव-जन्तु, दुर्गम जगल, पहाड, नद-नदी, गर्मी, वर्षा, जाडा, रोग दोष आदि अनेक बाधाओ का सामना लाखो वर्ष तक करना पडा होगा। न तो व्याघ्र-सिह आदि के समान उसके दाँत या नाखून दृढ थे, न हाथी, भैसा, गैडा आदि के समान डील-डौल और बल, न मगर, घडियाल के समान जल मे छिपे रहने के साधन और न विकराल बाज या गृद्धादि के समान चोच और उडने के पख थे। किन्तु उसके हाथो मे अनेकानेक उपयोगो की क्षमता और उसके मस्तिष्क मे असीम शक्तियाँ, जैसे निरीक्षण, धारण, स्मृति, चिन्तन, मनन, आलोचन, कल्पना, अनुसधान तर्क-वितर्क, उद्योगशीलता, समाधन एव आविष्कारक शक्ति के सिवा बोलने के साधन भी थे। मस्तिष्क, हाथ और वाणी के बल उसने असीम कठिनाइयो और अगणित प्रतिद्वन्द्वियो का सफलतापूर्वक सामना किया। लाखो वर्षो तक उस पर क्या गुजरी और किस प्रकार से उसने विजय-मार्ग निकाले, उन सबकी कथा अत्यन्त मनोरजक एव लोमहर्षक होगी, किन्तु उसके जानने के लिए इस विज्ञान के युग मे भी साधनो का अभाव चिन्त्य है। भूगर्भशास्त्री, जीवविज्ञान एव मानव-विज्ञान-वेत्ता तथा पुरातत्त्वान्वेषी कभी-कभी कुछ प्रकाश अवशेषो के सहारे डालते है, किन्तु वे भी बहुत कम और सदिग्ध है। सम्भव है

कि इन कठिनाई का आभास प्राचीन चीनियों को हुआ हो, क्योंकि उन्होंने अपने प्राचीनतम काल के युगों की कल्पना मौलिक आविष्कारों के अनुसार की है।

लगभग पाँच लाख वर्ष हुए, जब एशिया एवं यूरोप में कड़ाके के शीत का साम्राज्य था। प्रकृति की निष्ठुर तथा असहनीय प्रगति के प्रतिकार के लिए मनुष्य ने अपनी रक्षा के हित मे अग्नि का आश्रय ढूँढ़ निकाला। कुछ विशेष प्रकार की लकड़ियो की रगड और चकमक पत्थर की टक्कर से धुँआ और फिर आग निकलते देखकर उसको अग्नि आमत्रण करने की प्रेरणा हुई होगी। 'अग्निमीळे पुरोहितम' उक्त आविष्कार के अपार महत्त्व की विशेष पुष्टि करता है। अग्नि के प्रकाश से उसे मार्ग ढूँढने मे जो सहायता मिली उसकी स्मृति 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्' वेद के वाक्य मे निहित-सी प्रतीत होती है। अग्नि की चमक और लपट तथा भस्म कर देने की शक्ति देखकर पशु भयभीत होते और भाग जाते हैं। 'प्राची दिगग्निरधिपति.' प्राची दिशा से.....सूर्य तथा अग्नि के आने का सर्वत्र स्वागत हुआ जिसका सकेत 'तेभ्यो नमः रक्षितृभ्यो नमः' वाक्य से मिलता है। पुरातत्त्वज्ञो को अग्नि के प्रयोग का सम्भवत. सबसे पहला प्रमाण चीन के पेकिन नगर के समीप चाउ-काउ-तिएन (Chou Kau Tien) की गुफा में मिला है। अग्नि को इच्छा के अनुकूल लकडी अथवा पत्थर से उत्पन्न करना, उसको मन्द अथवा तीव्र करना, उससे भूनने, उबालने आदि की क्रियाओं का ज्ञान अनुमानतः थोड़े से व्यक्तियो को ही पहले प्राप्त हुआ होगा। सर्वसाधारण की नजरो मे वे व्यक्ति गुप्त शक्ति-सम्पन्न माने गये होगे। मानवशास्त्र वाले उन्हे (Magic man) और वैदिक लोग उन्हे शायद ब्राह्मण "ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीना:" कहते है। असम्भव नही है कि अहिताग्नि ऋत्विक पुरोहित कहलाते हो; 'पुरोहिता अग्निसमानवर्चसः' (म० भा०) आदि शब्द साकेतिक हो। मनुष्यो को प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की सबसे पहली एव प्रबल शक्ति प्राप्त हुई जिसके अनेकानेक प्रयोगो और उपयोगो से मानव संसार उपकृत होता चला आ रहा है।

आच्छादन और भोजन की समस्या

आदिम मनुष्य का दूसरा आविष्कार पशुओं की खालो से अपने शरीर को ढँकने के लिए वस्त्र बनाना था। मृगचर्म का प्रयोग तो वर्बर और असभ्य ही नही, वरन् ऋषि भी करते थे। शरीर के ढँकने की क्रिया तथा उसके लाभ मानव-सभ्यता मे अपना महत्त्व रखते हैं।

तीसरी समस्या भोजन की थी। वानरो में कुछ ही ऐसी नस्ले हैं जो मांस खाती हैं। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि वह नस्ल वानर और मनुष्य के बीच की कडी है। बहुत सम्भव है कि पहले मनुष्य कन्द, मूल, फल के सिवा मास भी खाते हो किन्तु अग्नि के आविष्कार के बाद भूनने की क्रिया का आरम्भ भोजन पकाने की पहली सीढी रही हो। कच्चे मास से भूना मास अधिक स्वादिष्ट और सम्भवत पचने योग्य पकाकर विविध प्रकार के पशु-पक्षी और जल-जन्तुओ के खाने का सुभीता हो गया। भोजन की समस्या हल होने लगी।

सामूहिक शक्ति की वृद्धि

स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य की अन्य विशेषताओ मे एक विशेषता यह भी है कि उसकी कामवासना केवल ऋतुओ पर अवलम्बित नही है, जैसा कि पशु-जगत् मे बहुधा देखा जाता है। हर मौसम और हर समय, चाहे दिन हो या रात और हर जगह उसमे कामेच्छा जाग्रत होती है और यदि कोई विशेष बाधा न हो तो वह उसकी तृप्ति मे सकोच नही करता। मांसोदनादि पौष्टिक भोजन से उसका शरीर भी पुष्ट और अधिक सतति उत्पन्न करने योग्य हो गया। परिणाम यह हुआ कि मानवसृष्टि शीघ्रता से बढने लगी जिससे उसकी सामूहिक शक्ति तथा क्षमता बढती गयी।

कृषि का आरम्भ

यह न समझना चाहिए कि मनुष्य किसी एक देश के स्थानविशेष मे ही बढ-कर बहुसंख्यक हो गये। सम्भावना यही मानी जाती है कि उनकी छोटी या बड़ी टोलियाँ अनेक देशो और स्थानो पर पहुची और बढी। भोजन की समस्या भी तदनुकूल बढती चली। मनुष्य दो कोटियो मे बँट गये, एक तो वे जो शिकार करके अपना जीवन-निर्वाह करते और दूसरे वे जो कन्द मूल, फल और खाने योग्य पत्तियो से काम चलाते थे। ये विभाग नितान्त पृथक् न थे, किन्तु मोटे तौर पर यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही जान पडती कि भोजन प्राप्त करने के लिए जलवायु और पैदावार के अनुसार उपर्युक्त दो तरीके थे। घूमते-फिरते मनुष्यो की टोलियाँ दूर-दूर बढती चली गयी। यहाँ तक कि भूमण्डल के विभिन्न भागो मे जा निकली। जो लोग खाने-पीने की चीजो को बटोरते थे वे उन स्थानों पर रुक गये जहाँ भूमि और जल की अनुकूलता से अन्न आप से आप उगता था। ऐसे

स्थान नदियो के किनारे, विशेष कर खाडियो के पास अथवा उपजाऊ मैदानो मे थे । भूगोल तथा पुरातत्त्व के अनुसधान से पता चलता है कि एशियाई कोचक से पश्चिमी तथा उत्तरी ईरान होते हुए अफगानिस्तान का प्रदेश, नील नदी और सिन्धु नदी के तट तथा पजाव अन्न उपजाने के लिए अच्छे थे । सब स्थानो से अच्छा ईरान का पश्चिमी प्रदेश है जहाँ सब प्रकार का गेहूँ और जौ आप से आप उगता था ।

ऐसे प्रदेशो मे अन्न, कन्दमूल ,फल बटोरने वाले बसते गये । जब लोगो की संख्या वहाँ बढी तब जंगली अन्न की उपज उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति न कर सकी । उसका मुख्य कारण यह था कि अन्न निरन्तर नही, वरन् खास मौसम मे ही उपजता था । मौसम की पैदावार चुकने पर लोगो को फिर कठिनाई उठानी पड़ती थी । अनाज को पत्तियो या बरतनो आदि मे भरकर रखने का उनको न ज्ञान था और न उनके पास साधन थे । यही नही, धीरे-धीरे जमीन की उपज भी कम होती जाती थी. क्योकि जमीन को खोदने या खाद देने का भी ज्ञान उन्हे न था ।

धीरे-धीरे लोगो को पता चल गया कि गिरे हुए अन्न फिर उग जाते है और यदि जमीन कुछ खोद दी जाय तो कुछ अधिक उपज होती है । उस ज्ञान से उनको अधिक लाभ न होने का कारण उनके लकडी और पत्थर के औजार थे जो गहरी खुदाई के लिए उपयुक्त न थे । सबसे अधिक लाभ नदियो के तट तथा मुहानो की धरती से हुआ क्योकि वहाँ बाढ के कारण मिट्टी की तहे लग जाती थी । यद्यपि कृषि से यथेष्ट लाभ तो न होता, किन्तु काम चल जाता था । हर मनुष्य उतनी ही खेती कर सकता था जितनी कि उससे बन पडती थी । कृषि के आरम्भ ने मानव-इतिहास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युग का भी बीज बो दिया । कृषि की उन्नति के साथ समाज, ग्राम, नगर, राज्य, विधान, वाणिज्य, लिपि, अक आदि की उत्पत्ति एव वृद्धि हुई । साराश यह है कि सभ्यता तथा सस्कृति के दरवाजे खुलते चले गये ।

सभ्यता और सस्कृति

सभ्यता और सस्कृति साधारणत पर्यायवाची शब्द माने जाते है । फिर भी उन दोनो की व्यंजना एक ही सी नही है उनमे कुछ भेद है । सभ्यता का सम्बन्ध बाहरी व्यवहारो, रहन-सहन, बोल-चाल, साज-सामान, उठने-बैठने तथा आने-जाने से है । उसके अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, व्यापारिक तथा नाग-

रिक जीवन के व्यवहार माने जा सकते हैं। मकानो, समान मार्गों, वाहनो की सजावट के लिए भी उसका प्रयोग हो सकता है। साराश यह है कि सभ्यता बहिर्मुखी है। यद्यपि सभ्यता पर संस्कृति का और संस्कृति पर सभ्यता का प्रभाव न्यूनाधिक पाया जाता है तथापि संस्कृति शब्द की व्यजना अन्तर्मुखी है। उसके अन्दर आचार-विचारो, भावो, कलाओ, मनोवृत्ति, और धारणाओ तथा दृष्टि-कोण की विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यह आवश्यक नही कि संस्कृति और सभ्यता के स्तर एक ही से हो। कही सस्कृति का स्तर ऊँचा और सभ्यता का निम्न और कही सभ्यता का स्तर ऊँचा और सस्कृति का नीचा होता है। इसके सिवा सभ्यता और संस्कृति के अपने-अपने क्षेत्रो मे अनेक स्तर होते हैं। कही सभ्यता की तो कही सस्कृति की गति तीव्र अथवा मन्द पायी जाती है। दोनो के मुकाबले मे सभ्यता की प्रगति प्राय: तीव्र पायी जाती है।

आर्थिक स्थिति

कृषि के ज्ञान के पूर्व मनुष्यो मे ऊँच-नीच और अमीर-गरीब का प्रश्न न था। यह माना जा सकता है कि उस युग मे भी प्राकृतिक और अगोचर शक्तियों को जानने और सानुकूल करने वाले मायावी अभिचारी लोगो की अन्य व्यक्तियो से अधिक प्रतिष्ठा रही हो, किन्तु वैसे व्यक्ति किसी समुदाय मे गिने चुने ही होगे, उनके सगठित वर्ग होने की सभावना नही हो सकती। अत. जनसमुदाय के व्यक्तियो को प्राय: अपनी आवश्यकताओ के सभी काम स्वय करने पडते थे। प्रत्येक को अपना शरीर ढँकने का वस्त्र बुनना, रहने को झोपडे बनना, खाने के लिए कन्द-मूल, फल ढूँढ़ना अथवा शिकार करना पड़ता होगा। जब पशुओ का पालन और कृषि करने का ज्ञान बढा तब ऐसे सहायक की आवश्यकता हुई जो मनुष्य का कठिन कार्य करे और भाग-दौड करने के लिए अधिक समय दे सके, सचित खाने-पीने की चीजो तथा पशुओ की साधारण निगरानी कर सके, और जनसख्या बढाने मे सहायक हो। जिस घर मे जितने हाथ हो उसकी स्थिति उतनी ही अच्छी हो सकती थी।

गृहस्थ सस्था

इन सब आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए स्त्री अत्यन्त उपयोगी हो सकती थी। कृषि की जितनी उन्नति होती गयी स्त्री तथा बच्चो की उतनी ही

वश्यकता और उपयोगिता बढ़ती गयी। यद्यपि नर और मादा का नैसर्गिक आकर्षण और आत्मभाव पशु तथा पक्षियों में भी कमोवेश पाया जाता है तथापि स्थायी रूप मे कामवासना की अधिकता, सामाजिक प्रवृत्ति और विशेष रूप मे आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्री-पुरुष के सबंध को न्यूनाधिक स्थायी बनाने की आवश्यकता के कारण गृहस्थ-जीवन अनिवार्य ही नही वरन् श्रेयस्कर होने का अनुभव बढता गया। इस प्रसग मे गृहस्थ-सस्था के आर्थिक आधार का सकेत विशेष रूप मे विचारणीय है। उसके अन्य पहलुओं पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

कृषि तथा पशुपालन की उन्नति के साथ मनुष्य ऐसे स्थलो पर, जहाँ खेती का अधिक सुभीता, जैसे अधिक उपजाऊ जमीन, सिंचाई के लिए आवश्यक जल इत्यादि मिले, जमकर रहने लगे। कृषक-समाज की संचरणशील वर्नाकम लोगो से दिनो-दिन विभिन्नता बढती गयी। यहाँ तक कि उनके दृष्टिकोण, सगठन, रहन-सहन मे बहुत बड़ा फर्क पैदा हो गया। मोटे तौर पर मानवसंसार दो भागों मे विभक्त-सा हो गया। यही नही कृषक-समाज मे भी असमता बढने लगी। जिसको अधिक सतान हुई उसकी आर्थिक स्थिति मे उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी, जिससे कुछ घरानो का सामाजिक और आर्थिक महत्त्व बढ गया, कुछ की स्थिति घट गयी। धन और जन-बल के कारण कुछ कुटुम्बो का दूसरो पर सहज आतंक जमने लगा और उपजाऊ धरती पर उनका कब्जा बढने लगा।

ईसा से लगभग छ. से तीन हजार वर्ष पूर्व का युग सस्कृति एवं सभ्यता के लिए बड़े महत्त्व का है। उस युग के आविष्कारो में एक तो पशुओ एव हवा की शक्ति का कृषि तथा वाहन के लिए उपयोग, दूसरा ताँबे को गलाकर उससे अथवा उसमे अन्य धातु मिलाकर कृषि के लिए हल आदि औजार, बरतन तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने का कौशल। ईसा के ढाई हजार वर्ष पूर्व सोने और चादी का उपयोग मिस्र तथा मसोपोटेमिआ और सम्भवत. अन्यत्र भी हो चला था। तीसरा आविष्कार चक्र (फिरकी या पहिया) का बरतन खिलौने आदि बनाने, वाहन, जैसे रथ आदि चलाने, बोझ खींचने या ढकेलने के लिए उपयोग, और चौथा सूर्य की गति के अनुसार काल-गणना (सोलर कैलेण्डर की रचना) सबसे महत्त्वपूर्ण गिने जाते हैं। उन्ही की सहायता से कृषि तथा व्यापार. धन-धान्य सभ्यता और सस्कृति, कला-कौशल, उद्योग धन्धो आदि अनेक क्षेत्रो में शीघ्रता से उन्नति होने लगी जिससे मानव-जगत की रूपरेखा में तेजी से परिवर्तन होने लगा। उतने महत्त्वपूर्ण और

क्रान्तिकारी आविष्कार फिर हजारो वर्ष तक न हो सके। उस क्रान्ति का आरम्भिक केन्द्र सम्भवत: पश्चिमोत्तर फारस और इराक का प्रदेश कहा जाता है। इतना तो निश्चित-सा है कि उसका क्षेत्र था नील नदी से सिन्धु और सम्भवत: गंगा तक विस्तृत विशाल भूभाग। चीन के उतने पुराने समय के इतिहास पर अभी यथेष्ट प्रकाश नही पडा है। सम्भव है कि वहॉ भी कुछ चमत्कारपूर्ण आविष्कार पूर्व युग मे हुए हो, जैसे कि मध्य युग मे हुए। चीनियो की अनुश्रुति के अनुसार तो बहुत कुछ हुआ, किन्तु पुरातत्त्व अनुसन्धान अभी तक उनके कथनो का असदिग्ध समर्थन नही कर सका।

जनसख्या मे वृद्धि

जिन स्थानो पर कृषि से लाभ हुआ वहॉ जनसख्या उत्तरोत्तर बढती गयी, कारण उसका यह था कि जितनी जमीन पहले चार सौ मनुष्यो का पोषण करती थी, कृषि द्वारा वह एक लाख अट्टाईस हजार लोगो का पालन करने मे समर्थ हो गयी। पशु चरानेवाले सचरणशील लोगो के निर्वाह के लिए बहुत ज्यादा क्षेत्र की आवश्यकता होती है। एक वर्गमील जमीन से तीन या अधिक से अधिक सात प्राणियो का पालन हो सकता था, किन्तु कृषि द्वारा उतनी जमीन से तीन सौ आदमी पलते थे।

वहॉ स्थिति और भी भीषण हो गयी जहॉ कृषि के लिए धातुओ का प्रयोग होने लगा। कृषि के औजार और लडने-भिडने के हथियारो के लिए पहले तॉबे का, फिर कॉसे का प्रयोग हुआ। खेती से अधिक लाभ और अस्त्रो से अधिक बल उन्ही लोगो का बढा जिनके पास धातुओ को खरीदने के लिए काफी अनाज या जानवर थे। जिनके पास वे साधन न थे उनका महत्त्व दिनोदिन कम होता गया। कृषि तथा धातुओ के उपयोग के कारण नये-नये पेशे बढते गये। पहले कुम्हार, चर्मकार, चटाई आदि बनानेवालो से काम चल जाता था, किन्तु नयी स्थिति मे नमक तथा धातु खोदने, ढोने, गलाने और उससे अनेक प्रकार की चीजे बनाने के लिए पेशे खुल गये। अन्नादि तथा धातुओ के व्यापार की वृद्धि के कारण कोष हिसाब-किताब, नाप-जोख, दर निर्णय आदि के लिए अको तथा किसी न किसी प्रकार की लिपि की आवश्यकता को पूर्ति के लिए नये-नये तरीके निकलने लगे। धन, धान्य लेन-देन, आयात-निर्यात की वृद्धि के साथ सम्पन्न लोगो की जिज्ञासा, कलाप्रियता, आमोद-प्रमोद के क्षेत्र बढने लगे! ऐशोआराम के नये-नये ढग निकले। साथ ही

साथ जमीन, जन और जर के झगडे बढ चले, क्योकि उनसे लाभ होता और अनेक इच्छाओं और वासनाओ की पूर्ति हो सकती थी। अतः उनके लिए मोह और लोभ की वृद्धि के साथ छल-बल का भी प्रयोग होने लगा। धन की इतनी महिमा बढी कि उसकी प्राप्ति के लिए भीतरी और बाहरी संघर्ष गहरा होता गया। 'धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके', वाली उक्ति उसी मनोवृत्ति की स्मृति है। जमीन की नाप, खेतों की हदबन्दी, चरागाहो पर अधिकार, सिंचाई के लिए, पानी के लिए, लेन-देन के लिए ग्रामो तथा नगरो मे झगडे होते थे। सम्पन्न व्यक्ति खाने-पीने की चिन्ता से मुक्त होकर ऐश्वर्य बढाने तथा प्रतिद्वन्द्वियो का दमन करने मे लगे। ऐसी परिस्थिति मे शान्ति रखने और न्याय करने के लिए कानूनो की अधिक आवश्यकता पड़ी। कानून बनाये जाने लगे। कही पुरोहितो, कही वयोवृद्धो, प्रभावशाली व्यक्तियो अथवा मुख्याधिष्ठाता ने कानून बनाये। कानूनो के जारी करने और उनके उल्लंघन करने वालो को दण्ड देने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक हो गयी।

राजसत्ता की प्रतिष्ठा

आपसी झगडो और समस्याओ की वृद्धि के साथ ही नगरो मे झगडे शुरू हो गये। राज्य की सीमा, व्यापार, उसके मार्गो, नदियो, तथा खानो पर अधिकार, दूसरे नगरों की सम्पत्ति छीनने के लालच आदि के कारण थोड़े-बहुत ग्रामो मे, विशेष रूप से नगरो मे लाग-डाँट और युद्ध होने लगे। उनके सिवा नये-नये भ्रमणशील अथवा नये, किन्तु उदीयमान जन-समूहो ने भी समय-समय पर आक्रमण शुरु कर दिये। बाहरी शत्रुओ तथा भीतरी उपद्रवो के दमन के लिए सैनिको की आवश्यकता उत्तरोत्तर बढ़ी। विधान तथा शान्ति स्थापन, भीतरी उपद्रवो और बाहरी आक्रमणो को रोकने तथा सेना का नियंत्रण करने के लिए राजसत्ता की प्रतिष्ठा हुई। उसी के हाथ मे वैधानिक, शासनिक, सैनिक शक्तियाँ केन्द्रित हो गयी। जहाँ स्वय राजा ने धातुओ तथा अन्य लाभदायक शक्ति और सम्पत्ति-वर्धक पदार्थो का व्यापार अपने हाथ मे रखा वहाँ तो उसकी शक्ति और महत्ता बहुत बढ गयी। मिस्र का इतिहास इस कथन की विशेषतः पुष्टि करता है।

कृषि की उन्नति के लिए पानी लाने, निकालने अथवा आवश्यक नियंत्रण के लिए नहरे, नालियाँ, पुलिन तथा पुलियो और पुलो के निर्माण के विविध विधान

विशेप कर मसोपटेमिआ और मिस्र एव इटली मे निकले। चीन मे भी जलप्लाव के कारण नहरो का निर्माण आवश्यक हुआ। उन सब प्रयत्नो का प्रभाव कृषि, महयोग, स्वास्थ्य, नगर-निर्माण, बाग-बगीचो पर ही नही, वरन् स्थापत्यकला पर दूर तक पहुँचा। अन्न की खेती के सिवा फल और तेलहन उत्पन्न करने वाले वृक्षो का लगाना अधिक लाभप्रद हुआ। जैतून, खजूर, अगूर आदि के पेड़ो के उगने और फलप्रद होने मे कई वर्ष लगते है किन्तु ज ा फल देने लगते है तो बहुत वर्षो तक फलते है, जिससे अन्ततोगत्वा कृषि के मुकावले मे अधिक लाभ होता है। ग्रीस, दक्षिणी यूरोप, तथा अफ्रीका मे आर्थिक लाभ का विशेष आधार वही रहा।

कृषि और बाग-वगीचे लगानेवालो को एक स्थान पर स्थिर होकर रहना पडता है। इसलिए लोगो को रहने के लिए मजवूत मकानो और इमारतो की जरूरत पडती है। माल रखने के लिए गोदाम वनाने पडते है। आने जाने के सुभीते के लिए सडके और गलियाँ तथा पानी लाने और गदा पानी निकालने के लिए नालियाँ बनानी पडती है। इसी ढंग से नगर वनते गये, फिर उनके प्रवन्ध और रक्षा के लिए शहरपनाह, सभाभवन और गढ बनाये जाने लगे। धार्मिक कार्य के लिए यज्ञशाला और देवालयो की स्थापना होती। नागरिको की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दुकाने, वाजार और अनेक उद्योग-धधे खुलने लगे। इस प्रकार नगर श्रीसम्पन्न तथा कलाकौशल, शिक्षालयो, कार्यालयो से विभूषित होकर सभ्यता एवं सस्कृति की उन्नति के प्रगतिशील साधन वनने लगे। ग्रामीण जीवन की सादगी के वदले नागरिक पेचीदगी और ऐश-आराम का मार्ग खुलने लगा।

नगरो के ऐश्वर्य, ऐश-आराम, रोजगार आदि से आकर्षित होकर भ्रमणशील जनसमूहो तथा गाँव के लोगो का आना शुरू हो जाता। यदि किसी युद्ध मे नगरवासियो की विजय हुई तो हारे हुए लोगो को गुलाम बनाकर उनसे जवरदस्ती मनमाना काम लिया जाता। गुलाम पुरुष और स्त्री मुफ्त अथवा कौडियो के मोल मिल जाते और उन पर खर्च वहुत कम होता, इसलिए वे मनमानी सख्या मे रख लिये जाते। विजेता उनके ऊपर जहाँ तक हो सकता कामो का बोझ लादते और स्वयं किसी व्यसन अथवा विनोद मे आराम से समय व्यतीत करते। गुलामो के कारण स्वतत्र, किन्तु गरीव लोगो का भाव सस्ता होता जाता और बेकारी वढती जाती। उसके दोषो का प्रदर्शन मसोपटेमिआ और रोम तथा चीन के इतिहास मे विशेष रूप मे पाया जाता है।

जो नगर हार जाता उसकी बड़ी दुर्दशा होती। इज्जत, हुरमत, धन-दौलत सभी चीजें प्रायः लूट ली जाती और नगर विध्वस्त कर दिया जाता। बाग-बगीचे काट डाले जाते, खेती रौंद डाली जाती, भयकर अग्निकाड हत्याकाड और नृशंसता का प्रदर्शन होता। इस लीला के देदीप्यमान उदाहरण बेबीलान पर्स-पोलिस, कारथेज आदि है। इतिहास-प्रतिष्ठित व्यक्ति जैसे अलेक्जेण्डर (सिकन्दर) तथा सोपिओ आदि के पश्चिम मे और धर्मप्राण भारत में भी 'पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनम् मुषाण रत्नानि हरामरागना.' के दृश्य असाधारण नही गिने जाते थे। सभी लोगो मे चाहे वे पश्चिम, चाहे पूर्व के क्यो न हो, उस जघन्य प्रवृत्ति का प्रचलन था। कभी-कभी क्षमा और शान्ति की नीति का भी आश्रय लिया जाता था। किन्तु इसके उदाहरण अनुपाततः कम मिलते है।

उपर्युक्त दोनो स्थितियो मे नागरिक जीवन आर्थिक, सामाजिक और नैतिक समस्याओ की उलझनो मे फँसता चला जाता, जिससे विषमता बढती जाती और नगर-राज्य की अवनति होती जाती। सैनिक एव व्यापारिक श्रेणी के लोगो के लिए एक ही सीधा मार्ग दिखाई दिया, जो पहले उनको विस्तृत प्रादेशिक राज्य और फिर साम्राज्य की ओर ले गया। यद्यपि कुछ मनीषियो ने चीन मे यूनान तथा भारत मे मिस्र तक सरल ग्रामीण ढग के जीवन के अनुपात मे सुख और शान्ति का चित्रण कर लोगो को लौटने का निमत्रण दिया, किन्तु परिस्थितियो और प्रलोभनो के झकोरे मे प्रताडित सुख तथा ऐश्वर्य की खोज मे आधिपत्य और शासन सुदृढ और बहुत काल तक चला। जहाँ वैसी व्यवस्था न हो सकी वहाँ उसके प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति अथवा वर्ग उसको दबाने का प्रयत्न करते रहे।

आर्थिक पेचीदगी से राजनीतिक क्षेत्र नगर मे बढकर राज्य, फिर साम्राज्य, तदनन्तर विश्वसाम्राज्य की ओर बढता चला गया। जिनके पास ताँबा और काँसा तथा शीघ्रगामी वाहन, घोडे-रथ आदि प्राप्त करने के साधन अधिक थे उनको दूसरो पर प्रभुत्व स्थापन करने मे अधिक कठिनाई न होती। उत्थानशील समुदायो के दमन करने की नीति का कारण आर्थिक सम्पन्नता के क्षीण हो जाने का भय था। परोक्ष शक्तियों के सच्चे या झूठे ज्ञाताओ को छोडकर प्रत्यक्ष शस्त्र-बलधारी गण अपने को शक्तिमान् और प्रभुत्व का अधिकारी मानते थे। जहाँ राजा धातुओ का सग्रह अथवा व्यापार करता वहाँ शस्त्रधारियो का बल अनुपाततः कम रहा।

लोहे का प्रयोग

ताम्र और काँसे का महत्त्व लोहे के प्रयोग से नष्ट-सा हो गया यद्यपि आज से पाँच हजार वर्ष पहले लोहे का पता चल गया था. जैसे कि मिस्र तथा मसोपटेमिआ मे प्राप्त कुछ अवशेषो से स्पष्ट है, किन्तु उसको कम व्यय से निकालने तथा गलाने की क्रिया का रहस्य जानने मे अनुमानत. डेढ हजार वर्ष लगे। ताँबे और काँसे से वह सस्ता तथा अधिक मजबूत और उपयोगी सिद्ध हुआ। उसके बने औजार और हथियार सस्ते होने के कारण साधारण लोग खरीदने और उनका उपयोग करने लगे। उसके दो नतीजे बडे महत्त्व के निकले। साधारण लोगो को औजारो और हथियारो के लिए धनिको का आश्रय उतना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक न रहा जितना कि पहले था। वे अधिक उपयोगी औजारो और हथियारो को स्वय खरीदने लगे जिससे उनकी उत्पादन तथा शस्त्र-शक्ति बढी। फलत साधारण जनता को अपनी शक्ति और बल का नया अनुभव और नया उत्साह प्राप्त होने लगा, जिससे भविष्य मे जनसत्तात्मक सस्थाओ के सस्थापन की सम्भावना बढनी गयी।

पहले व्यापार विनिमय द्वारा होता था जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, कुछ न कुछ काम करना आवश्यक था। स्त्रियाँ भी प्राय चर्खा चलाती थी। किन्तु जब से धातुओ का उपयोग बढने लगा और चाँदी-सोने का भी व्यापार और सिक्को का प्रयोग शुरु हुआ तब से आर्थिक स्थिति में विषमता उत्तरोत्तर बढती गयी। जिनके पास सोना-चाँदी था वे उसका उपयोग काश्तकारी या बागवानी कराने मे तथा अन्य वस्तुओ का कच्चा या बना हुआ माल खरीदने तथा बेचने मे करने लगे। उन धनिको का मुकाबला छोटे-मोटे कृषक न कर सके और अपनी खेती-बारी छोडकर धनिको की चाकरी सस्ती मजदूरी पर करने के लिए मजबूर हो गये। यदि वैसा न करते तो काम करने के लिए गुलामो की कमी न थी। धनिक दिनो-दिन सम्पत्तिशाली होते गये और धन के बल पर वे राजनीति तथा सामाजिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव डालने लगे। उनका प्रभाव कुछ अश मे क्षम्य हो सकता है। किन्तु उसका दुष्परिणाम बहुत दूर तक पहुँचा। रोम साम्राज्य का इतिहास उसका प्रबल साक्षी है। व्यापक विकास का शायद वह भी एक अनिवार्य साधन था।

सामाजिक गतिविधि

यद्यपि मनुष्य अथवा उसके जत्थे कभी एक-से नही थे तथापि लाखो वर्ष

तक उनकी शारीरिक, मानसिक तथा सामूहिक शक्ति में उतनी विषमता न थी जैसी कि परिस्थितियों की विभिन्नता और उससे उत्तेजना प्राप्त करके विकास ने उत्पन्न कर दी। अत्यन्त पुराने युग के प्रतीक अब तक इतस्ततः किन्तु विशेषतः अफ्रीका एवं दक्षिणी अमेरिका और आस्ट्रेलिया में पाये जाते हैं। दुर्भाग्य अथवा संयोगवश जिनके दल दूर अकेले पड गये और अन्य दलों से सम्पर्क स्थापित न कर सके वे आज तक पुरानी स्थिति से बाहर न आ सके। सभ्यता के विकास के लिए विभिन्न जनसमुदायों का आपस में सम्मिश्रण और आदान-प्रदान आवश्यक है। अविकसित समूहों की चर्चा मानवशास्त्र का विषय होने के सिवा यह अप्रासंगिक भी है। हम उस स्थिति का विचार कर रहे हैं जो कृषि कर्म से विकसित होती आ रही है।

ग्रामों और नगरों में कृषि, व्यवसाय, वाणिज्य आदि से अनेक समस्याएँ उठ खडी हुईं। गृहस्थ-जीवन उस परिस्थिति के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। कुटुम्ब की वृद्धि, परिश्रम तथा क्षमता से कुछ लोग अधिक सम्पन्न हो गये, किन्तु अन्य कुटुम्बों को सफलता कम या बहुत कम मिली। उसी प्रकार पेशेवरों में अनेक श्रेणियाँ हो गयी जिनमें कुछ अधिक, कुछ कम और कुछ बहुत कम सफल हो सके। ग्रामों तथा नगरों की समृद्धि से आकर्षित होकर रोजगार की आशा में लोग नगरों में आने लगे जिससे जनसंख्या तो बढी, किन्तु उसी के साथ जमीन अथवा रोजगार की कमी या अभाव से समाज में विषमता, अमीर-गरीब का भेद बहुत बढने लगा। आन्तरिक परिस्थिति के सिवा नगरों के आसपास खानाबदोशों के दल जानवर हाँक ले जाने अथवा लूट-खसोट करने को ताक में मँडराते फिरते थे। नागरिकों को अपने जान-माल की चिन्ता बढ़ी। उसको रोकने के लिए दो बातों की तुरन्त आवश्यकता पडी एक तो सैनिकों की जो नगर में शान्ति रखने के सिवा बाहर के आक्रमणकारियों से उसकी रक्षा कर सकें। दूसरी आवश्यकता थी जोरूजाँता, मकान, जमीन, जायदाद की आपसी नोच-खसोट से रक्षा करने के लिए कानूनों की। व्यापार और व्यवसाय की वृद्धि से लेन-देन को नियमित करना बहुत जरूरी था। साराश यह कि सेना और कानून की व्यवस्था करना और उसके उल्लघन करनेवालों के लिए दण्डविधान बनाना समाज के लिए अनिवार्य हो गया। शस्त्र परिचालन के लिए बलिष्ट शरीर तथा साहस और कौशल प्राप्त करने के लिए परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता थी एवं कृषि करनेवालों के लिए दूसरे ढग के अभ्यास और मनोवृत्ति की। जहाँ स्वतंत्र कृषक कृषि से हटकर युद्ध-कार्य में लगे वहाँ प्रायः वे कृषि करने योग्य ही नहीं रहे। कृषि गुलामों के

द्वारा करायी जाने लगी या चौपट हो गयी अथवा महाजनो के हाथ बिक गयी। उस अवाछनीय व्यवस्था का ग्रीस और उससे भी अधिक प्रदर्शन रोम के इतिहास मे मिलता है। सिपहगिरी के व्यवसाय मे लगे हुए समुदाय की एक श्रेणी अथवा एक विशिष्ट वर्ग बन गया। इतिहास मे प्राय. इस वर्ग की प्रवृत्ति राज्याधिकार प्राप्त करने अथवा स्वयं किसी सफल सेनापति के नेतृत्व मे स्वतत्र राज्य स्थापित करने की ओर दिखाई देती है। सैनिक शासन साधारणत' बुरा है क्योंकि वह कठोर और अनुदार ही प्राय. रहता है। शायद ही कभी उससे लाभ होने की सम्भावना दिखाई पडती हे। सैनिक बल के नियंत्रण के लिए प्रजा राजा की या अन्य शासन-विधाता की शरण माँगती है. किन्तु वे दोनो प्रबल और अदम्य सेनापति के विरोध से सशकित रहने के कारण किसी दूसरे सेनापति की सहायता चाहते है। साराश यह कि राष्ट्र और प्रजा के रक्षक स्वयं विपत्ति का कारण उसी प्रकार हो जाते है जैसे कि सफल व्यापारी या महाजन अर्थलोलुपता के कारण निष्ठुर और स्वार्थान्ध हो जाते हैं।

उपर्युक्त दोनो प्रबल वर्गों को नियत्रण मे रखने के लिए प्राचीन समाज मे क्या प्रयत्न हुए और उन्हे कहाँ तक सफलता मिल सकी, इसके दो विधान उस युग के इतिहास मे मिलते है। पहला यह कि राजा का महत्त्व और उसका आतक लोगो के हृदय मे जमा दिया जाय। दूसरा यह कि शासन के लिए जनता स्वय अपने प्रतिनिधियो को चुने और उनको निश्चित अधिकार प्रदान करे। जनसत्तात्मक विधानो का ग्रीस मे प्रयोग हुआ, किन्तु उनको उतनी सफलता प्राप्त न हुई जितनी कि ईरान और मिस्र के सम्राटो को या सिकन्दर अथवा आगस्टस सीजर आदि रोमराज्य के सेनापतियो को मिली। यह स्मरण रखना चाहिए कि सफल सेनापति अनेक बार सम्राट् बने। ग्रीस के जनसत्तात्मक राज्य को थोडे ही समय तक सफलता प्राप्त हो सकी। इसके सिवा उस जनसत्तात्मक समाज की जड मे भी गुलामी लगी हुई थी और उसमे ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी आदि दोषो की भी कमी न थी। ग्रीस मे स्पार्टा नामक राज्य जनसत्तात्मक न होने पर भी सबसे ज्यादा दीर्घजीवी हुआ।

मिस्र, मसोपटेमिया, ईरान और चीन मे कुछ छोटे-मोटे कबीलों का छोड राजा अथवा सम्राट् का शासन रहा। प्रबल सेनानायको और लडाकू सैनिकदलो का नियंत्रण करने के लिए राजा और धार्मिक नेताओ के वर्ग मे घनिष्ठ संबध स्थापित हुआ। धार्मिक नेताओ के वर्ग ने राजा के दैविक गुणो और परोक्ष शक्तियो

के विशिष्ट कृपापात्र होने की घोषणा की। राजा ने समाज में उनका प्रमुख स्थान निर्धारित किया और विधान तथा कानून-रचना में उनको अपना घनिष्ठ सहयोगी बनाया। पुरोहितों और धर्माध्यक्षों का वर्ग परोक्ष शक्तियों से सम्बन्धित और राजा से प्रतिष्ठित होने के कारण अन्य वर्गों से अधिक महत्त्व और सम्मान प्राप्त कर सका। कभी-कभी सैनिक वर्ग और धार्मिक वर्ग में संघर्ष हो जाता था, किन्तु उससे सामाजिक परिस्थिति में विशेष उलट-पलट न हो सका। चीन में भी राजा विधान सम्बन्धी कार्य विद्वानों की सहायता से कराता था। वहाँ भी राजा को देवपुत्र समझा जाता था, यद्यपि वहाँ ईरान भारत आदि के समान कोई संगठित वर्ग सिवा शिष्ट नौकरशाही के न था। रोम में भी पहले कुलीन वर्ग की राजसत्ता थी, किन्तु उसको हटाकर प्रबल सेनापति सम्राट् बन गये और देवत्व का दावा करने लगे।

समाजशास्त्र तथा इतिहास से यह ज्ञात पड़ता है कि प्रागैतिहासिक युग से ही सर्वत्र एक वर्ग चला आ रहा है जिसका सबंध परोक्ष शक्तियों से माना जाता था। उससे अन्य लोग डरते और उसका सम्मान करते थे जब ग्रामों का आरम्भ हुआ तब उन्होंने देवी-देवताओं के आलय बनाकर अपना संगठन किया। लोग उनका विश्वास करते थे और राजा आदि उनसे सहायता माँगते थे। नगर की वृद्धि के साथ उन लोगों की भी वृद्धि हुई। मेसोपटेमिया और मिस्र में जनता अपना अनाज उनके देवालयों में जमा करती और आवश्यकतानुसार लोग उनसे लेन-देन करते थे। जहाँ देवालय नहीं थे वहाँ भण्डार तो न बने, किन्तु उनका संगठन जारी रहा। वे लोग अन्य वर्गों की तरह अपने वंशजों को ही अपने परम्परागत अथवा आविष्कृत मंत्र-तंत्र और अन्य विद्याएँ सिखाते थे। उन्हीं लोगों में पढ़ना-लिखना, शिक्षा देना, हिसाब-किताब रखना प्रायः सीमित था। बौद्धिक और धार्मिक क्षेत्रों पर अधिकार रखने के कारण बिना सैनिक शक्ति के उनका समाज के सभी वर्गों पर गहरा प्रभाव हुआ। वे ही राजा अथवा समाजशक्ति के समर्थक थे। सैनिक वर्ग से कभी-कभी उनका संघर्ष हो जाता था, किन्तु उनके सामाजिक महत्त्व की व्यावहारिक क्षति न हुई। वे लोग युद्ध तथा व्यापार में देवों से प्रार्थना करने के सिवा बहुत कम भाग लेते थे। उनकी जीविका का मुख्य स्रोत श्रद्धालु लोगों का आतिथ्य और भेंट-पूजा थी। सामाजिक, व्यापारिक तथा औद्योगिक विशिष्टीकरण के साथ उनके संगठन, कर्तव्य तथा संस्कार आदि भी अधिक सीमित प्रतिष्ठित हो गये। सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधि के संरक्षण

में उनका विशेष भाग रहता था। परम्परागत नीतिव्यवहार को ध्यान में रखकर उन्हीं लोगों के निर्देश अथवा सम्मति से एशिया और मिस्र मे सर्वत्र न्याय की सीमाएँ, सामाजिक, व्यापारिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य के नियम बनाये गये। वे कानून के सग्रह विभिन्न नामों से अन्य देशो में प्रसिद्ध हुए। भारत मे वे ही सग्रह धर्मशास्त्र कहलाये। उनको प्रचलित करना राजा का कर्तव्य कमोबेश सभी एशियाई और मिस्री राज्यों में समझा जाता था। भारत मे तो यह बहुत स्पष्ट था कि "राजा प्रशास्तिधर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः।"

सभ्यता के विकास तथा संस्कृति के निर्माण में सर्वत्र विभिन्न वर्गों की गति एक-सी नही रही। कही और किसी समय एक वर्ग का, कही दूसरे का प्रभाव परिस्थितियों के अनुसार घटता-बढ़ता रहा। कार्थेज, ग्रीस और रोम मे व्यापारियो और सैनिको का, प्राचीन युग के एशियाई प्रदेशो मे पुरोहितों और सैनिको का तथा चीन मे सैनिकों और परम्परावादियो एवं विचारको का अधिक महत्त्व रहा है।

उपर्युक्त परिस्थिति मनुष्य ने जान-बूझकर नही गढी। जीवनरक्षा के लिए वह उसी प्रकार से स्वाभाविक थी जिस प्रकार पार्थिव सृष्टि में पहाड़, नदी, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि का आविर्भाव हुआ। मनुष्य के जीवन मे ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित होती गयीं जिनसे विवश होकर वह प्रवाह मे बहने लगा, जिसके ओर-छोर का पता उसे न मिला। परिस्थितियो का पूरा ज्ञान प्राप्त करना दुःसाध्य ही नहीं शायद असम्भव भी है। तथापि इतना प्रकाश अवश्य पडा है कि उसकी मोटी-मोटी बातो और उसके महत्त्व की रूप-रेखा का आभास होने लगा है। उन सबका वर्णन किसी शास्त्रविशेष का विषय यदि कुछ हो सकता है तो सम्भवतः वह इतिहास है। अंग प्रत्यंग में कुछ गहराई से घुसने के लिए अनेक शास्त्रो की रचनाएँ होती चली जा रही हैं। भूमिका मे केवल मोटी बातों की ओर कुछ इशारा करना आवश्यक है, इसलिए प्रतीत होता है कि इस पुस्तक के पाठकों को कुछ ऐसे सूत्र मिल जायँ जिनसे वे देश विदेश के इतिहास को कुछ समझ-बूझकर पढ़ सके। इस उद्देश्य से विषय का कुछ मुख्य किन्तु साधारण श्रेणियो मे संक्षिप्त दिग्दर्शन देने का प्रयत्न किया गया है।

मनोवृत्ति

प्रकृति के जटिल बन्धन से कुछ छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को लाखो वर्ष तक भटकना और महान् कष्ट झेलना पड़ा है। प्राण-रक्षा उसका स्वभावजनित

उद्देश्य रहा । अतः प्राण उसके लिए केवल स्वाभाविक ही नहीं, वल्कि सवसे महत्त्वपूर्ण विपय हो गया ।

जव किसी समुदाय को कृपि, गोरक्षा के लिए सुन्दर और उपयोगी भूमिभाग मिल जाता है और उसके लाभ से वह परिचित हो जाता है तो उसको अपने अधिकार में रखने के लिए जी तोडकर प्रयत्न करता है । उसी मनोवृत्ति का छोटा स्वरूप व्यक्ति अथवा कुटुम्व के अपने हिस्से की रक्षा करने मे दिखाई देता है । वह मनोवृत्ति पीढी दर पीढी मजबूत होती जाती है और देश-भक्ति का रंग पकड़ लेती है । यद्यपि उसकी जड़ में अनिवार्य स्वार्थ है, फिर भी उस भावना को भावुकता और आत्मत्यागादि का रूप प्राप्त हो जाता है, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी', 'हुव्वुलवतन अजमुल्के सुलैमा खुश्तर, खारेवतन अज सम्वुले रैहा खुश्तर' आदि काव्योक्तियों से वह सुसज्जित एवं सुवासित हो जाती है । अन्य भावो की तरह आरम्भ मे उसका स्वरूप छोटा किन्तु स्थायी दिखाई पड़ता है, किन्तु अनुकूल परिस्थितियों में धीरे-धीरे वह देश, राज्य एवं साम्राज्य के आकार का एवं विशाल होता चलता है । यदि परिस्थितियां प्रतिकूल होती गयी ती प्रायः संकुचित होते-होते वह अपने प्रारम्भिक स्वरूप में चला जाता है अथवा कभी-कभी देश-काल को उल्लंघित करके किसी अनिश्चित काल्पनिक मार्ग की ओर संकेत एवं आमंत्रण करता है; 'उदारचरितानांतु-वसुधैव कुटुम्वकम् ।'

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से यह अनुमान करने में कोई विशेष आपत्ति न होगी कि व्यक्ति और विशेपतः कुटुम्व, समाज आदि मे सभ्यता के आरम्भ मे जमीन और जन की किन्तु आगे चलकर जर की प्राप्ति तथा उसकी रक्षा करने की लालसा, परिस्थितिजन्य से स्वभावजन्य हो जाती है। अकेले अथवा छोटे कुटुम्व, कुल अथवा वंश को कुछ समय मे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मरक्षा के लिए विधान, संगठन और शक्तिसंचय की अनिवार्य आवश्यकता है। तदनुसार वह सामाजिक, व्यावहारिक एवं आर्थिक नीति का चिन्तन और उनकी रचना का प्रयत्न करता है और उसके संरक्षण और प्रचलन के लिए राजनीतिक, सामाजिक आदि संस्थाएँ वनाता जाता है । ये सव क्रियाएँ देश, काल, पात्र, तथा साधन आदि के अनुकूल वनती, वढ़ती या घटती रहती है। पत्नीव्रत, पतिव्रत, स्वामिभक्ति, राजभक्ति, परिवार-कर्तव्य, जातिसेवा, देश-सेवा आदि उपर्युक्त मनोवृत्ति के रूप-रूपान्तर अथवा भेद-प्रभेद है । मर्यादापालन, जातिधर्म, कुलधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, विधि-निषेध आदि की भावनाएँ उसी एक स्रोत से निकली है ।

मानवशास्त्र तथा इतिहास उपर्युक्त मनोवृत्ति के अन्य कुछ प्रतिफलों को प्रदर्शित करते है। प्राय. यह देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य, कुटुम्ब, वर्ग, समाज, जाति अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझते हैं। मिस्री, अरब, ग्रीक, ईरानी, चीनी, जापानी, भारतीय आदि सब देशिको और जातियों में यह भाव मिलता है। उसके लिए आत्माभिमान, आत्मसम्मान जात्यभिमान, देशाभिमान आदि शब्दों का प्रयोग होता हे। उनकी हानि दु.खद और निन्दनीय मानी जाती है। मनुष्य अपना उत्कर्ष, सम्मान तथा लाभ प्राप्त करने के लिए दूसरे से स्पर्धा करता, संघर्ष करता और कभी-कभी दूसरे का अपकर्ष ही नही, विनाश करने से भी नही हिचकिचाता। यदि उससे कुल, जाति, देश, राज्य को लाभ हो तो वह अवगुण न समझा जाकर गुण समझा जाता है। षड्यन्त्र, कूटनीति, संघर्ष, युद्ध आदि की जड़ में ईर्ष्या, लोभ, मत्सर, द्रोह आदि गुप्त अथवा प्रत्यक्ष रूप मे उपस्थित रहते हैं। पार्थिव कारणों से जो मनोवृत्तियाँ उत्पन्न होती गयी उनका घात-प्रतिघात-युक्त प्रवाह प्रारम्भ से आज तक चल रहा है। ससार के रगमच पर उसके प्रदर्शन की झलक इतिहास शास्त्र मे अन्य शास्त्रो की अपेक्षा कुछ अधिक दिखाई पड़ती है। समय-समय पर उसकी प्रतिक्रिया होती रहती है जिसका सकेत उचित प्रतीत होती है।

धार्मिक स्थिति

मनुष्य को लाखों वर्षो तक प्राकृतिक कठिनाइयो और आपत्तियो के निवारण के लिए लड़ना-भिड़ना पड़ा। यहाँ तक कि युद्ध और सघर्ष करना उसके जीवन का व्यवसाय हो गया। भोजन, वसन एवं छाजन के सिवा उसको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष शत्रुओ से बचने और युग-युगान्तर की निरन्तर विषमताओ और आघात प्रत्याघात की थकान से विश्राम पाने की इच्छा स्वाभाविक हो गयी। उसके लिए अनेक प्रयत्न होते आ रहे ह जिनकी परिभाषाएँ घटती-बढती चली जा रही हैं। रत्नाकरजी की उक्ति संक्षेप मे इसी स्थिति की ओर सकेत करती है—"केते मन्वन्तर निरन्तर व्यतीत ह्वै है केती पाप पुण्य परिभाषा जुटि जायगी।" जहाँ या जब जिनकी जीवन की आवश्यकताएँ सरलता से पूरी हो जाती हैं वहाँ आरामतलबी बढ़ती है और जहाँ कठिनता प्राप्त होती है वहाँ परिश्रम की प्रशंसा होती है। सांसारिक जीवन की विभीषिका से व्यथित होकर अथवा आरामतलबी की ससीमता और भोगशक्ति की क्षीणता से चिन्तित होकर मनुष्य अक्षय सुख-शान्ति की कल्पना करता हुआ निर्द्वन्द्व मुक्त होने के विधि-विधान के दर्शन, योग-प्रयोग, विप्रयोग

के मार्ग खोजता है और अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क और कुतर्क करता चलता है। उसी प्रयत्न के फलस्वरूप नाना प्रकार के दर्शनशास्त्र उसकी सफलता अथवा विफलता के द्योतक हो रहे हैं। यद्यपि गीता के अनुसार 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।' तथापि कार्याकार्यविनिश्चय पर विचार चलता जा रहा है। प्रत्येक देश की परिस्थिति देश, काल, पात्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इसी दृष्टिकोण से देखने पर उसका समझना आसान हो जाता है। शाश्वत की कल्पना में मौलिक और स्वल्पकालिक स्थितियों का प्रभाव शशी के गर्भ में शशांक के समान प्रतिबिम्बित होने लगता है।

धर्म का विकास

धर्म के आरम्भ और विकास के विषय में भी वही कठिनाई है जो पुरातन संसार के अन्य क्षेत्रो मे मिलती है। सभ्यता की निम्नतर दशाओं मे फँसे हुए मनुष्यो के व्यवहारों और विश्वासो, मनोविज्ञान तथा ज्ञात धर्मो के लिखित अथवा अन्य प्रकार के अवशेषों के सहारे धार्मिक विकास का अनुमान किया जाता है। विज्ञानवादी किसी मनुष्य अथवा समूहविशेष को ईश्वर द्वारा धर्मग्रन्थ का प्रदान या उद्घाटन नहीं मानते। उनके विचार से अन्य सस्थाओ के समान धर्म का भी धीरे-धीरे विकास हुआ है। उसकी जड भी मनुष्य की अनुभूति, अनुमान, ज्ञान आदि में ही ढूढना उचित है। उनके मत से मनुष्य को नैसर्गिक घटनाओ को देखकर आश्चर्य, भय और मन्दजिज्ञासा के साथ ही साथ अपनी दुर्बलता और बेबसी का अनुभव हुआ होगा। जलप्लाव, दवाग्नि, बिजली, तूफानी वायु, आकाश तथा धरती के ओर-छोर की असीमता, सघन वनो की विभीषिका, हिंसक एवं प्राणघातक जीव-जन्तुओ के उपद्रवो और जीवन की अस्थिरता आदि का प्रभाव सामूहिक रूप से उसको बहुत भयंकर प्रतीत हुआ होगा। साथ ही साथ उसे जल, अग्नि, वायु, कन्द-मूल, फल, सूर्य, चन्द्र आदि से प्राप्त लाभो अथवा सुख का भी अनुभव हुआ होगा। जीवन के नाशक तथा रक्षक दोनों पक्षो के बीच में मानव की मन्द बुद्धि बहुत समय तक झूलती रही होगी। कालान्तर मे परोक्ष शक्तियो की सत्ता में उसका विश्वास जम गया होगा।

दूसरी समस्या परोक्ष शक्तियों को सानुकूल करने की रही होगी। अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल उनको उन्हीं विधियों से प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया जिनसे मनुष्यों का तोष होता था। उन्हें रिझाने-बुझाने के लिए कोलाहल,

नाच, गाना, स्वाँग, फल, फूल, अन्न, मद्य, भस्म, मछली, मैथुन, अभ्यर्थना, प्रार्थना, भूख, प्यास, उपवास, भयंकर शीत तथा गरमी का सहना, नरबलि, यहाँ तक कि अपने रक्त, अंग तथा प्राण की भेंट चढाने के विधान कमोबेश सर्वत्र बन गये। उन सब कार्यो का विधिपूर्वक सम्पादन करने के लिए ऐसे लोगों का, जिनका अदृश्य रूप से विभिन्न शक्तियों से सम्बन्ध माना जाता था, समाज मे विशेष मान होने लगा।

भौतिक सत्ताओ मे सूर्य, चन्द्र, आकाश, अग्नि, जलद, नद, धरती, वायु, वन, पर्वत आदि को विशेष महत्त्व मिलना स्वाभाविक था। उनमे से कृषिप्रधान देशो में सूर्य का और मरुभूमि तथा वनस्पति-प्रधान क्षेत्रो मे प्राय. चन्द्रमा का स्थान ऊँचा माना जाता था। चीन वाले आकाश (दैव) की अनन्तता के कारण उसको विशेष रूप से मानते थे। सूर्य की उपासना भारत, ईरान, मिस्र, रोम व यूरोप में प्रचलित हुई। अरब, यूनान, मेसोपटेमिया मे चन्द्रमा का विशेष महत्त्व माना जाता था। कभी देवताओं में अपने-अपने भक्तो का पक्ष लेकर युद्ध छिड़ जाता था और भक्त अपने इष्ट की अभ्यर्थना और गुणगान तथा दूसरों के इष्ट देवता की निन्दा और निरादर करते थे। लोग अनेक देवताओ का सम्मान करते थे यथा, "शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो वृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि"—इत्यादि। यूनान, रोम, मेसोपटेमिया और भारत में कुछ इस प्रकार की व्यवस्था थी।

प्राचीन युग के देवताओ की प्राय. मनुष्यो की सी प्रवृत्तियाँ जैसे काम, क्रोध, मोह आदि, होती थी। पौराणिक ढंग की कथाएँ मेसोपटेमिया, एशियाई कोचक, मिस्र, ग्रीस और रोम मे प्रचलित थी। देवताओ और मनुष्यो मे फिर भी वडा भेद था। मनुष्य रोग, जरा और मृत्यु के शिकार होते, किन्तु देवता उनसे मुक्त होते थे। देवियो की भी कल्पना देवताओ की कल्पना से मिलती-जुलती थी। उनमे भी करीव-करीव वैसे ही गुण और दोष होते जो देवताओ मे पाये जाते थे। साराश यह कि मनुष्यो ने देवताओ और देवियो की कल्पना अपनी आकृति और प्रकृति के अनुसार कर ली।

ईश्वर की कल्पना

धार्मिक विचारों के प्रसंग मे ईश्वर की कल्पना के स्रोतों और मानव जीवन मे उसकी सत्ता के विषय मे विचार करना उपयुक्त होगा। अन्यत्र यह बताया

गया है कि नैसर्गिक घटनाओ से उनके पीछे संचालक शक्तियों की सत्ता में मनुष्य के विश्वास का आरम्भ हुआ। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे शक्तियाँ मचल जाने अथवा अप्रसन्न होने पर हानि और प्रसन्न होने पर लाभ पहुँचा सकती है। कालान्तर मे व्यक्त गुणों के पीछे भी देव या देवी की कल्पना बढती गयी। उसके पश्चात् यह विचार उत्पन्न हुआ होगा कि शक्तियो के व्यक्त रूपो मे विभिन्नता होते हुए भी वस्तुतः एक प्रधान सत्ता है, जो विविध देवी-देवताओं मे व्याप्त है। इस धारणा का भी स्रोत बाह्य जगत् में पाया गया। जिस प्रकार वर्षा का जल, नदी का जल, जलाशयों या समुद्रो का जल वस्तुतः जल ही के विभिन्न प्रकार है। दवाग्नि, सूर्याग्नि, भोजन पकाने की अग्नि, मशाल की अग्नि, आदि विभिन्न नामों मे प्रयोग एक अग्नि नामक सत्ता का है।' जो कभी प्रकट और कभी अप्रकट रहती है—"अग्निर्यथैं को भुवनं प्रविष्टः", "जल हिम उपल बिलग नहि जैसे।"

दूसरी विचारधारा प्रकृति तथा मनुष्य के व्यापारो मे कारण और कार्य के संबंध पर विचार करने से निकली। बिना बीज के वृक्ष, बिना अग्नि के उष्णता अथवा प्रकाश, बिना जनक या जननी के सन्तति की सभावना नही, जैसे ही बिना कर्ता के सृष्टि का होना असम्भव है। इसलिए सृष्टि के साथ ही उसके विधाता की सत्ता मानना अनिवार्य है। जब मानव-समाज मे नेतृत्व के विकास ने राजा तथा सम्राट् की स्थिति प्राप्त की, जिसके बिना शान्ति, न्याय अथवा सामाजिक जीवन की रक्षा नही हो सकती। तब एक ऐसी सत्ता की कल्पना हुई जो प्राकृतिक नियमो के विधानो को रचती और उन्हे नियंत्रित करती है। उसके बिना न तो सृष्टि की रचना और न प्रकृति का नियमित व्यापार चल सकता है। जिस प्रकार दुष्टो और अत्याचारियों से राजा अथवा सम्राट् रक्षा करता है, उसी प्रकार ईश्वर आधि-व्याधियो से रक्षा करता है। वह साहूकार है 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' अथवा 'त्वमेव शरण मम' आदि उक्तियाँ उस विचार-धारा को प्रतिध्वनित करती है।

ईश्वर, देवी और देवताओ की कल्पना को दार्शनिक विचारको ने तर्क से, प्रज्ञावादी योगियो ने प्रज्ञा और अनुभूति से और कवियो ने भावनाओं से परिष्कृत और सुसज्जित करके इतना सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक, सारगर्भित और पुष्ट कर दिया कि उनका भौतिक आधार लुप्त-सा हो गया और वे अलौकिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विचार श्रेणियो मे प्रतिष्ठित हो गये। देवताओं और विशेष कर ईश्वर की सत्ता का ज्ञान मानव का महान् क्रान्तिकारी अन्वेषण एवं उपलब्धि सिद्ध हुआ। विज्ञान अपने ढंग से उसकी खोज करने मे तत्पर है। साधा-

रण व्यक्तियों के लिए विश्वास, कीर्त्तन, पूजन के सिवाय अन्य कोई उपाय न मिल सका।

प्राचीन मिस्र मे वहाँ के सम्राट् एखनातोन ने ईसा से १३७७ वर्ष पूर्व एकेश्वरवाद का खुल्लमखुल्ला प्रतिपादन किया, जिसके कारण वहाँ के लोगो मे असन्तोप फैल गया। उसकी मृत्यु के वाद उस सिद्धान्त का मिस्र के सम्राटो द्वारा प्रचार न हुआ। किन्तु ईसा के पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व तक एकेश्वरवाद का प्रचार भारत, ईरान, फिलिस्तीन में हो गया। 'एको देवो सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' नये एकेश्वरवाद की पूर्ण उपनिषदीय व्याख्या है। वस्तुतः वैदिक युग की सहिताओ मे भी उसके इतस्ततः प्रमाण मिलते है। किन्तु उपनिपदो मे उस पर विशेष जोर दिया गया है। एकेश्वरवाद के साथ ही साथ चीन को छोड़कर सर्वत्र सविता की उपासना पायी जाती है।

ईश्वर की अमूर्त कल्पना दुस्साध्य होने के कारण सम्भवतः सूक्ष्मतत्वदर्शियों तक सीमित रही होगी। सर्वसाधारण के लिए उसकी मूर्त कल्पना ही सम्भव थी। विभिन्न वातावरणों तथा रुचियो के कारण उसकी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गयी, जो 'भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्" आदि वचनों से प्रकट होती है। कहीं उसके पुरुष रूप में, कही स्त्री रूप मे, कही दोनों मे सयुक्त और कही विकृत पशु पक्षी की मुखाकृति सहित, कही भयानक, कही वीभत्स और कही सौम्य रूप में कल्पना की गयी। परमेश्वर के सिवा अनेकानेक शक्तियो के अधिष्ठाता देवो और देवियों की मूर्तियाँ बना ली गयी। (मूर्तिपूजा का प्रचार पश्चिमी एशिया, यूनान मिस्र आदि देशो में विशेष रूप से हुआ। सिन्धु नद की संस्कृति अथवा सभ्यता समवतः पश्चिम से भारत मे आकर बौद्ध युग में अच्छी तरह प्रचलित हो गयी।)

धर्म सम्बन्धी दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठा कि क्या मनुष्य के शरीरान्त के साथ उसका नितान्त विनाश हो जाता है अथवा कुछ बच जाता है। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की उत्पत्ति, सूर्यादि का अन्त होकर उदय होना, रात्रि के बाद दिन आदि दैनिक अनुभवों ने यह विचार पुष्ट किया कि शरीर के निधन के उपरान्त कही न कही व्यक्ति की सत्ता अवश्य रहती होगी। उस सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध विचार फैले, किन्तु सत्ता में विश्वास चीन से यूरोप और मिस्र तक किसी न किसी रूप मे जमा रहा। शवो की रक्षा और दिवंगत जीवों की पूजा-

सेंट आदि का मलाधार यही विश्वास है। भारत मे तो जीव के विषय में बहुत विचार हुए और उसको ब्रह्म का अंश कह दिया गया, यथा "न जायते म्रियते वा कदाचित्—अजो नित्यः शाश्वतोऽय पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"

जरा और मृत्यु की अवश्यम्भावी घटना ने मानव ससार और विशेष कर दार्शनिको के लिए एक कठिन समस्या उपस्थित की। अधिकाश चिन्तको ने सासारिक जीवन की अन्ततोगत्वा विफलता देखकर मरणोपरान्त सुख प्राप्ति की वैसी ही कल्पना की, जैसी देवी-देवताओ के सम्बन्ध मे उनकी धारणा थी। कुछ को जीवनचक्र के अवसान में मुक्ति दिखाई पड़ी। किसी ने इसी जीवन मे सासारिक सुखो के उपभोग को नकद सत्य मानकर मरणोपरान्त स्थिति को कपोलकल्पित कह डाला। अबाध एव अतिशय स्वार्थ, अनियमित शारीरिक तथा मानसिक वासनाओं को समाज के लिए ही नही, वरन् व्यक्ति के भी हित के विरुद्ध अनुभव कर उसको सीमित तथा नियंत्रित करने के यम और नियम बने। धार्मिक एव नैतिक विचारो की जड उपर्युक्त स्थितियो और अनुभवों के आधार पर वैज्ञानिक इतिहासकार इसलिए मानते है कि वे स्वयसिद्ध है और उन्हे किसी परोक्ष शक्ति द्वारा जगत्-सचालन के मानने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नही होती। कर्तव्याकर्तव्य, पाप-पुण्य की परिभाषाएँ भी देश, काल, पात्र की स्थितियो के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

फिर भी इतिहास दार्शनिको, तत्त्वज्ञो, योगियो तथा धर्मप्रवर्तकों के क्षेत्र में हस्तक्षेप की अनाधिकार चेष्टा नही करना चाहता, क्योकि वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण के सिवा अन्य दृष्टिकोणो की संभावना को असभव अथवा मिथ्या कहने का आग्रह करना अनुचित एव अनावश्यक समझता है। उसका केवल यही कहना है कि मनुष्य की विचारधारा और धारणा उसके ऐहिक जीवन के अनुभवो, सफलताओ विफलताओ, आशाओ और निराशाओ से उत्पन्न तथा विकसित पायी जाती है।

परिस्थितियों को जीतने का प्रयत्न

उपर्युक्त विवेचन द्वारा मानवसंसार की परिस्थितियो के महत्त्व पर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया। सम्भव है कि कुछ पाठकों को यह प्रतीत हो कि मनुष्य केवल परिस्थितियो का दास है, वे जैसा उसे घुमाती है वैसा उसका व्यवहार होता जाता है, 'केनापि देवेन हृदिस्थतेन तथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि, इसलिए दासता से मनुष्य की मुक्ति नही हो सकती। आर्थिक, सामाजिक, राज-

नीतिक, नैतिक आदि समस्याएँ कुछ ऐसी उलझ गयी हैं कि उनसे निस्तार पाना असम्भव सा है. क्योकि विश्व की प्रवृत्ति सरलता की ओर से जटिलता की ओर विकसित होती चली आ रही है। यदि प्रकृति की यही निश्चित गति है तो आँख मीच और कान दबाकर चलने के सिवा कोई अन्य उपाय नही दिखाई देता। इस प्रकार की धारणाएँ ऐतिहासिक युगो मे भी बनती रही हैं जिनके फलस्वरूप अनेक मत-मतान्तरो का प्रचार हुआ। प्रत्येक धर्म का इतिहास उस विश्वव्यापी रोग की चिकित्सा निर्धारित करने का प्रयत्न-सा करता दिखाई पड़ता है। रोग के विविध निदान निर्धारित किये गये और उनकी शान्ति के उपाय सुझाये गये जिनका अनुमान प्रत्येक मुख्य धर्म और दर्शनों के संक्षिप्त वर्णन से किया जा सकता है। भव-चक्र से निकलने के लिए किसी ने तृष्णा का नाश, किसी ने वैराग्य, किसी ने ईश्वर की शरण, किसी ने सृष्टि के नैतिक विधान का अनुसरण आदि उपाय बताये। उन सबो मे प्रायः ससार को असार बनाने की धारणा प्रकट अथवा गुप्त रूप से छिपी है। संसार अथवा चित्त के रोग की सत्ता मानकर उसके निवारण के उपायो में विचारक लगे हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि सभ्यता अथवा सस्कृति की गतिविधि से असन्तोष बराबर जारी रहा।

विस्तार की प्रवृत्ति

इतिहास के अध्ययन से एक तो यह जान पडता है कि मनुष्य बर्बर अज्ञान की तथा प्रकृति की दासता से मुक्त होता और उस पर विजय पाता जाता है। प्रकृति के रहस्यो के पर्दे हटते चले जाते हैं जिससे विज्ञान, दर्शन आदि की उन्नति निरन्तर हो रही है। मनुष्य का सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध छोटे-छोटे क्षेत्रो मे सीमित न रहकर उत्तरोत्तर बडे क्षेत्रो की सीमाओ का उल्लघन कर किसी बडी इकाई की ओर जान-बूझकर अथवा विवश होकर बढ रहा है। छोटे ग्राम बढकर नगर मे, नगर राज्य मे, राज्य साम्राज्य मे, क्रमश निमग्न होते चले गये। मिस्र तथा ईरान, अलेकजेण्डर के साम्राज्य के गर्भ मे छिप गये। रोम नगर ने बढते-बढते स्काटलैण्ड से लेकर एशियाई कोचक और मेसोपटेमिया तथा मिस्र और उत्तरी अफ्रीका तक साम्राज्य फैला लिया। पाटलिपुत्र का राज्यविस्तार कश्मीर से मैसूर और बंग से सिन्धु नद के आगे तक बढ गया। भारत मे चक्रवर्ती राज्यस्थापन करना राजा का मुख्य आदर्श और धार्मिक कर्त्तव्य-सा हो गया। चीन के राज्य की सीमाएँ भी उत्तरोत्तर बढती चली जाती थीं।

ऐसी ही प्रवृत्ति आर्थिक क्षेत्रो मे, विशेषतः व्यापार के क्षेत्र में, दिखाई पड़ती है। धार्मिक प्रचार तो हर प्रकार की सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ना रहा है। यूनान मे मिस्र तथा पश्चिमी एशिया के, एवं रोम मे ईरान, मिस्र, यूनान और फिलिस्तीन के मतों का प्रचार हो गया। बौद्ध धर्म भारत के बाहर फारस, मध्य एशिया और चीन मे फैल गया। मनुष्य मात्र को मानवी एकता के सुनहरे तारों से बाँधने के लिए बुद्ध, जरथुष्ट्र, ईसा आदि प्राणपण से प्रयत्न करते रहे। सारांश यह कि सभ्य संसार विश्वोन्मुख अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर बढ़ता जाता था। रूप-रंग, गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता, को परिस्थितियों के दबाव और विचारो के परिष्कार से कम करने के आन्दोलन सारे सभ्य संसार में प्राचीन युग मे ही चलने लगे थे।

जिस प्रकार मनुष्य अपने सामूहिक विराट रूप की रेखाएँ देखने लगा उसी प्रकार मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का सूक्ष्म दर्शन होने लगा। मनुष्य को स्वार्थ के अलावा परमार्थ, शरीर मे जीव और जीव मे विलक्षण शक्तियों का ज्ञान होने लगा। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का मूलगत संबध, जीवन की महत्ता, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान पूर्व से पश्चिम तक प्राचीन युग में ही शीघ्रता के साथ फैल रहा था। उसे सामाजिक तथा मानसिक रोगो के निदान और उनको दमन-शमन करने के उपाय निकालने की क्षमता का अनुभव हो गया। ऐसी दशा मे यह कहना कि मनुष्य मे अपने तथा समाज के सुधार की शक्ति नही; विभ्रमात्मक है। मनुष्य अपना भविष्य स्वयं बना रहा है। परिस्थितियो को समझने और उनको स्वानुकूल बनाने की चेष्टा इतिहास मे बराबर दिखाई देती है। यह बात और है कि कभी परिस्थितियाँ उसे दबा लेती हैं किन्तु अन्ततोगत्वा वह उनको बदलने में सफल हो जाता है।

प्राचीन संसार मे पाँच सहस्र वर्षो मे सभ्यता तथा संस्कृति का जैसा प्रचार हुआ वैसा पहले लाखो वर्षो मे न हो सका था। शान्ति, करुणा, दया, परमार्थ, सदसत् के नारे चीन, भारत, ईरान, यूनान, रोम. यूरोप, मिस्र सभी देशों मे लगने लगे थे। कल्पना और ज्ञान के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान उत्तरोत्तर खिंच रहा था। सम्राटों ने भी उसका सम्मान किया, किन्तु व्यावहारिक नैतिक जीवन मे उसको प्रतिष्ठित करना प्राचीन युग मे सम्भव न हो सका। साम्राज्यवाद की सीमा पर सभ्यता ठिठक-सी गयी। राजनीति और अर्थनीति का धर्मनीति से समन्वय न हो सका। उलटे धर्म और नीति पर भी उनका रंग चढ़ गया।

जिस प्रकार हजारो वर्षो के भयकर संघर्ष के पश्चात् मनुष्य अपने संकुचित क्षेत्र को उपर्युक्त सीमाओ तक बढा सका है, उसी प्रकार उन सीमाओ को जहाँ उसका विकास रुक गया है, सघर्ष द्वारा तोडने की क्षमता उसमे होना ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है। मनुष्य को बाहरी प्रकृति से उतनी आशका न रही जितनी बाहरी परिस्थितियों के फलस्वरूप आन्तरिक मनोवृत्तियो से। यह कहना केवल अशत. सही है कि मनुष्य पशु है और स्वार्थ-परायण है, किन्तु यह भी सत्य है कि उसके गुण, कर्म और स्वभाव में सभ्यता और सस्कृति के विकास के साथ ऐसे परिवर्तन हुए और हो रहे हैं जो उसके जीवन के स्तर को बहुत ऊँचाई तक ले जाने की क्षमता रखते हैं। व्यक्तिगत जीवन और कौटुम्बिक अथवा छोटे पैमाने के सामाजिक जीवन में भी उसकी ऊर्जस्विना का प्रदर्शन समय-समय पर होता रहा है, किन्तु उसको सभ्यता और सस्कृति के रूप मे संसार भर में फैलने मे यदि हजारों नही तो सैकड़ो वर्ष लगने की अवश्य सम्भावना मानी जा सकती है।

विकास क्यों रुक गया ?

इस सन्दर्भ मे यह विचार उठ सकता है कि साम्राज्य की सीमा पर विकास क्यों रुक गया। उसका सबसे बडा कारण यह हुआ कि तत्कालीन विधान के अन्तर्गत भ्रमणशील जनसमुदाय जो अर्ध-बर्बर दशा मे इधर-उधर मारते-खाते फिरते थे, शामिल न किये गये। पश्चिमी यूरोप, पश्चिमी और दक्षिणी एशिया तथा चीन का तो संगठन हुआ, किन्तु उनके सीमा सम्बन्धी प्रश्न हल न हो सके। इसके सिवा उत्तरी और पूर्वी यूरोप, मध्य एशिया, उत्तरी चीन, अरब तथा अफ्रीका के बर्बर कबीले प्राचीन सस्कृति तथा सभ्यता से वंचित से रह गये। ससार के अन्य लोगो के विषय मे तो उस समय सर्वथा अज्ञान था। ऐसी दशा मे विश्वव्यापी विधान की सम्भावना स्वप्न मात्र-सी थी।

दूसरी कमी यह थी कि प्राचीन सभ्यता गुलामी और दासता को दूर न कर सकी। समाज का एक बडा अंग रोगग्रस्त रहा जिससे वह कमजोर रह गया। तीसरा दोष अमीर और गरीब तथा शिक्षित और अशिक्षित वर्गों के बीच में गहरी खाई थी। चौथी आपत्ति धार्मिक असहिष्णुता के कारण उत्पन्न हुई। ईरान और रोम में धार्मिक सहिष्णुता थी, किन्तु वहाँ के निवासियों में उस श्रद्धा और गभीरता की कमी थी जो मनुष्य के जीवन को मधुर, परिष्कृत एवं उदार बना सकती है। ईसाई धर्म को शुरू मे जो संघर्ष करना पड़ा उसका प्रभाव उनको

असहिष्णुता की ओर खींच ले गया। भारत, चीन तथा ईरान में कुछ सहिष्णुता थी, किन्तु कई कारणों से उनकी प्रगति भी रुक गयी। राजनीतिक स्तर को धर्म उतना न उठा सका जितना राजनीति उसे नीचे गिराने में समर्थ हुई। बौद्ध धर्म ने संसार को असार और दुःखमय कहकर मानवजीवन और सांसारिक संस्थाओं के प्रति उदासीनता पैदा कर दी। ईसाई धर्म की तरह उसका भी गठबन्धन राजनीति से हो गया, जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा अच्छा न हुआ। अशोक की धर्मविजय की कल्पना और उसके द्वारा मनुष्य को सुधारने का प्रयत्न उसी के साथ समाप्त-सा हो गया। चीन में अवश्य सामाजिक जीवन और संस्था के सुधार के लिए कई प्रकार के सिद्धान्त निकले, किन्तु उनको कार्य रूप में लाने के प्रयत्न अनेक कारणों से सफल न हो सके। यूनान, रोम तथा बर्बरों के साथ संघर्ष होने के कारण ईरानी धार्मिक आन्दोलन के यथार्थ प्रचार में बाधा पड़ती ही रही। ईरानी समाज स्वयं उससे अधिक लाभ न उठा सका। सारांश यह कि आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं का यथेष्ट समन्वय न हो पाया जिससे मानवता का विकास तेजी न पकड़ सका। पाँचवी बाधा आदान-प्रदान के शीघ्र वाहनरूप साधनों की कमी थी। घोड़ो और रथों ने वाहनों में तेजी पैदा कर दी जिनका उपयोग महत्त्वपूर्ण, किन्तु सीमित था। भाषा, लेखन-कला की विभिन्नता के सिवा कागज के अभाव से आदान-प्रदान मे भारी रुकावटें थी। मार्गों की असुविधाएँ तथा और खतरे बड़ी भारी रुकावटें पैदा करते थे। उनसे नगर तथा छोटे राज्य का तो काम चल जाता था, किन्तु बड़े साम्राज्य की आवश्यकताएँ पूरी न हो पाती थी। प्रगतिशील संसार की जरूरत उनसे पूरी न हो सकती थी।

एक कारण यह भी बताया जाता है कि प्राचीन युग मे स्त्रियों को अपने विकास का बहुत ही कम अवसर मिला। उनका मुख्य कर्तव्य जननी की हैसियत से वंश और कुल को शुद्ध रखना, गृहस्थी के साधारण काम करना और मनुष्यो के विनोद के हर प्रकार के साधन उपस्थित करना था। उन क्षेत्रो मे उन्होने अच्छा योग प्रदान किया, किन्तु पुरुषो से उनका स्थान निम्न रहने के कारण वे अन्य क्षेत्रों में भाग न ले सकी। युद्ध के सिवा अन्य सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कार्यो मे वे सम्भवत. अच्छा प्रभाव डाल सकती थी। जो हो, उपर्युक्त कारणो के सिवा सम्भव है और भी कारण हो, किन्तु इतिहास मे वे उतने स्पष्ट नही मिलते।

कुछ विचारको का कहना है कि चतुर, स्वार्थी और कुटिल लोगो अथवा वर्गों ने अपने लाभ के लिए समाज की रचना जान-बूझकर की। उस दृष्टि से उन्होंने इतिहास की व्याख्या भी कर डाली। वह व्याख्या इसलिए सन्तोषजनक प्रतीत नही होती कि सभ्यता और संस्कृति का प्रत्येक स्तर पिछले स्तर की कमियो को दूर कर नवीन परिस्थितियो के अनुकूल बनता चला जाता है। जब नये स्तर की अपूर्णता का तीव्रतर अनुभव होने लगता है तब उसे बदलने की प्रेरणाएँ और प्रयत्न होते हैं, यहाँ तक कि नवीन विधान प्रस्फुटित हो जाता है।

इतिहास का प्रवाह अखण्ड है

इसी विधि से मानव-इतिहास की शृंखला क्रमबद्ध है। समाज के स्तर के बदलने मे कभी कम और कभी अधिक समय इसलिए लगता है कि व्यक्ति की तरह समाज भी परिवर्तन से झिझकता है। अतः जब तक एक स्तर के दोषो का पूर्ण परिपाक नही होता और उसकी अनुपयोगिता का तीव्र अनुभव नही हो जाता तब तक पूर्णतया काया-पलट नही होता। प्रत्येक नवीन विधान पिछले स्तरों से ही विकसित होता चलता है। इसीलिए इतिहास और समाजशास्त्र के अधिकाश विद्वान् केवल इतिहास के अखण्ड प्रवाह के सिद्धान्त को मानते हैं। इतिहास के निरूपण के सुभीते के लिए ही युगो मे विभक्त करने का ढग अवैज्ञानिक होने पर भी चलता रहा है। जब गहरा और भारी परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है तब उसके लिए युग शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। अभी तक सभ्यता और सस्कृति का कोई ऐसा स्तर नही हुआ जो कमियों और दोषो से नितान्त मुक्त हो। क्योकि तब तक मानवसमाज का विकास होता रहेगा जब तक वह अपनी पराकाष्ठा पर नही पहुँचता। सभ्यता के किसी भी स्तर को गुणशून्य अथवा गुणपूर्ण कहना भ्रमपूर्ण होगा। प्रत्येक गुण दोषो की जाँच करना इतिहासप्रेमी का कर्तव्य है।

इतिहास की गतिविधि के अनुसार जब तक व्यक्ति तथा समष्टि का समन्वय न होगा तब तक ससार में अशान्ति और भयंकर टक्करें होते रहना अनिवार्य सा प्रतीत होता है। प्राचीन इतिहास विश्व-इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अश होने पर भी मनुष्य के विकास की लीला का एक खण्ड-काव्य ही है। उस युग के अनन्तर क्या हुआ और क्या हो रहा है, यह मध्य तथा आधुनिक युग के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। इतिहासज्ञो की धारणा है कि इतिहास विगत युगो को समेटता हुआ अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रहा है, उसका दूसरा छोर कब और कहाँ है इस सम्बन्ध

में वे निश्चित रूप से कुछ नही कह सकते। केवल इतना अनुमान करते हैं कि उसका क्षेत्र संकीर्णता से उत्तरोत्तर व्यापकता की ओर बढ रहा हैं। उसकी गति "वक्र सरिता सरस की जिमि पतित, पावन पाथ की" सी है। मनुष्य समाज लड़ता-भिड़ता, गिरता-उठता उत्तरोत्तर ऊँचे स्तरों पर चढ़ता व्यापकता की ओर जा रहा है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

प्रथम खंड

अध्याय १

मेसोपटेमिया

यद्यपि विद्वानो मे इस विषय पर कि सभ्यता का आदिम विकास कहाँ हुआ, बहुत मतभेद है, तथापि यह सभी मानते है कि सस्कृति और सभ्यता के लिए आर्थिक तथा सामाजिक जीवन मे कुछ स्थिरता की अनिवार्य आवश्यकता है। जब तक मनुष्य खानाबदोश है तब तक यह स्थिरता यथेष्ट रूप मे नही आती, किन्तु जब कृषि का आरम्भ होता है तब लोगो को कही न कही स्थिर होकर रहना आवश्यक हो जाता है। कृषि के विकास के साथ ही सभ्यता के विकास का वातावरण विकसित होता है।

वैज्ञानिकों की धारणा है कि कृषि का विकास पहले वहाँ ही हुआ होगा जहाँ उसके लिए प्रकृति ने काफी साधन एकत्रित कर दिये होगे। सम्भवतः ऐसे स्थान बडी नदियो की तलहटियो या कछारो मे, जहाँ की भूमि उपजाऊ और जहाँ सिंचाई की सुविधा हो, रहे होगें। इसके सिवा मनुष्यो के जमकर रहने के लिए उन स्थानो के जलवायु को आकर्षक होना चाहिए। अन्वेषको को उपर्युक्त धारणा के काफी प्रमाण मिले है। ऐसी तलहटियाँ अधिक शीत होने के कारण पृथ्वी के उत्तरी भाग मे नही हो सकती। किन्तु मध्य तथा दक्षिणी एशिया और अमेरिका तथा उत्तरी पूर्व अफ्रीका मे वे मौजूद हैं। अब तक के पुरातत्त्व विज्ञान और अन्वेषणों से नील नदी, दजला-फरात, सिन्धु नदी की तलहटियो मे आदिम सभ्यता का होना सम्भव प्रतीत होता है। इन तीनो मे सबसे पहले कहाँ सभ्यता का आरम्भ हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। वुली, हाल, चाइल्ड आदि विद्वानो का अनुमान है कि सिन्धु नदी की घाटी मे ही आदिम सभ्यता के होने की अधिक सम्भावना है। मार्शल का भी मत है कि मिस्र तथा बेबीलोनिया और सुमेरिया की सभ्यता से सिन्धु घाटी की सभ्यता पुरानी तथा श्रेष्ठतर थी।

सिन्धु नदी की सभ्यता का वर्णन भारतवर्ष के प्रसंग के साथ आगे चलकर किया जायगा। पश्चिमी इतिहासकार प्रायः नील (मिस्र) या दजला-फरात

(मेसोपटेमिया) की सभ्यताओं से प्राचीन इतिहास को आरम्भ करते हैं। उसी परिपाटी के अनुकूल मेसोपटेमिया का वर्णन यहाँ रख दिया गया है।

दजला-फरात की घाटी में वैसी सभ्यता विकसित नहीं हुई जैसी कि नील की घाटी की थी। इन नदियों के उत्तरी भाग का जलवायु और वनस्पतियाँ तथा पैदावार दक्षिणी भाग से भिन्न है। दक्षिणी भाग में भी एक-सी स्थिति नहीं। उदाहरण के लिए अक्कद शीतप्रधान है किन्तु सुमेर में कम सर्दी होती है। अतः दोनो प्रदेशों में प्रकृति की व्यवस्था एक-सी नहीं पायी जाती। इसके सिवा मिस्र की तरह मेसोपटेमिया (आधुनिक इराक) सुरक्षित भी नहीं। मिस्र की रक्षा उसके समीप के विशाल रेगिस्तान करते हैं, किन्तु मेसोपटेमिया या उत्तरी एव पूर्वी भाग विभिन्न जातियों से घिरा था जो प्राकृतिक साधनों से काफी सम्पन्न थी। उनकी ओर से मेसोपटेमिया को सदा आशंका रहती थी। मिस्र के स्वावलम्बन के लिए, गृह और अस्त्र-निर्माण के साधन प्राय पर्याप्त थे, किन्तु मेसोपटेमिया को वे बाहर से मँगवाने पड़ते थे। पत्थर के अभाव के कारण सुमेरिया में नवप्रस्तर युग का होना सम्भव न था। किन्तु कृषि के लिए आवश्यक साधन वहाँ प्राप्त थे।

दजला और फरात दोनों नदियाँ निफतम नामक पहाड़ो से निकली हैं। फरात पश्चिम की ओर मुड़कर सीरिया और अरब के उत्तरी तथा पूर्वी रेगिस्तानों को बचाती मेसोपटेमिया को सींचती हुई फारस की खाड़ी में मिल जाती है। किन्तु दजला पूर्व की ओर थोड़ा-सा झुककर सीधे नीचे की ओर बहती है। आधुनिक बगदाद के पास दोनों नदियों के बीच में केवल बीस मील का फासला रह जाता है। प्राचीन समय में दोनों नदियाँ फारस की खाड़ी में अलग-अलग गिरती थी, किन्तु आजकल दोनों मिलकर खाड़ी में गिरती हैं। बगदाद और फारस की खाड़ी के बीच में दोनों नदियों ने जो मैदान घेरा है वह तूबी जैसे आकार का है। उस मैदान के दाहिनी ओर सुमेरिया और बाईं ओर बेबीलोनिया के राज्य स्थापित हुए। उसी तुबिकाकार भूमि की नदियों के तट पर अनेक प्राचीन नगरों की स्थापना हुई, जिनका नाम उस युग के इतिहास और सभ्यता में प्रतिष्ठित है। नगर राज्य कालान्तर में विस्तार पाने लगे। उनमें से कई साम्राज्य के रूप में विकसित हुए, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन इसी अध्याय में मिलेगा।

इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अरब के रेगिस्तान के उत्तर, उत्तर-पूर्व एवं उत्तर-पश्चिम की ओर जो वर्तुलाकार भूमि-भाग है वह हरा-भरा और उपजाऊ है। पश्चिमी भाग में सीरिया, फिलस्तीन और भूमध्य सागर का

तट है। उतरी तया उत्तर-पूर्वी भाग मे मेसोपटेमिया है। उस भूमि-भाग पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए अनेक राज्यो ने समय-समय पर घोर प्रयत्न किये और भयकर युद्ध होते रहे। उस भू-भाग पर एशिया के लोगों की ही नही वरन् मिस्र, ग्रीस, रोम वालो की भी नजर जमी रही और जहाँ तक बन पडा उसे लेने का उन्होंने प्रयत्न किया। उर्वरा भूमि होने के सिवा एशिया, यूरोप तथा मिस्र के व्यापार के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण यातायात के राजमार्ग भी उस क्षेत्र मे होकर जाते थे, जिन पर अधिकार प्राप्त करने की अभिलाषा सबल राज्यो के लिए स्वाभाविक थी।

सुमेरिया

दजला-फरात की तलहटी को यदि दो भागो मे विभक्त किया जाय तो नीचे का भाग, जो फारस की खाडी के ऊपर है, पूर्व काल मे सुमेरिया के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रदेश के मुख्य नगर लगश, इरिच, एरिद्, उरनिप्पर आदि थे। इसी प्रकार ऊपरी तलहटी मे भी अश्शुर, सिप्पर, किश, बेबीलोन आदि नगर थे। इन नगरो ने प्राचीन इतिहास के निर्माण मे न्यूनाधिक भाग लिया था।

सुमेरियनों की कोई विशेष जाति न थी। जिस प्रदेश मे वे लोग आकर बस गये थे, उसका सुमेर नाम था। उस प्रदेश के निवासी सुमेरियन कहलाये। सुमेर या सुमेरिया के निवासी कौन थे और वे कहाँ से कब आये निश्चित रूप से अभी नही कहा जा सकता। वे तो अपने को फारस की खाड़ी से आया हुआ मानते थे। इससे अनुमान किया जा सकता है कि सम्भव है वे मोहनजोदडो के निवासियो की ही कोई शाखा हो। पुरातत्वज्ञो मे इस विषय पर मतभेद है। कोई काकेशिया से, कोई मध्य एशिया से तो कोई मध्य सागर की ओर से उनका आना मानते है। यह तो प्राय सभी मानते है कि वे लोग शुद्ध सेमेटिक मानव शाखा के न थे। सभवतः वे मिश्रित जाति के थे। क्योंकि सुमेरियन भाषा सेमेटिक भाषा से भिन्न थी और अपनी भाषा ही के कारण वे सुमेरियन नाम से प्रख्यात हुए फिर भी सम्भव है कि उनमे कुछ सेमेटिक भी मिल गये हो।

ढाई-तीन हजार वर्ष ईसा के पूर्व लगश राज्य का अपने पडोसी उम्म राज्य से सघर्ष हुआ। उसमे लगश के तत्कालीन राजा 'ईन्नताम' को विजय प्राप्त हुई। उत्साहित होकर उसने इरिच, उर, किश नाम के नगरो को भी जीत लिया और 'किशराज' की उपाधि धारण कर ली। अपनी विजय को एक प्रस्तर की शिला पर उसने उत्कीर्ण करा दिया। उसके उत्तराधिकारी ने मदोन्मत्त होकर मन्दिरो

की सम्पत्ति तक हड़पना शुरू की जिसका परिणाम यह हुआ कि 'उरुकगिन' नामक एक सुधारक ने प्रजा का नेतृत्व लेकर राजा तथा धर्माधिकारियों के अत्याचारों का सफल विरोध किया। विजयी होकर उसने लगश तथा सुमेर के राजा की उपाधि धारण कर ली। उसने मन्दिरों, नहरों और जलाशयों का ही निर्माण नही कराया वल्कि कानूनों मे भी सुधार किये जिससे गरीबो और विधवाओ की अत्याचारियों से रक्षा की जा सके। महन्तो को उसने गरीब प्रजा से ईंधन और फलों पर कर लेने तथा देवताओ पर चढ़ाई गयी पूजा को आपस में बाँट लेने की मनाही कर दी। मृतको के दफनाने की फीस वहुत घटा दी। सुधारो के कारण स्वार्थी दलों मे विद्वेष वढा जिससे लाभ उठाकर उम्म वालों के नेता जगिगसी ने लगश को ही नही, वरन् उर और एरिच को भी जीत लिया। इस पराजय से लगश की सस्कृति और शासन का क्षय और सेमेटिक लोगों का, जो अरब से आये थे, प्रभुत्व वढ गया। दक्षिणी इराक (सुमेरिया) से निकलकर शक्ति का केन्द्र उत्तर की ओर वढा। 'उत्तर के अक्कद प्रदेश को जिसके मुख्य नगर किश, वेवीलॉन आदि थे, सुमेरिया का स्थान प्राप्त हुआ। 'जगिगसी' ने एरिच में राजधानी स्थापित की और प्रेम की देवी इएन्ना (इनन्ना) के मन्दिर का निर्माण कराया।

जगिगसी के राज्य का थोड़े ही वर्षों मे अन्त हो गया। शर्रुकिन (सरगान) नामक एक अज्ञातकुलशील किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति ने उसको परास्त कर सारे इराक और उसके आस पास के क्षेत्रो पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया (२३५० ई० पू०)। सिप्पर के पास अगेद नगर को उसने अपनी राजधानी वनाया। सीरिया मे उसके साम्राज्य के विकास का दूसरा अध्याय तव आरम्भ हुआ जव शर्रुकिन ने समुद्र तट तक अधिपति होने की घोषणा कर दी। उसके एक लेख से यह प्रतीत होता है कि उसका साम्राज्य सीरिया और साइप्रस द्वीप के समीप तक फैल गया था। सम्भव है कि इसमे अत्युक्ति हो। मृत्यु के उपरान्त लोगो ने अपने हृदय मे उसे देवता का स्थान दिया।

अक्कद का दूसरा उल्लेखनीय सम्राट् 'नरम् सिन' हुआ। उसने साम्राज्य की उत्तरी और पूर्वी सीमाओ को आगे वढाया। पश्चिम मे लाल सागर से भूमध्य सागर के तट तक उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। अपने विजयो का सजीव वर्णन भी सूसा की शिला पर उसने उत्कीर्ण कराया और अपने पितामह की तरह ही मन्दिरो का निर्माण कराने मे उत्साह दिखाया।

लगभग २३००—२१५० ई० पू० मे अक्कद पर जगरोस पहाड़ियो की गुत्ति नामक एक भ्रमणशील जाति का भयकर आक्रमण हुआ। गुत्तिओ का ध्येय राज्य स्थापित करना न था। वे केवल लूटमार से ही सन्तुष्ट रहते थे। उससे एक यह लाभ तो अवश्य हुआ कि प्रत्येक नगर अपनी रक्षा के लिए बल बढाने का प्रयत्न करने लगा। फिर भी इसका परिणाम यह हुआ कि एक शताब्दी तक सुमेरिया मे अत्याचार और अव्यवस्था का बोलवाला रहा। आखिरकार लगश नगर ने गुडिया नामक एक वीर योद्धा के नेतृत्व मे अपनी मान-मर्यादा की बहुत कुछ रक्षा कर ली। गुडिया की प्रेरणा से उस नगर ने कला, धर्म तथा साहित्य मे कुछ उन्नति कर ली। अपनी सेवाओ के कारण उसको भी देवत्व की उपाधि प्राप्त हुई। उसके सिवा एरिच वालो ने भी गुत्तिओ के देश को मुक्त कराने मे उल्लेखनीय उत्साह दिखाया। किन्तु नम्मू नाम के एक व्यक्ति की (२१२५ ई० पू०) योग्यता और परिश्रम से उर नगर ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की और सुमेर तथा अक्कद प्रान्तो को भी उसने अपने अधीन कर लिया। लगभग सौ वर्ष तक उर नगर के नेतृत्व मे सुमेरिया शान्ति और सौख्य के साथ सास्कृतिक उन्नति करता रहा। उस युग के धार्मिक साहित्य, मन्दिर, तक्षण कला, राजभवन, पुस्तकालय आदि के अवशेष उसकी कलाप्रियता की आश्चर्यजनक साक्षी देते है। ऊरुनम्मू ने कानून रचना का जो आरम्भ किया उसे उसके वशज शुल्गी ने इतना उदार तथा व्यवस्थित कर दिया कि आने वाले राजाओ के लिए वह आईन का आधार बन गया।

ईसा से करीब दो हजार वर्ष पहले सेमेटिक जाति की मरतू (एमोराइट) नामक शाखा ने पश्चिम की ओर से तथा एलाम (पारस) वालो ने पूर्व की ओर से आक्रमण किये। मरतू लोगो ने उत्तरी भाग (अक्कद प्रदेश) और एलाम वालो ने उर नगर पर अधिकार जमा लिया। उन आक्रमणो ने सुमेरिया के साम्राज्य को सदा के लिए नष्ट कर दिया। एक सहस्र वर्ष से अधिक तक सुमेरिया का दौर-दौरा रहा। उसका प्रभाव बेबीलॉन, फारस पर ही नही अपितु सिन्ध और मिस्र तक भी जा पहुँचा था। अनुमान किया जाता है कि सबसे पहले सम्भवत. वही से नगर राज्यो, साम्राज्यो, कृत्रिम सिचाई, सोने-चाँदी की दरो, ब्याज, तथा कानूनी लिखा-पढी, लिपि शैली, पाठशालाओं, साहित्य, आभूषण के साधनो, मन्दिरो और महलो, शिल्प, मेहराबो, गुम्बदों आदि का सूत्रपात हुआ था। उसका दूसरा पहलू चिन्ताजनक था क्योकि बडे पैमाने की गुलामी, निरकुश सत्ता, धर्मा-

धिकारियो की सत्ता और साम्राज्यवाद का प्रचलन भी वही से हुआ। सभ्यता के विकास मे उसकी देन बड़े महत्त्व की मानी जाती है। उसके प्रदर्शित मार्ग का कुछ न कुछ अनुसरण ग्रीस, रोम, ईरान और सम्भवत: भारतवर्ष ने भी किया। कुछ लोगो की तो यहाँ तक धारणा है कि चीन तक उसका प्रभाव जा पहुँचा।

सामाजिक जीवन और रहन-सहन

सुमेरिया के लोग जैसा ऊपर लिखा गया है, सेमेटिक जाति के न थे, यद्यपि आगे चलकर दोनो का सम्मिश्रण हो गया। उनका रग गेहुँआ, नाक ऊँची, माथा ढालू, कद छोटा और नेत्र नीचे की ओर झुके हुए होते थे। कुछ लोग सिर पर बाल रखते और कुछ मुँडवा डालते थे। साधारण लोग कमर से ऊपर का हिस्सा खुला और नीचे का भाग घुटने तक ऊनी तहमत से ढका रखते थे। धनी लोगो की पोशाक गले तक होती थी। आरम्भ मे रहने के लिए सरकण्डे की झोपड़ियाँ उन्हे काफी थी किन्तु धीरे-धीरे मिट्टी के और फिर पक्की ईंटो के मकान बनने लगे। बीस इंच लम्बी, उतनी ही चौड़ी और साढे तीन इच मोटी ईंटे काम में लायी जाती थी। लकड़ी या पत्थर के मकान उन साधनो के अभाव के कारण वहाँ न बनाये जा सके। सुमेर और अक्कद की संयुक्त जनसख्या शायद दस लाख रही होगी। लगश नगर की जनसख्या साठ हजार थी। नगरो मे अमीर, मध्य श्रेणी के तथा गरीब और गुलाम रहते थे। गुलामो की सख्या उत्तरोत्तर बढती जाती थी। राज्य में केवल दो श्रेणियाँ मानी जाती थी—एक तो स्वतन्त्र लोगो की और दूसरी गुलामो की। यो तो अन्तिम निर्णय पुरुष का ही होता और किसी-किसी दशा मे वह स्त्रियों को बेच सकता अथवा उनके द्वारा कर्ज चुका सकता था, तथापि साधारणतया स्त्रियों के भी कुछ अधिकार होते थे। अपने पिता के घर से प्राप्त दहेज पर उनका पूरा अधिकार होता था और उसे वे जिसे चाहती दे सकती थी। वे स्वतन्त्र रूप से व्यापार कर सकती और निजी दास भी रख सकती थी। यदि स्त्री बन्ध्या होती तो उसे तलाक दिया जा सकता था और यदि वह सन्तान उत्पत्ति से इनकार करती तो डुबो दी जाती थी। व्यभिचारी पुरुष को क्षमा किन्तु व्यभिचारिणी को प्राण-दण्ड दिया जाता था। माता-पिता का सन्तान पर पूरा अधिकार था। वे उन्हें घर से ही नही वरन् नगर से भी निकाल सकते थे। पिता के न रहने पर माता का ही अनुशासन चलता था। स्त्रियो को जीवन में ही नही वरन् मृत्यु के बाद भी

आभूषण पहनाये जाते थे। रानी सिंहासन पर बैठने की अधिकारिणी मानी जाती थी।

सुमेरिया की शासन-व्यवस्था

कुछ विद्वानो की राय मे ऐतिहासिक युग के पहले सुमेरिया मे बड़े-बूढो की सभा शासन करती थी किन्तु ऐतिहासिक युग के आरम्भ से ही वहाँ राजसत्ता प्रचलित हो गयी। सुमेरिया के लोगो का विश्वास था कि संसार का शासन वस्तुतः देवताओ की सभा करती है। देवताओ की संख्या अगणित है किन्तु उनका मुख्य देवता है 'अनु' (आकाश का देवता), जो देवसभा का सभापतित्व करता है। उसी से अन्य सब देवता अधिकार प्राप्त करते है। उसी प्रकार देवताओ को शक्ति और बल 'अनिल' देवता (गर्जन-तर्जन का प्रभंजन) प्रदान करता है। वही देवताओ की इच्छा को कार्यान्वित करता है। इनके उपरान्त देवी 'निनमह' (धरती माता) तथा 'एकी' (जलदेवी') का स्थान है। देवता और देवियाँ ही संसार का संचालन करती हैं। मनुष्य को उनकी इच्छा के अनुकूल चलने के सिवा कोई चारा नही, क्योकि वह निर्बल और नश्वर है। इसलिए मनुष्य का कल्याण इसी मे है कि वह भी अपना विधान देवताओ के विधान के अनुसार बनाकर उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करे। उनको सेवा और आज्ञा का पालन करना ही मनुष्य का अधिकार एवं कर्त्तव्य है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार नगर-राज्य का मुख्य शासन-कर्त्ता वहाँ का देवता था। उसकी सेवा का विशेष भार राजा तथा मुख्य पुजारी पर था। महत्त्वपूर्ण विषयो के निर्णय के लिए नगर के वयस्क जनों की सभा आमन्त्रित कर ली जाती थी। दिन-प्रतिदिन के साधारण कार्य के लिए वयोवृद्धो की एक कार्यकारिणी सभा थी। विशेष कार्य के लिए सभा अपने लोगो में से एक को चुन लेती थी। राजकाज, शासन आदि मे स्त्रियो, बालको तथा गुलामो को भाग लेने का अधिकार न था।

नगर का मुख्याधिष्ठाता तथा देवता का प्रतिनिधि राजा होना था, यद्यपि देवालय के मुख्य धर्माधिकारी का कर्त्तव्य था कि वह धर्म और शान्ति की रक्षा करे। केवल दुष्टो और शत्रुओ का दमन करना ही नही वरन् एकच्छत्र राज्य स्थापन राजा का कर्त्तव्य था। यदि दैविक विधान का अक्षरशः पालन किया जाय तो पृथ्वी पर एक ही अधिराज (लुगल) महाराजा होना चाहिए जैसा कि विश्व मे 'अनु' है। इस आदर्श तथा अन्य नीतिक, आर्थिक और शासनिक आवश्यकताओ

के कारण राजाओं में प्रमुख बनने की प्रेरणा अनिवार्य-सी हो गयी। जिस नगर का राजा विजय प्राप्त कर लेता वहीं का देवता राज्य का देवता माना जाता था। विजित नगर का देवता भी उस नगर के देवता के अधीन समझा जाता था। राजा को प्रजा से जिन्स के रूप में कर मिलता था।

राज्य-विस्तार के साथ शान्ति के स्थापन के लिए मन्त्री तथा सामन्तों की नियुक्ति की गयी। नगर का शासक 'एनसिम' कहा जाता था, जिसको नियुक्त करना या हटाना राजा का अधिकार था। सामन्त अपने क्षेत्र की आमदनी से एक सेना सज्जित करता और वहाँ का शासन करता था। आवश्यकता पड़ने पर सामन्त राजा को सैनिक सहायता देता था। उक्त सेवाओं के कारण उससे किसी प्रकार का कर नहीं लिया जाता था।

सुमेरिया के राज्यों का क्षेत्र लगभग सौ वर्ग मील था। कृषि, जल-वितरण, व्यापार तथा जनसंख्या बढ़ने के कारण राजाओं में संघर्ष अनिवार्य सा हो गया था।

आर्थिक व्यवस्था •

उर के तीसरे राजवंश के खपड़ों पर उत्कीर्ण लेख हजारों की संख्या में मिले हैं जिनसे तत्कालीन आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक जीवन के समझने में अभूतपूर्व सहायता मिलती है। पहले यह समझा जाता था कि सुमेरिया का आर्थिक जीवन देवालयों पर आश्रित था किन्तु वह धारणा अब ठीक नहीं मानी जाती। यद्यपि यह ठीक है कि खेती करने के लिए मन्दिरों के अधिकार में बहुत जमीन छोड़ दी गयी थी किन्तु उसका अनुपात कृषि-योग्य भूमि का केवल छठा अंश था। सुमेरिया का आर्थिक विधान मुख्यतः कृषि पर अवलम्बित था, यद्यपि वहाँ खासा व्यापार भी होता था। खेत बैलों से जोते जाते और नदी, नहरों तथा नालियों से उनकी सिंचाई होती थी। गेहूँ, जौ, तिल, मटर तथा अन्य बीजों की फलियाँ भी पैदा की जाती थीं किन्तु जौ की खेती अधिक होती थी। अनाजों के सिवा लोग खजूर तथा अनार के पेड़ लगाते थे। खेतों के पार चरागाह होते जिन पर भेड़ें, बकरियाँ, गायें और सुअर चरते फिरते थे।

सरगन के समय की कृषि का कुछ पता चलता है। उदाहरण के लिए एक उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि लगश के एक देवालय के पास दस हजार एकड़ से भी अधिक कृषि-योग्य भूमि थी। मन्दिर तथा उससे सम्बद्ध सेवकों के लिए आवश्यकता के अनुसार खेत रक्षित करने के उपरांत बाकी सब जमीन लगान पर किसानों को

दे दी जाती थी। सबसे अधिक और प्रामाणिक सामग्री उर नगर के तृतीय राजवश के युग की प्राप्त हुई है। मिट्टी के खपडो पर खचित हजारो लेख मिले हैं जिनसे तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था पर बहुत प्रकाश पडा है। यह निश्चित सा है कि कृषि के लिए भूमि नापी जाती थी और खेती के बीजो के वजन और पैदावार का विस्तृत लेखा-जोखा रखा जाता था। मवेशियो, व्यापार, उद्योग, यातायात, मजदूर आदि सम्बन्धी कार्यों का ब्योरा लिख लिया जाता था। जमा-खर्च का हिसाब रखने का ढंग, यूरोप वालो से पैंतीस सहस्र वर्ष पूर्व, मेसोपटेमिया वालो ने आविष्कृत किया था। आवश्यक लेखों पर मोहर बना दी जाती थी। यद्यपि अधिकाश लेख देवालय सम्बन्धी हैं तथापि उनसे साधारण सस्कृति तथा आर्थिक व्यवस्था की भी झलक दिखाई पड़ती है। अनुमान किया गया है कि लगश के एक दर्जन से कुछ अधिक देवालयो के अधिकार मे लगभग सौ वर्ग मील कृपि-योग्य भूमि थी।

कृषि के सिवा मेसोपटेमिया मे ऊन, ऊनी कपडो, चमडे, सोना, चाँदी और काँसे की चीजो का काम होता था। मन्दिरो और राजभवनो मे कारीगर नौकर रख लिये जाते थे जिनके काम, मजदूरी की दर आदि का हिसाब बाकायदा रखा जाता था। पिसाई का काम प्राय. स्त्रियाँ करती थी। सुमेरिया मे कई तरह की जौ की शराब भी बनायी जाती थी।

नगरों का व्यापार जल तथा स्थल मार्गो से होता था। टीन, ताँबा, काँसा, सोना, चाँदी, हाथीदाँत और हड्डी के बरतन तथा जेवर बनाये जाते थे। ऊन से कपड़े बुने जाते थे। चमडे का भी काम होता था। व्यापार या तो विनिमय द्वारा होता था अथवा निश्चित वजन के चाँदी या सोने के टुकडो से। उधार अथवा कर्ज पर भी लेन-देन करते थे किन्तु सूद की दर पन्द्रह से तैंतीस प्रतिशत तक होती थी।

शिक्षा-दीक्षा

व्यापार, मन्दिरो के हिसाब-किताब एवं धर्माज्ञाओ के कारण सुमेरियनो को लिपि तथा गणित का आविष्कार करना पडा। उनको सच्चे अक्षरो का ज्ञान न था। उनकी लिपि को क्यूनीफार्म-चिह्नलिपि कहते हैं। ऊपर से नीचे लिखते थे किन्तु वह बायी से दाहिनी ओर पढ़ी जाती थी। प्रत्येक प्रतीक एक सिलेबिल (शब्दखड) का द्योतक होता था। इनकी सख्या चार सौ से कम न थी। सुमेरियनो का सबसे पुराना लेख साढ़े पाँच हजार वर्ष का मिला है। ईसा से २७०० वर्ष पहले उन्होने लेख-भाडार अथवा पुस्तकालय बना लिये थे। ऐसे एक संग्रहालय मे खपड़ो पर

खचित तीस हजार लेख तरतीब से रखे मिले हैं। उनमें कविताएँ, प्रार्थनाएँ और गाथाएँ मिलती हैं। इनके सिवा कानूनी लेन-देन या लिखा-पढ़ी वाले सबसे पुराने लेख सभवत. सुमेरिया मे ही मिले हैं। अंकगणित, ज्योतिष, नाप-जोख का उनको कामचलाऊ ज्ञान हो गया था। उनका वर्ष बारह महीने का था किन्तु महीने का आरम्भ वे चन्द्रमा से गिनते थे। इसीलिए हर तीसरे वर्ष उनको एक महीना बढ़ाना पड़ता था। चन्द्रमा की पहली कला, अर्द्धचन्द्र तथा पूर्णचन्द्र का स्वागत वे बड़े उत्साह से करते थे।

कला-कौशल

सुमेरिया के कवियो की रचनाओ के कुछ अश मिलते हैं जिनसे उनकी साहित्यिक रुचि का अनुमान किया जा सकता है। देवताओ की स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ महाबलवान गिलगमेश के अपूर्व बलप्रदर्शन की प्रशंसा, सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना, जल से पिता आकाश और माता पृथ्वी की उत्पत्ति, तथा देवताओं की वंशावली उनमे दी गयी है। प्रलय की कथा, स्वर्ग का स्वरूप जिसमें जरा, मृत्यु, आदि का अभाव था उनके काव्य के विषय हैं।

वास्तु कला तथा तक्षण कला की भी वहाँ कुछ उन्नति हो चुकी थी। पत्थर के अभाव के कारण उनकी इमारते ईंटो से बनायी जाती थी जिससे कला की उतनी उन्नति न हो सकी जितनी की अन्यत्र सभव हुई। उन्हे मेहराब बनाना आता था यद्यपि बड़े पैमाने पर उसका विकास वहाँ न हुआ। एक के ऊपर एक वेदिकाओ वाली कई मंजिलो की 'जिगुंरत' नामक इमारत उनकी विशाल निर्माण क्षमता का अच्छा प्रमाण है। जिगुरत को वे लोग स्वर्ग-यात्रा की सीढ़ी मानते थे।

सुमेरियनों की सख्त पत्थर की तक्षण कला अधिक उन्नत न हो सकी। उनकी गढ़ी मूर्तियाँ भोडी सी, निर्जीव सी हैं किन्तु नरम पत्थर और धातुओ की मूर्तियाँ अच्छी खासी हैं। सीप से जड़ाऊ काम बनाने में उन्हे उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हो गयी थी।

धर्म

सुमेरिया के निवासियो की धर्म मे बडी श्रद्धा थी और देवताओ मे गहरा विश्वास। इसी श्रद्धा से उनका जीवन ओतप्रोत था। जैसा कि पहले संकेत किया

गया है, वे लोग सर्वत्र, तथा प्रत्येक प्राकृतिक चमत्कार में किसी न किसी दैविक शक्ति की सत्ता की कल्पना करते थे। वे व्यक्ति के, स्थान के, जाति के तथा विश्व के देवताओ का अस्तित्व मानते और उनका आदर-सम्मान करते थे। आकाश का देवता 'अन' उनमे सर्वश्रेष्ठ तथा जगत्पिता माना जाता था। साठ का अक उसका प्रतीक समझा जाता था। साधारणतया वह देवताओ तथा मनुष्यो से पृथक् और तटस्थ रहता था। उससे नीचे 'एनलिल' देवता की, जिसका प्रतीकाक पचास था, गणना थी। वही संसार की व्यवस्था का स्थापक और अन्य सब देवताओ का अधिष्ठाता एवं शासक माना जाता था। उसके बाद चालीस अक के प्रतीक वाले देवता (एनकी?) का स्थान था। वह ज्ञान का स्रोत था जिससे आयुर्वेद, लेखन कला, सस्कृति आदि का प्रवाह चलता था। चौथा स्थान तीस अक के प्रतीक वाले 'नवनर' नामक चन्द्रदेव का था जिससे गणित और फलित ज्योतिष का आविर्भाव हुआ माना जाता था। पाँचवाँ 'उतु' नामक सूर्य देवता था जिसका प्रतीक अक बीस था। न्याय का कार्य उसका विशेष क्षेत्र था। उपर्युक्त देवताओ के पश्चात् 'इनन्ना' देवी का स्थान था जिसका प्रतीक अक पन्द्रह था। वह प्रेम की प्रमुख अधिष्ठात्री होने के साथ ही साथ युद्ध की भी देवी थी। इन सबके सिवा बहुत से अन्य देवी-देवताओ में लोगो का विश्वास था। कुछ देवता हितचिन्तक एवं हितकारक और कुछ हानिकारक माने जाते थे। किसी स्थान पर एक देवता और कही दूसरे देवता का प्राधान्य था। उदाहरण के लिए एनलिल का निप्पर नगर मे, एनकी का एरुद् मे, नन्नर का उर मे, इनन्ना का उरुक मे मुख्य स्थान माना जाता था। भयंकर देवो मे 'नरगल', जो पाताल लोक में निवास करता तथा कुछ नगरो का अधिष्ठाता था, प्रमुख माना जाता था। सुमेरियो के देवता कुमार न थे, वे दाम्पत्य जीवन से विमुख न थे, सभी की अर्द्धांगिनियाँ थी।

सुमेरिया के निवासी मूर्तिपूजक थे। वे अपने देवताओं की मर्यादा के अनुकूल मन्दिर बनाकर वहाँ उन्हे प्रतिष्ठित करते, बडी श्रद्धा एव भक्ति के साथ उनकी स्तुति और प्रार्थना करते थे। फल, फूल, दूध, मक्खन से ही नही वरन् पशु-पक्षी के मास तथा मछली से और कभी-कभी नरबलि से भी देवताओ का पूजन किया जाता था। उनको प्रसन्न रखने तथा उनके मनोरजन के लिए देवदासियाँ रखी जाती थी जो उनकी ही नही वरन् उनके नर-तनुधारी प्रतिनिधियो की भी तन मन से सब प्रकार की सेवा करती थी। बाद के युगो और सस्कृतियो की धारणा के अनुसार उपर्युक्त व्यवस्था व्यभिचार-पोषक मानी गयी किन्तु तत्कालीन संस्कृति के अनुसार

वह व्यभिचार की सूचक न होकर निश्छल और अशेष आत्मसमर्पण की प्रमाण समझी जाती थी ।

मंदिर की देख-रेख और विविध प्रकार के प्रवन्ध करने के लिए प्रति वर्ष पुजारी नियुक्त कर दिये जाते थे जिनका प्रधान या तो स्वयं राजा अथवा उसका कोई राजकुमार होता था । मन्दिरों के खर्च के लिए सैकड़ों-हजारो एकड़ जमीन दान कर दी जाती थी । खुदकाश्त के लगान, और दूकानो के किराये से अच्छी आमदनी होती रहती थी ।

सुमेरिया वालों का विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् प्रकाशमय परलोक मिलता है जहाँ भले-वुरे सभी को जाना अनिवार्य है । नरक का अंधकार-ग्रस्त लोक उनकी कल्पना में नही आया था । मृतको को दफनाते समय उनके साथ भोज्य पदार्थ, अस्त्र-वस्त्रादि रख देते थे । सुमेरिया वालों ने मृत्यु के उपरान्त की स्थिति को उतना महत्त्व नही दिया जितना कि मिस्र वालो ने दिया था ।

वेबीलोनिया

उर नगर के पतन होने से मेसोपटेमिया के तीन टुकडे हो गये । उत्तर में 'वेवीलॉन', मध्य मे 'इसिन' और दक्षिण में 'लरस' । इस दुर्घटना के प्रमुख कारण सुमेरिया पर हुए एलाम वालो के आक्रमण और अन्तिम सेमेटिक जाति के एमोरित वंश द्वारा किया गया भयकर आक्रमण था । दो युद्धशील शत्रुओ के बीच मे पिसकर सुमेरिया के टुकडे हो गये । लगभग दो सहस्र वर्ष ईसा से पूर्व एमोरित वंश ने वेवीलॉन मे अपनी सत्ता का केन्द्र वनाकर धीरे-धीरे उत्तरी प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित कर लिया । वेवीलॉन के आगे उत्तर में असीरिया था । यद्यपि एमोरित लोगो की भाषा दूसरी थी तथापि लिखने के लिए उन्होने सुमेरिया की रेखा चिह्न लिपि का आश्रय लिया । तंवुओ में रहना छोड़कर घरो मे रहने और नागरिक जीवन के प्रवाह मे वहने लगे । धीरे धीरे एमोरितों और सुमेरिया वालों का इतना सम्मिश्रण हुआ कि वे एकरस हो गये ।

वेवीलॉन मे दो राजवंशो का शासन रहा है । प्रथम, एमोरित वंश का छठा राजा हम्मूरावी (१४ शती ई० पू०) वड़ा यशस्वी और प्रतापी निकला । उसने एलाम के राजा रिमसिन को उरुक और इसिन से निकाल दिया । लसर को जीतने के उपरान्त उसने असीरिया पर आक्रमण कर अपने राज्य की सीमा उत्तरी सीरिया तक वढ़ा दी । उसका साम्राज्य उतना वड़ा हो गया जितना कि उर के तृतीय

राजवंश का था। उसके साम्राज्य के कारण सुमेर और अक्कद भी बेबीलोनिया कहे जाने लगे। सुमेरिया की संस्कृति का इस नये साम्राज्य में विशेष संवर्धन और उत्कर्ष हुआ। हम्मूराबी ने किश नगर से फारस की खाड़ी तक नहर बनवा कर बहुत सी भूमि को उपजाऊ कर दिया। अपने देवता मारद्दुक के लिए उसने बहुत बड़े देवालय का निर्माण कराया। अनेक महलों, मंदिरो के सिवा उसने फरात नदी पर एक पुल भी बनवाया। हम्मूराबी की ख्याति का विशेप कारण उसका न्याय-विधान या कानूनो का संग्रह है जो उसके लेखानुसार उसे सूर्यदेव (शम्स)से प्राप्त हुआ था। उसी के लेखानुसार उस कानून का ध्येय था प्रबलों के अत्याचार से निर्बलो की रक्षा करना तथा जनता की भलाई के लिए पृथ्वी पर आलोक फैलाना। उसका आदर्श था न्याय और सदाचार की स्थापना करना और पिता के तुल्य प्रजा का पोषण एव उत्कर्ष बढाना। कानूनो के उपर्युक्त संग्रह मे २८५ नियम व्यवस्थित रूप से विभक्त हैं। निजी सम्पत्ति, जायदाद, व्यापार, व्यवहार कुटुम्ब, फीस, मजदूर एवं मजदूरी आदि विभागो में कानून संगृहीत हैं। उन कानूनों का दंड-विधान कुछ कठोर है। उदाहरणार्थ उडाऊ स्त्री, मधुशाला में जाने वाली पुजारिन, व्यभिचारी, डाकू और चोर आदि के लिए प्राणदड देने की उसमे आज्ञा है। दड विधान प्रतिशोध के सिद्धान्त पर अवलम्बित थे। पहले लोगो की धारणा थी कि हम्मूरावी के कानून संसार के संगृहीत कानूनो मे सबसे प्रथम है किन्तु आधुनिक गवेषणा ने यह स्थापित कर दिया कि उस परिपाटी का सुमेरिया वालो ने बहुत पहले ही सूत्रपात कर दिया था यद्यपि उनका विधान उतना विस्तृत और व्यवस्थित न हो पाया था।

हम्मूराबी ने चालीस वर्ष तक राज्य किया (१८०० ई० पू०)। बेबीलोनिया का प्रथम राजवंश लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक चला। तदनन्तर उस पर दक्षिण और उत्तर से आक्रमण होने लगे। एशियाई कोचक से हिट्टी लोग लूटमार करते रहे। परन्तु सबसे विनाशकारी आक्रमण जग्रोश पहाड़ो की ओर से कस्सी लोगो का सिद्ध हुआ। कस्सी हिट्टियो की तरह संभवतः इण्डो-आर्यभाषाभाषी थे। गण दश नामक उनका नेता दलबल सहित आकर दजला -फरात के पठार मे बस गया। यद्यपि उसका राज्य छोटा था तथापि बेबीलोनिया की शक्ति उस राज्य का दमन करने मे असमर्थ रही। बेबीलोनिया के पुराने राज्य का पतन ईसा से सोलह वर्ष पूर्व हुआ तथापि एमोरित लोगों की बची-खुची सत्ता का नाश संभवतः सोलहवी शती ई० पू० मे हो चुका था। यह क्या कम है कि उनकी संस्कृति तथा भाषा का सम्मान सैकड़ों वर्ष

तक होता रहा। उसका प्रयोग हिट्टियो, सीरिया और मिस्र में भी होता रहा उनकी संस्कृति का प्रभाव पश्चिमी एशिया पर ही नही वरन् ग्रीस की सभ्यता पर भी पाया जाता है।

समाज

सुमेरिया की तरह बेबीलॉन में भी समाज की तीन श्रेणियाँ थी किन्तु उनके स्थान और अधिकार अधिक स्पष्ट तथा व्यवस्थित कर दिये गये थे। पहली श्रेणी में राजा, राज्य के पदाधिकारी, सेना के अफसर, धर्माधिकारी, जमीदार, धनी व्यापारी आदि थे। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत मजदूर तथा साधारण किसान थे जो अपने खेत की उपज का तृतीयाश लगान के रूप मे देते थे। तीसरी श्रेणी मे थे युद्ध में पकड़े हुए लोग अथवा वे जो कर्ज अदा न करने के कारण गुलाम बना दिये गये थे। पहली श्रेणी के लोगों को बदला लेने का अधिकार था किन्तु उन्हें जुर्माना अधिक देना पड़ता था। दूसरी श्रेणी वालो को क्षति के लिए जुर्माना और हर्जाना स्वीकार करना पड़ता था। तीसरी श्रेणी के लोगों को गुलाम की हैसियत से अपने स्वामियो की दासता मे रहना पड़ता था। फिर भी वे लोग अपना विवाह कर सकते, अपनी सम्पत्ति को अपने उत्तराधिकारियो को दे सकते, और दासता से मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। दास स्वतंत्र स्त्री से व्याह कर सकता था और उसकी सन्तान स्वतन्त्र समझी जाती थी।

समाज की आधारशिला परिवार मानी जाती थी। स्त्रियो की भी स्थिति उस समाज मे खराब न थी यद्यपि अच्छे घराने की स्त्रियाँ जनानखाने मे रहती थीं। उनको अपनी खास सम्पत्ति रखने, अदालत मे दावा करने, व्यापार करने, लेखिका बनने तथा तलाक देने के अधिकार पुरुषो के समान थे। विवाह के पूर्व स्त्रियो को अधिक स्वतंत्रता रहती थी। माता-पिता कुमारियो का व्याह करा देते थे। प्रायः लोग एक ही स्त्री से व्याह करते थे। साधारणत. दम्पत्ति के अच्छे आचरण होते थे क्योकि व्यभिचारी को प्राणदड तक देने का विधान था। अनाथो और विधवाओं के साथ विशेष रूप से न्याय किया जाता था। बेबीलोनिया के कानून में अवस्था का कोई विचार नही किया जाता था। अतः छोटे-बडे अथवा लड़को और वयस्को का समान रूप से न्याय किया जाता था।

आर्थिक व्यवस्था

बेबीलोनिया का आर्थिक जीवन अधिकतर कृषिमूलक था। वहाँ की भूमि का

वहुत बडा अंश राजा और पदाधिकारियों तथा धर्माधिकारियो के हाथ में था। फिर भी सेमेटिक विधान के अनुसार भूमि मन्दिरो तथा पदाधिकारियो के अधिकार से धीरे धीरे निकलने लगी और नियमानुसार मृत्यु के उपरान्त वह मृतक के उत्तराधिकारियो मे वँट जाती थी। बँटवारा होते होते ऐसी नौबत आ जाती जिसमे वशजो के हाथ मे छोटे-छोटे भूमि के टुकडे ही रह जाते जिनसे अपना निर्वाह असंभव समझकर वे उन्हे वेच डालते थे। इस प्रकार बडे-बडे जमीदारो के अधिकार से निकल कर वहुत सी जमीन या तो व्यापारियों या ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे चली जाती थी जो उसे लगान पर दूसरे व्यक्तियो को खेती करने के लिए दे देते थे। यह परिस्थिति देखकर हम्मूराबी ने जमीन वेचने का अधिकार बडे जमीदारो के लिए सुरक्षित रखा किन्तु छोटे किसानो को न दिया। इसके सिवा उसने नयी जमीन पर खेती करने के लिए लोगो को उत्साहित किया। उधर जनसंख्या बढ़ने से भी नयी भूमि पर खेती करना अथवा कराना आवश्यक हो गया। राज्य ने अनेक नहरें और नालियाँ बनवा दी जिनकी देखरेख और ठीक रखने का भार काश्तकारो को दिया गया। यदि कोई उनको बिगाडे अथवा ठीक न रखे तो उसको जुर्माना देना पड़ता था। अनाज तथा तरकारी की खेती के अलावा लोग फलो का, विशेषकर खजूर का, बाग लगाते थे। यदि वाढ आदि दैवी दुर्घटना से कृषि का नाश हो जाय तो किसान का लगान माफ कर दिया जाता था। वहाँ के लोग ऊँट, घोडे, बैल, भेड़ और गधे तथा वकरे पालते थे जिनसे दूध और चमड़े के अतिरिक्त माल लादने तथा सवारी का काम निकलता था।

सुमेरिया के मुकाबले में बेबीलोनिया ने व्यापार में अधिक उन्नति की। उसका एक कारण तो कृषि-योग्य जमीन की कमी और दूसरा खरीद-फरोख्त के लिए धातुओ के टुकडो का अधिकाधिक उपयोग होना था। बेबीलोनियनो को सिक्को का ज्ञान न था इसलिए वे धातुओ के टुकडो को वजन के अनुसार काम मे लाते थे। बेबीलॉन ने अधिकाधिक मात्रा मे ताँबा, चाँदी, सोना और राँगा मँगाना शुरू किया। आयात मे हाथीदाँत, जवाहरात, लकडी और इमारत बनाने के पत्थरो की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। व्यापार की वृद्धि के साथ व्यापारियो, दलालो और लेन-देन करने वाले महाजनो की सख्या बढ़ी जिससे सगठन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। व्यापारियो के अलावा मन्दिर के अधिकारी भी लेन-देन करते थे। फलतः उनके संघ अथवा श्रेणियाँ बन गयी। वे स्वय अपने नियम बनाते थे। पहले तो राजाओ ने हस्तक्षेप न किया किन्तु आगे चल कर वे कमोबेश नियंत्रण करने लगे। कार्य का-

व्यवस्थित संचालन करने के लिए लेन-देन, सूद, हुंडी, वसीयतनामा आदि की लिखा-पढ़ी, वाँट, साझा आदि के कानून बना दिये गये। कानून द्वारा मजदूरी की दर और वस्तु का मूल्य निश्चित किया गया। उपर्युक्त आयात के बदले बेबीलोनिया मे सिले और गैर सिले कपड़े, चाँदी, तेल, शीशे और तांबे की बनी बढ़िया चीजें, लकड़ी का फर्नीचर, हाथीदाँत की बनी कारीगरी की चीजें तथा अच्छी ईंटो का बहुत निर्यात होता था। सूद की दर पचीस प्रति शत प्रति मास थी।

शासन

एक सत्तात्मक राज्य बेबीलॉन में भी था। राजसत्ता के पोषक जमींदार एवं धनिक व्यापारी तथा धर्माधिकारी थे। स्थानिक शासन में जमींदार का प्रभुत्व रहता था क्योंकि अपने बल के सिवा राजा के भी बल का उसे भरोसा रहता था। फिर भी स्थानिक एवं नागरिक शासन मे वयोवृद्ध तथा प्रभावशाली व्यक्तियो से परामर्श और सहायता ली जाती और उनका न्यूनाधिक दबाव भी रहता था। राजा से लेकर प्रजा तक सब लोग सूर्य-प्रदत्त हम्मूराबी कानून का सम्मान करते थे। न्यायालय प्रायः मन्दिरो में होते थे जिनमें पहले तो धर्माधिकारी ही परन्तु बाद को अन्य लोग भी न्यायाधीश नियुक्त किये जाते थे। राजा अपने किसी भी पुत्र को राज्याधिकारी बना सकता था। इसका परिणाम यह होता था कि प्रत्येक राजकुमार की आशा रहती कि शायद वही राजा हो जाय। फलतः राजकुमारो में दलबन्दियाँ और षड्यंत्र चलते रहते जो कभी-कभी भयंकर गृह युद्ध का रूप धारण कर लेते थे।

शिक्षा-दीक्षा

बेबीलॉन मे शिक्षा-दीक्षा के केन्द्र वहाँ के देवालय थे। बेबीलोनिया वाले विद्या तथा लेखन कला के बड़े प्रेमी थे। उन्हे पौराणिक ढग की कथाओ, गिलगमिश की वीरगाथाओ, उपदेशात्मक आख्यायिकाओ एवं कहानियो तथा कहावतो के लिखने का शौक था। गणित तथा ज्योतिष के क्षेत्रो में उन्होने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। यूरोपीय विद्वान् भी मानते है कि ज्योतिष का ज्ञान उनको बेबीलॉन से मिला। उनका सबसे प्रख्यात ज्योतिषी नेब रस्मानी बिन बलत ईसा से पूर्व पाँचवी शती मे प्रसिद्ध हो चुका था। गणित के आधार पर उसने यह परिणाम निकाला था कि चन्द्र और सूर्य ग्रहण निश्चित प्राकृतिक नियम के अनुसार पड़ते रहते है। उनमें कोई अदृश्य रहस्य नही। उसने चन्द्रमा की गति के अनुसार एक जंत्री भी तैयार की जो

कई सौ वर्ष तक पश्चिमी एशिया और ईरान मे चलती रही। उसकी गणना टोलेमी तथा कोपर्निकस की गणना से अधिक अच्छी मानी जाती है। फलित ज्योतिप पर भी बेबीलोनिया मे काफी विचार और परिश्रम किया गया। गणित में वे सुमेरिया वालो के जोड, बाकी, गुणा, अश, सूक्ष्माश, चतुर्भुज, समकोण घनाकार आदि के चिह्नो का प्रयोग करते थे। उन्होने गुणा, वर्ग, परिमाण के पहाडे तैयार किये, क्षेत्रफल, राशि, घनत्व आदि जानने की युक्तियाँ निकाली और बीजगणित मे अनेक ढंग के सुधार किये। पाइथागोरस से बारह सौ वर्ष पहले बेबीलॉन वालो ने उसके नाम से प्रसिद्ध थ्योरियन का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनके गणित सम्बन्धी उल्लेखो का अभी अध्ययन हो रहा है जिससे इस विपय पर और अधिक प्रकाश पड़ने की सभावना है।

निर्माण-कला

बेबीलॉन समृद्धिशाली नगर था। यद्यपि वहाँ की सडके सँकरी थी और मकानो के बाहर की दीवारो का पलस्तर भद्दा था तथापि रहने के लिए मकानो में अच्छा सुभीता था। बड़े हाते के चारो ओर लोग दोमजिले मकान बनाते थे। ऊपरी मजिल मे सोने के और नीचे रहने तथा पूजा करने और मृतक दफनाने के कमरे थे। मकान ईटो के बनाये जाते और छते लकडी की धन्नियो पर पाटी जाती थी। राजमहल तथा मन्दिर विशाल और भव्य बनाये जाते थे। वहाँ के कारीगरो को खभों, सच्चे मेहराबो और वर्तुलाकार छतो के बनाने का अच्छा खासा ज्ञान था। मन्दिरो तथा अमीरो के घरो के बाहर भी रंगीन टाइल (फर्शी खपड़े) लगाये जाते थे जिनसे इमारतो की शोभा बहुत बढ़ जाती थी। उन लोगो ने जिगुरतो के बनाने मे सफलता का अच्छा प्रदर्शन किया। बड़ा जिगुरत सभवतः सत्तर फुट की ऊँचाई तक का था। सब से ऊँचा चबूतरा देवपीठ माना जाता था।

धर्म

बेबीलोनिया मे देवी देवताओ की सख्या साठ हजार से अधिक थी। बेबिलोनियनो ने सुमेरिया के देवी-देवताओ के नाम अदल-बदल कर उन्हे भी अपना बना लिया था। उनके पुराने देवताओ मे थे अनू (आकाश देव) अथवा ख (ब्रह्म), शम्स (सूर्य), नन्नर (चन्द्र) तथा बेल (धरती) आदि। प्रत्येक नगर, गाँव, कुटुम्ब और व्यक्ति का अपना विशेष देवता माना जाता था जिसकी पूजा साय प्रात.काल

अर्घ्य, तेल, अभ्यग, धूप, दीप, नैवेद्य के साथ वडी आधीनतापूर्वक भजन और स्तुतियो के साथ की जाती थी। उनको पशु, खासकर छेरा, की वलि अर्पित करते थे। वेबीलोनिया का प्रमुख देव मरदक और प्रमुख देवी 'इष्टर' थी। इष्टर तम्मूज की पत्नी थी। इष्टर रति की और तम्मूज कामदेव का प्रतीक सा जान पड़ता है। तम्मूज के दहन की कथा भी वहाँ कही जाती थी। वेबीलॉन निवासी देवी देवताओं से ऐहिक सुख और समृद्धि की याचना करते थे। उनका विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य एक अंधेरी गुफा मे दुखमय काल व्यतीत करता है। उसकी यातना ठीक ढग की अन्त्येष्टि क्रिया एव यज्ञ से अवश्य कुछ कम हो जाती है। संभवतः परलोक की उन्होंने भव्य कल्पना ही न की थी। भूत, प्रेत. पिशाच आदि में उन्हे बहुत विश्वास था। जादू-मन्तर (मंत्र) मे उनका विश्वास था और अपनी मनो-कामना की पूर्ति के लिए उसका काफी प्रयोग भी वे करते थे। देवताओ के महत्त्व के अनुकूल मन्दिर निर्माण करके उसमे वे उन्हे प्रतिष्ठित करते थे। राजधानी तथा राज्य का सबसे बडा देवता 'मरदक' माना जाता था जिसकी प्रतिष्ठा उन्होंने एक विशाल मन्दिर मे की थी। मन्दिर धन-धान्यपूर्ण रहते और उनमे पुजारी, सेवक, देवदासियाँ आदि नियुक्त कर दिये जाते थे। सबसे विचित्र प्रथा वहाँ यह थी कि प्रत्येक कुमारी को विवाह के पहले मन्दिर मे जाकर किसी अपरिचित व्यक्ति को अपना कौमार्य समर्पण करना पडता था। पश्चिमी एशिया मे ऐसी प्रथा बहुत जगह प्रचलित थी। उसके प्रतिपालन विना प्रेम एव संजनन की देवी इष्टर का आशीर्वाद प्राप्त होना असम्भव सा था।

वेबीलोनिया मे मृतक दफनाये जाते थे किन्तु कुछ लोगो मे दाह-क्रिया का भी चलन था।

अध्याय २

मिस्र

(३०००—१६०० ई० पू०)

मिस्र देश की नील नदी वहाँ की विशेष विभूति है। वह पथरीली चट्टानों को जिनके पार्श्व में रेगिस्तान है, चीरती हुई समुद्र से जा मिली है। यद्यपि प्रति वर्ष उसमें बाढ आती है तथापि हटने पर वह दोनो तटो पर मिट्टी की ऐसी तह लगा जाती है जिससे अनायास ही सर्वत्र हरियाली छा जाती और अन्नादि की बहुत अच्छी उपज होती है। उसी की महिमा से मिस्रवासी सहस्रो वर्ष से फूलते-फलते रहे है और उनकी सभ्यता उन्नत होती रही है। समुद्र के समीप से उस स्थान तक जहाँ से वह फूटकर बही है, निचला मिस्र और उसके पीछे प्रथम प्रपात तक के प्रान्त ऊपरी मिस्र कहे जाते हैं। नदी पर समुद्र तट से लगभग पाँच सौ मील तक नावे आ-जा सकती हैं। मिस्र का जलवायु अच्छा है। वहाँ गेहूँ, जौ, सन तथा कपास खूब उत्पन्न होते हैं। उसी की महिमा से वहाँ हिरन, जिराफ, भेड़, बकरी, शेर, तेंदुए, हाथी आदि भी अपना निर्वाह करते रहते हैं। कोई आश्चर्य नही कि कृतज्ञता से प्रेरित होकर मिस्र वाले नील को देवता मानते और उसकी स्तुति करते थे।

मिस्र के प्रागैतिहासिक निवासी कहाँ से और कब आये, निश्चित रूप से कोई नही कह सकता। अनुमान किया जाता है कि लगभग सात हजार वर्ष पहले वे पूर्व देश से अदन होते हुए नील के तटो पर बस गये। यह भी कहा जाता है कि हब्श देश से सेमेटिक लोगो की एक शाखा के और पश्चिमी एशिया से दूसरी स्वतन्त्र शाखा के लोग आकर मिल जुल गये। यही मिश्रित लोग वहाँ की सभ्यता के आदिम सूत्र-धार हुए।

लगभग साढे तीन हजार से ३३२ ई० पू० वर्ष तक मिस्र देश मे ३१ वशो ने राज्य किया। उनका क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नही होता। उनके ऐतिहासिक युग तीन है। पुराना (२७०० से २२८० ई० पू०), मध्य (२००० से १७८५) ई० पू० और नया (१५८० से १०८५ ई० पू०)। पुराना युग तीसरे राजवंश से छठे तक, मध्य नवे से

बारहवें राजवंश तक और नया अठारहवें से बीसवें राजवंश तक का माना जाता है। अनुमान है कि आरम्भ में मिस्र के नदी-तट पर यहाँ-वहाँ भिन्न-भिन्न कुटुम्ब के लोग बस गये थे जिनके रहन-सहन, विचार, संगठन आदि में बहुत कुछ समानता रही होगी। इन कुटुम्बों को ग्रीस वाले (यूनानी) 'नोम' कहते थे। कुछ विद्वान् 'नोम' को छोटे राज्य का बोधक मानते हैं। प्रत्येक नोम का एक नेता होता था जो उस पर शासन करता था। मिस्रियों को तांबे, चाँदी और सोने का ज्ञान था। उनसे वे कई चीजें बना लेते थे। वे कृषि करते और नदी के ऊँचे तट पर 'शदफ' (ढेंकी) द्वारा पानी उठाकर नहरें काटते और खेतों की सिंचाई करते थे। वे अनाज पीसते, नावें चलाते, सूती कपड़े और कालीन बुनते तथा आभूषण बनाते थे। वे जानवर पालते, मिट्टी के बरतन तैयार करते और उन पर चित्र बनाते थे। उनको तीस-तीस दिन के बारह महीनों का भी ज्ञान था। मकर, शृगाल और बिड़ाल की आकृति के देवता भी थे। मिस्रवासियों का परलोक में गहरा विश्वास था। वे मृतक को दफनाते समय उसके साथ अन्न, वस्त्र आदि रख देते थे।

आपसी कलह और संघर्ष से व्यथित होकर 'नोमों' ने मिल कर दो बड़े राज्य बनाये। प्रथम और द्वितीय राजवंश ३२०० से २७८० ई० पू० तक मिस्रियों पर राज्य करते रहे। उन दोनों राज्यों को एक बनाने का श्रेय 'मोन' नामक व्यक्ति को दिया जाता है। उसी को कुछ विद्वान् राजा नरमेर मानते हैं। वह दोनों राज्यों पर शासन करता था। इसीलिए उसके मुकुट भी दो रंग के, लाल और सफेद, रहते थे। 'थोथ' नाम के देवता से प्राप्त कानूनों को उसने प्रचलित किया। लोगों को कुरसी-मेज, एवं वैभव और विलास का उसी ने मार्ग दिखाया। महाराज मेरा 'फैरो' की उपाधि से प्रसिद्ध हुआ। 'फैरो' का अर्थ है महावंश। उसके समय में लोग छः श्रेणियों में विभक्त थे जिनमें राजघराना, रईस-सामन्त, देवल प्रथम तीन थी। शेष तीन श्रेणियों में लेखक, कारीगर, और कृषक थे। राजा का तो कहना ही क्या, अमीर सामन्तों के भी बड़े ठाट-बाट थे। बगीचों में उनके भवन ईंटों के बनते थे, जिनकी लकड़ी में बढ़िया कारीगरी तथा भीतरी छतों पर कशीदे या फूलदार चाँदनी, बनी होती थी और रंगीन दीवारों, तथा शिल्पित मूर्तियों आदि के सिवा सोनहली कारीगरी की भी अपूर्व शोभा दिखाई देती थी। उनके मनो-विनोद के लिए नाचने और गाने वालों का मुजरा होता था। किन्तु गाँवों के किसान तथा गरीब लोग झोपड़ियों में या कच्चे मकानों में रहते थे।

इतिहास का सबसे परिचित फैरो जोसेर था। उसका मंत्री इमहोतेप उससे

भी अधिक प्रसिद्ध था। वह वैद्यक में, विज्ञान मे, एव कलाओं, विशेषकर वास्तुकला में विशारद था। मिस्र वाले उसे ज्ञान-विज्ञान का देवता मानते और उसकी पूजा करते थे। उसके युग में मिस्र के व्यापार ने अपूर्व उन्नति की। अनुश्रुति कहती है कि उसी ने सक्कर के सीढ़ीदार पिरामिडो की रचना करवायी और वहाँ के मन्दिर बनवाये जिनके खचित स्तम्भ और रंगीन मिट्टी की वस्तुएँ बड़ी सुन्दर थीं।

मिस्र के चौथे फ़ेरो वंश ने (२६८० से २५६० ई०पू० तक) इतिहास में अपना स्थान अमर बना दिया। यह उस समय राज्य करता था जब सुमेरियों का राज्य फल-फूल रहा था। उसके समय में शायद व्यापार की उन्नति, खनिज पदार्थों की प्राप्ति और युद्ध-प्राप्त धन से इतने साधन एकत्रित हो गये थे जिनसे वे संसार को चकित करने वाले गीजे के पिरामिड बनवाये जा सके। पिरामिड एक प्रकार का रौजा है जिसमें वहाँ के राजाओं के शव रखे गये थे। वहाँ के मुख्य पिरामिड का बनवाने वाला उस वंश का फेरो कूफू नामक था। उसके उत्तराधिकारी काफ्रे ने भी उसकी समता प्राप्त करने के लिए वही दूसरा पिरामिड बनवाया। काफ्रे ने छप्पन वर्ष राज्य किया। मिस्रवासियो का विश्वास था कि मरने के बाद यदि स्थूल शरीर की रक्षा की जाय तो उसका सूक्ष्म शरीर, जिसे वे 'का' कहते थे, उसी के साथ रहता है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। इसीलिए वे उसके शव-निवास में उसकी आवश्यकता की चीजें भी एकत्रित कर दिया करते थे। उस सामग्री ने पुराने मिस्र के इतिहास एवं सभ्यता पर अच्छा प्रकाश डाला है। कूफ़ू के पिरामिड में पत्थरो की तेईस लाख सिलें लगी है जिनमें से डेढ सौ ढाई टन वजन की है। उसकी ऊँचाई चार सौ इक्यासी फुट है। गीजे के पिरामिड पर एक पत्थर की मूर्ति १६० फुट लम्बी है जिसका सिर तैंतीस फुट लम्बा और मुख की चौड़ाई तेरह फुट आठ इंच है। उस पिरामिड के निर्माण मे एक लाख आदमी बीस वर्ष तक लगे रहे। पिरामिड संसार की महा आश्चर्यजनक कृतियो में माने जाते हैं। इसके मुख्य कारण हैं उनकी कल्पना और उतने भारी वजन के पत्थरो को सुदूर से लाकर उतनी ऊँचाई पर चढा ले जाना। इनके सिवा शवो को सहस्रो वर्ष तक सुरक्षित रखने की युक्ति भी वे ही जानते थे। उनके पहले और पीछे अद्यावधि किसी को यह कला न आयी।

पुरातन शासको में अन्तिम राजा पेपी ने ९४ वर्ष तक (२७३८ से २६४४ ई० पू० तक) राज्य किया। उसके बुढापे से लाभ उठाकर बलशाली व्यक्ति

स्वतंत्र होने लगे। मरने पर तो उन्होंने मिस्र में सामन्तशाही अराजकता फैला दी जिसमें राजा की कोई न सुनता था। ऐसी परिस्थिति लगभग छः सौ वर्ष तक रही। अन्ततोगत्वा एक प्रतापी पुरुष ने बारहवें राजवंश की स्थापना करके नये युग का सूत्रपात किया।

पुरातन युग मे मिस्र की सभ्यता में आत्मीयता, आत्मविश्वास और आत्मोत्कर्ष का विशिष्ट मात्रा में विकास हुआ। उसमें मिस्रवासियों का स्वजातीय परिश्रम और पुरुषार्थ विशेष रूप में परिलक्षित हुआ। उसका मुख्य कारण संभवतः यह था कि मिस्र पर विजातीय लोगो का प्रभाव कम था। किन्तु ज्यो-ज्यों विजातीयो का दवाव और प्रभाव बढ़ता गया त्यों-त्यो मिस्र की सभ्यता में परिवर्तन होता गया। वाहरी प्रभाव के साथ-साथ आन्तरिक स्थिति मे भी ऐतिहासिक प्रवाह से परिवर्तन होता रहा। उदाहरण के लिए राजा की शक्ति जो पहले केन्द्रित और एक सत्तात्मक थी, विकेन्द्रित होती गयी और सम्पन्न तथा बलशाली व्यक्तियो की सख्या बढ़ती गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा के आर्थिक साधन उत्तरोत्तर संकुचित होते गये। इसके सिवा बड़े-बड़े मकबरो तथा मन्दिरो के बनवाने तथा उनके प्रबन्ध और संरक्षण के लिए अनुदान निश्चित करने के कारण राजकोष तथा राजा की भूमि की कमी होती गयी। यह भी संभव है कि छठे वंश के फेरो का राज्यकाल बहुत लम्बा तथा कमजोर होने के कारण उत्साह संवर्धन एवं प्रगति पोषण में बाधक सिद्ध हुआ हो। उसकी मृत्यु के पश्चात् मिस्र का प्राचीन मानचित्र शीघ्रता से बदलने लगा और उसका संगठन टूटता चला गया। प्राचीन सभ्यता का दृष्टिकोण वस्तुतः ऐहिक और लौकिक था। उसको संरक्षित और सुदृढ़ बनाने के लिए धार्मिक और अलौकिक विश्वासो और सामन्तो का आश्रय आवश्यक समझा जाता था। उस युग का मुख्य ध्येय लौकिक सिद्धि थी जिसके साधनों मे धर्म यद्यपि गौण तथापि अनिवार्य और आवश्यक माना जाता था।

शिक्षा तथा कला

उच्च तथा मध्य श्रेणी की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। किन्तु किसान प्रायः गरीब थे। मिस्रियो का जीवन अधिकतर कृषिमूलक था। कृषि का क्षेत्र सीमित होने के कारण यह आवश्यक था कि उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। इसीलिए नील की तलहटी के उपजाऊ होने पर भी लोग उसे जोतते और खाद देते थे। गेहूँ, जौ, अलसी, सन, फलियाँ, दाल, सब्जी की खेती होती थी। खजूर के पेड़ और

विविध प्रकार के फूलों के पेड़-पौधे लगाये जाते थे। खेती के अलावा पशुपालन भी आवश्यक था। पशुओं मे गाय, बैल, भेड, बकरे, सुअर, गधे और पक्षियों में बत्तखें, पाली जाती थी। उस युग मे मिस्र में ऊँट और घोड़े न थे इसलिए यात्राएँ प्राय: गधो पर होती थी।

नगरो मे मध्य श्रेणी के लोग, व्यापारी, कारीगर, उद्योग-धंधे वाले रहते थे। राजधानी तथा देवस्थानो मे उनका विशेष जमघट होता था जो स्वाभाविक ही था। पत्थर, लकडी, ताँबे, सोने और चाँदी की सुन्दर चीजे तथा सूती परदे और कपड़े आदि बनाये जाते थे और बाहर भेजे जाते थे। उनके बदले मिस्र वाले मसाले, आबनूस लकडी, हाथीदाँत, सोना और लकड़ी की धन्नियाँ तथा तख्ते मँगाते थे। साधारणतया व्यापार विनिमय द्वारा होता था। बडे व्यापार मे चाँदी और सोने के टुकडों का प्रयोग किया जाता था। व्यापारी अरब सागर से एशियन सागर तक और न्यूबिया तथा एशियाई कोचक तक आते-जाते थे।

शासन

इस युग में राज्य की राजधानी थिनिस से हटाकर मेम्फिस मे स्थापित की गयी क्योकि शासन के लिए वह स्थान अधिक उपयोगी था। 'नोम' शब्द का प्रयोग प्रान्त के अर्थ मे भी किया जाता था। प्रान्तीय शासको की शक्ति पहले तो सीमित थी किन्तु धीरे-धीरे वे शक्तिशाली और स्वतन्त्र से हो गये (२४२०–२२८० ई० पू०), यहाँ तक कि वे राजा की भी अवहेलना करने का साहस करने लगे। फिर भी राजसत्ता का इतना आतंक था कि राज्य तथा शासन की स्थिरता को कोई भारी धक्का न पहुँच सका। राजा के आतंक का एक विशेष कारण तत्कालीन धार्मिक भावना थी। राजा का स्थान देवपुत्र ही नही वरन् देवता के समान माना जाता था। वही प्रमुख धर्माध्यक्ष, सेनाध्यक्ष तथा न्यायाध्यक्ष गिना जाता था। उसकी विवाहिता रानी का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी माना जाता था। अत: वंशानुगत होने के कारण राजसत्ता किसी नये वंश के लिए दुष्प्राप्य थी।

राजा की आज्ञाओ को कार्यान्वित करने के लिए अगणित राज्य कर्मचारी नियुक्त थे। व्यावहारिक दृष्टि से मिस्र का शासन नौकरशाही करती थी जिसमें समाज की किसी भी श्रेणी का व्यक्ति भरती किया जा सकता था। पहले प्रान्त का शासक राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। उसे प्राय: प्रान्त के लोगो मे से चुना जाता था किन्तु आगे चलकर वह भी वंशानुगत हो गया। प्रान्तीय शासक ही वहाँ

का सेनापति तथा शासनाध्यक्ष होता था। वही लगान, कर, सिचाई, न्यायाध्यक्ष आदि का कार्य करता था। उसके निर्णय के खिलाफ राजा के मंत्री के पास अपील की जा सकती थी। मुख्यमंत्री का पद प्रायः राजकुमारो को ही दिया जाता था। एक मंत्री उत्तर के और दूसरा दक्षिण के प्रान्तों के लिए नियुक्त था।

शिक्षा तथा कला

पुराने युग के आरम्भ होने के पहले मिस्र में सभ्यता ने उल्लेखनीय उन्नति कर ली थी। मिस्रियों को इतना काल ज्ञान हो गया था कि चान्द्र वर्ष को छोड़ कर उन्होने तीन सौ पैंसठ दिन् के सौर वर्ष की प्रतिष्ठा की (२८५० ई० पू०)। उसी के अनुसार वे अपने हिसाव-किताव तथा ऐतिहासिक घटना- क्रम का वर्णन करने लगे थे। इसके सिवा पत्थर को काटकर इमारतें तथा मूर्तियां भी वनाना उन्होने प्रारम्भ किया जिससे निर्माण कला के विकास के लिए नया रास्ता खुल गया। लेखन कला का भी स्वरूप वदल दिया गया। पहले वे चित्र-लेख अंकित करते थे, तदनन्तर स्फुट चिह्नो का सयोजन कर उन्होने विचार संकेतों का प्रयोग किया। प्रत्येक विचार का चित्र निर्धारित कर उसे उपर्युक्त संकेतो से मिला कर उन्होने एक लिपि शैली वनायी जो 'डिमोटिक' नाम से प्रसिद्ध है। पिरामिड के निर्माण में गणित, योजना, कला कौशल, नाप-जोख, हिसाव-किताव, संगठन तथा व्यवस्था का प्रदर्शन हुआ। उसके विकास में युगो का प्रयास और चिन्तन पाया जाता है। सव वातो पर विचार कर यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि ऐतिहासिक युग अर्थात् ३००० ई० पू० के पहले मिस्र देश ने सभ्यता के विकास में विलक्षण उन्नति कर ली थी जिसकी समता शायद ही कही अन्यत्र पायी जा सके।

मिस्र में तक्षण; मूर्तिकला तथा चित्रकला ने भी उन्नति की। पत्थर, लकड़ी, तांवा पर वे मूर्तियाँ वनाते थे जिनमें सजीवता तथा अंशांशी अनुपात और सुडौलपन पाया जाता है। दीवार पर पलस्तर लगाकर ऐसे भिन्न-भिन्न चित्र वे रचते थे जिनमें यथार्थता का, विविध भावों का और व्यक्तित्व का अच्छा प्रदर्शन हुआ। उनके वनाये चित्रों का अद्यावधि सम्मान होता है और उनसे तत्कालीन जीवन पर अच्छा प्रकाश भी पड़ता है।

पुराने युग में शिक्षा का मुख्य ध्येय मनुष्य को व्यवहार-कुशल, शिष्टाचारी वनाते हुए जीविका चलाने के योग्य वनाना था। शिक्षितो का आदर्श लेखक की नौकरी प्राप्त करना था। तत्कालीन रचनाओं मे धार्मिकता का भी पुट मिलता है।

गणित, लिखना-पढ़ना तथा उपदेशात्मक सुभाषितो को याद करना शिक्षा के मुख्य अंग थे। किल्क की कलम से पेपाइरस वृक्ष की छालों पर लेख लिखे जाते थे।

धर्म

मिस्र वालों का परलोक में अटूट विश्वास था। उनकी धारणा थी कि प्रत्येक पदार्थ जैसे नदी, पहाड़, तारे, वृक्ष, सूर्य, चन्द्रमा आदि मे देवता हैं। उनकी सख्या अनन्त और उनके व्यवहार विचित्र हैं। महत्त्व के अनुसार उनकी भी साधारण, मध्य और श्रेष्ठ श्रेणियाँ हैं। कुछ देवता स्त्री या पुरुष की आकृति के और कुछ मछलियों अथवा मगर, कुत्ता, बिल्ली, बैल, दरयाई घोड़े तथा पक्षियो की आकृति के हैं। देवताओं की चेष्टाएँ, उनके स्वभाव और व्यवहार मनुष्यो जैसे हैं। विविध रूप रंग होते हुए भी देवता एवं मनुष्य मे समान तत्त्व है। प्रत्येक ग्राम, नगर तथा प्रान्त का विशिष्ट देवता होता था। सारे राज्य मे प्रथम सम्मानित देवताओं में प्रकाश का देवता 'होरस' था जिसका धड़ मनुष्य का और मुख बाज पक्षी का था। पाँचवें राजवंश मे उसका स्थान 'रे अथवा रा' नामक सूर्य को प्राप्त हुआ। उनके अलावा 'प्रेह' जो कारीगरों का देवता था 'नुत' नाम्मी व्यो देवी भी जातीय देवताओं मे गिने जाते थे।

मिस्र वाले मृत्यु को जीवन का अन्त नही मानते थे। उनका विश्वास था कि मृतक वस्तुतः मरा नही बल्कि अनिश्चित काल के लिए सो रहा है। इसीलिए वह मृतक का शरीर मकबरों मे रक्षित कर देते थे और उसके साथ उसकी आवश्यकताओं के पदार्थ और खाने-पीने की चीजे रख देते थे। शरीर को अनुप्राणित करने वाला 'का' नामक तत्त्व माना जाता था। उनके अनुसार मरने पर 'का' अमरत्व के देवता 'ओसिरिस' के सामने उपस्थित किया जाता था। यदि 'का' ऐसे व्यक्ति का हो जो हत्यारा, देवनिन्दक, माता-पिता के साथ कुव्यवहार करने वाला, चोर, दूसरे का माल हड़पने वाला था तो उसको एक भयंकर दैत्य खा जाता था। किन्तु यदि वह उन दोषो से मुक्त रहा होता तो उसको अमरत्व प्रदान कर दिया जाता था। यमलोक के अधिपति ओसिरिस की स्त्री उसकी बहिन 'आइसिस' कही जाती थी।

मिस्र की राजकता का पोषण वहाँ के धार्मिक विश्वास और विचार करते थे। मिस्र में विजातीयो के अधिकाधिक आगमन तथा धर्माधिकारियो के उत्तरोत्तर बढ़ते महत्त्व के कारण राजा की शक्ति मे क्षीणता आती गयी। समाधियों और बड़े बड़े देवालयों के निर्माण पर अपार धन खर्च होता रहा। फलतः सामन्तों और

धर्माधिकारियो की शक्ति और आर्थिक स्थिति जिस अनुपात से बढ़ी उसी अनुपात से राजा का आतक और कोष घटता गया। इसके सिवा मिस्र के लोग धर्म को ऐहिक सुख और सिद्धि को साधन समझने लगे जिससे पुरानी सभ्यता का दृष्टिकोण बदलता चला गया।

मध्ययुग (२३७५–१८०० ई० पू०)

मध्ययुग का आरम्भ बारहवे राजवंश से गिना जाता है। कुछ विद्वानो की राय में इस वंश मे नीग्रो रक्त मिश्रित था जिसके कारण उनमें अधिक पुरुषार्थ का प्रदर्शन मिलता है। उसका संस्थापक 'आमेनेमहेत' के नाम से प्रख्यात हुआ। मेमफिस से साढे चार सौ मील पर थेबेज मे उसने अपनी राजधानी स्थापित की। उद्दत सामन्तो का दमन करके उसने नयी राज्य-व्यवस्था का प्रचलन किया जिसका आगे चलकर वर्णन किया जायेगा। इस वंश मे अन्य दो प्रतापी राजा हुए। इनमें से 'सेनुसरेत प्रथम ने नील नदी से लाल समुद्र तक एक नहर खुदवाई, करनक, हेलिओपोलिस और अबाइस के विशाल मन्दिरो की रचना करायी तथा अपनी विशाल मूर्तियो की भी स्थापना करवायी। दूसरा प्रतापी राजा 'सेनुसरेत' तृतीय हुआ जिसने न्यूबिया की ओर से होने वाले आक्रमणो को एक प्रकार से सैनिक शक्ति द्वारा रोक दिया। पैतृक सामन्तो और जमीदारो को हटाकर अपनी ओर से शासक नियुक्त किये और शासन व्यवस्था सुधारी। किन्तु उसकी इस नीति से सामन्तो एवं जमीदारो में असन्तोष की आग सुलगने लगी। यद्यपि उसके जीवन-काल मे वे सब दबे रहे पर उसकी मृत्यु के बाद खुल खेले जिससे मिस्र का इतिहास फिर उपद्रवपूर्ण अन्धकार में पड़ गया। उस देश के साम्राज्य का इतिहास अगले अध्यायो का विषय होगा। इस प्रसंग में उपर्युक्त पुरातन एवं माध्यमिक युग की सभ्यता का ही वर्णन उपयुक्त होगा।

सामाजिक जीवन

आर्थिक कारणों से साधारण मनुष्य एक ही ब्याही स्त्री से निर्वाह कर लेता था किन्तु जो सम्पन्न थे वे बहुविवाह से भी सन्तुष्ट न रह कर वेश्याएँ भी रखते थे। मिस्र के समाज पर मातृक परम्परा का प्रभाव जान पड़ता है। वहाँ स्त्रियो के अधिकार रिवाज एवं कानून द्वारा रक्षित थे। विवाह के पूर्व लड़कियों को अधिक स्वतंत्रता रहती थी। विवाह हो जाने के बाद भी वे पुरुषो के साथ खुलेआम

खाती-पीती और बेधड़क बाजार मे घूमती तथा क्रय-विक्रय करती थी। वे स्वतन्त्र रूप से लेन-देन और व्यापार या रोजगार-धंधे करती और अपनी निजी जायदाद अपने उत्तराधिकारी को दे सकती थी। विवाह के पश्चात् उनका आचरण अच्छा रहता था जिससे तलाक की जरूरत कम ही पड़ती थी। उनका वैवाहिक जीवन साधारणतया अच्छा था। पति को कभी-कभी अपनी कुल पूंजी पत्नी को दहेज में लिख देनी पड़ती थी। जायदाद के खान्दान से बाहर जाने के भय से वहाँ भाई अपनी बहन से भी विवाह कर लेता था। माता-पिता और बड़े-बूढ़ो का सन्तान आदर करती थी और वे उस पर स्नेह करते थे। दम्पति के प्राय. कई बच्चे हुआ करते थे जिनसे घर भरा रहता था। सयानेपन तक लडके नंगे और लड़कियाँ गुरियो की झालर या थोडा कपड़ा कमर से नीचे लटकाये घूमती रहती थी। अच्छे घर की स्त्रियाँ भी घुटने से नीचे अथवा नभि से ऊपर ढाँकना अनावश्यक समझती थी। दस वर्ष की अवस्था में कन्या विवाह योग्य मानी जाती थी यद्यपि उसका विवाह कर देना आवश्यक न था। स्त्रियो को उबटन, लेप, अंगराग और आभूषणो का शौक था। पुरुष भी बाल संवारते और आभूषण पहनते थे। बच्चे गेद और लट्टू खेलते और पुरुष पासे। वे कुश्ती, मुष्टिकयुद्ध और बैलों की लडाई देखने के भी शौकीन थे। मिस्र के लोग परम्परा के प्रेमी और परिवर्तन के विरोधी थे।

आर्थिक

नील की तलहटी बड़ी उपजाऊ थी। कहा जाता है कि किसी समय केवल अनाज बिखेरने मात्र से ही अन्न फट पडता था किन्तु वह भूमि फेरो की थी। वह जिसे चाहता देता। प्रत्येक कृषक को अपने खेत की उपज का दशमांश अथवा पच-मांश राजा को देना पड़ता था। लोगो का साधारण भोजन अन्न, मछली और मांस था जो नाना प्रकार से पकाया जाता था। गरीब कृषक की दशा अच्छी न थी। यदि दैविक आपत्तियो या लुटेरो के उपद्रव से हानि भी हो गयी हो तो भी उससे मारपीट कर वसुल कर लिया जाता था। कृषकों को धर्म, मुख्य धर्माधि-कारी या राजा के नाम पर श्रमदान करना पड़ता था। सामन्तो ने भी अपने-अपने क्षेत्र में उसी भावना से लाभ उठा कर बेगार लेना शुरू कर दिया था। फलत कृषक को बेगार भी करना पड़ती थी यद्यपि काम प्राय. लोकोपयोगी ही होता था, जैसे सड़क, नहर आदि बनाना। खेत जोतने वाले भले ही गुलाम हो तो भी उनके समान ही होते थे। अमीरो अथवा सामन्तो को जो जमीन दी जाती थी उसे वे दासो

से जुतवाते थे। उनमें बाज-बाज तो इतने सम्पन्न होते थे कि वे पन्द्रह सौ तक गायें रख सकते थे।

कला-कौशल

मिस्र में धातुओं का अभाव था। केवल थोड़ा ताँबा निकलता था। अन्य धातुएँ, जैसे लोहा और सोना, अन्य देशों से मंगवायी जाती थी। किन्तु वह व्यापार राजा के ही हाथ में था। ताँबे और टीन को मिला कर काँसा तैयार किया जाता जिससे औजार और हथियार गढे जाते थे।-औजार इतने अच्छे थे कि उनसे बड़े-बड़े बरमे, गड़ासियां, आरियाँ आदि जो पत्थरों तक की भारी-भारी शिलाओं को छेद या काट सकती थीं बनायी जा सकती थी। ढाल, तलवार और झिल्लम बनाना उनको आता था। लकडी के काम करने में वे बड़े निपुण थे और कारीगरी दिखाते थे। कुरसी और तख्तों आदि का तो कहना ही क्या। सौ फुट लम्बी और पचास फुट चौडी नावें भी वे बनाते थे। चमड़े को कमाना और उससे अनेक सुन्दर चीजें बनाना उनको आता था। पेपाइरस की छाल से कागज बना लेने की विधि भी ज्ञात थी। बुनाई में तो वे इतने सिद्धहस्त थे कि उनके सूती तागों की बारीकी और बुनाई की करामात का मुकाबला आज तक नही हो सका। कारीगर प्राय: स्वतंत्र प्रजाजन थे, यद्यपि कभी गुलामों से भी काम लिया जाता था। मजदूरी में विलम्ब होने पर वे लोग हड़ताल और आन्दोलन कर देते थे। मिस्र कच्चा माल बाहर से मँगाता और उससे बढ़िया चीजें तैयार करके बाहर भेजता था। इसी कारण वह समृद्धिशाली हो गया था।

मिस्र में वास्तुकला ऐसी उन्नत अवस्था में थी कि उसका प्रतियोगी संसार में मिलना कठिन है। वैसी इंजीनियरी तो ईसा के बाद की अठारहवीं शती तक यूरोप में भी नहीं हुई। बडी-बड़ी नहरें, बड़े-बड़े बांध, और बड़े-बड़े जलाशय ही वे नही बनाते थे, वरन् उन्होंने ऐसे पिरामिड भी बनाये जो संसार को आज तक चुनौती देते और सर्वग्रासी काल पर हँसते हैं। वे संसार के सबसे बड़े वास्तुकला-विशारद माने जाते हैं। इतना सब होते हुए भी वहाँ की सड़कें खराब थी जिनसे यातायात में कठिनाई पड़ती थी और प्राय. नावों से ही काम लेना पड़ता था।

मिस्र में सिक्कों का प्रचलन न था। इसीलिए व्यापार विनिमय द्वारा होता था। लोगों को वेतन या मजदूरी भी जिन्स के रूप में दी जाती थी और कर भी उसी में लिया जाता था। भारी व्यापार साख पर हुंडी-पुर्जे से तथा कानूनी लिखा-पढी से चलता था। कला-कौशल वंशानुगत होते थे जैसा कि हमारे देश में सदा रहा।

शिक्षा और साहित्य

मिस्र में एक प्रकार की लिपि जिसे हाइरोग्लिफिक कहते हैं, प्रचलित थी। हाइरोग्लिफिक का अर्थ है धार्मिक खचन अथवा लेख। पदार्थों, विचारों और भावों को वे उन्ही से चित्रित करते थे क्योंकि उन्हें अक्षरों का ज्ञान न था। संभवतः संसार के सबसे पुराने लिखित ग्रन्थ मिस्र में ही मिलते हैं। पेपाइरस की पतली टहनियो को दबाकर वे एक तरह का कागज सा बनाते और उस पर लिखते थे। उस समय के लेख पाँच सहस्र वर्ष के बीतने पर भी स्पष्टतया पढ़े जा सकते हैं। वे पन्ने जोड़ कर जन्मपत्रियों की तरह पुस्तक को लपेट लेते थे। कभी-कभी उनकी लम्बाई चालीस गज तक होती थी। वे उनको सजाकर मटकों मे रखते थे। मिस्र के साहित्य-कार कहानी, कविता, स्तुतियाँ, पत्र, मन्त्रतन्त्र, ऐतिहासिक कथानक, कानूनी और धार्मिक लेख लिखते थे। ऐतिहासिक घटनाओं को संक्षेप में लिखने की प्रथा पुरातन काल से ही प्रचलित थी। मन्दिरों में शिक्षा प्राप्त करके उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी राज्य संस्थापित स्कूल मे भरती होता था। कहा जाता है कि मिस्र में ही सबसे पहिले सरकारी स्कूल की स्थापना हुई थी। वहाँ गणितशास्त्र, विशेषकर ज्यामिति, ने काफी उन्नति की थी जिसकी साक्षी वहाँ के पिरामिड दे रहे हैं। उनको ३६५ दिनों और १२ महीनों के वर्ष का ज्ञान था। उन्होंने एक प्रकार की जंत्री भी बना ली थी जो सबसे पुरानी मानी जाती है। चिकित्सा शास्त्र मे भी उन्होंने अच्छी उन्नति कर दिखाई थी। अनेक भयंकर रोगो की वे सफल चिकित्सा कर लेते थे।

कला-कौशल

कहा जाता है कि मिस्री संसार के सबसे श्रेष्ठ वास्तुकला-विशारद थे। पत्थरों एवं ईंटों के मकान, मंदिर एवं समाधिस्थान बनाने में अद्वितीय थे। मध्य राजत्व काल के विशाल मन्दिरो विशेषतः उनके खंभो की रचना दर्शको को अद्यावधि चकित करती है। शिल्पकला उन्नत अवस्था मे थी यद्यपि भित्ति शिल्प की वहाँ विलक्षण उन्नति हुई। चित्रकला ने दोनो युगों में वहाँ कोई विशेष उन्नति नही प्राप्त की यद्यपि पुराने युग मे उसका अभाव न था। उसकी उन्नति आगे चलकर हुई। संगीत कला ने भी कोई विशेष उन्नति नही की।

धर्म

मिस्रियो की अपने धर्म पर बड़ी श्रद्धा थी। उनके सारे व्यापार, विचार,

आचार धार्मिक भावों से रंगे थे। उनकी भावना के अनुसार आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, नदी, पर्वत, वन, वृक्ष आदि सभी देवताओ के स्थूल रूप थे। पृथ्वी को वे देवी मानते थे। विभिन्न वंशो के देवताओ में भी न्यूनाधिक विभिन्नता थी। ग्रहण को वे दैत्य द्वारा चन्द्रमा का लीला जाना और प्रार्थना द्वारा उसका उग्रह होना मानते थे। यद्यपि चन्द्रमा उनका सबसे पुराना देवता था किन्तु सूर्य ही सबसे बड़ा माना जाता था। सूर्य के अनेक रूप थे पर सबसे महत्त्वपूर्ण देवाधिदेव 'रा' था। मानव सृष्टि उसी की सन्तति है। मध्य राजत्व काल में 'रा' का दूसरा रूप 'आमोन' नामक हुआ। दोनो को मिला कर 'राआमो' का पूजन जनता में बहुत प्रचलित हुआ। इनके सिवा वे नील नदी की जलधाराओं, वृक्षो, वनस्पतियो, मकर आदि जलचरो, गाय, कुत्ता, बिल्ली, शृगाल आदि पशुओ, बाज, हंस आदि पक्षियों और सर्प में भी देवताओं की कल्पना करते थे। वे सब किसी न किसी देवता के प्रतीक या वाहन माने जाते थे। मिस्र में बैल और बकरे विशेष रूप से सेव्य और पूजनीय समझे जाते थे। देवता मनुष्य रूप धारण कर सकते और मनुष्य देवता हो सकते थे। देवियो में मुख्य और व्यापक प्रभाव वाली 'आइसिस' माता थी। उसका पति उसी का भाई 'ओसिरिस' था। अपने अनन्य प्रेम से वह पति को अपने वश मे रखती थी। वह पृथ्वी और उसके जीवो की जननी मानी जाती थी। सूर्य भी उसी का पुत्र था। उसकी मूर्ति बनायी और पूजी जाती थी।

मिस्र में देवताओ के मन्दिर थे जिनमे पुजारियो का अनुशासन रहता था। मन्दिरो के खर्च के लिए जागीरें दी जाती थी। पुजारियो या पुरोहितो का सबसे बड़ा नेता स्वय वहाँ का राजा होता था। विशेष उत्सवो में वही पूजन करता-कराता था। देवताओ पर जो कुछ चढ़ता वह पुजारियो में बँट जाता था जिससे वे बड़े चैन से जीवन व्यतीत करते थे। इसके बदले वे विद्याध्ययन और अध्यापन और आदर्श आचरण का प्रदर्शन कर उसकी मर्यादा रखते थे।

मिस्र वालो का परलोक मे बड़ा विश्वास था। वहाँ पहुँचने के लिए आचरणों की शुद्धता, भावो एव विचारो की पवित्रता तो थी ही, मन्दिरो के निर्माण कराने तथा पूजा भेट चढ़ाने से कर्मानुसार स्वर्ग प्राप्त भी हो सकता था। उस देश में मंत्र तंत्र भी खूब चलते थे किन्तु उनमें आध्यात्मिक विषयो या आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक विचारो की ओर प्रवृत्ति नही पायी जाती। तथापि उनकी धारणा थी कि शरीर मे 'का' के सिवा जीव भी रहता है जो ओसिरिस का कृपापात्र होने से अमर हो सकता है।

मिस्र में फेरो राजा का बड़ा महत्त्व था। वह देवताओं का प्रमुख पुरोहित ही नहीं वरन् स्वय आमो न रा का पुत्र माना जाता था। अपने दैविक अधिकार से वह राज्य करता था। इसी कारण उसका ऐसा सम्मान और दबदबा था कि बिना बड़ी सेना या पुलिस विभाग के राज्य मे शान्ति रहती और अबाधित शासन चलता रहता। राजा की आज्ञा और अनुशासनो का पालन करना प्रजा अपना कर्त्तव्य समझती थी। फेरो की सम्मति देने के लिए 'सरु' नामक वृद्ध राजसेवको की एक सभा थी किन्तु उसकी सहायता की बहुत कम आवश्यकता पड़ती थी क्योकि फेरो एक प्रकार से सर्वज्ञ माना जाता था। शासन के सचालन की पूरी जिम्मेदारी मत्री के ऊपर थी। वही प्रमुख शासक, प्रमुख न्यायाधीश और प्रमुख कोषाध्यक्ष माना जाता था। फेरो की सेवा करने के लिए बहुत बड़ी संख्या मे सेवक रखे जाते थे। उनमें सब से बड़ा व्यक्तित्व मंत्री (वजीर) का था। राज्य के दफ्तर मे भी लेखक अधिक सख्या मे नियुक्त किये जाते थे। वे आय-व्यय का लेखा रखने के सिवा जनसंख्या का ब्यौरा भी रखते थे। राज्य के कारखानो के निरीक्षण के लिए निरीक्षक नियुक्त थे। मिस्र मे उत्तराधिकारी, मालगुजारी एवं फौजदारी के अच्छे खासे कानून बने हुए थे। जमीन की नपाई समय-समय पर की जाती थी। सब के लिए कानून एक सा लागू होता था। वादी और प्रतिवादी मौखिक वादविवाद न कर के उसको लिख कर न्यायाधीश को दे देते थे। स्थानिक न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध मत्री के न्यायालय में अपील हो सकती थी। दड विधान मे शारीरिक दड, अंग विच्छेद, अनेक प्रकार के प्राण दंड तथा देश से निर्वासन आदि के नियम थे। आज्ञाकारी शान्त जनता तथा संगठित शासन एवं व्यावहारिक विधान के कारण मिस्र का राज्य अनेक शतियो तक स्थायी रहा।

बहुत काल तक शान्ति रहने के कारण मिस्र के निवासियो की सैनिक शक्ति, जो कभी पहले भी बहुत प्रबल न थी, बहुत कमजोर हो गयी। इसके सिवा अत्यधिक सम्मानित तथा धनधान्य से सम्पन्न होने के कारण वहाँ के शासन में शैथिल्य और राजाओं एवं धर्माधिकारियो मे विलासिता तथा प्रतिद्वंद्विता बहुत बढ गयी। ऐसी परिस्थिति में मिस्र पर एशिया की 'हिकसोस' नामक खानाबदोश सेमेटिक जाति ने आक्रमण किया। उनके पास घोडे और अच्छे शस्त्र थे। मिस्रियो को सरलता से परास्त करके उन्होने उनके नगर विध्वस कर डाले, मदिरो को लूट कर तोड़-फोड़ डाला। लगभग दो सौ वर्ष तक मिस्र श्रीहत और दलित रहा तथापि स्वतंत्रता प्राप्त करने की आशा मिस्रियो मे जीवित रही।

अध्याय ३

हिट्टी और मिट्टनी

जिस युग में मिस्र का अठारहवाँ वंश राज्य कर रहा था उस समय पश्चिमी एशिया का वह भू-भाग, जो आगे चलकर एनेटोलिया और एशियाई तुर्की कहलाया, कुछ नयी जातियों के आक्रमणो का क्षेत्र बन गया। उनमें कस्सी और हिट्टी प्रमुख थे। उनके आक्रमणो ने बेबीलॉनिया साम्राज्य को नष्टप्राय कर दिया। अमोरी वश को हटाकर कस्सियों ने बेबीलॉन पर, मिट्टनी लोगों ने उत्तरी मेसोपटेमिया पर तथा एशियाई कोचक के मध्य भाग पर हिट्टियों ने अपना अधिकार स्थापित कर दिया। उपर्युक्त तीनो वँश इण्डो-आर्य जाति की ही शाखाएँ थी। उनकी बोली, शब्द-प्रयोग, एवं व्याकरण में बहुत कुछ समता थी। वे लोग उतने सुसंस्कृत और सभ्य न थे जितने कि मेसोपटेमिया अथवा मिस्रवासी। किन्तु लोहे के अस्त्र-शस्त्रों और घुड़सवारों के कारण उनकी युद्ध-क्षमता को बहुत बल प्राप्त हो गया था।

ईसा से २५०० वर्ष से भी पहले केस्पिअन सागर के आसपास से बढ़कर हिट्टी एनेटोलिया में घुसे और उस पठार को जो हलीस नदी के मोड़ पर है उन्होने अपना अड्डा बनाया। वह प्रदेश हिट्टी कहलाता था। इसीलिए विजेता दलो का हिट्टी नाम रख लिया गया पहले तो उनके विभिन्न दलों मे लड़ाई झगड़े होते किन्तु बाद को वे सब संगठित हो गये। उनकी भाषा भी अन्य भाषाओं के प्रभाव से पुष्ट होने लगी। मेसोपटेमिया के व्यापारियों से आदान-प्रदान होने के कारण लेखन-कला, व्यापार-कौशल भी उन्होने प्राप्त किया। उनके आदिम इतिहास का ज्ञान अभी अधिक प्राप्त नही हो सका। एक अनुश्रुति के अनुसार २२०० ई० पू० जब अक्कद के राजा नरमसिन ने उत्तर के सत्रह राज्यो के संघ पर चढाई की थी तब उनमें हिट्टी दल भी था जिसका राजा पम्बा था।

ईसा से १९०० वर्ष पूर्व व्यापारियो की एक टोली हत्तुसस, हिहत्तू या खत्तू में आकर बस गयी थी। वे अपने दैनिक व्यापार से सम्बद्ध विषय मिट्टी की शिलाओ पर क्यूनीफार्म लिपि (रेखा लिपि) मे लिखकर बेबीलोनिया को भेजा करते थे। मिट्टी

की पटरियो पर लिखे वैसे अनेक लेख प्राप्त हुए है जिनसे कुछ विश्वसनीय बातों का पता चल रहा है। यह ज्ञात होता है कि उस समय हिट्टियों के कम से कम दस राज्य थे जिनमें सबसे महत्त्वशील पुरुष-खड (बुरुशखतुम) था, जिसका अधिपति महाराज कहलाता था। उन राजाओ मे एक नाम पिस् था जिसका पुत्र अनित्तस था। पिता और पुत्र दोनों ने निरन्तर प्रयत्न करके नेश, जलपवा, पुरुषखंड, सलतिवारा और हत्तुसस (हट्टी) आदि नगरो पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। सबसे घोर युद्ध संभवतः हत्तुसस मे हुआ जिसका परिणाम नगर का विध्वंस हुआ। अतः विजेता ने अपने ही नगर नेश में विजित प्रदेशों की राजधानी स्थापित कर दी।

प्रथम ज्ञात राज्य का संस्थापक राजा लबरनस हुआ जिसने अपने कुटुम्बियों के सहयोग और पराक्रम के बल से अन्य सात नगरों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। इसके पश्चात् अरजवा प्रान्त पर भी उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। उसकी पहली राजधानी सभवतः कस्सर मे थी किन्तु बाद में हत्तुसस अंकारा के समीप बोगज़कूई में स्थापित की गयी। अनुमान किया जाता है कि लबरनस का युद्ध हलप (अलेप्पो) के राजा यमहद के साथ हुआ, जिस पर उसने विजय प्राप्त की। लबरनस के बाद राजा मुरसिलम प्रथम ने हलप को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वहाँ से बढ़कर उसने बेबीलॉन पर भी अपनी विजयपताका फहरा दी (१६०० ई० पू०)। मुरसिलम प्रथम की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर उसके बहनोई हन्तिलिस ने षड्यत्र रचा और सम्राट् के लौट आने पर उसका वध कर डाला। उसी समय से हिट्टी के प्रथम साम्राज्य का क्षय आरम्भ हो गया। अधीन राज्य स्वतंत्र होने लगे। इस पतन का यह भी कारण हो सकता है कि उस समय वहाँ राजानुक्रम का विधान अनिश्चित था। इस दोष के निराकरण के लिए राजा तेलिपिनस (१५२५–१५०० ई० पू०) ने घोषणा द्वारा यह निश्चित कर दिया कि प्रथम महारानी का पुत्र अथवा उसके अभाव मे प्रथम पुत्री के पति को राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार होगा। यद्यपि इस नियम का अच्छा पालन किया गया तथापि साम्राज्य क्रमशः क्षीण होता गया। तेलिपिनस ने शांति स्थापित करने के लिए युद्ध के बदले सन्धि नीति का प्रयोग किया किन्तु राष्ट्र को बल प्राप्त न हो सका। प्रथम हिट्टी साम्राज्य का महत्त्व आधी शती मे समाप्त हो गया (१४६० ई० पू०)।

हिट्टियो के द्वितीय साम्राज्य का आरम्भ १४६० ई० पू० से तुवलियस द्वितीय के समय तक हुआ। उसने सीरिया के प्रमुख नगर को फिर से जीत लिया और शनैः शनैः पूर्व अधीनस्थ राज्यों को, जो स्वतन्त्र हो गये थे, फिर से दमन करके उन पर

प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यह अवसर अच्छा था, क्योंकि इसी समय के लगभग मिस्र वालो ने असीरिया पर आक्रमण किया तथा १४५७ के लगभग हरियन अथवा मिट्टनियों पर भी आधिपत्य स्थापित कर लिया किन्तु मिट्टनियो का वास्तविक दमन न हो सका। उन्होने घोर विरोध जारी रखा, जिससे उत्साहित होकर अन्य अधीनस्थ राज्यो ने भी उपद्रव आरम्भ कर दिया। यह अव्यवस्थित दशा शायद १३८० ई० पू० तक रही। जब सुप्पिलियुस सिंहासनारूढ़ हुआ तब उसने हतुतस नगर को सुदृढ़ बनाकर और राज्यस्थ अन्य किलों को मजबूत करके विरोधियो का दमन आरम्भ किया। सबसे पहले उसने मिट्टनियो पर, जिन्हे मिस्र के सम्राट् से सहायता मिलती थी, घोर आक्रमण किये। पहला तो असफल-सा रहा किन्तु दूसरा बड़ी सावधानी और तैयारी के साथ हुआ। उसने मिट्टनी की राजधानी वासुक्कान्नी में घुसकर उसको लूट लिया। वहाँ से लौटते समय सीरिया पर चढ़ाई की, जिससे घबराकर सीरिया वालो ने उसके आगे घुटने टेक दिये। मिस्र के मित्रकदेश के राजा ने सामना करने का साहस किया किन्तु उसे भी गहरी पराजय मिली। उसने हलप और अलालख राज्यों को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। इस प्रकार सीरिया के अधिकाश भाग पर हिट्टियों की सत्ता स्थापित हो गयी।

सुप्पिलियुमस का इतना आतंक फैल गया था कि मिस्र के सम्राट् एखतोन की तीसरी पुत्री अंखेसेनमन ने उसके पास प्रार्थना भेजी कि मेरे पति की मृत्यु हो गयी और मैं निःसन्तान होने के कारण अत्यन्त चिन्तित और दुखी हूँ। मेरा विचार किसी मिस्रवासी को पति वरण करने का नही है। यदि आप कृपा करके अपने किसी पुत्र को यहाँ भेज दें तो मैं उससे विवाह करके निश्चिन्त हो जाऊँ और वह राज्य का सचालन करे। तदनुसार हिट्टी सम्राट् ने अपने एक पुत्र को भेज दिया। किन्तु मिस्र के 'आइ' नाम के प्रमुख पुजारी और प्रतिष्ठित दरबारी ने उसका वध करवाकर विधवा रानी के साथ व्याह कर लिया।

यद्यपि दक्षिण और पूर्व में हिट्टी साम्राज्य में शान्ति रही किन्तु पश्चिम के अरज़वा नामक राज्य ने मिस्र के पृष्ठपोषण से उपद्रव प्रारम्भ कर दिया। दो वर्ष तक घोर युद्ध करके हिट्टी सम्राट् मुरसिलिस ने वहाँ के राजा का वध कर दिया और वहाँ अपना एक अनुकूल शासक नियुक्त कर दिया। उत्तरी सीमा के उद्धत और स्वतंत्र दलों के दमन करने के लिए अनेक सैनिक दल स्थापित कर दिये गये। उस विस्तृत साम्राज्य पर प्रभुत्व स्थापित रखने के लिए बारम्बार सेनाएँ भेजी जाया करती थी, तथापि स्थायी शान्ति इसलिए नही हो पाती थी कि मिस्र और

असीरिया के सम्राट् विरोधाग्नि को भड़काते और किसी न किसी ढंग से विरोधियों की सहायता करते रहते थे। इसका आगे चलकर यह परिणाम हुआ कि मिस्र के सम्राट् रमेस्सस ने सीरिया छीन लेने के लिए उस पर चढाई की। १२८६ ई० पू० कडेश मे दोनों साम्राज्यो की टक्कर हुई। मिस्र की सेना पराजित होकर लौट गयी। यदि नाजुक समय पर अतिरिक्त सेना न आ पहुँचती तो बहुत संभव था कि मिस्र की सेना समूल नष्ट कर दी जाती। किन्तु सीरिया में हिट्टियों की शक्ति को वह कोई आघात न पहुँचा सका। उत्तरपूर्वीय प्रदेश की रक्षा करने के लिए एक नया प्रान्त बना दिया गया जिसकी राजधानी हकमिस मे राजवंश का शासक नियुक्त कर दिया गया।

असीरिया साम्राज्य की प्रवुद्ध शक्ति को रोकने के लिए हिट्टी और मिस्र के सम्राटो ने मैत्री स्थापित करना उचित समझा। अतः १२६९ ई० पू० में दोनों साम्राज्यों ने आपस में सन्धि कर ली, जिसका ध्येय एशियाई कोचक मे शान्ति रखना था। सन्धि को अधिक पुष्ट करने के लिए १२५६ मे हिट्टी राजा हत्तुशिलिस तृतीय ने अपनी राजकुमारी का विवाह फेरोरामेसेस से कर दिया। इस समय हिट्टियों का साम्राज्य करीब करीब सम्पूर्ण उत्तरी एनटोलिया पर स्थापित हो गया था। साम्राज्य अभी संगठित न होने पाया था कि पश्चिमी और पूर्वी प्रान्तों में उपद्रव हो उठे और साम्राज्य अस्त-व्यस्त हो गया। (११९० ई० पू०) एनेटोलिया अनेक छोटे मोटे राज्यो में बँट गया। संभवत. कई छोटे राज्यों पर हिट्टी लोग राज्य करते रहे। ऐसी परिस्थिति देखकर असीरिया के सम्राट् शलमन्सेर तृतीय ने सब को अपने अधीन कर लिया। नवी शती के आरम्भ से असीरिया वालो का बल बढ़ता ही चला गया, यहाँ तक कि आठवी शती के आरम्भ तक असीरिया का आधिपत्य पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। हिट्टी आदि का नामोनिशान मिट गया।

सामाजिक व्यवस्था

राजघराने के सिवा सामन्तो के वश थे जिनका समाज एवं राज्य में विशेष महत्त्व और अधिकार था। राजवंशियो तथा सामन्तवंशियो के ही हाथ मे शासन के सभी पद और अधिकार रहते थे। कृषको और उद्योग-धंधो मे लगे हुए लोगों की स्थिति एक प्रकार के दासों की सी थी। वे अपना स्थान अथवा काम छोड़कर नही जा सकते थे। इस प्रथा का प्रतिपालन अनावश्यक कड़ाई से नही किया जाता था। नौकरो और दासों पर पूरा अधिकार रखते हुए भी उनके साथ अमानुषिक और

निर्दयता का व्यवहार नहीं होता था। शारीरिक क्षति के लिए उनके मुआविजे की रकम स्वतन्त्र व्यक्तियों से आधी मानी जाती थी। नियम यह भी था कि जघन्य काम करने के लिए स्वतन्त्र व्यक्तियों को उनसे दुगुना दंड देना पड़ता था। हिट्टी विधान में दासों के कर्त्तव्यों और अधिकारों की व्यवस्था की गयी थी। उनकी जायदाद पर उनका अपना अधिकार होता था और कुछ धन देकर वे स्वतंत्र समुदाय की लड़की से विवाह भी कर सकते थे। हिट्टियो का वैवाहिक विधान बेबिलोनिया जैसा था। सगाई की प्रथा अवश्य थी किन्तु लड़की उससे बाध्य न थी। यदि वह चाहती तो माता-पिता की आज्ञा लेकर अथवा बिना आज्ञा लिये हुए भी जिससे चाहे विवाह कर सकती थी। किन्तु वैसी स्थिति में उसे सगाई में जो कुछ भेंट मिलती थी वह लौटानी पड़ती थी। लड़की के पिता को दहेज देना पड़ता था। इतना सब होने पर भी यदि पति संगम से इन्कार करता अथवा स्त्री इन्कार करती तो विवाह टूट जाता और दोषी को हरजाना देना पड़ता था। यदि सम्बन्ध होने के बाद स्त्री व्यभिचार करती तो पति प्राणदंड तक भी दे सकता था। पति के निधन के पश्चात् उसकी विधवा को उसके भाई के साथ और भाई के अभाव में पति के पिता और पिता के अभाव में भतीजे से व्याह करना पड़ता था। कुछ हेरफेर से हिब्रू लोगो में भी ऐसी ही प्रथा प्रचलित थी। हिट्टी कानून में पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अपनी सौतेली माँ के साथ संभोग कर सकता था, क्योंकि पिता की सम्पत्ति का, जिसमें उसकी स्त्रियाँ भी गिनी जाती थी, वह उत्तराधिकारी होता था। हिट्टियो में भाई-बहन का विवाह अवैध नहीं माना जाता था।

शासनविधान और कानून

प्रारम्भ में राजा के निर्वाचन की प्रथा थी। कभी कभी एक से अधिक व्यक्तियों का नाम चुनाव के लिए प्रस्तावित होता था, जिससे उत्पात मचने की आशंका रहती थी। सामन्त लोग राजा चुनने का अधिकार छोड़ने में आनाकानी करते थे। किन्तु जब राजसत्ता बलिष्ठ हो गयी तब राजा अपने उत्तराधिकारी का नाम स्वयं प्रस्तावित करता था जिसका समर्थन चुनाव करनेवाले प्रायः कर देते थे। निर्विघ्न चुनाव को सरल, स्थिर और व्यवस्थित बनाने के लिए अन्त में यह विधान बना कि राज्य का उत्तराधिकारी प्रथम महिषी का पुत्र हो और उसके अभाव में पुत्री का पति हो। एक दो अपवादों को छोड़कर इस नियम का प्रतिपालन होता रहा। राजा की

उपाधियों में 'तवरण' तथा 'वीर-देव' अथवा 'देवी-प्रिय' आदि होती थी। अशोक का 'देवाना प्रिय' उसी की प्रतिध्वनि हो सकती है। अपने जीवन-काल में तो नही किन्तु मरणोपरान्त राजा देवत्व को प्राप्त हो जाता था। राजसत्ता के पूर्ण विकास होने पर राजा ही राज्य का सर्वोपरि पुरोहित, सेनापति, विधायक और न्यायाधीश माना जाता था। सन्धि, विग्रह आदि का उसे पूरा अधिकार था। पौरोहित्य, राष्ट्रीय याज्ञिकत्व तथा महत्त्वपूर्ण संग्राम मे सेना-संचालन का कार्य उसे स्वयं करना पडता था। अन्य कार्यों के लिए वह जिसे चाहे नियुक्त कर सकता था।

हिट्टियों के विधान मे महारानी के कुछ स्वतंत्र अधिकार थे। महारानी की उपाधि एक ही महिषी को जीवन भर के लिए मिलती थी, चाहे वह विधवा से सधवा क्यों न हुई हो। महारानी की अपनी विशेष मुद्रा होती थी और वह अन्य देश की रानियो से पत्र व्यवहार भी कर सकती थी। राज्य की आज्ञाओ और लेखो मे उसके नाम का कभी कभी उल्लेख रहता और यज्ञ में भी वह भाग लेती थी।

यद्यपि हित्तुसस का राजवंश अधिक महान् और शक्तिमान् था तथापि हिट्टी साम्राज्य वस्तुत: संघ-साम्राज्य था जिसमें अनेक राज्य संयुक्त थे। राज्य का शासन-विधान जटिल न था। प्रत्येक नगर या बस्ती अपनी परम्परा और परिपाटी के अनुकूल वृद्धो की समिति द्वारा शासित होती थी। प्रदेशों के शासक-पद पर राजा राजवंशियों या सामन्तो मे से किसी व्यक्ति की नियुक्ति कर देता था। प्रदेश का शासक स्थानीय शासन की परम्परा मे हस्तक्षेप न करता था। शान्ति और प्रान्त की रक्षा के सिवा मंदिरों, राजमार्गों, लोक-भवनो का संरक्षण, राष्ट्रीय उत्सवो का प्रबन्ध, पुरोहितो की नियुक्ति आदि उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्व के प्रदेशों या स्थानो का शासन प्राय: राजकुमारो या राजवंशियों के सुपुर्द किया जाता था।

कभी-कभी छोटे या कमजोर राज्य आत्मरक्षा के लिए या तो स्वयं या प्रेरणा द्वारा साम्राज्य के संरक्षण में आ जाते थे। उनसे आधिपत्य के प्रमाण-स्वरूप कुछ कर लिया जाता था। संरक्षित राज्य के स्वामी को वफादारी की शपथ लेनी पड़ती थी किन्तु ओल नही मांगी जाती थी। सम्बन्ध दृढ़ करने के लिए प्राय: वैवाहिक बन्धन स्थापित कर लिया जाता था। साम्राज्यो में बराबरी के स्तर पर सन्धियां होती और धातुओं या मिट्टी की पट्टियों पर उन्हे अंकित कर दिया जाता था।

साम्राज्य का विधान अथवा प्रचलित कानून मिट्टी की पट्टियो पर लिखा हुआ बोगाजकुई मे मिला है। इसमें कृषि, मालगुज़ारी, व्यापार सफाई, अकाल मे सहा-

यता, सम्पत्ति, मजदूरी की दरें, नौकरी, गुलाम, वेतन, विवाह आदि से सम्बन्ध रखनेवाले कानूनों की सूचना मिलती है। उसी प्रकार यह भी विदित होता है कि चोरी, हत्या, जादू टोना, राजाज्ञा की अवज्ञा, फौजदारी, अग्निकांड, अवैध मैथुन आदि के सम्बन्ध मे भी कानून बने हुए थे।

मुकदमा पहले वृद्धो की समिति के सामने आता था। न्याय के लिए जो व्यक्ति राजा के प्रतिनिधि के पास, जो प्रायः स्थानीय सेना का अध्यक्ष होता था, आता था। उसके साथ अच्छी तरह जाँच करने के बाद न्याय किया जाता था। हिट्टियों के दंडविधान में प्रतिशोध की भावना कम थी। बलात्कारपूर्वक मैथुन, पशुमैथुन, राजानुशासन की अवज्ञा और व्यभिचार के लिए प्राण-दंड दिया जाता था। अन्य जुर्मों के लिए जुर्माना ही प्रायः पर्याप्त समझा जाता था। अंग-भंग की सजा कभी-कभी गुलामो को दी जाती थी। स्वतंत्र प्रजा पर वह लागू न थी। यदि किसी स्थान पर हत्या हो जाती और मुजरिम भाग जाता तो तीन मील के भीतर जो गाँव होते थे उनको मृतक के कुटुम्बियो को मुआवजा देकर संतुष्ट करना पड़ता था। राजाज्ञा की अवहेलना करनेवाले व्यक्ति के कुटुम्बियो को भी दंड का पात्र माना जाता था।

आर्थिक परिस्थिति

हिट्टी लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषिकर्म तथा गोरक्षा था। भूमि का बहुत बड़ा अंश राजा और मन्दिरों के अधिकार में था। भूमि सम्बन्धी कानून भी पट्टियो पर लिखे हुए थे। जमीन लगान पर अथवा सेवा के एवज में दी जाती थी। राजा से प्राप्त भूमि पानेवाले के बदल जाने या मर जाने के बाद राजा को वापस हो जाती थी। किन्तु कारीगरों और मजदूरों को दी हुई भूमि उनके चले जाने के बाद गाँव को वापस हो जाती थी। दी हुई जमीन की नाप, देने और पानेवाले के अधिकार और कर्त्तव्य आदि की लिखा-पढ़ी कर ली जाती थी। गेहूँ और जौ की खेती के सिवा लोग अंगूर, बादाम, आदि के बगीचे लगाते और बैल, सुअर, बकरे, भेड़ आदि पालते थे। तेल के लिए वे जैतून के पेड़ उगाते थे। अनाज, शराब और तेल वहाँ की मुख्य पैदावार थी।

पहाड़ी प्रान्तो मे धातुएँ पायी जाती थी। ताँबा, काँसा, चाँदी, लोहा और फूल निकलता या तैयार होता था। लोहा तो कम मात्रा मे किन्तु ताँबा और काँसा अधिक मात्रा में प्रस्तुत होता था। चाँदी के टुकड़ों या बालियों से सिक्कों का काम लिया जाता था। पशु, अनाज, चमड़े, जमीन, मांस, धातु और कपड़े—इनकी

कीमत शासन द्वारा निर्धारित कर दी जाती थी। ताँबे और चाँदी का अनुपात १.२४० था।

धर्म

हिट्टी शासको की धार्मिक नीति उदार थी, यद्यपि कुछ विशेष देवी और देवताओ की ओर राजाओ की अधिक श्रद्धा हो गयी थी तथापि प्रजा को स्वतन्त्रता थी कि वह चाहे जिसे माने-पूजे। हिट्टियो का सबसे प्रमुख देवता तेशब मेघ-प्रभंजन का स्वामी था। सेरिस और हरिस नामक बैलो का उसका रथ था। उसके एक हाथ मे फरसा और दूसरे मे विद्युतप्रभा का त्रिशूल-सा अस्त्र रहता था। छोटी-बड़ी नाना आकार-प्रकार की उसकी मूर्तियाँ पूजी जाती थी। हिट्टियों मे प्रचलित आख्यान के अनुसार उसका सबसे घोर शत्रु इल्लियंकस नाम का अप्रसहिष्णु नाग (सर्प) था जिसने एक बार तो उसे तथा अन्य देवताओ को बुरी तरह से पराजित किया, किन्तु बाद को तेशब ने देवी इनरस की विनय छलना की सहायता से उसे मार डाला। तेशब की पत्नी "हेबत" उसी के समान प्रभावशालिनी, शक्तिमती समरभयकरी देवी थी। देवी का वाहन सिंह था और उन दोनो (तेशब तथा हेवत) का पुत्र था शरमा। हेवंत के सिवा शौशका नाम की सिंहवाहिनी पंखावाली देवी की भी पूजा होती थी। तेशब और उसकी पत्नी साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तो मे अनेक नामो से पूजे जाते थे। प्रत्येक नगर मे देवालय प्रतिष्ठित थे। पूजने के लिए अनेक प्रकार की मूर्तियाँ बनायी जाती थी। छोटी से छोटी मूर्ति से लेकर बडी से बडी पत्थर या धातुओ की मूर्तियाँ बनायी जाती थी।

अरिन्ना नाम के नगर में अरिन्ना नाम की सूर्या देवी की पूजा प्रचलित थी। हिट्टी के राजा अरिन्ना (सूर्या) को त्रैलोक्य की स्वामिनी और राज्य की रक्षिणी तथा नेत्री मानते थे। उसकी समता सत्य और न्याय के सरक्षक सूर्यदेव भी नही कर सकते थे। सूर्य देवता का प्रतीक पंखवाला बिब था, जैसा कि मिस्र वाले मानते थे। अरिन्ना का पति था वुरुसेमू (मेघराज) किन्तु देवी के मुकाबले मे उसका महत्त्व कम माना जाता था। कृषि के विधायक देवता तेलिपिनू, भाग्य के देवता आदि अनेक देवो और देवियो की पूजा की जाती थी। चन्द्रदेव का नाम 'कशक' था. पाताल का हेसुइ और समुद्रतल के इअ नामक देवता थे। देवी की सेवा के लिए अनेक सखियाँ भी थी।

मंदिरों, पर्वतो, खुले मैदानो मे पूजन होते और उत्सव मनाये जाते थे। देवी-

देवताओं को सविधि पूजने के लिए पुजारी नियुक्त थे। वे उन्हें नहलाते-धुलाते, वस्त्र पहनाते, भोज्य और पेय पदार्थों का भोग लगाते और गान, वाद्य तथा नृत्य से उनको प्रसन्न करते थे। प्रसाद बाँटने की प्रथा हिट्टियों में प्रचलित न थी। देवता को पशु, मांस, अन्न, फल, फूल, वस्त्रादि चढ़ाये जा सकते थे। पशुवलि में बैल, छाग, भेड ही नहीं कुत्ते और सुअर भी प्रयुक्त होते थे। कहते हैं कि कभी-कभी नर-मेघ भी होता था। हिट्टियो मे ऋतुओं और वर्षारम्भ के मुख्य उत्सव निश्चित थे जिनके कार्यक्रम में नृत्य, गान और एक प्रकार का छोटा-मोटा नाट्य-प्रदर्शन भी होता था। कभी-कभी कृत्रिम युद्ध का आयोजन किया जाता था। देवताओं की रथयात्राएँ करायी जाती थी। रथों के आगे आगे देवदासियो तथा अन्य स्त्रियों के दल जलती मशाल लेकर चलते थे। देवताओ के विश्राम और सुविधा के लिए भवन, जो 'तरनवी' भवन कहे जाते थे, रहते थे।

कुछ देवताओं के रहने के विशेष स्थान नियत थे, जैसे सूर्य का सिप्पर में, चन्द्रमा का कुजीन मे, मघवा का कुम्मिया में, ईश्तर देवी का निनेवह में, नन्नियां देवी का किसन्न और मरदक का बेबीलॉन इत्यादि में। लोगो का विश्वास था कि देवता परोक्ष मे अदृश्य रूप मे रहते है। वे अमर हैं किन्तु उनके व्यापार और व्यवहार मनुष्यो के व्यवहारों के सदृश होते हैं। उनका मनुष्य के प्रति वैसा ही व्यवहार होता है जैसा कि मालिक का दास के साथ। जब देवता दुश्चित्त हो जाता है तब असुर उसके भक्तों को सताने लगते हैं। प्रार्थना करने पर देवता रक्षा करते हैं किन्तु यदि यातना किसी पाप के दंडस्वरूप हो तो उसका निराकरण पाप स्वीकार करने और उसके लिए प्रायश्चित्त करने तथा क्षमा मांगने पर ही हो सकता है। भूत प्रेतो, रोगो और बलाओ से बचने के लिए जादू-मंत्रादि उपचार किये जाते थे।

हिट्टियो मे मृतक जलाने की प्रथा थी। मृतक-संस्कार तेरह दिन तक चलते रहते थे। चिता से अवशिष्ट हड्डियों को निकालकर उसे शराब मे बझा देते और हड्डियो को किसी पात्र मे रखकर दफना देते थे।

कला-कौशल

हिट्टी लोगों ने नगर-निर्माण और शिला-तक्षण कला मे सराहनीय निपुणता प्राप्त कर ली थी। उनकी राजधानी हत्तुसस तत्कालीन एशिया का सबसे विशाल, सुदृढ और आकर्षक नगर था। उनके प्रासादों की दो विशेषताएँ थी। पहली यह कि सबसे पहले वहाँ के स्थपतियों ने राजप्रासादों को दो खम्भो पर आश्रित द्वार-प्रकोष्ठ

द्वारा विभूषित किया, जिसके दोनो पार्श्वो मे समचौकोर वरहरे या मीनारे बनी थी। आगे चलकर असीरिया और फारस वालो ने उसी नमूने का अनुकरण और उन्नयन किया। इसके सिवा राजप्रासाद के मुख्य द्वार की शोभा बढाने के लिए उन्होने आनुपातिक सिंहों की मूर्तियाँ बनाने की परिपाटी आरम्भ की। मुख्य द्वारो पर स्फिक्स मिस्र मे बनते थे किन्तु हिट्टियो के द्वार-प्रकोष्ठ के साथ द्वाररक्षक सिंह और बलिष्ठ द्वारपालो के बनाने की परिपाटी अपनी विशेषता रखती थी। मिस्र तथा मेसोपटेमिया की वास्तुकला से भी उन्होने लाभ उठाने मे कोई सकोच नही किया था।

बोगाजकुई और टाजिलिकुट मे, जो बोगाजकुई से दो मील पर है, पत्थर की चट्टानो पर उत्कीर्ण नाना प्रकार की मूर्तियाँ और दृश्य बने हुए है, जो हिट्टियो की तक्षण कला के सुन्दर नमूने माने जाते हैं। मूर्तियो की अनेक मुद्राएँ पायी जाती है जिनमे कुछ मूर्तियाँ नग्न देवियो की भी है। मिट्टी तथा धातुओ की बनी छोटी-बडी चीजे खुदाई मे मिली है, जिनसे अनुमान किया जाता है कि चित्रण कला और सुनारी ने वहाँ काफी उन्नति कर ली थी।

हिट्टी पुरुष और स्त्रियाँ सिले हुए कपड़े और शिरस्त्राण पहनते थे जिनकी आस्तीनें तथा लम्बाई छोटी और बड़ी दोनो प्रकार की होती थी।

युद्धकला

हिट्टियो के रथ मिस्र वालो की तरह छः तीलियो के होते थे, किन्तु उन पर तीन व्यक्तियो के लिए स्थान होता था। शीघ्रगामी होने से उनकी भी गिनती हिट्टियो की विजय के कारणो मे है। वे लोग भालो, दोधारे फरसो और धनुष-बाण का प्रयोग करते थे। घुड़सवारो का रिसाला उनके पास न था और पदाति का स्थान भी सेना मे गौण था। सेना-संचालन तथा युद्धकला मे वे कुशल थे। दृढ़ किलो के निर्माण की कला ने भी वहाँ अच्छी उन्नति की थी।

भाषा और लेख

हिट्टी साम्राज्य मे अनेक भाषाएँ बोली जाती थी जिनमे पाँच मुख्य थी। किन्तु सब भाषाओ मे मिट्टनी लोगो की भाषा अच्छी मानी जाती थी। वह भाषा इण्डो-यूरोपियन भाषा की एक शाखा थी। यद्यपि बाद मे अन्य भाषाओ के बहुत से शब्द मिल गये जिससे उसका रूप बदल गया। लिखने तथा उच्च राजनीतिक व्यवहार में मिट्टनी भाषा का अधिक उपयोग होता था। हिट्टियो के पट्ट-लेखो में प्राय. कानून,

व्यापारिक काम की बातें, कुछ प्रचलित लोक कथाएँ, पूजा की विधियाँ, पौराणिक ढंग के आख्यान तथा विजयो और युद्धो के वर्णन मिलते हैं जो गद्य में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य, तत्व दर्शन और विज्ञान की ओर उनका ध्यान आकर्षित न हो सका था।

मिट्टनी

हिट्टियों के इतिहास में जिन जातियों का उल्लेख मिलता है उनमें मिट्टनी लोगों का विशेष स्थान है। ईसा-पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में इण्डो-आर्यन लोगों की एक शाखा कैस्पियन सागर की पूर्वी ओर से घूमते हुए काकेशिया के पर्वतों को लाँघकर मेसोपटेमिया के उत्तर तथा जगरोस की घाटी में, जो अब कुर्दिस्तान कहलाता है, आ बसी थी। उस समय वहाँ के निवासी हर्री लोग थे। हर्री न तो आर्य और न सेमेटिक जाति के थे। ईसा से पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में वे लोग आरमीनिया में थे। वहाँ से वे असीरियाँ, सीरिया और फिलस्तीन (पैलेस्टाइन) तक जा बसे थे। ईरान के नृजी नामक स्थान पर उनकी वस्ती के अवशेष अब भी मिलते हैं। हर्री और मिट्टनी घुल-मिलकर रहने लगे और शक्तिशाली हो गये। ई० पू० पन्द्रहवी शती में हिट्टियो के समान वे भी लोहे का प्रयोग करते थे। उनके पश्चिम में सीरिया राज्य था। वस्सुकन्नी में उन्होंने अपनी राजधानी स्थापित कर ली। उनकी बढी हुई शक्ति से हिट्टी राज्य को चिन्ता होने लगी, क्योंकि कुछ रजवाड़े उनके आधिपत्य से निकलकर मिट्टनी लोगो के साथ शामिल हो गये। १४५०–१४०० में मिट्टनी के आधिपत्य में असीरिया भी चला गया था, किन्तु बहुत लड़ने झगडने के बाद असीरिया स्वतन्त्र होकर अपना बल उत्तरोत्तर बढ़ाने लगा। मिट्टनी के राजा तुपरद्द ने मिस्र के राज्य से भी मेल-जोल बढ़ाना आरम्भ किर दिया। पन्द्रहवी शती के मध्य तक उनकी शक्ति का पूर्ण विकास हो गया। फेरो थटमास चतुर्थ और एमेनहोतेप तृतीय ने वहाँ की राजकुमारियो से विवाह कर लिया। आखिरकार हिट्टियो का उनसे खुल्लमखुल्ला संघर्ष होने लगा। हिट्टी राजा सुप्पोलूल्यूमस ने उनकी राजधानी पर आक्रमण करके उसे लूट लिया (१३६८-९ ई० पू०)। संभव है कि मिट्टनी की देखा-देखी हिट्टी राजाओं ने भी 'वीरदेव' अथवा 'देवीप्रिय' की उपाधि ग्रहण कर ली हो। हिट्टी के राजा के लौट जाने के बाद मिट्टनी पुनः अपनी स्थिति पूर्ववत् सुदृढ़ कर सके। उन्होंने हिट्टी राजा से सन्धि स्थापित कर ली। सन्धि-पत्र के महत्त्व का एक यह भी कारण है कि जिन देवताओं का नाम उसमें उल्लिखित

है उनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य के भी नाम है। उनके सिवा कुछ देवताओ के संयुक्त नाम भी वहाँ प्रचलित थे। उनकी प्रमुख देवी कभी सूर्य की और कभी पृथ्वी की अधिष्ठात्री मानी जाती थी। इससे यह प्रतीत होता है कि उनका कुछ धार्मिक सम्बन्ध भारतवर्ष के आर्यों से रहा होगा। यह भी अनुमान किया जाता है कि शायद वे उसी शाखा के आर्य हों जिन्होने भारत मे पदार्पण किया। उन्ही लोगो म नही, वरन् कस्सी लोगो मे भी, जो आधुनिक लूरिस्तान के प्रदेश मे रहते थे, आर्य देवताओ के जैसे सुरेश, सूर्य और मरुत के नाम प्रचलित थे और अश्व देवत्व का एक प्रतीक माना जाता था। पहले कस्सी का इण्डो-आर्य जाति का होना सदिग्ध था, किन्तु अब यह माना जाता है कि वे भी सभवत: इण्डो-आर्य वश के है।

मिट्टनियों का समाज सामन्तशाही था। सामन्त अपनी अपनी रियासत में शासन करते थे किन्तु राजा को अपना अधिपति मानते थे। उनके समाज में कम से कम तीन वर्ग थे। पहला मर्यन्नी जो रथो पर चढ़कर युद्ध करता था, दूसरा कारागर, और तीसरा सबे नमे, जो ग्रामवासी कृषको का वर्ग था। इनके विषय में अभी तक अधिक ज्ञान प्राप्त नही हो सका है।

अध्याय ४

मिस्र साम्राज्य के नये युग का उत्थान और पतन

(१५८०—१०८५ ई० पू०)

यद्यपि 'हिकसोस' लोगो ने मिस्र पर आतंक जमाने मे कोई कसर न रखी, तथापि मिस्र-निवासी उनको घृणा की दृष्टि से देखते रहे। अन्त में थेबीज नगर के अहमोस नामक एक राजकुमार ने असंतुष्ट प्रजा को संगठित कर उनको मिस्र से निकाल दिया। द्वितीय प्रपात से सीरिया तक उसने अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया। आक्रमणकारियो की तरह उसने भी घोड़ों के रिसालो और अश्वरथों की सेना का संगठन किया। घोड़ों के उपयोग से बड़े साम्राज्य की स्थापना भी संभव हो सकी। मिस्रवासियो में नयी क्षात्र-वृत्ति का प्रादुर्भाव हो गया और अहमोस से मिस्र के अठारहवें राजवंश का आरम्भ हुआ। इस वंश के राज्यकाल मे मिस्र में साम्राज्य एवं साम्राज्यवाद की तथा संस्कृति एवं सभ्यता की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस नये वंश के सहायकों मे केवल सामन्त श्रेणी के ही नही वरन् मध्य श्रेणी के लोग भी थे।

अठारहवाँ राजवंश (१५८०–१३५० ई० पू०)

इस वंश ने चौथे प्रपात तक दक्षिण में तथा सीरिया की ओर फरात नदी तक एशिया में अपनी पताका फहरायी। मिस्र की सीमाएँ दृढ़ कर दी गयी जिससे उस पर आक्रमण का भय न रहे। इसी ध्येय से इसने एशिया पर भी आतंक और बल बढ़ाने की नीति का अनुसरण किया। इसका प्रथम पराक्रमी राजा थटमोस (१५४० १५०१) था जिसकी विजयो और विजित देशों की लूट से मिस्र के आत्मविश्वास, उत्साह एवं आर्थिक दशा की उन्नति होने लगी। तीस वर्ष राज्य करने के बाद उसने अपनी पुत्री 'हाशेपसत' को सहयोगिनी राज्यशासिका बना लिया। पिता के मरणोपरान्त उत्तराधिकारी की उपेक्षा करके पुत्री ने स्वयं राज्य किया (१५०१-१४७९ ई० पू०)। चूंकि मिस्र की प्रथा थी कि राजसिंहासन पर पुरुष ही बैठे इसलिए उसने

पुरुष का बाना बनाया, अपने को पुरुषो के समान सम्बोधित करने की आज्ञा दी और अपनी एक ऐसी मूर्ति बनवायी जिसका वक्षस्थल पुरुषों का सा था और दाढी भी थी। अपना पुसत्व सूचित करने वाली पौराणिक ढंग की कथाओ का खूब प्रचार किया। उसकी सफलता से यह निष्कर्ष निकल सकता है कि अठारहवे वंश के शासक की इतनी घाक और शक्ति थी कि वह यदि चाहे तो स्त्री को भी पुरुषत्व प्रदान कर दे। बीस वर्ष के अपने राज्यकाल मे उसने मिस्र की मान-मर्यादा की ही रक्षा न की वरन् व्यापार के नये स्थानो और मार्गो को खोलकर उसकी अच्छी उन्नति की। इसके सिवा उसने कार्नक के नष्ट-भ्रष्ट मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया और अपूर्ण मदिरो को पूरा करा दिया। अपने लिए भी उसने एक सुन्दर समाधिस्थान बनवाया।

महारानी का उत्तराधिकारी उसका भाई एवं पति थटमोजइय हुआ (१४७९-१४४७ ई० पू०), वह बडा तेजस्वी एव पराक्रमी निकला। उसने सीरिया और उसके सहायक राज्यों को मेगीडो के मैदान मे (१४७९) परास्त कर फरात नदी के पूर्वी भाग तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। हिट्टी तथा मेसोपटेमिया के राजाओ ने उसकी सेवा मे उपहार भेजे। मिट्टनी ने विरोध करने का साहस किया, किन्तु उसको भी पराजित होना पड़ा। इस प्रकार पन्द्रह युद्ध जीतकर उसने भूमध्यसागर पर अपना अप्रतिम आतक जमा दिया। सभवत. वह ससार का पहला ज्ञात राजा था जिसने साम्राज्यवाद तथा समुद्री वल के महत्त्व को समझा और अपने जहाजी बेडे से अपना आधिपत्य स्थिर रखा। उसकी सेना खूब मुसज्जित, अनुशासित और प्रवल थी। उसके कोष में ग्यारह सौ मन चाँदी-सोना था। थेबीज तथा कार्नक की शोभा, समृद्धि और मिस्र के व्यापार की यथेष्ठ वृद्धि होती रही। कहा जाता है कि उसकी विभूति का पूरा प्रदर्शन उसके प्रपौत्र ऐमेनहोतेप तृतीय के राज्यकाल मे हुआ (१४११–१३७५)। मिस्र की महानता ऐमेनहोतेप तृतीय के समय (१४११–१३७५ ई०पू०)मे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची। उसी ने 'कलोसस' का निर्माण कराया जो ससार की महान् आश्चर्यजनक कृतियो मे गिना जाता है। उसके महल मे मिट्टनी, वेबीलॉन आदि देश विदेशो की सैकडो रानियां थी। उनमे सबसे प्रमुख पुरोहित कुल की ताई नाम की महारानी थी। अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे उसने अपने पुत्र ऐमेनहोतेप चतुर्थ को अपना सहयोगी सम्राट् बनाया। वही आगे चलकर इखनातोन के नाम से विख्यात सम्राट् हुआ। ऐमेनहोतेप के समय मे थेबीज नगर इतना श्री-शोभा-सम्पन्न हो गया कि उसकी समानता पाचीन संसार का ही नही, अद्यावधि शायद ही कोई नगर कर सका हो। उसके स्वर्ण-खचित विशाल

मंदिर पूजा-भेंट से अपार सम्पत्ति बढ़ा रहे थे। चारों ओर से व्यापारी आकर वहाँ जमा होते और देश-देश की वस्तुओ का वहाँ खुलकर क्रय-विक्रय करते थे।

अठारहवें वंश का राजा ऐमेनहोतेप चतुर्थ था (१३७५ से १३५८ ई० पू०)। वह कवि, सहृदय और दार्शनिक था। उसका संयम दृढ और आचार विचार पवित्र एवं सात्विक थे। मदिरो के भोग-विलास, वैभव, पशुबलि, नरबलि, भ्रष्टाचार तथा व्यभिचार से उसे ऐसी ग्लानि हुई कि उसने उनका खुल्लमखुल्ला विरोध किया। उसकी धारणा थी कि मन्दिरो की पूजा-अर्चा, पुजारियो का ढोंगमय जीवन तथा मंत्र तंत्र, जादू आदि सब मिथ्या और भ्रमात्मक हैं, ढकोसले हैं। उसका विश्वास केवल 'आतोन' (सविता) पर था। सूर्य को वह प्रकाश का ही नही वरन् जीवन का भी आधार मानता और उसकी भक्ति के आवेश मे आकर सारगर्भित तथा मर्मस्पर्शी स्तुतियों की रचना करता था। वह एकेश्वरवादी था और निराकार ईश्वर की अपार विभूति को आलोकित करनेवाले एक मात्र प्रतीक आतोन (सविता) को ही मानता था। उसको वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, दयालु, भर्ता और प्रेमस्वरूप समझता था। उसे यह आशा थी कि एक ईश्वर का आदर्श साम्राज्य के सभी निवासियो को आकृष्ट कर सकेगा और विभिन्न स्थानिक देवताओं के संघर्ष को हटा देगा।

सुधार की प्रबल प्रेरणा ने उसे कुछ असहिष्णु कर दिया। उसने आज्ञा दी कि आतोन के सिवा आमोन आदि सभी देवताओ के नाम मिटा दिये जायँ और आपत्तिजनक पूजा अर्चा बन्द कर दी जाय। ऐमेनहोतेप नाम बदलकर उसने अपना नाम इखनातोन रख लिया। आमोन से उसे चिढ सी हो गयी थी। यही नही, थेबीज नगर के विलास, स्वार्थ और धूर्ततामय जीवन से ऊबकर वह अखेतातोन (आधुनिक तेलएल-अमरना) में नयी बस्ती बसाकर रहने लगा। थेबीज का पतन और नयी नगरी का उत्कर्ष दिन-प्रति-दिन बढ़ता गया। उसके उतावलेपन और असहिष्णुता से पुजारियो, धनिकों तथा रूढ़िग्रस्त प्रजा मे असन्तोष उत्पन्न हो गया। उसके शान्ति और संतोषपूर्ण विचारो के कारण सम्राट् की सत्ता के पोषको मे असंतोष फैला, जिससे लाभ उठाकर हिट्टियो ने उत्तरी सीरिया और हिब्रुओं ने पेलेस्टाइन पर आक्रमण कर दिया। शस्त्रबल से साम्राज्य की नीति की रक्षा करने तथा प्रान्तस्थ प्रजा पर प्रभुत्व कायम रखने के लिए मिस्रवासियो का रक्तपात कराना सम्राट् ने चिन्त्य ही नही वरन् घृणित समझा। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि नौकरशाही प्रजा को लूटने-खसोटने लगी, धर्माधिकारी विरोध और षड्यंत्र करने लगे और दूसरा यह कि

प्रान्तों ने क्षुब्ध होकर मिस्र का आश्रय छोड़ दिया और वे स्वतंत्र हो गये। साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। मिस्र की धाक बिगड़ गयी और उसकी समृद्धि के साधन जाते रहे। वह श्रीहत होकर अर्थ-संकट में ग्रस्त हो गया। ऐसे ऊँचे और पवित्र विचारों और आदर्शों तथा अन्तर्जातीय बन्धुत्व की भावना का इतना भयंकर परिणाम देख-कर इखनातोन का कवि-हृदय ऐसा आहत हुआ कि वह इतिहास की विषमता की निष्ठुर कहानी छोड़कर भरी जवानी मे ही परलोक को चला गया।

इखनातोन के सिद्धान्त के अनुसार सत्य एवं यथार्थ का अन्वेषण मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। रूढ़िग्रस्त रहना मानसिक दुर्बलता का द्योतक है। उसके विचारों का प्रभाव कुछ काल तक कला और शिक्षा पर भी रहा, जिसकी साक्षी उसके नये नगर अखेतातोन (तेल एल-अमरना) की शिल्पकला की स्वाभाविकता एवं स्वतंत्रता अद्यावधि दे रही है। उसके विचारो और आदर्शों से संभवतः मिस्र की सभ्यता में एक नवजीवन प्रदायिनी धारा प्रवाहित हो जाती। क्रान्ति ने उसके प्रयत्नों को सुखा डाला।

इखनातोन की मृत्यु के बाद ही देश मे प्रतिक्रिया हुई। उसका दामाद तूतांखामेन (१३५८–१३५३) सम्राट् हुआ। उसने अपने श्वशुर के सुधारो को हटाकर पुनः पुराने सिद्धान्तो को उज्जीवित किया। धर्माधिकारियों तथा सम्पन्न श्रेणी वालों ने उसकी नीति का स्वागत कर उसको यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया। इखनातोन को सबने भयंकर विद्रोही तथा दोषी घोषित कर दिया। तूतांखामेन की समाधि से जो बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुई (१९२० ई०) उससे बड़ी सनसनी फैली और मिस्र के इतिहास पर अच्छा प्रकाश भी पडा। इससे अनुमान किया जाता है कि मिस्र की आर्थिक दशा कुछ सभली थी, किन्तु वह भी अठारहवें राज्यवंश के पतन को न रोक सकी।

उन्नीसवाँ राजवंश (१३५०-१२२५ या १२०५ ई० पू०)

इस वश का संस्थापक हरमहरब (१३५२–१३१९) नाम का एक पराक्रमी सेनानायक था, जिसने मिस्र-राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया। कुछ विद्वानो की राय है कि उन्नीसवे वश का आरम्भ हरमहरब की मृत्यु के बाद हुआ था। उसके वंश के प्रसिद्ध राजाओ मे रामेसेज (१२९९–१२३२ ई० पू०) का नाम पहला है। वह जैसा पराक्रमी वैसा ही व्यसनी भी था। उसके महलो मे सैकड़ो रानियाँ थी, जिनमे कई तो उसी की पुत्रियाँ थी। उनको उसने अपने वश के व्यक्तित्व

एवं पराक्रम को अक्षुण्ण रखने के लिए व्याह लिया था। मृत्यु के समय उसके सौ पुत्र और पचास पुत्रियाँ थी। साम्राज्य की रक्षा, सगठन तथा प्रसार के लिए उसने जो सफल उद्योग किया वह थटमोज की कृतियों की समता रखता है। उसके राजत्व-काल में मिस्र की सेना पुनः फरात के तट पर उसके नेतृत्व मे विजय का डंका वजाने लगी। हिट्टी लोगो के दर्प को चूर्ण करके उनको शान्ति-याचना के लिए उसने वाधित किया। सन्धि द्वारा यह निश्चित हुआ कि सीरिया पर हिट्टियो का और पेलेस्टाइन पर मिस्र का प्रभावक्षेत्र माना जाय। हिट्टी वंश की एक राजकुमारी से रामेसेस ने व्याह कर लिया। उसी प्रकार वर्वरो के भी आक्रमणो को निष्फल करके उसने उन्हे परास्त किया। वाहर के देशो की लूट तथा उसकी प्रेरणा से हुई न्यूविया की सोने की खानों की खुदाई से मिस्र की सम्पत्ति पुनः वढ गयी। इस धन से उसने एक नयी नहर खुदवायी और कारनक तथा लक्सर मे विशाल एवं भव्य इमारतें वनवायी। उनमें से सवसे महत्त्व का रमीसियम का मन्दिर तथा उसकी मूर्तियाँ हैं।

तेरहवी शती के अन्त में वीसवें राजवंश की स्थापना हुई। उसका सवसे प्रसिद्ध सम्राट् रोमेसेज तृतीय हुआ (११९८–११६७), जिसने कोचक की ओर से मिस्र पर समुद्र मार्ग से आक्रमण करने वालो को पीछे भगा दिया। उन आक्रमणकारियों की इतनी शक्ति थी कि उसके सामने हिट्टी और माइसीन वाले नष्ट हो गये और फोनिशिया वालों के नगर भी लूट लिये गये।

उपर्युक्त शान-शौकत और समृद्धि मिस्र के महत्त्व की अन्तिम छटा थी। वस्तुतः फेरो की शक्ति पतनोन्मुख हो रही थी। पुजारियों और देवालयो के पास इतनी सम्पत्ति एकत्रित हो गयी थी और उनका राज्य तथा जनता पर इतना प्रभाव वढ़ गया था कि फेरो को भी उनके सामने सीस झुकाना और दवना पड़ता था। विशेपतः आमोन सम्प्रदाय का धार्मिक नेतृत्व एक वंशविशेष का पैतृक अधिकार हो गया था। उसके सामने फेरो का तेज क्षीण होता चला गया। उसके अधिकार में मिस्र देश का लगभग सप्तमाश था। सेवा मे एक लाख से अधिक दास और पाँच लाख पशु, पौने दो सौ करमुक्त नगरो की आय तथा सोना, चाँदी, अन्नादि के अपार साधन थे। उधर फेरो का कोप उत्तरोत्तर खाली होता चला जाता था और जनता भी गरीव होती जाती थी। इस परिस्थिति मे मिस्र साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य अथवा एशियाई प्रान्त थे वे एक-एक करके स्वतन्त्र होते गये। मिस्र के भीतर वडी संख्या मे वर्वर और हब्शी आ वसे जिनमे स्वार्थ ही स्वार्थ था, अराजकता वढ़ती जाती थी। यद्यपि ऊपरी दिखावे और व्यापार एवं व्यवसाय चलते रहे किन्तु मिस्र

की आत्मा, उसका व्यक्तित्व एवं महत्त्व सर्वथा नष्ट हो गये। ग्यारहवी शती ई० पू० तक मिस्र देश कई टुकड़ो में बँट गया, जिससे उसकी बची-खुची शक्ति भी नष्ट हो गयी।

साम्राज्य-काल की संस्कृति

साम्राज्य-काल में स्त्रियो की परिस्थिति कुछ-कुछ गिर गयी थी। धीरे-धीरे उनका तलाक देने का अधिकार भी छिन गया। हिकसोस लोग पैतृक प्रथा को, जिसमें पिता का स्थान माता से ऊँचा और उसी से संतति का नामकरण एवं विचार होता था, मिस्र मे लाये, जहाँ मातृक प्रथा थी। बहुधा देखा जाता है कि पैतृक प्रथा मातृक पर हावी हो जाती है। मिस्र में भी माता का महत्त्व उसी संघर्ष के कारण कम होता गया। फिर भी मातृक परम्परा के कारण वहाँ बाल-हत्या का प्रचलन नगण्य-सा रहा। यही नही, मिस्र मे पुरुषो के बदले स्त्रियाँ ही पहले अपना प्रेम प्रकट करतीं और प्रिय पुरुष से विवाह का प्रस्ताव अनुनय एवं विनय के साथ करती थी। फलतः लज्जा, संकोच अथवा अवगुंठन का वहाँ कोई विशेष स्थान न था। इसका यह अर्थ न समझना चाहिए कि स्त्रियाँ पतिपरायण न थी। वहाँ के लोगों में यौन विषयों की चर्चा बेधड़क होती थी। उनके मन्दिरो में भी नग्न और लज्जाहीन मूर्तियाँ और चित्र बनाये जाते थे। समाज में वेश्या तथा किंपुरुष अनादर की दृष्टि से देखे जाते थे। नर्तकियाँ अपना शरीर अंग-राग से रंजित कर कम-से-कम ढँकती और अच्छे घरानों मे आती जाती थी। किन्तु साधारण जनता मे वस्त्रों का पूर्व युगों से अधिक प्रचलन होता गया, यहाँ तक कि आगे चलकर पोशाक भारी और बड़ी सजधज की होने लगी। स्त्री एवं पुरुषो को आभूषण पहनने का शौक पहले से बहुत अधिक बढ़ गया था। धन की वृद्धि के कारण ही फैशन बढ़ गया था। ऊपरी टीमटाम मिस्रियो की परम्परा-प्रियता मे विशेष कमी न कर पायी। वहाँ के निवासी परिवर्तनशील न थे।

शासन

थटमोस तृतीय के समय मे साम्राज्य का शासन विजित प्रदेशों के ही राजाओं अथवा सामन्तो द्वारा होता था, किन्तु सम्राट् के नियुक्त प्रतिनिधि पदाधिकारी उनकी गतिविधि का निरीक्षण करते थे। चतुर्थ राजवंश के समय में वजीर के पद का आरम्भ हुआ। यद्यपि राजा के बाद उसका स्थान था, किन्तु उसके मुख्य

कर्तव्य न्यायाध्यक्षता और राजकीय पुस्तकाध्यक्षता थे। वजीर के बाद अन्य प्रमुख अधिकारी थे कोषाध्येक्ष और कृषिमन्त्री। नवीन युग तक उनके सुपुर्द शासन, सेना, कृषि, राजकीय पत्र-व्यवहार भी कर दिये गये। उनको प्रत्येक दिन सम्राट् को साम्राज्य का लेखा-जोखा तथा व्यवस्था बतानी पड़ती थी। सम्राट् के दो प्रमुख वज़ीर होते थे—एक तो राजधानी में रहता और सम्राट् की अनुपस्थिति में राज्य के शासन का संचालन करता, दूसरा हेलिओपोलिस में रहता, जिसका विशेष कर्तव्य मिस्र के निचले भाग का शासन था। उनका कार्य-क्षेत्र शासन था। वित्त सम्बन्धी कार्यों की देखभाल के लिए अन्य पदाधिकारी थे। साम्राज्य के पचपन नोमो के शासनाध्यक्षो के कार्यों का निरीक्षण मन्त्री का विशेष कर्तव्य माना जाता था। प्रत्येक नगर तथा नोम मे अपना न्यायालय होता जिसके निर्णयों के विरुद्ध अपील थेबीज के वजीर की अदालत मे होती थी। साम्राज्य में डाक-चौकी का प्रबन्ध होने के कारण न्याय तथा शासन के कार्य मे पहले से अधिक सुविधा हो गयी। यह स्मरण रखना चाहिए कि फौजदारी अथवा माल दीवानी का कार्य पुरोहितों या धर्माधिकारियो को नही दिया जाता था। मिस्र में कानूनों का निश्चित सम्पादन ईसा से पूर्व आठवी शती तक नही हो पाया था, जब कि वह मेसोपटेमिया में सैकड़ो वर्ष पूर्व हो चुका था।

प्रान्तों का शासन पहले कुलीन तथा बड़े जमीदारों के हाथ में था। धीरे-धीरे उनका पद वंशानुगत हो गया, जिससे सामन्तशाही को अधिक बल मिला। मिस्र पर विजातियो के आक्रमणों तथा राजसत्ता के पुन: संस्थापन से पुरानी व्यवस्था बदल गयी। सम्राट् के नियुक्त सेवको द्वारा प्रान्तो का शासन होने लगा।

आर्थिक स्थिति

यद्यपि मिस्र के व्यापार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही तथापि वहाँ का आर्थिक जीवन कृषि पर ही अवलम्बित था। जमीन का मालिक सम्राट् था जो चाहे जिसको चाहे जितनी भूमि दे देता था। बहुत-सी जमीन तो देवालयो को दी गयी थी, किन्तु अधिकाश प्रजा को बाँट दी जाती थी। नील नदी मे प्रति वर्ष बाढ आती थी। पानी उतर जाने पर जमीन की नपाई की जाती और फिर वह वितरित कर दी जाती थी। उपजाऊ भूमि का क्षेत्र सीमित होने के कारण जमीन तथा पैदावार पर खास निगरानी रखी जाती थी जिससे उसका अधिक-से-अधिक उपयोग हो सके। इसी कारण नहरों-नालियो आदि का भी अच्छा प्रबन्ध किया जाता था। राज्य की विभिन्न

प्रकृति की भूमि, क्षेत्रो, उनके पास रहनेवाले व्यक्तियों की संख्या का लेखा रहता था, जिससे यह जाना जा सकता था कि अमुक क्षेत्र में किस चीज की कितनी पैदावार और उस पर क्या खर्च होगा। उसी साधन से मत्री बोने के पहले ही खेती की आमदनी का अच्छा अनुमान लगा लेते थे। किसान को राजा के आज्ञानुसार फसल बोनी पडती थी। कब, क्या, कहाँ और कितनी चीज बोयी जाय; राजाज्ञा ही निश्चित करती थी। किसानो द्वारा उसका प्रतिपालन अनिवार्य था, क्योकि उनके लिए कोई अन्य चारा ही न था। किसानो को खेत की उपज का पाँचवाँ भाग देना पड़ता था। अपनी खेती के अलावा सम्राट् अथवा मन्दिर की भूमि पर भी किसान को श्रमदान करना पड़ता था, जिसको आधुनिक भाषा मे बेगार कहा जा सकता है। मिस्र के निवासी धर्मभीरु थे और राजा को ईश्वर का अंश समझते थे। अतः श्रमदान करना उनके लिए स्वाभाविक कर्तव्य-सा था। उस युग की इस प्रेरणा का कमोबेश उतना ही महत्त्व था जितना कि आधुनिक ससार मे देश-सेवा अथवा जनसेवा का है।

साम्राज्य की वृद्धि के साथ मिस्र की सम्पत्ति तथा व्यापार में अच्छी वृद्धि हुई। इस युग में मिस्र भूमध्य-सागर के तटो पर बसे नगरो एवं टापुओं से व्यापार करता था। एशियाई प्रान्तो, विशेष कर पश्चिमी एशिया से उसका व्यापार होता था। उसके सामने जल और स्थल दोनो के मार्ग खुले हुए थे। पर सडके अच्छी न थी और सिक्को का भी प्रचलन न था, जिससे व्यापार मे अवश्य असुविधाएँ होती रही होगी। इसके सिवा व्यापारियों को प्रत्येक देश मे चुंगियाँ तथा कर देने पडते थे, जिससे अन्तर्देशीय व्यापार का खुलकर प्रवाह नही होने पाता था। अन्यथा मिस्र की समृद्धि को चार चाँद लग जाते, क्योंकि न्यूबिया की खानो से अच्छी मात्रा मे सोना मिलता था। उसकी समृद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वहाँ के साधारण श्रेणी के लोगो मे भी कपड़ो तथा आभूषणो की अधिक माँग होने लगी। राजाओ, जमीदारों एवं मन्दिरो की सुसम्पन्नता का कहना ही क्या था। उत्तर काल मे साम्राज्य के संकुचित एवं विभक्त होने के कारण आर्थिक स्थिति चिन्ताजनक हो गयी थी। यद्यपि देवस्थानो की विभूति और सम्पत्ति वहुत वढ गयी थी, तथापि राज्य-कोप खाली और जनता गरीब होती जाती थी। व्यवसाय और व्यापार प्राय. वशानुगत होते थे। मजदूरो के संघ का नेता या ठेकेदार ठेके पर मजदूरो को भेजता किन्तु उनकी मज़दूरी उन्हे अलहदा-अलहदा देता। इस विधान से वह अच्छा लाभ भी उठाता और मज़दूर उसकी मुट्ठी में रहते थे। वस्तुतः मजदूरो की परिस्थिति वहाँ अच्छी न थी।

मिस्र से शीशे का सादा अथवा रंगीन सामान, कलई और पालिश की चीज़ें, वाद्य यन्त्र, मिट्टी के बरतन, कपड़े, जेवर, पत्थर या धातु की बनी चीजें बाहर भेजी जाती थी। उनके बदले बाहर से वहाँ लकड़ी, ताँबा, हाथी-दाँत, मसाले, बरतन और गुलाम खरीदे जाते थे। कारीगरी मे जो चमत्कार मिस्र वालों ने दिखाया वह शायद यूरोप मे अठारहवी सदी तक नहीं दिखाई पड़ा।

राज-परिवार के अलावा बड़े पदाधिकारी, धर्माधिकारी और सफल व्यापारी सुख तथा वैभव का जीवन व्यतीत करते थे। उनके घर बड़े और सुन्दर होते थे जिनकी शोभा बागो और तडागों से और भी बढ़ जाती थी। सम्पन्न कुलीनों का व्यवसाय था सिपाहीगिरी और राजसेवा। उसके अतिरिक्त उनका समय शेर तथा हाथी आदि पशुओ के शिकार और मोहरो से शतरंजी ढंग के खाने बनाकर अनेक प्रकार के खेल खेलने मे व्यतीत होता था। मनोरजन के सिवा जो समय बचता वह भोग-विलास मे खर्च होता था।

साधारण जनता गरीब थी, फिर भी हँसते हुए समय काटती थी। दिल्लगी मजाक का उसे शौक था। कारीगर अमीरो, मन्दिरों अथवा राजकुल की सेवा में रहते और मजदूरी पर काम करते थे।

कला-कौशल

स्थापत्य, मूर्ति, तक्षण तथा चित्रकला मे मिस्र की निज़ी विशेषता थी। आर्थिक सम्पन्नता के कारण उसके लिए यह सम्भव हो सका कि वह अपने धार्मिक भावों तथा विश्वासो के अनुकूल पत्थर के विशाल देवालयों, समाधियों, भवनों एवं स्मारको का बड़े पैमाने पर निर्माण कराये। उसकी इमारतों मे विविध प्रकार के पत्थरो, स्तम्भों और धरनों का प्रयोग मिलता है। विशाल खम्भो के अतिरिक्त उनके कमरे भूलभुलैया जैसे जान पडते है। गोपुर और अनेक सितून वाले बड़े कमरे मिस्रियों की रुचि का विशद प्रदर्शन करते हैं। विशाल स्मारको और विजय-स्तम्भों के निर्माण का शौक उनके लिए स्वाभाविक था। पिरामिड बनाना पहले ही बन्द हो चुका था। उसके स्थान पर पहाडियो को कोल-कर समाधि-स्थान बनने लगे। विजय-स्तम्भो का निर्माण भी बड़े पैमाने पर हुआ। थाटमस प्रथम का विजय-स्तम्भ ६४ फुट ऊँचा, महारानी हतशेपसत का ९२ फुट और थाटमस तृतीय का १०५ फुट ऊँचा बना। उसका विचार १३७ फुट ऊँचा एक स्तम्भ बनवाने का था किन्तु सामग्री एकत्रित होने पर भी किसी कारण वह रोक दिया गया। स्तम्भ के

व्यास का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि एक की चोटी पर सौ मनुष्य खड़े हो सकते हैं। प्राचीन संसार में मिस्र की विशाल निर्माण-कला की समता करनेवाला कोई नहीं हुआ।

शिल्पकला में भी मिस्र वालों ने अपने कौशल का अच्छा प्रदर्शन किया। कड़े अथवा नरम पत्थर, चाँदी-सोने अथवा काँसे पर वे समान दक्षता के साथ अपनी कारीगरी दिखाते थे। प्रतिरूपों के बनाने में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई। उनमें प्रतिभा के व्यक्तित्व एवं तद्रूपता की प्रतिष्ठा पायी जाती है और विकास के लक्षण भी दिखाई देते हैं। अपनी कृतियो पर वे रंग चढ़ाने के शौकीन थे। उत्कीर्ण मूर्ति को रँगते-रँगते मिस्र मे चित्रकला का विकास हुआ। शायद इसी लिए उनके चित्रों मे रेखागणित का आवश्यकता से अधिक प्रभाव पड़ा। यह कहा जा सकता है कि चित्रकला वहाँ उन्मुक्त होकर अपना विकास कर सकी, जिससे उसमे प्रकाश और छाया के कलात्मक संयोजन तथा पृष्ठभूमि की आनुपातिक कल्पना का अच्छा चित्रण न हो पाया। कलाकारों को विधिवत् शिक्षा देने के लिए कलाकेन्द्र स्थापित थे। किन्तु उनमें तत्कालीन रूढ़िग्रस्त विचारों के अनुकूल ही शिक्षण होता था। कला केवल कला के लिए नहीं वरन् जीविका-उपार्जन के लिए सिखायी जाती थी। उसका ध्येय केवल व्यावहारिक था। इससे एक प्रकार का यह लाभ हुआ कि उनके चित्रों का क्षेत्र तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, व्यावसायिक अथवा दैनिक जीवन का प्रदर्शन कराना हीं रहा। उनमें वहाँ के रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, घरेलू जीवन और काम-काज का यथेष्ट ज्ञान संरक्षित हुआ। उनके चित्र सजीव, गतिशील और भावपूर्ण हैं। चित्रो में कई रंगो से काम लिया जाता था। मिस्री चित्रो की समता करनेवाले चित्र चीन वाले भी सैकड़ो वर्षो के बाद तक न बना पाये। लेखन-कला का भी वहाँ विकास हुआ। तीन प्रकार की शैलियाँ, जैसे चित्र-संकेत, सांकेतिक भाव या कल्पना-संकेत, लेखन और स्वर-संकेत और उनके सम्मिश्रण का उपयोग किया गया। सम्भवतः मिस्त्रियो को अक्षरो का ज्ञान न था। पत्थरो, धातवीय पत्रो के अलावा पेपाइरस के गूदे से बने कागज पर अंकित उनके बहुत-से लेख प्राप्त हैं। उनसे यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि मिस्र के साहित्य मे इतिहास, कहानियाँ, स्तुति, शिष्टाचार, नैतिकता, प्रेमगीत, भोज के गीत, वीरगाथा, कहावत, युद्ध, भविष्य-वर्णन, चिकित्सा, गणित, आय-व्यय का हिसाब आदि अनेक विषयो पर रचनाएँ होती थी। मिस्र वालों का साहित्य और उनकी कला का उनके धार्मिक विचारों से घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। उनके साहित्य के अध्ययन से

यह ज्ञात होता है कि उनमें आत्म-विश्वास, देशभक्ति, उत्साह, स्फूर्ति, यथार्थता एवं नवीनता के गुण थे।

मिस्रियों ने चिकित्सा-शास्त्र में और भी उन्नति की। यद्यपि उनको शव की रक्षा करने के मसाले और क्रिया का ज्ञान था तथापि उनका शरीर-रचना का ज्ञान परिमित था। उनमें अस्त्र-चिकित्सा भी कुछ बढ़ रही थी। रोग का निदान और इलाज कुछ शास्त्रीय ढंग से वे करने लगे थे। उनकी सबसे मार्के की गवेषणा यह थी कि शरीर के अवयवों का संचालन मस्तिष्क से ही होता है। वनस्पतियों, मांसो, रक्त, मेद आदि से वे औषध तैयार करते थे।

धर्म

मिस्र में सूर्य की पूजा पुरातन काल से विभिन्न नामों से प्रचलित थी। थेबीज़ मे उसको 'एमोन' और हेलियोपोलिस मे 'रे' कहते थे। कालान्तर में दोनों नामो को मिलाकर एक सर्वप्रमुख सूर्य देवता 'एमोन रे' की कल्पना की गयी, जो मिस्र राज्य के प्रसार के साथ उपयुक्त प्रतीत हुई। एमोन रे की पूजा के लिए बड़े-बड़े देवालय स्थापित कर दिये गये। यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय तक प्रत्यक्ष सूर्य ही प्रमुख माना जाता था। किन्तु एमोन-होतेप तृतीय के समय मे एक नयी कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके अनुसार उपर्युक्त नाम के सूर्य मिस्रियो के देवता समझे गये और एक नये विश्वोपरि देवाधिदेव 'आतोन' की परिकल्पना की गयी जो सर्वव्यापी हो गये। मिस्र देश के बाहर दूर-दूर तक साम्राज्य का विस्तार हो जाने से उस प्रकार की कल्पना स्वाभाविक-सी प्रतीत होती है। आतोन केवल मिस्रियों का ही नही वरन् सारे विश्व का देवता है। सूर्य-बिम्ब उसी का प्रतीक मात्र है। अनुमानत. आतोन की कल्पना एकेश्वरवाद पर आश्रित थी। 'आतोन' के सामने अन्य देवता गौण प्रतीत होने लगे, जिसका परिणाम यह हुआ कि आतोन को छोड़कर अन्य देवताओ की अवहेलना होने लगी, जिससे पुराने सम्प्रदाय के अनुयायियो को बडा क्षोभ तथा असन्तोष हुआ और आर्थिक एवं सामाजिक हानि की आशंका उनमे उत्तरोत्तर बढने लगी। जब इखनातोन ने नये जोश मे आकर साम्राज्य मे केवल 'आतोन' की पूजा पर जोर दिया और राष्ट्रीय देवता एमेन रे की पूजा बन्द कराने की धृष्टता की, तब देश में क्रान्ति फैल गयी। उसके निधन के बाद ऐसी प्रतिक्रिया हुई जिससे पुराने विचारो की पुन: प्रतिष्ठा बढ़ी और साम्राज्य को आघात पहुँचा।

मिस्र वालो ने आचार और व्यवहार के सिद्धान्तो पर विशेष रूप से ध्यान

दिया। उस विषय पर उनके उल्लिखित नियम चीन के लिखित नियमो से भी पुराने हैं। सत्य, न्याय, औदार्य एवं सदाचार का वहाँ सम्मान था। उन लोगों की प्रवृत्ति व्यावहारिक ज्ञान की ओर थी इसलिए आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन वहाँ कम दिखाई पड़ता है। फिर भी अमरत्व में उनका विश्वास था। इखनातोन ने तो तत्कालीन धार्मिक रूढियो से हटकर विश्वबन्धुत्व, मानवजगत् की एकता और एकेश्वरवाद का ही प्रचार किया। उस क्षेत्र मे तो वह सबसे प्रथम और प्रमुख कहा जाता है। देवालयो की सम्पत्ति और समृद्धि मे अपूर्व वृद्धि हुई। प्रजा का पाँचवाँ भाग उनकी सेवा मे किसी-न-किसी प्रकार लगा हुआ था और उपजाऊ भूमि का एक तिहाई भाग भी मन्दिरों के अर्पण था।

असीरिया

असीरिया का इतिहास पढ़ने के पूर्व यदि तत्कालीन एशिया माइनर की राजनीतिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय तो उसके समझने मे सुविधा होगी। फारस की खाड़ी से दजला-फरात के दोआब के ऊपर की ओर बढने पर पहले सुमेरिया के प्राचीन राज्य के ध्वंसावशेष मिलेंगे। उसके आगे बेबीलोनिया का राज्य और उसके भी ऊपर दजला नदी के दोनो ओर असीरिया का पर्वतीय राज्य था। असीरिया के उत्तर में आरमीनिया, उत्तर-पश्चिम मे फरात के दाहिने तट पर मिट्टनी और बाये तट पर हिट्टी के राज्य थे। हिट्टियो के राज्य के दक्षिण पश्चिम भाग में भूमध्यसागर के तट पर फिलस्तीन और फोनीशिया के राज्य थे। असीरिया के दक्षिण-पूर्व में एलाम और पूर्व में कस्सी तथा मीडिया के राज्य थे। फरात के पश्चिम में अरब का रेगिस्तान है।

पश्चिमी एशिया में सबसे पहले सुमेरिया का राज्य बना, जिसका पतन तीन सहस्र वर्ष ईसा पूर्व मे हो गया। उसके उपरान्त बेबीलोनिया का पूर्व साम्राज्य बना जो १७४६ ईसा पूर्व के लगभग विनष्ट हो गया। इसके अनन्तर असीरिया के साम्राज्य का अभ्युदय हुआ। यह वह जमाना था जब मिस्र के मध्यवर्ती राज्य को हिकसोस लोगों ने नष्ट कर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। उनको निकालकर मिस्र के अठारहवें राजवंश ने साम्राज्य-युग का आरम्भ किया।

नील नदी के प्रदेश से मिस्र का साम्राज्य बढा और दजला नदी की तलहटी से असीरिया का साम्राज्य। इन दोनो साम्राज्यों के बीच में अनेक राज्यों के आ जाने से उनका संघर्ष अधिक भयंकर रूप धारण न कर सका और वे दोनों अपने-

अपने ढंग से चलते रहे, किन्तु मध्यवर्ती राज्यों की परिस्थिति अवांछनीय और चिन्ता-जनक थी। इन छोटे राज्यों ने भी संसार के कर्मक्षेत्र में कुछ अभिनय किया, यद्यपि साम्राज्य की शक्ति के सामने वे अधिक फूल-फल न सके।

असीरिया राज्य का आरम्भ दजला नदी की तलहटी के चार नगरों—अशुर, अरवेल, कलख और निनेवह से हुआ। अशुर देव के नाम से पहले अशुर नगर का और बाद को राज्य का नामकरण हुआ। अशुर नगर में ३७०० वर्ष ई० पू० की कुछ ऐसी अवशिष्ट वस्तुएँ मिली हैं जिनसे वहाँ मध्य एशिया के लोगों के बसने का अनुमान किया गया है। किन्तु जिन लोगों को असीरियन कहा गया है वे सेमेटिक, काकेशियन तथा अन्य जातियों के सम्मिश्रण से बने थे। चूँकि असीरिया की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी जिसमें नैसर्गिक रक्षा के साधन नगण्य थे, अतएव सीमान्त प्रदेशों के निवासी उस पर बहुधा आक्रमण करते रहते थे। १४५० से १४०० ई० पू० तक असीरिया पर मिट्टनी का आधिपत्य रहा किन्तु अपनी दुर्दमनीयता से वे स्वतन्त्र हो गये। आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए असीरियनों को भरपूर और निरन्तर परिश्रम करना, सतर्क और उद्यत दण्ड रहना आवश्यक था। इसका परिणाम यह हुआ कि वे बड़े युद्ध-कुशल, साहसी, पराक्रमी तथा निष्ठुर ही नहीं वरन् क्रूर भी हो गये।

बारहवीं शती ई० पू० तक बेबीलोनिया और मिस्र के साम्राज्य क्षीण हो गये थे। उनसे अन्य राज्यों को सहायता मिलने की कोई आशा न रही। उस परिस्थिति से लाभ उठाकर 'टिगलाथ पिलीजर' प्रथम (१११५ से ११०२ ई० पू० तक) नाम के एक योद्धा ने अपूर्व पराक्रम से बेबीलॉन, आरमीनिया तथा हिट्टी के लोगों को परास्त करके मिस्र तक अपना आतंक फैला दिया। किन्तु बेबीलॉन वालों ने उससे ऐसा बदला चुकाया कि पराभव की लज्जा से वह मर गया। इसके पश्चात् दो सौ वर्ष तक असीरिया क्षीण और शत्रुओं का रणक्षेत्र रहा।

असीरिया की विजयों और अभ्युत्थान का आरम्भ आशुर नजिरपाल द्वितीय (८८४–८५९ ई० पू०) के राजत्वकाल से हुआ। पश्चिम की ओर विजय करती हुई उसकी सेना भूमध्यसागर के पूर्वी तट तक पहुँच गयी। अपनी विजय-यात्राओं का सजीव वर्णन उसने सफेद पत्थर की शिलाओं पर खुदवा दिया है। उनके पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसकी नीति अपने विरोधियों को अकथनीय निर्दयता और पशुता के साथ मार-काटकर उनमें भय तथा आतंक जमा देने की थी। रक्त बहाने, अंग-भंग करने तथा अनेक यातनाओं के साथ उनका वध करने से उसका मनोरंजन होता

था। यह उसका व्यक्तिगत दोष न था। निर्दयता असीरिया वालो के स्वभाव मे ही थी। फिर भी आशुर नजिरपाल ने कुछ निर्माण-कार्य भी किया। उसने शासन-विधान को सगठित किया। कही-कही असीरिया वालो की नयी बस्तियाँ बसायी, जिससे वे विजित प्रजा का दमन करते रहे। कलख मे उसने नहर खुदवायी जिसके तट पर अच्छे-अच्छे पेड़ो की कतार और बाग लगवाये। वहाँ एक पशुशाला की स्थापना की, जिसमे जल-थल के जानवरो को लाकर रखा, सुन्दर विशाल राजभवन का वह भी एक अंग था।

आशुर नजिरपाल के पुत्र शालमनेसर द्वितीय ने भी अपने पिता का अनुसरण कर अपनी विजयो का वृत्तान्त पत्थरो पर खुदवाया। उसकी प्रगति उसके उत्तराधिकारी राजकुमार के विद्रोह के कारण रुक गयी। साम्राज्य का पतन रोकने मे उसकी पुत्रवधू सम्मूरमत ने विशेष पराक्रम दिखाया, किन्तु चूहो द्वारा प्रसारित प्लेग को रोकना उसकी शक्ति के बाहर था। साम्राज्य की दशा अव्यवस्थित हो गयी।

संकटापन्न साम्राज्य की रक्षा करने मे टिगलथ पिलीजर तृतीय (७४५—७२७ ई० पू०) ने अच्छी योग्यता का प्रदर्शन किया। बेबीलॉन, दमिश्क, इजराइल, जूडा, फिलस्तीन और गाजा तक उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसकी नीति राज्यों को जीतकर स्वयं अपने नियुक्त राजसेवको द्वारा शासन करवाने की थी, किन्तु वह उसको पूरा न कर सका।

जब शर्रुकिन (सारगन) द्वितीय (७२२—७०५ ई० पू०) असीरिया के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तब उपर्युक्त नीति का पुनः आरम्भ हुआ। इजराइल की विजय होने से मिस्र वालो का उससे युद्ध छिडा, जिसमे उसी की जीत हुई। एलाम, बेबीलॉन तथा सीरिया के विद्रोहियो का दमन कर तथा मिस्र की सेना को परास्त करके सीरिया मे ६४,००० असीरिया वालो को बसा दिया गया।

पुरानी राजधानी छोड़कर दर शर्रुकिन (खुरसाबाद) मे उसने नयी राजधानी स्थापित की। उस समय केमेरियन जाति के कबीलों ने एनाटोलिया में घुसकर भयकर मार-काट शुरू कर दी। सम्भव था कि उसे जीतकर वे वहाँ जम जाते। किन्तु सारगन ने उनको ऐसा पराजित किया और उनके आने के मार्गों को ऐसा संगठित किया कि उनका प्रवाह दूसरी ओर चला गया। उत्तरी प्रान्त की रक्षा में ही वह वीरगति को प्राप्त हुआ (७०५ ई० पू०)।

सारगन का पुत्र सेनेकेरिब (७०५—६८१ ई० पू०) योग्य सेनापति और

शासक था। उसने निनेवह राजधानी का निर्माण कराया, जिसके संग्रहालय में उसके समय का सच्चा वर्णन अंकित है। उससे पता चलता है कि बेबीलॉन के साथ अच्छा व्यवहार करने पर भी वहाँ वालो ने उपद्रव जारी रखा। तब उसने वहाँ के निवासियो को वहिष्कृत कर दिया और नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तदनन्तर मिस्र के षड्यन्त्र से जूडा और फोनीशियनो के उपद्रवों को शान्त कर मिस्र के ऊपर आक्रमण करने की धमकी दी। सम्भव है कि उसने हमला भी कर दिया होता किन्तु प्लेग से उसकी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। लोगो मे यह विश्वास चल पड़ा कि जेरूसलम के विनाश करने की धृष्टता के कारण ईश्वर ने उसकी सेना नष्ट कर दी। फिर भी टायर, सिडान आदि नगरो को लूटने से उसको अपार सम्पत्ति मिली। उसका वह उपभोग न कर सका क्योंकि पूजा करते समय उसी के एक पुत्र ने उसकी हत्या कर दी, जिससे गृह-युद्ध जारी हुआ। पितृघाती पुत्र से उसके भाई ने राज्य छीन लिया।

एस्सुरहद्दों (६८१—६६९ ई० पू०) जैसा पराक्रमी, वैसा ही नीतिकुशल भी था। बेबीलॉन के ध्वस्त नगर का पुनर्निर्माण कराने एवं उसके देवालयो में सम्मान-पूर्वक देवताओं को प्रतिष्ठित करा देने के कारण वहाँ के निवासी उसकी कृतज्ञता के पाश में बँध गये। दुर्भिक्ष से पीड़ित प्रजा को अन्नादि वितरण करके उसने प्रसन्न किया। वह बल का उतना ही प्रयोग करता था जितना कि अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य होता। उसकी नीति का ध्येय प्रजा को सन्तुष्ट करके राजभक्त बनाना था। पूर्व मे मीडो तथा उत्तर में केमेरियनो के उपद्रवों से रक्षा करने के सिवा उसने मिस्र राज्य पर बड़े ठाठ से चढ़ाई की और नील के डेल्टा पर आधिपत्य स्थापित कर दिया (६७१ ई० पू०)। वहाँ उसने असीरियन शासक नियुक्त कर दिया। उसके दमन के लिए वह फिर लौटा किन्तु मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गयी। एस्सुरहद्दो असीरिया का सबसे चतुर और प्रजावत्सल सम्राट् माना जाता है। उसका साम्राज्य पश्चिमी एशिया मे अपने से पहले के सभी प्राचीन राज्यो से बढ़ा-चढ़ा था।

आशुर बानीपाल (६६९—६२६ ई० पू०) असीरिया का अन्तिम प्रभावशाली तथा सुविख्यात सम्राट् हुआ। मीडिया वालों तथा केमेरियनो से युद्ध में व्यस्त रहने की सम्भावना सोचकर उसने अपने एक भाई को बेबीलॉन ने राजसिंहासन पर बैठा दिया। उसे यह आशा थी कि उसके प्रयत्न से बेबीलॉन मे शान्ति एवं सन्तोष रहेगा और असीरिया का बल एवं संगठन अधिक दृढ़ हो जायगा। किन्तु वैसा न हुआ। उसके भाई ने बेबीलॉन का नेतृत्व ग्रहण कर तथा एलाम का सहयोग

प्राप्त कर विद्रोह कर दिया। दोनो भाइयो का भयकर युद्ध बहुत काल तक चलता रहा। अन्ततोगत्वा आशुर बानीपाल ने बेबीलॉन को फिर जीत लिया और एलाम की राजधानी सूसा को विनष्ट कर दिया (६३९ ई० पू०)। इसी प्रकार टायर नगर के विद्रोहियो को भी उसने अच्छा दण्ड दिया।

आशुर बानीपाल ने मिस्र की समस्या पर विचार कर यह परिणाम निकाला कि असीरिया के उत्तर और पूर्व की ओर से भयंकर शत्रुओ के कारण उसका शासन जितने सैनिक बल से हो सकता है, उतना संग्रह कर सकना असीरियनो की जनसख्या की शक्ति के बाहर है। मिस्र के साथ लीडिया राज्य की भी सहानुभूति थी और गुप्त रूप से वह उसकी सहायता भी करता था। इसलिए उसने मिस्र को स्वतन्त्र करके उसके साथ मित्रता का व्यवहार करना ही श्रेयस्कर समझा।

आशुर बानीपाल केवल विजेता ही न था, वह साहित्य तथा कला का भी पोषक था। सारे साम्राज्य के कारीगरो को एकत्रित कर उसने निनेवह मे बडे सुन्दर देवालयों एवं प्रासादो का निर्माण कराया। बहुत से लेखको को नियुक्त करके सुमेरिया तथा बेबीलोनिया के प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ कराकर उसने अपने सग्रहालय में संगृहीत कर दी जो अद्यावधि विद्यमान हैं।

आशुर बानीपाल के अन्तिम वर्ष बडे चिन्ताजनक एव दुखमय रहे। इधर उसका स्वास्थ्य खराब हो गया और उधर उत्तर की ओर से यायावर तथा युद्धशील स्काइथियनो के आक्रमणो का प्रकोप बढ़ गया। उसी परिस्थिति मे उसकी मृत्यु हो गयी। सम्भव है कि उसके अन्तिम दिनो मे अथवा उसकी मृत्यु के बाद ही बेबी-लॉन के खाल्दिया वंश के राजा, मीडिया, स्काइथियन तथा फारिसी ने मिलकर निनेवह पर विध्वंसकारी आक्रमण किये और उसे लूट-पाटकर नेस्तनाबूद कर दिया (६१२ ई० पू०)। असीरियन लोगो का नाम-निशान मिट-सा गया।

असीरिया के पतन का कारण

असीरिया को प्रकृति ने रक्षा के कोई विशेष साधन नही दिये थे। राज्य चारो ओर से खुला था। इस पर भी यहाँ के शासको ने इतने बडे साम्राज्य का निर्माण करना चाहा जिसका प्रबन्ध केवल दमन द्वारा करना दुसाध्य था। असीरिया के चारों ओर प्रबल शत्रु थे जो उसकी श्रीवृद्धि देखकर ललचते रहते थे, उदाहरण के लिए सीथियन, मीड, मिस्री आदि। निरन्तर युद्धो से उनके सैनिको का अधिक सख्या मे इधर-उधर भेजा जाना और मारा जाना उनकी शक्ति को क्षीण करता रहा।

उनकी सन्तान भी कम उत्पन्न होती थी जिससे उस कमी की पूर्ति न होने पाती थी गुलामों तथा विजातियों से मनुष्य तो मिल गये किन्तु उनमें वीरता और राजभक्ति न फूँकी जा सकी। मानव के प्रति उनकी निर्दयता, स्त्रियों के प्रति उचित सम्मान का अभाव तथा पुरुषों की क्रूरता और दुराचार भी उनके सामाजिक तथा मानसिक ह्रास के कारण थे।

सामाजिक सभ्यता

असीरिया की प्रजा मिश्रित थी। समाज मे दो श्रेणी के लोग थे, एक स्वतन्त्र और दूसरे गुलाम। गुलामों के कोई कानूनी अधिकार न थे, यद्यपि उनके साथ बुरा व्यवहार न किया जाता था। स्वतन्त्र लोगो की तीन श्रेणियाँ थी। बडे लोगो में धर्माधिकारी, उच्च राजकर्मचारी आदि थे। मध्यम श्रेणी मे उद्योग-धन्धा और व्यापार करनेवाले थे। तीसरी मे सिपाही, किसान और मजदूरी करनेवाले थे। गुलामों से बेगार तथा तुच्छ काम लिये जाते थे। पहचान के लिए उनके सिर मुड़े और कान छिदे रखे जाते थे।

असीरिया का पारिवारिक संगठन पैतृक विधान पर अवलम्बित था। पिता ही सर्वेसर्वा माना जाता था। स्त्रियों की स्थिति वहाँ वैसी अच्छी न थी जैसी कि बेबीलोनिया में। वे परदे में रखी जाती थी। यदि बाहर जाती तो चेहरा ढँकना पड़ता था। पातिव्रत की रक्षा के लिए कड़े नियम बना दिये गये किन्तु पत्नीव्रत उतना आवश्यक न माना जाता था। नाच-गाना, सीना-पिरोना और बनाव-शृंगार करना स्त्रियो के लिए काफी समझा जाता था। विवाहिता स्त्री चाहे पति के साथ अथवा अपने माता-पिता के साथ रह सकती थी। बिना पति की आज्ञा के वह कोई व्यापार आदि न कर सकती थी। व्यभिचारिणी के लिए प्राणदण्ड तक का विधान था। इतनी कठिनाइयाँ होने पर भी उच्च घरानो की स्त्रियाँ कभी-कभी प्रान्तो की गवर्नर बना दी जाती थी। वहाँ एक-दो रानियो ने राज्य भी किया था। यद्यपि जनसंख्या बढ़ाने के लिए वे बड़े उत्सुक थे तथापि वहाँ के लोगो को सन्तान-वृद्धि मे सफलता नही मिली।

आर्थिक स्थिति

असीरिया का आर्थिक जीवन कृषिमूलक था। सैनिक वृत्ति के बाद कृषि-कार्य को ही वे सर्वोत्तम कार्य मानते थे। व्यापार को वे अच्छा न समझते थे।

व्यापार में प्रायः विदेशी या अन्य जाति के लोग थे। वे अनाजों और कपास की खेती या मेवाओं, फलों, विशेष कर खजूर और तरकारियों की बागवानी करते थे। इनके सिवा वहाँ सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा और लोहे तथा मिट्टी की चीजे भी बनायी जाती थीं। ढलाई, रँगाई और शीशे का अच्छा काम होता था। सोने-चाँदी, ताँबे और काँसे के सिक्को का वहाँ प्रचलन था। फौजी सड़को के बनने से व्यापार को भी लाभ हुआ और शान्ति-रक्षा मे सुविधा हो गयी।

धार्मिक विचार

असीरिया के धार्मिक विचारों पर सुमेरिया और विशेष कर बेबीलोनिया का बड़ा प्रभाव था। वहाँ के लोग मिस्र वालो की तरह सूर्य की उपासना करते थे। उसको वे 'अश्शुर' कहते थे। उनकी कल्पना के अनुसार पर लगे हुए सूर्य के बिम्ब मे तरकस बाँधे और धनुष खीचे हुए सूर्यदेव ही पूजनीय थे। वहाँ का राजा अपने को सूर्यवंशी कहता था। उसके सिवा उनकी अधिष्ठात्री देवी 'निन्ना' प्रेम की प्रतीक समझी जाती थी। भूतों-प्रेतो पर उनका विश्वास था। उनसे अपनी रक्षा के लिए वे मन्त्रों और तन्त्रों का प्रयोग करते थे। उनको शकुन अथवा अपशकुन का बड़ा ध्यान रहता था। उनमें धार्मिक संकीर्णता और असहिष्णुता विशेष मात्रा में थी। इसका कारण सम्भवतः उनमे दार्शनिक विचारों का अभाव था। फिर भी उनमें एक देव की अनन्य भक्ति के भाव ने ही यह प्रेरणा उत्पन्न की जिसके लिए आगे चलकर हिब्रू जाति विशेषतया विख्यात हुई।

शिक्षा, साहित्य

असीरिया वालो ने अक्षरों को सरल तथा सुन्दर रूप देने की चेष्टा की। वे पुस्तकों का महत्त्व समझते थे अतएव आशुर बानीपाल ने अपने युग के अद्वितीय पुस्तकालय मे प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ एकत्रित कर दी थी। उनकी प्रशस्तियों ने तत्कालीन इतिहास की रचना में बड़ी सहायता दी है। उन्होंने वनस्पति शास्त्र तथा पदार्थ विज्ञान मे कुछ उन्नति की थी तथा फलित ज्योतिष (सूर्य और चन्द्र ग्रहण) की गति-विधि की ओर उनका अधिक ध्यान था। इसके सिवा उन्होंने कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया।

कला-कौशल

दूसरों की सम्पत्ति लूट-खसोट कर उन लोगों ने अपनी राजधानी तथा नगरों

की शोभा और शान बढायी। इस प्रयत्न मे गृह-निर्माण-कला ने वहाँ अच्छी उन्नति की, जिसका प्रमाण वहाँ की आलीशान मेहराबदार इमारते हैं। विद्वानो का मत है कि उनकी गृह-निर्माण-कला ने उन्नति का नया मार्ग दिखाया, जिस पर चलकर रोम वालो ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। मूर्तिकला तथा शिल्पकला मे भी वहाँ अच्छी उन्नति हुई। वे सौन्दर्य के इतने प्रेमी न थे जितने कि विशालता के। ईंटो के सिवा पत्थरो तथा संगमरमर को भी वे प्रयोग मे लाते थे। उन पर नक्काशी और तक्षण का वे अच्छा काम बनाते थे। जानवरो के शिल्पित चित्र बनाने में वे सिद्धहस्त थे। दीवारो की सतह को चिकनी कर रंगीन ऐतिहासिक चित्रो तथा उत्कीर्ण या सादी मूर्तियो के बनाने का उन्हे शौक था। लकड़ी पर हाथी-दाँत और तारों की जड़ाई का भी वे अच्छा काम करते थे।

शासन

असीरिया एक प्रकार का सैनिक राज्य था, जिसकी सत्ता उसकी सैनिक शक्ति पर थी। अतएव राजा के अधिकार नि.सीम थे। फिर भी सम्राट् भविष्य-वक्ताओ और उनके संरक्षक पुरोहितों के कथन पर काफी ध्यान देता था। वह अश्शुर (सूर्य) का पुत्र और देवता-तुल्य समझा जाता था। उसकी आज्ञा का पालन प्रजा का राष्ट्रीय ही नही वरन् धार्मिक कर्तव्य भी था। सम्राट् के मुख्य पदाधिकारियो मे प्रधान मन्त्री, मुख्य सेनाध्यक्ष, नगराधिपति तथा प्रान्तों के गवर्नर थे। उनके सिवा शिष्टाचाराध्यक्ष, भाण्डागाराध्यक्ष, राजभवनाध्यक्ष आदि अनेक पदाधिकारी रहते थे। साम्राज्य कई प्रान्तो में विभक्त था। बडे प्रान्तो मे सम्राट् प्रधान शासक नियुक्त करता था। प्रान्त के महत्त्व के अनुसार गवर्नर का दर्जा माना जाता था। उसका उत्तरदायित्व सीधे सम्राट् के प्रति था। प्रान्त का सेनापति प्रान्त का सबसे बड़ा शासक अथवा अध्यक्ष (शकनू, उरसू, बलपखती) कहलाता था। उस पद पर या तो कोई राजवंश का या सम्राट् के वंश का अथवा कोई प्रभावशाली व्यक्ति नियुक्त किया जाता था। अपने प्रान्त मे वह सबसे शक्तिशाली पदाधिकारी था। तत्कालीन समस्याओ के कारण उसको सिपाही नियुक्त करने प्रान्त की आय बढाने, न्याय करने, दण्ड देने का अधिकार देना आवश्यक-सा था। उसका दरबार भी सम्राट् के दरबार के समान, किन्तु छोटे पैमाने पर संगठित होता था। अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो वह साधन एकत्रित करता ही था, उसी के साथ साम्राज्य के लिए धन-धान्य एकत्रित करके सम्राट् के पास

भेजता था। प्रत्येक प्रान्त को सम्राट् के लिए क्या देना चाहिए, यह केन्द्रीय शासन प्रान्त की क्षमता के अनुसार निर्धारित करता था। इसके सिवा उसको प्रान्त की गति-विधि तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं की रिपोर्ट भेजनी पडती थी। प्रत्येक प्रान्त में सम्राट् की सेनाएँ भी रखी जाती थी, जिनका निरीक्षण सम्राट् के नियुक्त किये हुए निरीक्षक करते थे। प्रान्ताध्यक्ष का उस सेना पर विशेष अधिकार न था, क्योकि उसका उत्तरदायित्व सीधे सम्राट् के प्रति होता था।

किसी धर्म-विशेष, रीति-रिवाज, भाषा आदि को किसी प्रान्त या समुदाय पर आरोपित करने की चेष्टा नही की जाती थी, ताकि लोगो के साधारण जीवन मे अनावश्यक हस्तक्षेप की भावना उत्पन्न न हो। यदि कही निरन्तर उपद्रव अथवा विद्रोह होते तो वहाँ की उपद्रवी प्रजा को अन्यत्र भेजकर दूसरे लोगो को बसा दिया जाता था।

प्रान्त मे कई 'पखती' (जिले) होते थे जिनके शासक 'शनु' या 'अमूल' कहे जाते थे। उनकी सहायता के लिए कई छोटे-बडे अधिकारी रखे जाते थे। शासको के कर्तव्य कर वसूल करना, शान्ति रखना, इमारतो के लिए मजदूर और सेना के लिए सिपाही एकत्रित करना था। राज्य का प्रवन्ध सुसंगठित और व्यवस्थित था। कहा जाता है कि राजधानी से दूर स्थित प्रान्तो का शासन भी उतना ही अच्छा था जितना कि नजदीक के प्रान्तो का। ऐसी व्यवस्था सम्भवत. किसी साम्राज्य में उस समय तक न हो सकी थी। राजद्रोह का दमन बडी निर्दयता से किया जाता था। वहाँ का दण्ड-विधान भी कठोर था। अग-विच्छेद और देश-निर्वासन एव प्राणदण्ड देना साधारण बात थी।

असीरिया मे सैनिको का प्रावल्य होने के कारण, वहाँ सिपाहियो के शारीरिक बल तथा उनकी सैनिक दीक्षा का उचित प्रबन्ध रहता था। रथो और घोडो का प्रयोग होता था और उनके अस्त्र-शस्त्र लोहे के थे। ७०० ई० पू० वहाँ लोहे के शस्त्र प्रयुक्त होने लगे थे। कहा जाता है कि उन्होंने किलो को तोडने के अस्त्रो का भी आविष्कार कर लिया था। सेना दस-दस और पचास-पचास के जत्थो मे श्रेणीवद्ध थी। अनुमान किया जाता है कि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य सैनिक शिक्षा दी जाती थी। सम्भवत उसका कारण यह था कि सैनिक-शक्ति ही साम्राज्य का मुख्याधार थी। निरन्तर युद्धो के कारण सैनिको का अधिक सख्या मे निधन होता था, जिसकी पूर्ति, वहाँ के लोगो मे कम पैदाइश होने के कारण, कठिनाई से हो पाती थी।

सभ्यता को देन

असीरिया वालो ने विद्या और विज्ञान मे कोई विशेष उन्नति नही दिखायी, किन्तु वडे साम्राज्य की रचना और उसके शासन का मार्ग उन्होने अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया। उनकी राजनीतिक कल्पना अनेक सीमाओ का उल्लंघन कर उत्तरोत्तर व्यापक होने की चेष्टा करती रही। इसके साथ ही उनकी देवताओ की कल्पना भी विशद होती गयी, जिसका पूर्ण विकास हिन्दू लोगो के अखण्ड एकेश्वरवाद में हुआ। किन्तु सैनिक आदर्श के कारण उनमें धार्मिक असहिष्णुता और संकीर्णता का अधिक मिश्रण हो गया जो चिन्त्य था। कलाओ मे नगर और गृह-निर्माण कला का असीरिया मे अच्छा विकास माना जाता है। दीवार पर चिकनी सतह वनाकर रंगीन चित्र चित्रित करने की कला मे भी उन्होंने अच्छी उन्नति की थी।

सीरिया—पेलेस्टाइन

भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर टारस की पर्वतमाला से नील नदी के दहाने तक चार सौ मील लम्वा और सौ मील चौड़ा जो भू-भाग है, वह सीरिया-पेलेस्टाइन कहलाता है। पेलेस्टाइन (फिलस्तीन) का हिस्सा सीरिया (शाम) से अधिक चौड़ा है परन्तु सीरिया उससे क्षेत्रफल मे वडा है। सीरिया और पेलेस्टाइन का धरातल पहाड़ी तथा ऊबड़-खावड़ है। पहाडियों मे इधर-उधर घाटियाँ है। उसके उत्तर-पूर्व में फरात नदी, पूर्व मे अरब का रेगिस्तान, पश्चिम मे भूमध्यसागर, नील नदी का दहाना तथा एक अंश रेगिस्तान का है, जो उसको मिस्र से अलग करता है। ऐसे प्रदेश मे केवल छोटी-छोटी रियासतो के ही वनने की सम्भावना हो सकती है, वडे राज्य की नही। कुछ भाग, जो समुद्र के तट के समीप ढ़ै, वहुत उपजाऊ है परन्तु प्रदेश का अधिक भाग वहुत कम उपजाऊ है। फलतः वहाँ वहुत वड़ी जनसंख्या का होना सम्भव न था। छोटी-छोटी रियासतो में आपसी स्पर्धा और वैमनस्य रहता था और वे एक-दूसरे को हड़प लेने को सदा उद्यत रहती थी, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वे आपस में कभी अच्छी तरह संगठित न हो सकी। इसलिए प्रवल साम्राज्यो को उन पर आक्रमण करने मे अधिक कठिनाई का सामना नही करना पड़ता था। वेवीलॉन, मिट्टनी, मिस्र, असीरिया और केल्डिआ उन पर आक्रमण करते रहे। इस परिस्थिति का उनकी सस्कृति तथा विश्वासो पर वहुत प्रभाव पडा। समुद्र के तट पर वसे हुए नगरो के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे समुद्र मार्ग से आगे

बढ़कर अपनी बस्तियाँ या उपनिवेश अन्यत्र स्थापित करे और व्यापार से जीविका चलाये।

ईसा से पूर्व की पचम सहस्राब्दि मे उस भू-भाग पर किसानो के छोटे-छोटे गाँव बसे थे। चतुर्थ सहस्राब्दि मे मेसोपटेमिया का उन पर प्रभाव पड़ा। तृतीय सहस्राब्दि मे वे समुद्र-मार्ग से पश्चिम की ओर बढने और व्यापार करने लगे। वहाँ की जनता यद्यपि मिश्रित थी तथापि उसमे सबसे बड़ा अश अरब की सेमेटिक जातियो का था। उन्ही लोगो के एक बडे दल ने बेबीलोनिया साम्राज्य की स्थापना की थी। द्वितीय सहस्राब्दि मे अरब के कनआनी भाषा-भाषी सेमेटिक बहुत बड़ी संख्या मे आते रहे। उनके बाद ही आरमेएन आदि कबीलो के सेमेटिक कबीले आ-आकर बस गये। इसका परिणाम यह हुआ कि बस्ती मे अनेक बड़े-बडे नगरो, बन्दरगाहो, किलों आदि की स्थापना हो गयी। व्यापार तथा पारस्परिक सम्मिलन से उनके सास्कृतिक विकास की गति बढती गयी। पेलेस्टाइन पर मिस्र, तथा सीरिया पर मेसोपटेमिया का अधिक प्रभाव पडा जिससे उत्तरी कनआनी समाज ने अपनी महत्त्वपूर्ण संस्कृति का निर्माण किया। समुद्र-तट के सेमेटिक निवासियो को ग्रीस के लोग फोनीशियन कहते थे।

सीरिया और पेलेस्टाइन में सेमेटिक प्रजाति के कनआनी भाषा बोलने वाले तथा हिब्रू लोग बसते थे। इसीलिए वह प्रदेश कनआन के नाम से प्रसिद्ध था। तेरहवी शती (ई० पू०) मे अरब से हिब्रू भाषा-भाषी यहाँ आकर बसने लगे। बारहवी शती मे 'पेलेसेत' (फिलस्तीनी) लोग, जिनको मिस्र के फेरो रामेसस तृतीय ने मिस्र से खदेड भगाया था, आ बसे। यह निश्चित रूप से ज्ञात नही कि फिलस्तीनी कौन थे और कहाँ से आये। पहले यह धारणा प्रचलित थी कि वे लोग भी सेमेटिक प्रजाति के होगे किन्तु अनुसन्धानो से यह पता चला कि वे सेमेटिक न थे। वरन् वे एनाटोलिया (टर्की) के निवासी थे, जिनपर माइसीन की सभ्यता का काफी असर पड़ चुका था। उनके पास लोहे के अस्त्र थे और उनका सैनिक सगठन भी अच्छा था। इसलिए उनको कनाआनियो और हिब्रूओ पर विजय प्राप्त हुई। उन्ही के नाम पर फिलस्तीन या पेलेस्टाइन का नामकरण हुआ। उसके पाँच प्रमुख नेताओ ने अशदाद, गाजा, गाथ, अस्कलान और एकरान पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। उनमें गाजा नगर का विशिष्ट स्थान था।

फिलस्तीनी लोग हिब्रू तथा कनआनियों को नीची दृष्टि से देखते थे। अतः उनमे वैमनस्य बढ़कर विद्रोह हो गया। विजित कबीलो ने धीरे-धीरे अपना संगठन

कुछ मजबूत बनाकर साल के नेतृत्व में विजेताओं से बराबरी का लोहा लिया (१०२० ई० पू०)। जब डेविड विद्रोहियों का प्रमुख नेता हुआ तो उनको अच्छी सफलता प्राप्त हुई। वीर और साहसी होने के साथ ही डेविड (दाऊद) उदारचेता प्रसन्नवदन और संगीत कला का प्रेमी भी था। इजराइल और जूडा पर अपना अधिकार स्थापित कर उसने अपनी राजधानी जेरुसलम में बनायी और वहाँ के किले को और भी सुदृढ कर दिया।

दाऊद का पुत्र सुलेमान (सोलोमन, ७९०—९३७ ई० पू०) भी अपने पिता के समान योग्य, नीतिज्ञ और चतुर था। व्यापारी बेडे को बढाकर उसने समुद्री मार्ग से भी वैसा ही सफल व्यापार किया जैसा कि स्थल-मार्ग से। सोने तथा जवाहरात की खानें भी उसने खुदवायी। ताँबा वहाँ अच्छा बनता था जिसके बदले उसे सोना मिलता था। घोड़ो का व्यापार उसने बडे पैमाने पर किया। व्यापार से उसे अपार धन प्राप्त हुआ। अपना सामाजिक तथा राजनीतिक महत्त्व बढाने के लिए उसने सैकडो शादियाँ की। कहा जाता है कि उसकी सात सौ व्याही रानियाँ थी और तीन सौ अनूढा स्त्रियाँ थी। उसका समकालीन टायर नगर का राजा हिराम था जिससे उसकी मित्रता थी। उसके सहयोग से उसने जेरुसलम के यह्वेह के विशाल देवालय का निर्माण कराया। उसके निर्माण कराने के लिए उसने प्रजा पर कष्टप्रद कर लगाये और बेगार करवायी जिससे प्रजा में असंतोष बढा। परिणाम यह हुआ कि सुलेमान के पुत्र के समय में विद्रोह हुआ और पेलेस्टाइन दो भागों में विभक्त हो गया। उत्तरी भाग मे इज़राइल का आधिपत्य रहा और दक्षिणी भाग जूडा कहलाया। इजराइल की 'सुमरिया' और जूडा या जूड़िया की जेरुसलम राजधानी रही। जेरुसलम मे सुलेमान का पुत्र और सुमरिया में विद्रोहियो का नेता जेरोबोअम राज्य करता था। दोनों राज्यो मे यह्वेह की पूजा होती थी। इजराइल की आर्थिक स्थिति अच्छी थी, वहाँ व्यापारी और धनी लोग भी थे किन्तु जूड़िया की प्रजा गरीब थी।

पडोसियो की विरोधात्मक आर्थिक परिस्थिति होने के कारण उनमे घोर संघर्ष का होना स्वाभाविक था। उस युग में पश्चिमी एशिया मे अपने-अपने अनुयायियो का पक्ष लेकर देवता भी लडते थे और उनके जय-पराजय में सुख-दुख भोगते थे। पहले इजराइल वालों का मुख्य देवता 'बाल' था। और जूड़िया वालो का युद्ध-प्रिय देवता 'येह्वेह' था जो छः शती के बाद जिहोवा नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैमनस्य बढ़ता गया। यहाँ तक कि इज़राइल के राजा अहब के समय में उसके लोभ और

जबरदस्ती से रुष्ट होकर जार्डन के खानावदोशो के हिब्रू नेता एलिजा ने अहव और उसके वंशजो तक का वध कर डाला। यही नही, 'बाल' के पुजारियो को भी मरवा डाला।

एलिजा के समय से हिब्रू लोगो मे एक न एक प्रभावशाली नेता प्रकट होता रहा जो नागरिक जीवन और उसके वैभव और विलासिता का विरोधी तथा सरल साधारण गरीब जीवन का गुणगान करता था। ऐसी ही विचारधारा मिस्र मे एक वार सुधारको ने चलायी थी जिसका ज्ञान हिब्रू सुधारको को प्राप्त हो गया था। अमीरी और गरीवी की प्रतिद्वन्द्विता और सघर्ष के नाटक के एक महत्त्वपूर्ण अंक का प्रदर्शन पेलेस्टाइन के इतिहास मे हुआ जो विचारणीय एवं आलोचनीय है। लगभग सौ वर्ष तक विचारो का यह सघर्ष चलता रहा।

जूडिया वालो को पाप का प्रसार चारो ओर दिखाई देता था। पाप से शरीर-धारी का वचना वे असम्भव मानते थे। मृत्यु के वाद पृथ्वीतल के नीचे अन्धकार-पूर्ण स्थान मे जाना वे अनिवार्य समझते थे। पाप तथा पुण्य का फल इसी जन्म मे भोगना वे मानते थे। पाप से वचने के वे दो उपाय वताते थे। एक तो प्रार्थना और दूसरा कुरवानी। कुरवानी मे वे नरमेध, पशुमेध करते और भेट चढाते। उन लोगो मे पुरोहितो की एक पृथक् श्रेणी थी जो यज्ञ तथा धर्म के रहस्यो को समझते थे। वहाँ के लोग जिन्नो, पर्वत तथा कन्दराओं के देवताओ, नन्दी, भेड़-वकरी, सर्प आदि तथा शिवलिग के-से पत्थरो को देवता या देवी मानकर पूजते थे। वहाँ मन्दिरो की प्रथा न थी। जेरुसलम का ही मन्दिर उनके लिए वहुत था। ईसा के पूर्व सातवी शती के धर्मप्रचारक मूर्तिपूजा का घोर विरोध करने और उसके मूलो-च्छेद की चेष्टा करने लगे थे।

विभिन्न जातियो और कवीलो के मिलने से तथा मेसोपटेमिया और मिस्र के प्रभावो से पेलेस्टाइन तथा सीरिया मे अनेक प्रकार के देवताओ और देवियो की पूजा होती थी। प्रत्येक नगर के अपने-अपने देवी-देवता थे। कही का प्रमुख देवता 'इल' और कही का 'वआल' था। वआल तूफान, विजली एवं वर्षा का प्रतीक था। उनके सिवा अन्य देवता भी थे। देवियो मे अनत और अस्तरते मे, जो मेसोपटेमिया की इश्तरदेवी-सी जान पडती है, कुमारित्व और मातृत्व का सयोग माना जाता है। उनकी प्रतिमाएँ मिथुनत्व प्रदर्शिनी थी। कनआनियो की श्रद्धा सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य देवताओं मे धीरे-धीरे कम होती जाती थी। ईसा के पूर्व आठवी शताव्दी मे एमोस नामक जूडिया के एक सुधारक ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि

'येहवेह' युद्ध का अथवा किसी समुदाय या जाति का देवता नहीं, वरन् मनुष्य-मात्र का ईश्वर है जिसमें पिता के तुल्य दया, माया एवं कृपा के गुण हैं। उसे रक्तपात और हत्याकाण्ड अप्रिय है। सरल जीवन और सांसारिक सम्पत्ति-विहीन मनुष्यों के प्रति उसकी विशेष कृपा रहती है। धन, वैभव, सम्पत्ति-संग्रह, बाहरी दिखावा, शान-शौकत आदि उसको प्रिय नहीं। अमीरी जीवन मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। अतः उससे बचकर रहना ही श्रेयस्कर है। मनुष्य को दासत्व की जंजीर में बाँधना बुरा है।

जिस समय विचारों का यह संघर्ष चल रहा था उसी समय असीरिया की सेनाएँ साम्राज्य-स्थापन के लिए आक्रमण कर रही थी। सीरिया का प्रसिद्ध नगर दमिश्क जीतने के बाद सम्राट् की सेना ने जेरुसलम को घेर लिया। उस समय 'इजाया' नामक धार्मिक नेता ने हिब्रू लोगो को आश्वासन दिया कि यदि वे साहसपूर्वक डटे रहेंगे तो 'येहवेह' उनकी रक्षा अवश्य करेगा और असीरिया के देवता अस्सुर की कुछ न चलेगी। उसका आश्वासन और जेरुसलम की जनता की आशाएँ निष्फल न हुई। सयोग से असीरिया की सेना में ऐसी वबा फैली जिससे बहुत-से सैनिक मरने लगे। घबराकर सेनापति जेरुसलम छोड़कर लौट गया। इस घटना से पेलेस्टाइन वालो का दृढ विश्वास हो गया कि येहवेह सर्वोपरि ईश्वर है और वह निर्बलो का बल है।

सातवीं शती के आरम्भ में असीरिया का साम्राज्य नष्ट हो गया (६१२ ई० पू०)। किन्तु उसके स्थान पर केल्डिया के साम्राज्य की स्थापना हुई। केल्डिया के सम्राट् नेबुकेदनज़र ने पेलेस्टाइन को फतह करके जेरुसलम को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वहाँ के हिब्रू लोगों को कैद कर बेबीलोनिया ले गया। (५८६ ई० पू०)। जो लोग बचे वे मिस्र भाग गये। इतनी आपत्तियो पर भी हिब्रू लोगों का विश्वास 'येहवेह' पर अटल रहा और वे निराश न हुए। उनके धार्मिक नेता जेरेमिया ने उनका उत्साह कायम रखा और उन्हें यह सिखाया कि येहवेह का मन्दिर किसी स्थान-विशेष में नहीं वरन् प्रत्येक भक्त के हृदय में है। उसी में प्रत्येक व्यक्ति को उसे प्रतिष्ठित करना चाहिए। इस नव्य सिद्धान्त ने येहवेह को एक देश या जाति से उठाकर सर्वव्यापी और प्रत्येक भक्त का साथी बना दिया। वह एकराट् हो गया और उसके अनुयायी एकेश्वरवादी हो गये। इन नये विचारो को इसाया नाम के सहृदय, प्रवचन-प्रवीण नेता ने अपने ओजपूर्ण उपदेशों से अनुयायियो के मन में जमा दिया। हिब्रू अपने कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करते और यातनाओ को

एक प्रकार की तपस्या समझते जिससे उन्हे इष्टदेव की कृपा के अधिकारी हो सकने की आशा थी।

संयोगवश फारस की नवोदित शक्ति के नेता राजा काइरस ने केल्डियनो को परास्त करके उनकी राजधानी बेबीलॉन मे अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया (५३८ ई० पू०)। उदार नीति का आश्रय लेकर उसने हिब्रू लोगो को मुक्त करके उन्हे अपने देश पेलेस्टाइन वापस जाने की स्वतन्त्रता दे दी। कुछ को छोड़कर अधिकाश लोग प्रसन्नतापूर्वक पेलेस्टाइन लौट गये। यद्यपि वे फारस के सम्राट् के अधीन रहे किन्तु उसने उनके विकास मे कोई हस्तक्षेप नही किया। फारस के साम्राज्य के पतन के बाद वे अलेक्जेण्डर के सेनापतियो के शासन मे लगभग दो शताब्दी तक रहे। ग्रीक लोगो के सम्पर्क मे आ जाने से पेलेस्टाइन वालो के आचार-विचारो मे नयी लहरे उठने लगी और हेर-फेर होने लगे। वहाँ उदार नवीनता और प्राचीनता का सघर्ष शुरू हो गया।

यह स्मरण रखना चाहिए कि हिब्रू धर्म-प्रचारको ने कुछ ज्ञातव्य सिद्धान्त स्थापित कर दिये थे। पहला यह कि ईश्वर एक ही है जो सारे विश्व का नियन्ता है। दूसरा यह कि ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि अपने ही नमूने की बनायी जिसके कारण उसमे क्षमता, शिष्टता तथा आत्मोन्नति, आत्म-सम्मान आदि गुण पाये जाते हैं। तीसरा यह कि मनुष्य मे शुभ एव अशुभ भावनाओ का द्वन्द्व होता रहता है। उसे अशुभ गुणो का दमन करने और शुभ गुणो का सग्रह करने की स्वतन्त्रता है। अपनी विवेक शक्ति का यदि वह उपयोग करे तो वह अधर्म से बचकर धर्मात्मा बन सकता है। धर्म के तीन विशिष्ट लक्षण हैं—न्याय, दया और दीनतापूर्वक ईश्वर का अनुगमन। उनकी सिद्धि से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

केल्डिआ

असीरिया के पतन-काल मे उसकी ओर से नियुक्त बेबीलॉन के प्रशासक नेबोपोलस्सर ने स्वतन्त्र राजा बनकर विद्रोह का आरम्भ किया। बेबीलॉन मे अपनी शक्ति सगठित कर उसने असीरिया पर आक्रमण कर दिया (६१५ ई० पू०)। अस्सुर नगर के जीतने मे वह असफल रहा, किन्तु मीडिया वालो ने अस्सुर को लूट लिया (६१६ ई० पू०)। तदनन्तर मीडिया वालो ने बेबीलॉन के राजा से मिलकर असीरिया की राजधानी पर सयुक्त आक्रमण किया। दजला मे भयकर बाढ़ आने के कारण निनेवेह की चहारदीवारी भी कमजोर हो गयी थी। आखिरकार निनेवेह

का पतन हो गया और वहा का राजा सिनशर इश्कन लड़ता हुआ मारा गया (६१२ ई० पू०)। असीरियन लोग इधर-उधर भाग गये अथवा खदेड़ दिये गये। मिस्र की सहायता भी उनकी रक्षा न कर सकी। सम्भव था कि राजकुमार नेबुकेदनजर मिस्र पर भी आक्रमण कर देता किन्तु पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर वह लौट पडा (६०५ ई० पू०)।

नेबुकेदनजर (६०५–५६२ ई० पू०)

प्रारम्भ के कुछ वर्षो तक उसका मिस्र से संघर्ष चलता रहा क्योंकि वहाँ का फेरो जूडिया, पेलेस्टाइन और फोनीशिया वालो के साथ षड्यन्त्र किया करता था। इधर नेबुकेदनजर भी उन पर दाँत गडाये बैठा था। सन् ५८६ ई० पू० नेबुकेदनजर ने जेरुसलम जीतकर वहाँ के यहूदियो को कैद कर लिया और वहाँ पर दूसरे लोगो को लाकर बसा दिया। टायर नगर का भी उसने अवरोध किया किन्तु उसको ले न सका। फिर भी उसका साम्राज्य फारस की खाडी से मध्य सागर के तट तक विस्तृत था और उसका आतंक मिस्र पर जमा रहा। पूर्व और पश्चिम के व्यापार के स्थल-मार्ग पर अधिकार स्थापित होने के कारण उसका खजाना भरपूर हो गया और नव बेबीलॉन एक समृद्धिशाली वैभवपूर्ण नगर बन गया। ससार का सम्भवत. वह सबसे बडा, सुन्दर तथा धनधान्यवान नगर हो गया। उस नगर की जनसंख्या कम से कम अस्सी हजार होगी। लगभग दो सौ वर्गमील भूमि पर वह नगर बसा था। उसकी सौ फुट ऊँची, सात गज मोटी सुदृढ बाहरी चहारदीवारी ने उसे अजेय दुर्ग सा बना दिया था। उसका जगत्प्रसिद्ध सात मंजिलो का 'जिग्गुरत' ६५० फुट ऊँचा (पिरा-मिड से भी ऊँचा) था जिसकी चमकदार रगीन ईंटे दूर से ही चकाचौंध करती थी। मरदक देवता तथा अन्य देवताओ के विशाल मन्दिरो, राजमहल तथा खम्भो की ईंटे भी उसी प्रकार की थी। उसने जिग्गुरत के चबूतरो पर बाग लगवाये जो ससार के सप्त आश्चर्यो मे गिने गये तथा राजधानी की शोभा बढाते रहे। फरात नदी पर उसने एक पुल बनवाया जो सम्भवत. ससार मे सबसे पहला पुल था। इनके सिवा उसने व्यापार के योग्य बन्दरगाहो की रचना करायी। बेबीलॉन का यह अभूतपूर्व उत्थान और वैभव नेबुकेदनजर असमस्य का प्रताप था। उसकी मृत्यु ५६२ ई० पू० के लगभग हुई।

नेनुकेदनजर की मृत्यु के बाद वहाँ के तीन राजाओ के विषय मे किसी उल्लेख-नीय घटना का पता नही चलता। अनुमानत. केल्डिआ का पतन हो रहा होगा। हाँ,

नबोनिदस के राजत्वकाल मे (५५६—५२९ ई० पू०) कुछ जानकारी मिलती है। वह बेबीलॉन के राजवश का नही वरन् हरीन के एक पुजारी का पुत्र था। इसी कारण वह लोकप्रिय न हो सका। दुर्भाग्यवश मीड लोगो से भी उसका सम्बन्ध अच्छा न रहा। यह भी कहा जाता है कि वह मीडिया के खिलाफ फारस के विद्रोहियों की सहायता भी गुप्त रूप से करता था (५५० ई० पू०)। मीडियनो के पतन के उपरान्त आगे चलकर फारस वालो से भी उसका झगडा ठन गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि फारस वालो ने पूर्वी व्यापार के स्थल-मार्ग को वन्द कर दिया जिससे बेबीलॉन की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी। चिन्तित होकर नबोनिदस ने अरब से लालसागर तक कारवान के लायक मार्ग खोलने का प्रयत्न किया। उसकी गैरहाजिरी मे फारस वालो ने बेबीलॉन के कुछ धर्माधिकारियो से षड्यन्त्र रचकर राजधानी पर आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त की, जिससे केल्डिआ के साम्राज्य का अन्त हो गया (५३९ ई० पू०)।

लीडिया

हिट्टियो के उपरान्त एशिया माइनर की सभ्यता मे लीडियनो ने विचारणीय स्थान प्राप्त किया। वे लोग मिश्रित जाति के थे जो पश्चिम की ओर से आकर एशिया मे वस गये थे। उनमे तीन राजवश हुए जिनके विषय में कुछ निश्चित ज्ञान नहीं। सातवी शती (६७५—६५० ई० पू०) के आरम्भ मे गाइगेज या गूगू नामक एक राजा हुआ जिसमे पराक्रम तथा दूरदर्शिता के लक्षण थे। उसकी राजधानी सारडिस मे थी। उसने राज्य की नौ-शक्ति का अच्छा सगठन किया। उसने असीरिया का भी यथाशक्ति विरोध किया। उसके वशजो ने शत्रुओ का दमन करके स्मरना पर अधिकार कर लिया तथा राज्य को समुद्र तट से हालिस नदी के तट तक वढा दिया। व्यापारी नगरो पर अधिकार प्राप्त कर लेने से राज्य समृद्धिशाली तथा राजा वड़ा धनी हो गया। सारडिस ने भी अच्छी उन्नति की और यूनानियो के व्यापार का वह केन्द्र हो गया। गाइगेज कभी असीरिया और कभी मिस्र मे मिल जाता था किन्तु उसकी सवसे कठिन समस्या थी काईमीरियन जाति के आक्रमणो को रोकना। उनसे कई युद्ध हुए। आखिर उनसे लडते हुए उसका निधन हो गया।

गाइगेज के वंशजो ने समुद्र के तट पर स्थित कई नगरो पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। एशियाई कोचक मे बढते-बढते वे हालिस नदी तक पहुँचे जहाँ मीडो ने उनका सफलतापूर्वक सामना किया (५८५ ई० पू०)। लीडिया के राजा

अलयत्तेस ने अपनी एक पुत्री का विवाह मीडिया के राजकुमार अस्त्यगस से कर दिया। उसी व्याह से प्रख्यात क्रीसस का जन्म हुआ। सन् ५६० के आसपास क्रीसस लीडिया के राजसिंहासन पर बैठा। उसके राज्य काल मे लीडिया का अच्छा उत्कर्ष हुआ। क्रीसस की अपार सम्पत्ति और समृद्धि की कहानी सैकडो वर्ष तक पश्चिमी एशिया और ईरान मे प्रचलित रही तथा वहाँ के साहित्य मे अंकित हो गयी। उसके सहायको मे मिस्र, स्पार्टा एव मीडिया के राज्य थे। फारसियो ने जब मीड राजा अस्त्यगस को परास्त कर दिया तब उन पर क्रीसस ने आक्रमण कर दिया। फारस वालो ने उसको हराया जिससे श्री-हत और असफल होकर वह सार्डिस लौट गया। फारसी राजा काइरस ने सारडिस को जला दिया और क्रीसस को पकड लिया (५४६ ई० पू०)।

लीडिया के निवासियो का व्यापार मे अनुराग था अतएव वे सम्पन्न थे। वहाँ चमड़े की सादी तथा रंगीन वस्तुओ कालीनो और कम्बलो तथा सोना-चाँदी की स्वर्णकारी, ओषधियों, सुगन्धित पदार्थों तथा अंग-राग की सामग्री का अच्छा काम और व्यापार होता था। यूरप तथा एशिया के अनेक जातियो के व्यापारी वहाँ आकर क्रय-विक्रय करते थे। यद्यपि यह तो अब नहीं माना जाता कि सिक्को का उन्होंने ही आविष्कार किया तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने सबसे पहले सुन्दर कलदार और क्रमबद्ध सिक्के बनाकर चलाये, जिनका सबने आदर किया। उस वातावरण मे वहाँ सभ्यता की उन्नति तथा भोगोपभोग के उत्तेजक साधनो की वृद्धि हो रही थी। वाद्य-नृत्य, भोज्य-पेय पदार्थो प्रीतिभोजों, स्नान तथा आमोद-प्रमोद की धूम-धाम के साथ ही शारीरिक सजावट, व्यायाम और खेल-कूद का भी उनको बड़ा शौक था। वहाँ की व्यापारमूलक सभ्यता पर यूनानी तथा यूरोपीय संस्कृति की गहरी छाप थी। उसको यदि हम एशिया की ओर बढने वाली यूरोपीय सभ्यता की लैनडोर कहें तो अनुचित न होगा। यद्यपि उनमे धनवानो के व्यसन तथा व्यभिचार चिन्ताजनक थे तथापि उत्साह, आत्मविश्वास एवं उद्यमशीलता की उनमे कमी न थी। युद्धकला तथा सैनिक संगठन मे उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। फिर भी ईरान की प्रबुद्ध शक्ति के सामने वह कुछ न कर सकी।

लीडिया वालो के धार्मिक विचार भी अनेक जातियो से प्रभावित थे अतएव उनकी सभ्यता की तरह मिश्रित थे। उनकी देवी आर्तेमिस मे तत्कालीन तथा तद्देशियो की 'मा' आदि देवियो के लक्षण थे। उनका पूज्य देवता 'सन्दोन' (सूर्य) था। उनके पुजारी वशानुगत होते थे। वे मुर्दो को दफन करके समाधि के ऊपर स्तूप-

सा बनाते अथवा ऊँचे स्थान में गाड़कर ऊपर-से शिवलिंग की तरह चिह्न प्रतिष्ठित कर देते थे। छोटे-छोटे शिवलिंग से प्रतीक अनिष्ट-निवारण के लिए वे इधर-उधर प्रतिष्ठित करते रहते थे।

यूट्रेस्कन

मध्य सागर में यूरोप के तीन प्रायद्वीप हैं—ग्रीस (ईजियन), इटली और स्पेन। उसका पूर्वी तट एशियाई कोचक और पश्चिमी तट स्पेन है। उसके मध्य में सिसली नामक द्वीप है जो इटली और उत्तरी अफ्रीका को संयुक्त अथवा पृथक्-सा करता है। सिसली के पश्चिमी भाग का ऐतिहासिक एवं आर्थिक जीवन उसके पूर्वी भाग से ग्रीस के अभ्युदय काल में एक प्रकार से भिन्न रहा। ग्रीस वालो ने सिसली तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर फोनीशियन लोगो से व्यापार तथा प्रभाव छीन लिया था। किन्तु सिसली के पश्चिमी भाग पर कार्थेज के फोनीशियन राज्य का प्रभाव अक्षुण्ण-सा रहा। जब रोम राज्य की सत्ता बढने लगी तब कार्थेज राज्य के लिए एक भीषण समस्या उत्पन्न हो गयी जिसकी पूर्ति कार्थेज के विनाश से ही हो सकी।

इटली की भौगोलिक स्थिति भी मध्य सागर के बीच में है। उसकी लम्बाई लगभग ६५० और चौडाई २०० मील की है। उसके पूर्वी पार्श्व में बलकान और पश्चिमी में स्पेन है। एड्रियाटिक समुद्र उसको बलकान से और पश्चिमी मध्य सागर स्पेन से पृथक् करता है। यद्यपि आल्प्स पर्वत इटली को यूरोप से विभक्त करता है तथापि वह भी पहाडी प्रदेश है। उसकी पर्वतमाला एपिनाइन उत्तर से दक्षिण की ओर मेरुदण्ड के समान फैली है। उसका प्रभाव पश्चिमी तट के जलवायु पर बहुत अच्छा रहा। उसका ढलाव उसके पश्चिमी तट की ओर है। अतएव पश्चिमी तट पर ही अधिक बस्तियाँ बसी जिससे वहाँ की समस्याएँ पश्चिमोन्मुखी अधिकतर रही। यद्यपि इधर-उधर कुछ दर्रे हैं जिनसे होकर आक्रमण किये जा सकते हैं तथापि वह पर्वत ग्रीस के पर्वतो की तरह बहुत विच्छिन्न नही इसलिए वहाँ के निवासियो का ऐतिहासिक विकास ग्रीस से भिन्न रहा। वहाँ बड़े राज्यो की स्थापना में विशेष प्राकृतिक अड़चनो की सम्भावना न थी। इसके सिवा खेती करने का भी वहाँ अधिक सुभीता था जिससे अधिक सख्या मे लोग वहाँ बस सके। वहाँ दो फसले होती और पशु दो बार ब्याते। पुरुष और स्त्रियाँ सुडौल और सुन्दर हैं। वहाँ की पो नदी की उपत्यका अतिशय उर्वरा है। समुद्री पश्चिमी तट पर अच्छे बन्दरगाह कम होने के कारण व्यापार निश्चित स्थानो पर ही केन्द्रित हो सका

जिससे राजनीतिक एवं आर्थिक समस्या उतनी जटिल और विविव न थी जैसी कि ग्रीस मे उत्पन्न हो गयी थी। इटली का दक्षिणी भाग उत्तरोत्तर कम उपजाऊ है। इटली का जलवायु आकर्षक है। वहाँ न अधिक सर्दी पड़ती है न अधिक गर्मी और वर्षा भी अच्छी होती है।

अनुमान किया जाता है कि ईसा के पूर्व वारहवी शती मे एटेलिक लोगो को भगाकर यूट्रेस्कन लोग इटली के पश्चिमी तट पर टाइवर नदी के उत्तरी भाग में वस गये। यूट्रेस्कन सम्भवतः पश्चिमी एशिया से आये थे। वे वेलीडिया, हिट्टी राज्य अथवा ईजियन सागर के टापुओ से आये होगे, क्योकि वहाँ की सभ्यताओ का कुछ न-कुछ प्रभाव यूट्रेस्कस संस्कृति मे पाया जाता है। वे लोग एक साथ नही वरन् समय-समय पर कई दलों मे आये होगे। उनके बारह वंश थे जो अपनी-अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए भी एक प्रकार के संयुक्त विधान मे रहते थे, जो शिथिल ढंग का था। प्रत्येक वंश और नगर अपनी स्वतत्रता तथा उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील था, किन्तु आपस मे मिलकर काम करने की कला अथवा योग्यता उनमे कम थी। यही उनकी वडी कमजोरी थी जो उनकी पराजय का मुख्य कारण सिद्ध हुई। यूट्रेस्कनो के पास घोड़ो की संगठित सेना तथा समुद्री बेड़ा भी था जिसके द्वारा वे व्यापार करते थे।

यूट्रेस्कन सभ्यता अच्छी खासी थी। उन्होने दलदल तथा जंगली पेड-पल्लवो को साफ करवाकर सड़के वनवायी तथा पानी लाने और निकालने के लिए मेहरावदार गोल नालियाँ खुदवायी। वे ताँवे तथा लोहे की चीजे, हथियार आदि बनाते और वेचते थे। पाँचवी शती (ई० पू०) में व्यापार के लिए वे सिक्को का उपयोग करते और आभूषण पहनते थे। प्रतियोगिता के खेलो, शस्त्रास्त्र-सचालन, भोज, द्यूत, नाच-गाने, घुडदौड़, रथ-दौड़, साड़ो के युद्ध, मल्लयुद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि का उन्हें शौक था। खेल मे खून-खच्चर होने से उनको न तो भय था और न ग्लानि होती थी। उनका समाज मातृक था। स्त्रियाँ और पुरुप स्वतन्त्रतापूर्वक मिलते-जुलते थे। स्त्रियो को शिक्षा भी दी जाती थी। दहेज की प्रथा होने से जो स्त्रियाँ गरीब होतीं वे वेश्यावृत्ति से पर्याप्त धनोपार्जन करके अपना व्याह कर लेती थी। उस विधान मे उन्हे कोई जुगुप्सा की या आपत्तिजनक वात न दिखाई पड़ती थी।

जल एव स्थल द्वारा फोनीशियनों, ग्रीकों आदि से व्यापार करने से यूट्रेस्कनों को अच्छा लाभ हुआ। व्यापार तथा सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए उन्होने अपने नगरो के चारो ओर पत्थर की प्राचीरें वना ली थी। नागरिक तथा ग्रामीण जीवन

की समस्याओ से उनका परिचय था। धनी व्यापारियो के कुटुम्ब वाले अपने को उच्च अथवा विशिष्ट श्रेणी का समझते और इटली के पुराने निवासियो को नीची नजर से देखते थे। उस भावना के कारण कुलीन (पेट्रीशिअन) और अकुलीन (प्लीविअन) की समस्या चल पड़ी जिसका कमोवेश प्रभाव रोम के इतिहास पर शतियो तक पड़ता रहा।

वादलो की गरज तथा बिजली की चमक और तडप वाले 'तीनिया' नामक देवता को यूट्रेस्कन प्रमुख एवं प्रधान मानते थे। उसके आज्ञानुवर्ती वारह देवता थे जिनमे पाताल का देवता 'मन्तू' वहुत ही भयकर और दुराराध्य समझा जाता था। देवताओ मे तीन-तीन की इकाइयाँ थी। प्रत्येक इकाई का एक प्रमुख होता था। यही नही, प्रत्येक नगर तथा व्यापार का अपना विशिष्ट देवता होता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वे पशुवलि और कभी-कभी नर-वलि भी चढाते थे। वे लोग नरक मे विश्वास रखते थे। देवताओ के सिवा भूत-पिशाचो मे भी विश्वास रखते थे। उनकी धारणा के अनुसार मरणोपरान्त प्रत्येक व्यक्ति को वहाँ जाना और अपने-अपने कर्मो के अनुसार फल भोगना अनिवार्य था। पापियो को जो अत्यन्त पीड़ाजनक यातनाएं भोगनी पड़ती है उन सवसे वचने का एकमात्र उपाय देवताओ को स्तुतियो और बलिदानो द्वारा तुष्ट रखना समझा जाता था। मुर्दो को यदि सम्भव हो तो गुफाओ मे रखते थे, अन्यथा जला देते थे।

यूट्रेस्कानो को अक्षरो का व्यावहारिक ज्ञान था यद्यपि शिक्षा मे उनकी अधिक रुचि न थी। फिर भी व्यापार और कलाप्रियता से उन्होने अपनी सभ्यता की छाप सिसली, कार्सिका और सारडीनिया पर लगा दी। स्थापत्यकला, चित्रण, शस्त्रास्त्र वनाने, मिट्टी के काले सुन्दर बरतन और रगीन खिलौने तैयार करने, सुन्दर दर्पण तथा कपडे वनाने मे उन्होने अपनी योग्यता का अच्छा प्रदर्शन किया। रोम वालो ने उनके सैनिक सगठन और शस्त्रीकरण से लाभ उठाया। ईसा के पूर्व छठी शती मे यूट्रेस्कन सभ्यता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी। व्यापारादि क्षेत्रो मे उनके प्रतियोगी ग्रीक और कार्थेज के लोग थे। कार्थेज से मिलकर उन्होने ग्रीको को उनके उपनिवेश कार्सिका से भगा दिया। पाँचवी शती मे उनका ह्रास होने लगा, यहाँ तक कि वे इट्रूरिया प्रान्त मे सीमित रह गये।

अध्याय ५

रोम

इटली की प्रसिद्ध नदी टाइवर के दक्षिण मे समुद्र के किनारे लेटियम नाम का प्रान्त है जिसके लेटिन वश के निवासी आगे चलकर रोम राज्य के ही नही वरन् रोमन साम्राज्य के सस्थापक वने। रोम के ऐतिहासिक उत्थान मे जिन लोगो ने प्रमुख भाग लिया वे किसी एक जाति या वश के न थे। ग्रीक, यूट्रेस्कन, सेवाइन आदि के सम्मिश्रण से वह जन-समुदाय प्रकट हुआ जिसने संसार के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। लेटिन लोग आरम्भ मे कृषि तथा पशुपालन करते थे।

आठवी शती (ई० पू०) मे यूट्रेस्कनो ने टाइवर के इस पार भी अपना शासन स्थापित कर लिया था। उस युग मे राजा टारक्यूनिअस वंश से ही जीवन भर के लिए चुन लिया जाता था। आवश्यकता पड़ने पर वह वृद्धो की सभा वुलाकर उनका मत ले लेता था तथापि उसका अधिकार अवाधित और पूर्ण था। टाइवर नदी के उस पार यूट्रेस्कन लोगो के नगरो और उनकी समृद्धि को देखकर वे आश्चर्य करते थे। आठवी शती के मध्य मे यूट्रेस्कनों ने उन पर आधिपत्य जमा लिया और रोम नगर पर उनका एक राजा राज्य करने लगा। किन्तु लेटिन लोगो ने अपना व्यक्तित्व और ऐक्य कायम रखा। यूट्रेस्कनो के नगर से नदी की वाढ का पानी निकालने का मेहरावदार पटा नाला वनाकर रोम के स्वास्थ्य और आर्थिक जीवन का सुधार दिया।

जनता की एक सभा थी जिसे कमीशिआ क्यूरिआटा कहते थे। कमीशिया क्यूरिआटा असेम्बली मे प्रमुख तीन कवीलो के दस-दस व्यक्ति प्रतिनिधि थे। जो प्रश्न उनके सामने आते थे उन पर अपना निर्णय वह दलो के वोट से निश्चित करते थे। प्रत्येक दल के पास एक वोट होता था।

यूट्रेस्कन राज्य के प्रति लेटिन लोगो में अश्रद्धा और भी वढ गयी जव उन्होने केपिटोलइन के मन्दिर के निर्माण कराने के लिए गरीव लोगो से वेगार ली। यह

स्मरण रखने योग्य बात है कि उस समय रोम मे दास-प्रथा नाम-मात्र के लिए ही थी। केवल वे ही व्यक्ति निर्धारित अवधि के लिए दास बनाये जाते थे जो कर्ज अदा करने मे असमर्थ होते थे। साधारण किसान और कारीगर यद्यपि गरीब था किन्तु था स्वतन्त्र। लोगो के रोष का यह भी कारण था कि एक शाहजादे ने एक भले खान्दान की स्त्री ल्यूकेटिया पर बलात्कार किया था। जनता की यूट्रेस्कन विरोधिनी प्रवृत्ति से लाभ उठाकर पेट्रीशियन अर्थात् कुलीन या अमीर लोगो ने जिनमे यूट्रस्कस लैटिन आदि भी थे राजवंशियो को रोम से बहिष्कृत कर दिया। तीन बार प्रयत्न करने पर भी वे रोम मे न घँस सके (ई० पू० ५०९)।

राज-शासन बदल कर जनता ने वहाँ जनसत्ता की स्थापना की। शस्त्रधारी जनता ने एक के बदले दो प्रीटर कान्सल (मजिस्ट्रेट) चुनना आरम्भ कर दिया जो एक वर्ष तक शासन के पूर्ण अधिकारो का प्रयोग करते थे। दोनो को समान तथा पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। यद्यपि जनसभा उनको चुनती थी तथापि वे पेट्रीशियन श्रेणी के व्यक्ति होते थे। अत: पेट्रीशियन श्रेणी का महत्त्व अधिक बढ गया और जनता के साथ उनका व्यवहार उद्दण्ड रहने लगा।

तदनुसार पेट्रीशियनो और प्लीबियनो मे सघर्ष प्रारम्भ हो गया जो दो सौ वर्ष तक चलता रहा। शस्त्रधारी प्लीबिअनो को साधारण लोगो का बल था। चूँकि शस्त्रधारी जनता ही सेना का मुख्य अग थी अत. प्लीबियन आन्दोलनो मे बल था। पहले आन्दोलन मे जब उन्होने युद्ध मे जाने मे इनकार किया तब उन्हे दो अधिकार मिले। पहला यह कि प्रति वर्ष अपनी श्रेणी मे से ही दो 'ट्राइब्यून' चुन ले जो कान्सल या पेट्रीशियनो के अनाचारो से जनता की रक्षा करे। कुछ समय के बाद ट्राइब्यूनो की संख्या दो से बढकर दस तक पहुँच गयी (४४९ ई० पू०)। दूसरा यह कि किसी को तब तक प्राण-दण्ड न दिया जाय जब तक कि 'सेन्टूरियन' सभा उसका अनुमोदन न करे। ट्राइब्यून प्लीबियनो के स्वाभाविक नेता और पथ-प्रदर्शक हो गये। वे ही उनकी सभा आयोजित करते और उनके हित वाले प्रस्ताव स्वीकृत कराते थे। सगठन कुछ पुष्ट होने पर प्लीबियनो ने भूमि-सम्बन्धी कानूनो मे सुधार के लिए आन्दोलन किया। दस वर्ष के बाद पेट्रीशियनो ने दस सदस्यो की कमेटी कानूनो को स्पष्ट करने और सुधारने के लिए बनायी। उसी कमेटी ने कानूनो को लिपिबद्ध कर दिया। वे ही १२ पट्ट-लेखो के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध है। यद्यपि अधिक सुधार तो कानूनो मे न हुए किन्तु एक यह बात स्पष्ट हो गयी कि प्लीबियनो की सभा को रोम के विधान मे स्थान मिल गया। दूसरा सुधार यह हुआ कि कान्सल पद के चुनाव मे प्लीबियन

भी लिये जाने लगे। कात्सलों की अधिक समय तक अनुपस्थिति में आर्थिक कामों के लिए 'क्लेस्टर' लगान, करों की व्यवस्था के लिए 'सेन्सर', और न्याय के लिए 'प्रीटर' नियुक्त किये गये। अति विषम संकट पड़ने पर निर्धारित समय के लिए 'डिक्टेटर' नियुक्त करने का विधान माना गया। डिक्टेटर का सम्पूर्ण, यहां तक कि प्राण-दण्ड देने का भी, अधिकार मान लिया गया। अन्य विधान प्राय. वैसे ही रहे जैसे कि यूट्रेस्कन राजाओं के समय में थे।

पट्टलेखों से सघर्ष का अन्त न हुआ क्योंकि जनता यह चाहती थी कि उसकी अपनी एक स्वतन्त्र सभा हो जिसको कानून बनाने का अधिकार हो। उसकी यह शिकायत थी कि 'कमीशिया या सेन्चूरियाटा' मे केवल शस्त्रधारी सैनिक भाग लेते है। जो शस्त्रधारी नही उनकी कही पूछ नही होती। शस्त्रादि वे ही ले सकते हैं जिनके पास आर्थिक साधन हों। अतः पुरानी सभा पैसे वालो की ही है, साधारण जनता की नही। आन्दोलन का यह फल हुआ कि एक ऐसी सभा का निर्माण हुआ जिसमें अमीर-गरीब सभी के निर्वाचित सदस्य मिलकर काम करे। उनका नाम रखा गया 'कमीशिया ट्राइब्यूटा पोप्यूलाइ'। यही नही, उस सभा को राज्य के पदाधिकारी सेन्सर, क्लेस्टर, प्रीटर जिसे वह चाहे, उसे चुनने का अधिकार मिल गया। साधारण व्यक्तियों के लिए भी रास्ता साफ हो गया किन्तु व्यवहार मे लोग पेट्रीशियनो अथवा पूर्व पदाधिकारियो मे से ही चुनाव करते थे, क्योंकि समाज मे उन लोगो का अधिक मान था।

सेनेट मे भी कुछ परिवर्तन हुआ। पहले उसके सदस्य केवल पेट्रीशियन ही होते थे। किन्तु नयी व्यवस्था के अनुसार उसके सदस्यों के चुनाव में उन लोगो को, जो मजिस्ट्रेट रह चुके हो, अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। फलतः प्लीबियन लोग जो कभी मजिस्ट्रेट रह चुके थे, सेनेट के सदस्य होने लगे। दूसरा लाभ उससे यह भी हुआ कि सेनेट में अनुभवी शासको की सख्या उत्तरोत्तर बढने लगी। सेनेट के सदस्यो की सख्या तीन सौ थी। सदस्यता जीवन भर के लिए होती थी। उसका सभापति कान्सल होता था जिसका चुनाव प्रति वर्ष किया जाता था। सेनेट का कान्सल पर ही नही वरन् नागरिको पर भी बड़ा रोबदाब और आतंक था। इसके सिवा 'नये' कानूनो को प्रस्तावित करने का अधिकार सेनेट को ही प्राप्त था। २८७ ई० पू० तक होरटेन्सिआ विधान स्वीकृत हो गया जिसके अनुसार साधारण जन-सभा द्वारा निर्मित कानून का स्वतत्र वैध होना मान लिया गया। तब से उसको किसी अन्य सस्था या व्यक्ति की स्वीकृति की आवश्यकता न रही। इस कानून के बनने

के साथ उस सघर्ष का अन्त-सा हो गया जो दो सौ वर्ष से चला आता था। जन-सभा का एकमात्र कर्तव्य उसे स्वीकार या अस्वीकार कर लेना ही था। कानून को कार्यान्वित होने से रोक देने का अधिकार ट्राइब्यूनो को था। अत सेनेट उनसे पहले ही परामर्श कर लेती थी। इस ढंग से सेनेट ही प्रबलतम सस्था हो गयी। जनता उसे वडे सम्मान की दृष्टि से देखती थी। इसी कारण बिना अधिक रक्तपात के रोमवासियो ने अपनी सस्थाओ मे सुधार कर लिये। नीचे दी हुई वर्षक्रमानुसार तालिका से प्लीबियनो की अधिकार-प्राप्ति का इतिहास सरलता से जाना जा सकेगा—

४४५ ई० पू०	...	प्लीबियन और पेट्रीशियन का विवाह गैरकानूनी समझा जायेगा।
३७६ ई० पू०	..	किसी नागरिक का निश्चित सीमा से ज्यादा जमीन पर मिल्कियत का अधिकार न रहेगा।
३६७ ई० पू०	.	दो कान्सलो मे एक प्लीबियन होगा।
३५६ ई० पू०	...	डिक्टेटर चुना गया।
३५० ई० पू०	..	सेन्सर वन सकते हैं।
३३७ ई० पू०		प्रीटर बन सकते हैं।
३१३ ई० पू०	..	कर्ज न अदा करने पर भी गुलाम न बनाये जायेगे।
३०० ई० पू०	...	धर्मसघ मे सदस्य होने का अधिकार मिला।
२८७ ई० पू०	..	साधारण सभा द्वारा बना हुआ कानून बिना किसी अन्य सस्था या पदाधिकारी की स्वीकृति के प्रयुक्त होगा।

गणतत्र शासनकाल

जिस युग मे रोम की साधारण जनता अपने अधिकारो के लिए सघर्ष कर रही थी उसी मे रोम इटली मे अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील था। अधिकार के सघर्ष ने रोम के नागरिको की अपनी जाति के प्रति, नगर और सस्थाओ के प्रति सम्मान और भक्ति की भावना मे अथवा उनके प्रति कर्तव्य की साधना मे किसी प्रकार की कमी न आने दी। रोम के हित के लिए वे हर तरह के कष्ट और आपत्ति झेलने के लिए सदैव तैयार रहते थे। उसके लिए भूख-प्यास, अग-भग यहाँ तक कि प्राणदान के लिए भी वे कोई आनाकानी न करते थे। कर्तव्य और अनुशासन के प्रति उनकी विलक्षण निष्ठा ने ही उनको राजनीतिक क्षेत्र मे जो सफलताएँ प्रदान की, वे इतिहास मे विशेष स्थान और महत्त्व रखती हैं। रोमन लोग किसी

राजा या व्यक्ति के लिए, जैसा कि अन्यत्र बहुधा देखा जाता है, भयवश या लोभवश नहीं लड़ते थे। उनकी भक्ति रोम तथा रोम के निवासियों के लिए थी। कर्तव्यपरायणता ही उनकी प्रेरक शक्ति थी। उसके उदाहरण यूरोप और विशेषकर ब्रिटिश लोगों के लिए आज तक पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। रोमवासियों के कानूनों की रचना किसी शास्त्रीय ढग, सागोपाग, विचारधारा अथवा सिद्धान्त के अनुसार नहीं की गयी थी। व्यावहारिक जीवन मे जो समस्याएँ या कठिनाइयाँ दिखाई पड़ी, उनके समाधान के लिए वे कानून बना लेते थे। इसीलिए उनका कानून अनुभवमूलक माना जाता है। यही ढग रोम के राजनीतिक उत्तराधिकारी ब्रिटिश लोगों का भी है।

इटली मे एक राष्ट्र की स्थापना हो गयी किन्तु गौण विषयो को छोड़कर वहाँ रोमनो का ही शासन था। ऐसे कुछ प्रान्तो के, जिनका संयुक्त क्षेत्रफल इटली के तृतीय भाग के लगभग था, प्रशासन का सम्पूर्ण काम रोमनो ने अपने हाथ मे ले लिया था। जहाँ वे स्वय शासन-प्रबन्ध में कठिनाई पाते, वहाँ शासन का कुछ अंग स्थानिक लोगो के सुपुर्द कर देते थे। किन्तु फिर भी वे काफी निगरानी रखते थे। सन्धि, विग्रह, विदेशी नीति, सिक्को का प्रचलन एकमात्र रोम से ही हो सकता था। प्राय. सभी गण्य स्थानो पर रोमन लोगो के उपनिवेश स्थापित कर दिये गये थे; जिससे इटली के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन पर रोमनत्व का रग उत्तरोत्तर चढ़ता रहे। इटलीवालो के लिए रोमनो से विवाहादि सम्बन्ध करने में कोई रोक-टोक नही रखी गयी थी। इसके सिवा उन्होंने युद्ध के लिए, विशेषतः व्यापार की सुविधा के निमित्त सड़के बनवा दी और स्थान-स्थान पर सैनिको के दल स्थापित कर दिये।

रोम के गणराज्य (रिपब्लिक) की स्थापना से लेकर कार्थज वालो के साथ हुए प्रथम युद्ध के आरम्भ तक के करीब दो सौ वर्षो तक, रोम राज्य को तीन विशेष परिस्थितियो का सामना करना पड़ा। पहला युग (५०९—३३४ ई० पू०) वह था जब रोम को अपनी सत्ता कायम रखने के लिए अपने आसपास के राज्यो से सघर्ष करना पड़ा। इसी युग मे गाल जाति के आक्रमणकारियो ने रोम को लूटा और लाखो रुपयों का सोना लेकर वे लौट गये (३९० ई० पू०)। फिर भी हताश न होकर रोमन लोग अपने ध्येय से विमुख न हुए। परिणाम यह हुआ कि रोम का महत्त्व पश्चिमी और मध्य इटली मे स्थापित हो गया। दूसरा युग (३३४—२९० ई०पू०) रोम को इटली मे अपना आधिपत्य प्राप्त करने मे बीता। फिर भी दक्षिणी प्रान्त

पर अधिकार करना बाकी रह गया। तीसरे युग मे (२९०—२६५ ई० पू०) रोम का प्रभुत्व उत्तर से दक्षिण तक सारे देश मे फैल गया। यद्यपि उपर्युक्त युगो की घटनाएँ अपना महत्त्व रखती है तथापि उनका विशद वर्णन यहाँ अनुपयुक्त होगा। फिर भी तीसरे युग की एक घटना की ओर इशारा करना आवश्यक प्रतीत होता है। दक्षिण इटली का टैरेण्टिइम नामक नगर ग्रीको का अड्डा और व्यापारिक केन्द्र था। पहले तो उन्होंने रोमनों को दक्षिण की ओर बढ़ने मे काफी सहयोग दिया किन्तु जब उनको यह जान पडा कि रोम सारे दक्षिण भाग पर अपना आधिपत्य जमाने पर तुला हुआ है तव उन्होंने युद्ध करना अनिवार्य समझा और एपिरस के राजा पिरस को, जो अपने युग का महान् सेनापति माना जाता है, सहायता के लिए आमन्त्रित किया। पिरस ने रोमनो को दो बार (२८० ई० पू०) परास्त किया। सयोग से कार्थेजवालो से रक्षा करने के लिए सिराक्यूज के ग्रीको ने उसे आमन्त्रित किया। वहाँ से तीन वर्ष के बाद जव वह लौटा तव रोमनो ने उसको ऐसा परास्त किया (२७५ ई० पू०) कि उसे वापस चला जाना पडा। इटली मे रोमनो का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा (२६५ ई० पू०)।

ग्रीक सत्ता का क्षय हो जाने से रोमनवालो को कार्थेजवालों का सामना करना पडा।

कार्थेज

ग्रीक प्रतिद्वन्द्वियो के दमन के पश्चात् पश्चिमी भूमध्यसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए रोमनों का कार्थेजवालो से सघर्ष शुरू हुआ। यद्यपि उनकी उत्पत्ति का विषय अभी तक अन्तिम निश्चय तक नही पहुँचा तथापि विद्वानो का वहुमत उनके अरव से पेलेस्टाइन मे आकर बसे हुए सेमेटिक जाति के 'कानआनी' वंश का होने के पक्ष मे है। उन्होंने भूमध्यसागर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और जलमार्ग से व्यापार करने लगे। ग्रीक लोग उन्हें व्यापार तथा गुलामी के लिए मर्दों और औरतो को पकड़ ले जाने वाले डाकू कहते थे। मिस्र वाले उन्हे जहाज बनाने वाले समझते थे। वे फोनीशियन और सिडोनी कहलाते थे।

ईसा की नवी शती मे, जव कि इजराइल और जूडिया आपस मे लड़ रहे थे, फोनीशियनो ने भूमध्यसागर मे अपना व्यापार और उपनिवेश वढ़ा लिये। पहला उपनिवेश साइप्रस में स्थापित हुआ। उसके पश्चात् भूमध्यसागर और स्पेन मे जहाँ-तहाँ उन्होने बस्तियाँ कायम कर ली। उत्तरी अफ्रीका मे यूटिका और कार्टिरादस्त में

(कार्थेज, आधुनिक दर एस्साफी जो बान अन्तरीप के एक पार्श्व मे है नया नगर) नवी या आठवी शती में उपनिवेश कायम किये। अनुश्रुति के अनुसार नगर को बसाने वाली राजकुमारी एलिस्सा थी। यद्यपि उनकी सस्कृति मूलतः सेमेटिक प्रजाति की कानआनी थी तथापि उस पर मेसोपटामिया और मिस्र तथा ईजिअन का भी प्रभाव था। मिस्र तथा ग्रीस की प्रतियोगिता के कारण पूर्वी भूमध्य सागर मे सघर्षजनित कठिनाइयों से बचने के लिए सातवी शती से उन्होंने पश्चिमी ओर अपना प्रयत्न केन्द्रित किया। सिसली टापू पर अधिकार प्राप्त करने के लिए कार्थेज वालो को सेराक्यूज के ग्रीक राज्य से सघर्ष करना पडा। जब रोमनो और ग्रीको की टक्कर शुरू हुई तब कार्थेज ने रोमनो का सहायक बनकर ग्रीको की शक्ति का क्षय करवा दिया।

उत्तरी अफ्रीका के समुद्र तट पर कार्थेज नगर की स्थिति सब प्रकार से अनुकूल थी। जहाज बहुत नजदीक तक जा सकते जिससे व्यापार तथा रक्षा मे सुभीता था। पीछे विस्तृत मरुभूमि होने के कारण सहसा उस ओर से आक्रमण की भी सम्भावना बहुत कम थी। ग्रीको और मिस्रियो से भी भय की आशंका नगण्य-सी थी। उसके आसपास ऐसे स्थान न थे जिनसे निरन्तर खटपट होने की चिन्ता हो। ट्यूनीसिआ मे इतना पानी बरसता था जिससे अनाज और फलो की खेती हो सके। दो सौ फुट की ऊँचाई पर नगर की रक्षा के लिए एक सुदृढ किला बना दिया गया। नगर के चारो ओर ऊँची चहारदीवारी जो २५ मील लम्बी और कही-कही ४० फुट ऊँची और तीस फुट तक मोटी थी, बनवायी गयी। साठ-सत्तर फुट के फासलों पर बुर्जियाँ बनी हुई थी। नगर के बाहर साठ फुट चौडी खाई खुदी हुई थी। कार्थेज वाले स्पेन से चाँदी, टिन, लकड़ी, कपडा, रग आदि अनेक पदार्थों का व्यापार करते थे। व्यापार से उनको इतना लाभ हुआ कि उनका नगर जो रोम से पँचगुना बड़ा था, प्रभूत धन-धान्यवान् हो गया। पाँचवी शती (ई० पू०) मे वहाँ की जनसख्या दो लाख थी। उसके बाद बडे शहरो मे ट्यूनीसिआ का स्थान माना जाता था। तीसरी शती (ई० पू०) में वहाँ की जनसख्या बढकर सम्भवत. पाँच या छः लाख तक हो गयी। कार्थेज भयकर मरुस्थली और कृषि करनेवाली प्रजा के अभाव के कारण अच्छी स्थल-सेना न बना सका किन्तु उसकी नौ-शक्ति काफी प्रबल थी। उसकी सेना मे अनेक देशो और जातियो के लोग भरती थे, जिससे उसपर पूरा विश्वास नही किया जा सकता था। इसके विपरीत रोम की सेना जातीय और सुसगठित थी। कार्थेज नगर मे गुलामो की सख्या बहुत ज्यादा थी। कारण यह था कि सौदागर लोग

उद्योग-धंधे तथा विविध प्रकार की सेवाएँ उन्ही से करवाते थे । वास्तु-कला मे वहाँ के कारीगर बड़े निपुण थे ।

नगर मे एक खुला मैदान था जहाँ से तीन सडके, थानिट के देवालय, समाधि-स्थल और सभा-भवन को जाती थी । नगर मे एक किला भी था । साधारणतः गलियाँ सँकरी तथा घूम-घुमाव वाली थी । मकान पत्थर के बने थे जिनमे बाज-बाज छ. मंजिले ऊँचे थे । दीवारो पर सफेदी की जाती थी । मकानो की छते अच्छी खरादी लकडी की धन्नियो पर रखी जाती थी । छते कुछ गोलाई लिये हुए बनायी जाती थी । नगर मे तानित देवी, बआल हम्मोन आदि अनेक देवताओ के बाड़े थे । वहाँ का सबसे बडा और धन-सम्पन्न देवालय एशमोअन का था जिस तक पहुँचने के लिए साठ सीढ़ियाँ चढनी पड़ती थी । उसके सिवा अन्य देवालय भी थे जैसे 'देमितर' और 'कोरी' के जिनमे चाँदी तथा सोना चढाया जाता था । उनका पूजन केवल ग्रीकों के ही लिए सीमित था ।

सेमेटिक जातियो के समान कार्थेज-निवासी भी धर्म के बडे पक्के थे । कुछ देवताओ का केवल स्थानिक और सूर्यदेव जैसे कुछ का सर्वव्यापक महत्त्व था । लोक-सम्मानित देवताओ मे बआल हम्मोन, सम्भवत. 'एल' देवता का प्रतिरूप था और चन्द्रमा की प्रिया तानित देवी अशरत देवी की प्रतिरूपिणी थी । देवता नगर का रक्षक और देवी जीवन तथा सुख-सौख्य-प्रदायिनी मानी जाती थी । लोग देवी की अपार शक्ति के कायल थे । उनका एक देवता मौलाक भी था जिसे किसी जमाने में बच्चो की बलि दी जाती थी किन्तु आगे चलकर पशु-बलि का विधान हो गया । इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नही कि वहाँ के किसी देवस्थान मे मैथुन की प्रथा का प्रचलन था । मेलकार्त या मौलाक देवता के पुजारी ब्रह्मचारी रहते, शिर तथा दाढी मुड़वाते और खास ढंग के कपडे पहनते थे । उसके देवालय मे स्त्रियाँ तथा सुअर न जाने पाते थे और उसके क्षेत्र मे मैथुन सर्वथा वर्जित था । यही नही, दर्शक लोगो को भी यह आदेश दिया गया था कि वहाँ आने के तीन दिन पहले ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है । कार्थेज के लोगो मे पूजा के पशु, विशेषतः बैल की बलि चढाना आवश्यक माना जाता था । उसके सिवा चाँदी-सोना, वस्त्र तथा भोज्य पदार्थ भी चढाये जाते थे ।

कार्थेज वाले मरणोपरान्त जीवन के विषय मे विरक्त थे इसीलिए शवो की सुरक्षा की उन्हें चिन्ता न थी ।

अपने धर्म और विश्वासो पर अपार श्रद्धा रखने के कारण उनमे आपसी बन्धुत्व

और एकता का भाव अधिक स्थायी और दृढ था। उसमे इतना ही दोष रह गया था कि नवीन विचारो और सगठनो से लाभ उठाने की प्रेरणा जाती रही।

ग्रीस के लोग कार्थेज के शासन की प्रशंसा इसलिए करते थे कि उसमे राजसत्ता, कुलीन सत्ता और जनसत्ता तीनो का अच्छा सम्मिश्रण हुआ। यह धारणा यदि अक्षरश: नही तो अंशत: सत्य है। उनके विधान के अनुसार दो व्यक्ति जो अच्छे वश के और धनाढ्य हो, पूरी जनता द्वारा 'सपेत' पदो के लिए चुने जाते थे। उनका चुनाव पहले एक से तीन वर्ष के लिए होता था किन्तु बाद को जीवन भर के लिए हो गया। सेना पर तो उनका अधिकार न था किन्तु वे ही कार्यकारिणी सभा तथा जन-सभा को आमन्त्रित और उसका सभापतित्व करते तथा अन्तिम न्यायाधीश होते थे। वास्तविक शासन का सचालन तीस सफल व्यापारियो की स्थायी कार्यकारिणी सभा करती थी जो 'गेरुसिआ' कहलाती थी। वही सन्धि-विग्रह, सेना-नियोजन तथा उपनिवेशो का स्थापन और सम्भवत. निरीक्षण भी करती थी। तीसरी सस्था भी धनी व्यापारियों की थी जिसके सैकडो आजीवन सदस्य होते थे। यदि उसमे कोई स्थान खाली हो जाता तो पाँच सदस्यो की एक समिति उसकी पूर्ति कर देती थी। कार्थेज की सबसे बडी सभा 'जनसभा' थी। यदि सपेत और गेरुसिआ मे मतभेद होता अथवा कोई भयंकर समस्या उठ खडी होती तो सपेत अथवा गेरुसिआ समिति उसे आमन्त्रित करती और उसकी राय ले लेती थी। इसे कानून बनाने के भी कुछ अधिकार थे। उपर्युक्त पदाधिकारियो के अलावा सेनापति, आचाराध्यक्ष, कोषा-ध्यक्ष आदि के पद भी थे।

कार्थेज के निवासी मुख्यत व्यापारी थे अत उनको शान्ति रखने मे, अधिक दिलचस्पी थी, न कि राज्य-विस्तार मे। मजबूरी की दशा मे वे युद्ध ठानते थे। सेनापतियो पर उनकी कडी नजर रहती थी; क्योंकि उनकी धारणा थी कि सेनापतियो मे निजी स्वार्थ के लिए अपनी सैनिक शक्ति का दुरुपयोग करने की प्रबल प्रेरणा पायी जाती है। इसी के साथ यदि सेनापति को सेना पर यथेष्ट अधिकार न दिया जाय तो वह अपने कर्तव्यो का पूरा निर्वाह न कर सकेगा। अत. सेनापति के लिए जितने आवश्यक अधिकार थे वे सब उसे दे दिये जाते थे। किन्तु उसका चुनाव एक वर्ष अथवा निश्चित अवधि के लिए किया जाता था। यदि युद्ध मे वह असफल होता तो उसकी कडी जाँच होती और आवश्यकतानुसार दण्ड भी दिया जाता था।

कुछ विद्वानो की यह धारणा है कि आत्म-रक्षा, कृषि के विकास तथा बढती हुई रोमन जनता के निर्वाह के लिए प्रयत्न करते-करते रोमनो को इटली पर आधि-

पत्य स्थापित करना पड़ा किन्तु कार्थेजवालों से व्यापार के विकास के कारण ही उन्हे संघर्ष करना पड़ा। यद्यपि कुछ अंश तक यह सत्य है तथापि यह नही कहा जा सकता कि उनमें विजयैषणा एवं प्रभुत्व-स्थापना की लालना की कमी थी।

रोमनो की इटली-विजयो ने उनके हौसले को वढ़ा दिया। उन्हे यह भय रहता था कि जिस प्रकार कार्थेजवालो ने अफ्रीका और मध्य सागर के टापुओं पर अड्डे जमा दिये है उसी तरह इटली में भीं जमाने का वे प्रयत्न करेगे। इसीलिए उन्होने जितने समझौते उनसे किये लगभग उन सभी मे यह शर्त रखी कि इटली मे वे कहीं स्थापित हो जाने का प्रयत्न न करेगे। इसके सिवा इटली के समुद्री तट की रक्षा के लिए उन्होने फौजो के दस्ते रख दिये थे और उसके किनारे-किनारे उनके छोटे जहाज पहरा देते रहते थे। इधर कार्थेजवालो को भी भय था कि इटली पर प्रभुत्व स्थापित करने के उपरान्त रोमन लोग सिसली मे घुस आने का प्रयत्न करेगे। दोनो की मानसिक वृत्ति का परिणाम भयंकर हो सकता था।

आखिरकार झगड़े का सूत्रपात हो गया। सिसली में 'मेसेना' नाम का एक नगर दक्षिणी इटली के वहुत समीप वसा हुआ था। उसमे इटली के दक्षिणी प्रदेश से भगे हुए अथवा वहाँ से बरखास्त किये हुए सैनिकों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। सेराक्यूजके ग्रीक राजा ने उन पर आक्रमण किया। उससे डर कर मेसेना के एक दल ने कार्थेज से सहायता माँगी जो उसने यथाशीघ्र भेज दी। दूसरे दल ने रोमनो की मदद चाही जो उन्हे भेज दी गयी। रोमवाले यह नही चाहते थे कि कार्थेजवाले इटली के समीप कही जम पाये। युद्ध मे कार्थेज और सेरा-क्यूज़ वालो की पराजय हुई (२६४ ई० पू०)। सेराक्यूज के राजा ने रोमनो के साथ मेल कर लिया। इस युद्ध से रोमनों को विश्वास हो गया कि कार्थेजीनियनो से उनका तुरन्त सघर्ष अवश्यंभावी है तथा इस उद्देश्य से उनके लिए प्रबल जहाजी वेडा बनाना अनिवार्य है। दो-तीन वर्षो मे उन्होने करीव उतना ही वड़ा वेड़ा तैयार कर लिया जितना कि कार्थेजवालो का था।

रोम और कार्थेज मे पहला युद्ध २६४—२४१ ई० पू० मे, दूसरा २०९ से २०१ ई० पू० मे और अन्तिम तीसरा युद्ध १५३ से १४६ ई० पू० तक हुआ: पहले युद्ध का परिणाम हुआ कि जल और स्थल पर कुछ लडाइयो मे हारने पर भी रोमनों के जहाजी वेडे ने कार्थेज के बेड़े को नष्टप्राय कर दिया जिससे उन्हे सन्धि करने पर मजवूर होना पडा (२४१ ई० पू०)। कार्थेज को हर्जाने की वडी रकम देनी पडी और सिसली तथा उसके समीपस्थ टापुओ से हाथ धोना पडा। रोमनो में

आत्मविश्वास एव अपनी नौ-शक्ति का अभिमान बढ गया किन्तु दोनों राज्यों को यह ज्ञात हो गया कि युद्ध तब तक चलता रहेगा जब तक एक का दूसरे पर आधिपत्य स्थिर रूप से स्थापित न हो। सम्भव था कि द्वितीय युद्ध पहले ही आरम्भ हो जाता यदि उत्तरी इटली की गाल जाति के साथ रोम का भयकर युद्ध न छिड जाता और कार्थेजवालो को यह विश्वास न हो जाता कि मध्य सागर के टापुओ—सिसली, कारसिका और सार्डीनिया-पर अधिकार चले जाने मे जो क्षति हुई उसकी पूर्ति आवश्यक है। रोमनो ने कार्थेज के विरोध करने पर भी सार्डीनिया और कारसिका ले लिया था। उस क्षति की पूर्ति करने के लिए उन्होने स्पेन पर आक्रमण करना आवश्यक समझा। वे सोचते थे कि स्पेन की चाँदी और ताँबे की खानो से उनकी आर्थिक पूर्ति होगी और वहा के साहसी लडाको को अपनी सेना मे भरती करके स्थल-सेना की कमी दूर की जा सकेगी। कार्थेज के सेनानायक हेमिल्कर की धारणा थी कि जब तक इटली मे घुस कर रोमनो को स्थल-युद्ध मे हराया न जायगा तब तक अर्थ की सिद्धि न हो सकेगी। स्पेन मे हेमिल्कर को यथेष्ट सफलता मिली। उसने स्पेन के कुछ सरदारो से मैत्री-सी स्थापित कर ली। हेमिल्कर की मृत्यु के बाद सेनापतित्व का भार उसके पचीस वर्ष के पुत्र हेनीबाल को सोपा गया जिसका नाम आगे चलकर ससार के सुप्रसिद्ध सेनानायको मे हो गया।

जब कार्थेजवालो ने सेगेण्टम नगर पर जिसकी रक्षा का रोमनो ने वचन दिया था, आक्रमण किया तब दूसरा प्यूनिक युद्ध आरम्भ हो गया (२१९ ई० पू०)। रोमनो ने एक सेना कार्थेज और दूसरी स्पेन की ओर भेज दी। किन्तु हेनीबाल उसकी चिन्ता न करके अपूर्व चतुरता साहस और सावधानता से एक विशाल सेना के साथ पेरीनीज पर्वतमाला, रोन नदी और दुस्तर बर्फ से लदे आल्पस पर्वत को लाँघता हुआ एकाएक इटली मे घुस गया। उस अपूर्व उद्योग और साहस के कई कारण थे। मुख्य कारण था जहाजी बेडे की अक्षमता, उतनी बडी सेना को घोडो सहित ले जाने की अक्षमता। इसके सिवा उसे आशा थी कि गाल आदि जातियाँ, जिनको रोम दबा रहा था, मार्ग मे उसका साथ देगी और रसद आदि का प्रबन्ध भी हो सकेगा। तूफानो से रोमनो ने उसको रोकने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु एक न काम आया। इटली मे उसके साथ सिर्फ ३४ सहस्र सेना रह गयी थी। रोमनो की दो बहुत बडी सेनाओ को भी हेनीबाल ने विनष्ट कर दिया। हेनीबाल चाहता तो रोम को भी विध्वस कर देता किन्तु उसकी नीति थी कि इटली मे विद्रोह की आग भडका कर उसी मे रोमनो को स्वाहा कर दे। दो करारी पराजयो मे रोम का आतक

नष्ट हो गया और इटली की जातियों ने ही नही, सेराक्यूज ने भी सिसली मे विद्रोह कर दिया। हेनीवाल का दबदवा इतना बढ गया कि मकदूनिया का राजा पचम फिलिप भी उसका साथ देने के लिए आ गया। विपत्तियो के भयंकर घटाटोप से भी रोमनो का धैर्य और साहस न छूटा। केपुआ की रक्षा के लिए हेनीवाल ने रोम के सामने अपनी सेना ला खड़ी की। उसके पास न तो इतनी वड़ी सेना थी कि वह उसका अवरोध कर सकता और न प्राचीरो को तोडने के यन्त्र थे। फाटक बन्द करके रोम वाले चुप बैठे रहे। कुछ दिनो तक बेकार पड़े रहकर वह फिर दक्षिण को लौट गया।

धीरे-धीरे उन्होने इटली की जातियो का दमन कर लिया। सिसली पर फिर अधिकार स्थापित कर दिया। मकदूनिया के विरुद्ध रोम वालों ने ग्रीस मे विद्रोह की आग सुलगा दी जिससे त्रस्त होकर फिलिप पहले ही लौट गया था। रोमनो की गम्भीरता, अविचलता, धैर्य, साहस और वीरता से प्रभावित होकर मध्य इटली के निवासियो ने भी विद्रोह का प्रसंग न छेडा।

स्पेन मे पहले तो रोम वालो की पराजय रही किन्तु बाद को सेना बढ जाने से उनको विजय प्राप्त हुई और कार्थेज का प्रभाव वहाँ निरस्त हो गया (२०६ ई० पू०)। स्पेन को रोमनो ने दो सूबो मे विभक्त कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया (१९७ ई० पू०), जिसे कायम रखने के लिए उन्हे ऐसी बेईमानियाँ और युद्ध करने पडे जिनमे भयकर रक्तपात हुआ।

सौभाग्य से रोम की सेवा मे भी सीपिआ नामक एक सुयोग्य सेनानायक था। उसने पहले ही सफल नेतृत्व कर रोमनो को विजयी किया। फिर लौटकर वह अफ्रीका गया (२०५ ई० पू०) और अपनी नीतिकुशलता तथा सैनिक पराक्रम से कार्थेज वालो पर ऐसा आतंक फैला दिया कि हेनीवाल की सहायता करना तो दूर रहा उसको उन्हे कार्थेज की रक्षा के लिए बुलाना पडा। जामा के मैदान मे दोनो प्रतिभाशाली सेनापतियो का सग्राम हुआ। सीपिया की पैदल सेना तथा घोडो का रिसाला सख्या ही मे बडा न था वरन् युद्ध-कला मे भी सुशिक्षित था। कार्थेज की सेना नष्ट हो गयी जिससे व्याकुल होकर हेनीबाल ने सन्धि करने के लिए वहाँ के शासको से आग्रह किया (२०२ ई० पू०)। रोम वालो ने वहुत बडी रकम हरजाने की ली और उनको यह माननेके लिए बाधित किया कि वे दस जहाजो से अधिक समुद्री बेडा न रखे और बिना रोम की स्वीकृति के किसी से युद्ध न ठाने (२०१ ई० पू०)। दूसरे प्यूनिक युद्ध के महत्त्व और परिणामो के विचार से इसे प्राचीन युग का एक महा-युद्ध माना जाता है। क्रूरता की दृष्टि से रोमन ही दोष के भागी है। यद्यपि विवशता

के कारण अन्ततोगत्वा हेनीबाल की पराजय हुई किन्तु उसकी योग्यता और सेनापतित्व की दक्षता अलेक्जेण्डर, जूलिअस सीजर, नेपोलियन से कुछ अधिक ही मानी जाती है। कार्थेज से प्राण बचाकर हेनीबाल तृतीय एण्टिआकस के पास चला गया किन्तु ग्रीक सम्राट् अपनी अहमन्यता के कारण उसका उचित उपयोग न कर सका। निआर्कस के हारने पर रोम वालो ने हेनीबाल को माँगा किन्तु वह भागकर प्रूसिअस के पास बेथीनिया चला गया। रोम ने जब प्रूसिअस पर जोर डाला तब हेनीबाल ने विष खाकर प्राणान्त कर लिया (१८३ ई० पू०)।

तीसरा प्यूनिक युद्ध और कार्थेज का विध्वंस (१५६–१४६ ई० पू०)

रोम का सितारा बुलन्द था। ई० पू० २०० और १९० वर्ष के बीच मे ग्रीस, एशिआई कोचक तथा मध्य सागर के पूर्वी भाग पर रोमनो ने अपना आधिपत्य जमा लिया और मिस्र को अपनी छत्रछाया मे ले लिया। इसके बाद कार्थेज का अन्तिम काल आ पहुँचा। कार्थेज का पडोसी राज्य न्यूमीडिया जिसने रोमन लोगो से मेल कर लिया था, कुछ-न-कुछ झगडा उठाता रहता और रोमनो को कार्थेज के विरुद्ध उभारा करता था। उसको यह जलन और रोम को यह चिन्ता रहती थी कि कार्थेज की व्यापारिक निपुणता फिर उसे सपन्न बना रही है। वे दोनो देश इसी घात मे रहते थे कि कोई अच्छा बहाना मिल जाय तो कार्थेज का सदा के लिए अन्त कर दिया जाय। इधर हेनीबाल की ईमानदारी और शासन-प्रवीणता के कारण उसके शत्रुओ ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके रोम के अधिकारियो को उसके विरुद्ध उभाडा। परिणाम यह हुआ कि उसका देश से निष्कासन हो गया। कार्थेज के स्वार्थी व्यापारियो ने अपने स्वार्थ की सिद्धि मे पूर्ववत् सलग्न हो कार्य किया। किन्तु वे भी न्यूमीडिया के अतिक्रमणो से तथा रोमनो द्वारा उनके अनुकूल पक्ष ग्रहण करने से इतने परेशान हो गये थे कि उन्होने न्यूमीडिया पर चढाई कर दी। बस ऐसे ही अवसर की रोम प्रतीक्षा कर रहा था। यद्यपि न्यूमीडिया की विजय हो चुकी थी और कार्थेजवाले पराजित हो गये थे तथापि रोम ने कार्थेज पर आक्रमण कर दिया। कार्थेज वालो ने बडी अनुनय-विनय की, अनेक प्रकार से अपनी वफादारी के प्रमाण दिये किन्तु रोम ने कुछ ध्यान न दिया, क्योकि वह उसको समूल नष्ट करने पर तुला हुआ था। लाचार होकर कार्थेजवाले भी लडकर मरने को तैयार हो गये। कार्थेज का अवरोध चार वर्ष तक चलता रहा। भूख-प्यास तथा अन्यान्य क्लेशो को सहन करते हुए भी कार्थेजवालो ने शहर के भीतर और उनके साथियो ने बाहर से गोरिल्ला

युद्ध किया। अन्त मे रोमन दीवार तोड़कर नगर मे घुस पड़े, घोर रक्तपात तथा अग्निकाण्ड का ताण्डव हुआ। कार्थेज का पतन हो गया। केवल पचास हजार अस्थि-पंजर वाले प्राणी जीवित मिले जो गुलाम बनाकर बेच दिये गये। नगर जमीन से मिला दिया गया ताकि उसका नामोनिशान भी न रहे। कार्थेज के खँड-हरो मे रोम वालो की धूर्तता, निष्ठुरता और वर्बरता का ज्वलन्त प्रमाण संसार के लिए रह गया (१४६ ई० पू०)। कार्थेज की शक्ति के लोप हो जाने से मध्य सागर के निचले और पश्चिमी भाग पर तो रोम का अवाधित अधिकार हो ही गया, पर साथ ही पूर्वी भाग पर भी उनके अधिकार की अथश्री हो गयी।

रोम तथा कार्थेज के संघर्ष मे जव शिथिलता और शान्ति आ जाती थी तव रोमन लोग अपने आधिपत्य के प्रसार मे प्रवृत्त हो जाया करते थे। आल्प्स पर्वत से दक्षिणी इटली के समुद्र तट तक उन्होने अपना प्रभुत्व दृढ कर लिया था। स्पेन मे भी प्रसार और संगठन का काम होता रहा। इलीरिआ के समुद्री डाकुओ और अनेक ग्रीक नेताओं का रोम वालो ने दमन कर दिया। इस समय तक ग्रीक और फोनीशियनो का पश्चिम मे उच्छेद हो चुका था, अव पूर्व की समस्या छेडने मे कोई विशेप अड़चन न रही। इटली पर इपिरस के राजा पिरस के आक्रमण की कहानी भी पुरानी हो गयी थी; किन्तु मकदूनिया के राजा पचम फिलिप का हेनीवाल की सहायता के लिए आना रोमनों को खटकता था। तभी से वे ग्रीस की राजनीति मे अधिक दिल-चस्पी लेने लगे थे। फिलिप की वढती शक्ति और सीरिया के ग्रीक राजा एण्टिआकस तृतीय के सहयोग से मध्य सागर के पूर्वीय टापुओ तथा दक्षिणी ग्रीस पर अधिकार जमाने के प्रयत्नों को रोम अपने हितो के विरुद्ध समझता था। यद्यपि रोम ने मिस्र के टालमी राज्य को आश्वासन दे दिया था कि वे उसका अनहित न होने देगे तथापि उसको कार्य-रूप मे परिणत करने का कोई उपाय न हो सका। जव फिलिप ने एथेन्स पर आक्रमण किया तव मित्र होने के नाते रोम ने शस्त्र उठाना आवश्यक समझा। रोम के साम्राज्यवादी पहले से ही इस वात का भय फैला रहे थे कि फिलिप इटली पर आजकल मे आक्रमण करने ही वाला है। यद्यपि इसकी विशेष सम्भावना न थी तथापि उस आन्दोलन से रोम मे युद्ध के लिए एक वातावरण तैयार हो गया था। यह जान पड़ने लगा कि अलेक्ज़ेण्डर के उत्तराधिकारी ग्रीक राजाओ से रोम का सघर्ष अनिवार्य है।

ग्रीस वालों का स्वभाव रोम वालो से अनेकांशो में भिन्न था। सवसे विचित्र विभिन्नता तो यह थी कि भयंकर स्थिति उत्पन्न होने पर ग्रीस वाले ऐक्य स्थापन

करने मे विलकुल असमर्थ रहते थे। इसके विपरीत रोम वाले उस दिशा मे विशेष सामर्थ्य प्रकट करते थे। वस्तुत रोम को ग्रीस के साम्राज्य के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने का कोई न्यायसगत अधिकार न था किन्तु रोम की साम्राज्य-विस्तार की नीति ने उनको हठात् इस ओर प्रेरित किया। ग्रीस पर जब रोम ने आक्रमण किया तो वहाँ के राज्य तटस्थ, निःसग और अकर्मण्य रहे (२०० ई० पू०)। फिलिप की सेना दो बार पराजित हुई जिससे हताश होकर उसने सन्धि की याचना की। सन्धि इस शर्त पर हुई कि मकदूनिया वाले ग्रीस के राज्यो मे हस्तक्षेप न करे ओर रोम की आज्ञा प्राप्त किये विना उनसे युद्ध न छेडे। उन राज्यों से अपनी सेनाएँ और अपने प्रतिनिधि हटा ले, अपना समुद्री बेडा रोम के सुपुर्द कर दे। साराश यह कि ग्रीस की एकता जिसे मकदूनिया के फिलिप प्रथम और अलेक्जैण्डर ने स्थापित किया था, समाप्त हो गयी। राज्यो को स्वतन्त्र कर देने की घोषणा मे उनकी स्वतन्त्रता की इतिश्री गुप्त रूप से निहित थी (१९४ ई० पू०)। तीन वर्ष व्यतीत होने न पाये कि रोम की सेनाएँ फिर ग्रीस मे जा पहुँची। इसका कारण यह था कि इटालियन लीगो ने रोम की आक्रान्ति मे ग्रीस की रक्षा के लिए सीरिया के सम्राट् तृतीय एण्टिआकस को निमन्त्रित किया। एण्टिआकस ने सिन्धु नद से मध्य सागर तक ग्रीक आधिपत्य की रक्षा करने तथा पार्थिआ के अर्धशिक्षित खानाबदोशो के आक्रमणो को रोकने मे अपने उत्साह, कर्मठता और योग्यता का अच्छा प्रदर्शन किया। इसी से ग्रीक उसे अपना उद्धारकर्ता-सा समझने लगे थे। उसने मकदूनिया के पचम फिलिप से मिस्र के टालमियो के विरुद्ध समझौता भी कर लिया था जिसके प्रतिकार के लिए रोम ने टालमी राज्य को सहायता देने का आश्वासन दिया था। एण्टिआकस ने अपना आधिपत्य सीरिया ओर फिलिस्तीन पर स्थापित करके पचम टालमी से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया।

इटालियन लीग के निमन्त्रण को स्वीकार कर एण्टिओकस ने दस सहस्र सेना के साथ ग्रीस मे पदार्पण किया। अपनी परिपाटी के अनुसार ग्रीस के राज्यो ने उसकी सहायता करना तो दूर रहा उसके प्रति या तो उदासीनता या विरोध का प्रदर्शन किया। मकदूनिया का ग्रीस पर आधिपत्य जमाने का स्वप्न अभी तक भग न हुआ था। ग्रीस के अन्य राज्य इस भ्रम मे थे कि रोम की छत्रछाया मे वे स्वतन्त्रता का सदैव उपभोग करते रहेगे। फलत एण्टिआकस को उनसे कुछ सहायता न मिली। उसके विरुद्ध रोम ने बीस सहस्र सेना भेजी। थर्मापली के युद्ध मे एण्टिआकस की सेना विनष्ट हो गयी (१९२—९१ ई० पू०) और ग्रीस को उसके भाग्य पर छोड

कर वह वापस चला गया। इटालियन लीग विच्छिन्न कर दी गयी। ग्रीस के राज्यो की काल्पनिक स्वतन्त्रता के विलीन होने की दूसरी मजिल आ गयी।

रोम ने अपनी विजय से यथासम्भव लाभ उठाना उचित समझा। अत रोम के प्रवल बेड़े ने पूर्वी टापुओ के जहाजो के सहयोग से एण्टिआकस के जहाजी बेडे का विध्वस कर दिया (१९० ई० पू०)। उसके साथ ही रोम की सेना एशियाई कोचक मे उतर पडी। यह रोम का एशिया मे प्रथम पदार्पण हुआ। यद्यपि एण्टि-आकस की सेना रोमन सेना से दुगुनी से अधिक थी तथापि मेगनोसिया के मैदान मे रोमनो के नवीन युद्ध-कौशल के कारण उसका निपात हो गया। एण्टिआकस सन्धि करने पर मजबूर हो गया। उसको अपना सारा समुद्री बेडा, टारस (तूर) पहाड का पश्चिमी भू-भाग तथा बहुत बडी रकम हरजाने मे देनी पडी। इससे वचन ले लिया गया कि वह हलिअस नदी को कभी पार न करेगा। एशियाई कोचक सेल्युकस के वंशजो से छिन गया। चौबीस वर्ष के बाद पार्थियनो ने, जो सीथियन जाति की एक प्रवल शाखा थी, चतुर्थ एण्टिआकस से मेसोपटेमिया और बेबीलोनिया छीन लिया। सेल्यूकस वश के साम्राज्य का अन्त हो गया यद्यपि उसके वंशज सीरिया मे येनकेन प्रकारेण राज्य करते रहे। ग्रीक लोगो के रजवाडे रोम के आधिपत्य मे चले गये। एण्टिओकस चतुर्थ के आक्रमण से घबराकर मिस्र का टोलेमी, जिससे रोम की मित्रता थी, रोम की छत्रछाया मे आ गया। गृह-कलह से (१६८ ई० पू०) टालमी वंश और मिस्र राज्य जर्जरित होकर रोम का अधिकाधिक आश्रित हो गया। रोम के ग्रीक प्रतिद्वन्द्वी निरस्त हो गये और दूसरा प्रतिद्वन्द्वी कार्थेज मृत्यु-शय्या तक पहुँच गया, उसका केवल शव-संस्कार रह गया। रोम ने आश्चर्यजनक प्रगति से अपना आधिपत्य तो स्पेन से सीरिया और ग्रीस तक बढा लिया किन्तु उसी के साथ-साथ उसकी समस्याओ की भी अपार वृद्धि होती गयी। आधिपत्य के अन्तर्गत अनेक विधान, विविध प्रकार की सन्धियाँ और समझौते आते थे। राज्यो के अनेक प्रकार के आपसी झगडे तथा आपसी दलबन्दियो के सघर्ष सुलझाने का भार उसके ऊपर आ पड़ा। कभी-कभी व्यवस्था करने मे, अव्यवस्था सुलझाने से उलझने और उपकार से अपकार उत्पन्न हो जाता था। रोमनो को बडे साम्राज्यो के शासन का न तो कोई अनुभव ही था, न परम्परागत ज्ञान ही। यह स्पष्ट-सा प्रतीत होता था कि ग्रीस वालो की तरह रोम वाले भी नगर राज्य के शासन के ही अभ्यस्त थे किन्तु विशाल राज्य अथवा साम्राज्य के शासन की कला से अनभिज्ञ थे। इसीलिए वे निर-

न्तर अपनी अयोग्यता के प्रमाण देते रहे। वे ईरान की नकल करने का प्रयत्न तो समय-समय पर करते थे किन्तु प्राय. असफल ही होते रहे।

रोम साम्राज्य का मानचित्र तो ईसा के पूर्व द्वितीय शती में ही तैयार हो चुका था अत. कोई विशेष चमत्कारपूर्ण विस्तार वाद को न हुआ। फिर भी विजित प्रान्तो की सीमाओ की रक्षा और उनके अतिक्रमण करनेवालो के दमन करने, तथा शान्ति कायम रखने के लिए उन्हे समय-समय पर युद्ध करने और साम्राज्य की सीमाओ को विस्तृत एव दृढ करने के लिए अपने आधिपत्य का क्षेत्र बढाना आवश्यक सा हो गया। उन घटनाओ मे से कुछ का सक्षिप्त वर्णन अनुचित न होगा।

कार्थेज विनष्ट होने के वाद उसके पड़ोसी राज्य न्यूमीडिया ने जो उत्तरी अफ्रीका मे था, अच्छी उन्नति की, विशेषत: अनाज के व्यापार से। ११८ ई० पू० मे राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर वहाँ गृहयुद्ध छिड गया। रोम की सेनेट से झगटा निपटाने की प्रार्थना की गयी। रोम ने उस राज्य के दो टुकड़े कर दिये। औरस पुत्र को अधिक समृद्ध और दत्तक पुत्र जुगार्था को साधारण अंश मिला। दोनो में युद्ध छिड गया। जुगार्था को सफलता तो मिली किन्तु उस युग मे उसके प्रतिपक्षी इटोलियनो का कत्लेआम हुआ। रोम ने जुगार्था से युद्ध छेड दिया। बडे साहस और वीरता से जुगार्था लडा किन्तु अन्त मे छल से पकड़ कर मार डाला गया (१०५ ई० पू०)। कार्थेज की शत्रुता का दुष्परिणाम न्यूमीडिया को भोगना पडा।

काले समुद्र के दक्षिण मे पाण्टस राज्य था। उसके युवक राजा मिथ्रनीज छठा (१२०—१६३), जिसमे फारस तथा ग्रीस का रक्त प्रवाहित था, क्रीमिया के नगरो की प्रार्थना पर सीथियन आदि से उनकी रक्षा करने गया। उसको ऐसी सफलता मिली जिससे उसकी शक्ति और साधनो मे खूब वृद्धि हुई। रोम ने क्षुब्ध होकर उससे राज्य का वह भाग छीन लिया जो उसके पिता को दिया गया था। झगड़े की जड पड गयी। ग्रीक नगरो मे मिथ्रनीज का साथ दिया। रोम को काफी परेशानी उठानी पडी। रोम का पाण्टस से युद्ध पुश्त-दर-पुश्त चलता रहा।

रोम (२)

टाइवर नदी के दक्षिणी तट के लैटिन कृषक सैनिको ने रोम मे सस्थापित नगर-राज्य को विशाल और प्रवल साम्राज्य का शासन-केन्द्र वना दिया था। उनके उत्साह, उद्योग, विजयैषणा, साहस और वीरता का वह एक देदीप्यमान और गौरवपूर्ण प्रमाण है। किन्तु इस साम्राज्य-विस्तार का रोम पर जो प्रभाव पडा

वह मनोरंजक, ज्ञानवर्धक और उपदेशप्रद है। उसके हानि-लाभ का विवरण और सन्तुलन इतिहास के प्रेमियो के लिए अत्याकर्षक रहा है। साम्राज्य के विकास के साथ-साथ गणतन्त्र राज्य द्वारा अपने स्वरूप को भूल जाने की आशका, अपने व्यक्तित्व एव वशिष्ट्य की रक्षा के लिए संघर्ष और छटपटाहट, और अन्त मे चोला वदल देना, नवोदित समस्याओ के लिए नये-नये उपाय निकलना, उनकी सफलता और विफलता, साम्राज्य के अनुभव, विभव और पराभव की कथा, यह सव घटनाक्रम एक कुतूहलवर्धक महाकाव्य-सा है।

जव तक रोम के समीपस्थ प्रदेश मे आत्मरक्षा के लिए रोमनो का युद्ध होता रहा तव तक उनके कृषिमूलक सामाजिक और आर्थिक जीवन मे अधिक क्रान्ति की सभावना कम थी किन्तु ज्यो-ज्यो राज्य वढता गया और कृपको को खेती-वारी छोडकर अधिकाधिक समय तक बाहर रहने की आवश्यकता वढती गयी त्यो-त्यो उनका प्राचीन सगठन और जीवन अस्त-व्यस्त होता गया। कृषक और ग्रामीण जीवन की सरलता, एकरसता और उसके दैन्य से उन्हे उत्तरोत्तर अरुचि होने लगी। नागरिक जीवन के प्रलोभन गाँवो से किसानो को खीचते चले गये। गार्हस्थ्य जीवन, पिता, भ्राता, पुत्रादि के सम्वन्घ शिथिल होते गये। स्त्रियो ने यथासाध्य कृषि, गोरक्षा का काम चलाया किन्तु वे वढ़ती हुई अव्यवस्था का सीमित अंश तक ही प्रतिकार कर सकी। कृषि-कार्य के लिए गुलाम सुलभ दिखाई पडे। उनकी सख्या रोम प्रदेश के क्षेत्रो मे क्रमश· वढती चली गयी। फिर भी वहाँ-का पदा किया हुआ अनाज उतनी सस्ती दर पर न विक सकता था जितनी पर साम्राज्य के प्रान्तो से प्राप्त हुआ अन्न। कृपि की लाभहीनता से जनता मे वेकारी, गरीबी और असन्तोप वढने लगा। उसमे किसानो के साथ गुलाम भी शामिल हो गये। किसान कर्ज और सूद के वोझ में घवराकर अपनी भूमि बेचने लगे जिसे खरीदकर उस पर अमीर आलीशान मकान वनवाते और वाग-वगीचे लगवाते या चरागाह बना लेते थे।

रोम मे चारो ओर से लूट-पाट का माल तथा करो, महसूलो और खानो से प्राप्त धन-द्रव्य आने लगा जो उत्तरोत्तर वढता गया। नये प्रान्तो का व्यापार, ठेकेदारी और महाजनी रोम के व्यापारियो, अफसरो और सेनानायको के हाथ मे आती गयी जिससे पूंजीपतियो का समुदाय वृद्धि और समृद्धि प्राप्त करता गया। धन के वल पर वे राजनीति के क्षेत्र मे अधिकाधिक प्रभाव डालने लगे और उनमे अनेक प्लीविअन लक्ष्मीपति पेट्रीशिअनो मे सम्मिलित कर लिये गये। ये नवजात पेट्रीशियन पुरानो से भी अधिक अहम्मानी, अभिमानी होकर प्लीविअनो को नीची

निगाह से देखते थे जिससे प्लीबिअनों को क्षोभ और रोष होता था। अमीर लोग गुलामों की सेवा करने के लिए अधिकाधिक संख्या में नौकर रखने लगे जिससे रोम में उनका समुदाय बहुत बढ़ गया। अमीर बड़े ऐश आराम का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी स्त्रियां भी बड़े सज-धज से रहती और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी। उनके रेशमी वस्त्र, शृंगार, मोती और रत्नों के आभूषणों को देखकर प्राचीन सरलता के प्रेमी दुःखी, लज्जित और क्षुब्ध होते थे।

गरीबों के वोट प्राप्त करने के लिए अमीर लोग विविध उपायों का अवलंबन करते थे। वे उनको रिश्वत देते, सस्ता और कभी बिना मूल्य भी अन्न वितरण करते और उनके मन-बहलाव तथा विनोद के लिए खेल-तमाशों और उत्सवों का आयोजन करते थे। उन खेलों में सबसे प्रसिद्ध रंगागण (एम्फी थियेटर) के खेल थे जिनमें शस्त्रधारी आपस में अथवा भयंकर हिंसक पशुओं के साथ आमरण द्वन्द्व युद्ध करते थे। उन रक्तारक्त पाशविक प्रदर्शनों के लिए विजित जातियों के हृष्ट-पुष्ट बन्दी और गुलाम बड़े उपयुक्त सिद्ध होते थे। उन प्रदर्शनों से लोगों में रक्तप्रियता का दोष तो बढ़ ही सकता था किन्तु उन क्षणिक उपायों से उनके क्लेश और गरीबी की समस्या की पूर्ति असंभव थी। स्वतन्त्र जनता की शिकायतें बहुत थी किन्तु गुलामों की तो परिस्थिति सर्वथा दयनीय और उनका जीवन सतत यातनामय था। जनसत्ता का ढकोसला चलता चला जा रहा था किन्तु जनता दीन और क्षीण होती जाती थी। उस दुःखद परिस्थिति में केवल कृषक और गुलाम ही नही वरन् कारीगर और श्रम-जीवी भी ग्रस्त थे। रोम प्रदेश में ही नहीं वरन् सारे इटली तथा रोमन उपनिवेशों में भी इस कारण वैसी ही दशा हो गयी थी। रोम का साम्राज्य, उनकी धाक और वैभव बढ़ रहा था किन्तु इटली की जनता का ह्रास और पतन जारी था। विचित्र विडम्बना थी।

विजित प्रदेशों की परिस्थिति और भी शोचनीय थी। अग्निकाण्ड, हत्या-काण्ड, कैद और गुलामी से जो जीवित रह जाते उनको लूटने, खसोटने के लिए रोम के अफसर, व्यापारी, जमीन अथवा लगान के ठेकेदार थे और सूदखोर उनका खून चूसते थे। युद्ध की लूट का माल सेनानायक और सैनिक बाँट लेते और शान्ति स्थापना होने पर उपगृत समुदाय भी जोक की तरह जनता से चिपट जाते थे। रोम राज्य को उतना लाभ न होता था जितना उसके नौकरों और पिछलग्गुओं को होता। विजित प्रजा को पारस वालों तथा ग्रीकों का जमाना याद आता था जब कि

उनका जीवन अनुपातत अधिक शान्त और बहुत सुखी तो नही किन्तु सहनीय तो था ही।

तत्कालीन परिस्थिति पदाधिकारियो और पूंजीपतियो के अनुकूल थी। वास्तव मे शासन यन्त्र भी उन्ही के हाथ मे था। इसीलिए उसको बदलने की उनको न तो कोई चिन्ता थी और यदि कभी किसी को होती भी थी तो उनको साम्राज्य की समस्या को अच्छी तरह समझने और उसे हल करने का कोई उपाय सुझाई न पडता था। स्वार्थ और ज्ञान-शून्यता तथा अनुभवहीनता ने मिलकर रोम के शासको को स्तब्ध कर रखा था। रोम की स्थिति के सुधार मे यदि कोई मर्यादा-स्थापक या निषेधात्मक कानून कभी बनाये जाते थे तो उनकी कोई परवाह न करता और कार्य रूप मे वे परिणत न होने पाते थे। साराश यह कि रोम-साम्राज्य के प्रदेश और प्रान्त भी दरिद्रता और दीनता के गर्तावर्त मे फँसते चले जाते थे।

सबसे विलक्षण बात तो यह थी कि विधान के अनुसार राजनीतिक अधिकार जनसभा और जनता के हाथ मे थे किन्तु व्यवहार में वे असमर्थ थे। पेट्रीशियनारूढ सेनेट ही उसका पूर्ण प्रयोग और उपयोग करती थी। किन्तु मजिस्ट्रेट (कान्सल), उपकान्सल को अधिकार थे कि यदि वे चाहे तो सेनेट के परामर्श के बिना जनसभा में जो प्रस्ताव चाहे भेज दे। युद्धो के सचालन मे जो सफलताएँ सेनेट ने प्राप्त की थी तथा उसके सदस्य पूर्व पदाधिकारी, अनुभवी एव सामाजिक परम्परा द्वारा प्रतिष्ठित होने के कारण, उसका बहुत रोब और दबदबा था। फिर भी विधान के अनुसार उसकी शक्ति जनसभा से कम मानी जाती थी।

जनता की बढती हुई गरीबी और असन्तोष ने उसमे एक क्रान्तिगर्भित वातावरण उत्पन्न कर दिया। उसको ऐसे साहसी नेता की आवश्यकता थी जो उसका पथ-प्रदर्शन कर सके। उसे वैसा नेता प्रतिभाशाली टाइबीरिअस ग्रेकस, जो सुप्रसिद्ध सेनापति और विजेता सीपियो का साला था, मिल गया। १३३ ई० पू० मे जब वह ट्राइब्यून के पद पर नियुक्त हुआ तब उसने किसानो की दुर्दशा दूर करने के लिए जनसभा में सरकारी भूमि के पुर्नवितरण और किसानो के सरक्षण के लिए कुछ प्रस्ताव उपस्थित किये और स्वीकृत भी करा लिये। यद्यपि प्रस्ताव सीमित और साधारण थे तथापि सेनेट मे रोष इतना बढा कि सेनेट वालो ने उसका वध कर दिया (१३० ई० पू०)। सात वर्ष के पश्चात् उसका छोटा भाई ट्राइब्यून नियुक्त हुआ। उसने ऐसे पूंजीपतियो को जो सेनेट के सदस्य न हो सके थे, एशिया मे लगान वसूल करने के ठेके दिलवाकर तथा लौटे हुए सूबो के उच्च पदाधिकारियो के विरुद्ध

भ्रष्टाचार की जाँच कराने और अपराधी को दण्डित करने का अधिकार दिलाकर अपनी ओर मिला लिया। इसके बाद सेनेट के सूबेदार नियुक्त करने तथा लगान वसूली के नियन्त्रण के अधिकार सीमित कर दिये गये। रोम की गरीब जनता को मासिक अनुदान देकर तथा सस्ते दाम पर अन्न देने के नियम बनाकर उसने मिला लिया। इटली के निवासियों को रोम की नागरिकता के अधिकार दिलाने का वादा करके उनकी भी सहानुभूति प्राप्त करने का जब उसने प्रयत्न किया तब उपद्रव होने लगे जिससे उसका भी वध हो गया (१२३ ई० पू०)। यद्यपि भूमि-सम्बन्धी सुधार कुछ अपने दोषों के तथा विरोध के कारण असफल रहे तथापि जनता में जाग्रति और अपने अधिकारों की चेतना उत्पन्न हो गयी। उसके सिवा, रोमन विधानों के दोषों की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हो गया।

जुगार्था (न्यूमीडिया) के युद्ध में पहली रोमन सेना के सेनापति कान्सल के घूस खा लेने के कारण सेना के विनष्ट हो जाने, उत्तरी इटली में ट्यूटन और गाल जातियों के सफल आक्रमणों, और रोमन सेना की पराजयों के कारण रोम की जनता में बड़ी सनसनी फैली और हंगामा मचा। इस पर जनसभा ने सेनेट द्वारा नियुक्त सेनापति की अवहेलना करके स्वयं मेरिअस नामी एक किसान नागरिक को सेनापति बनाया। मेरिअस ने न्यूमीडिया और इटली के आक्रमणकारियों को परास्त कर शान्त कर दिया। उससे वह ऐसा लोकप्रिय हो गया कि छः बार निरन्तर वह ही कान्सल निर्वाचित हुआ। जनसभा का सेना पर अधिकार स्थापित हो गया और सेना के संगठन तथा प्रबन्ध में ऊँच-नीच का भेद मिटा दिया गया। मेरिअस यद्यपि योग्य सेनापति था किन्तु वह राजनीति-कुशल न था और वह अपने सहयोगी नेताओं तथा अनुयायियों के औद्धत्य का नियन्त्रण न कर सका। रोम में क्रान्तिकारियों के उपद्रव तथा अनाचार से लोग व्याकुल हो उठे। परिणाम यह हुआ कि उपद्रवियों का दमन करने के लिए मेरिअस को शस्त्र उठाने पड़े और सेनेट ने उन कानूनों को जो आतंक तथा बलप्रयोग द्वारा पास हुए थे रद्द कर दिया।

उपर्युक्त संघर्ष से चार बातें स्पष्ट जान पड़ने लगीं। पहली यह कि कान्सल के चुनाव में सेनापतित्व की योग्यता होना विशेष लक्षण-सा हो गया। दूसरी यह कि रोम के नागरिक इटली वालों को नागरिकता के अधिकार देने के विरुद्ध थे। तीसरी यह कि राजनीतिक सुधार अथवा परिवर्तन के लिए उपद्रव तथा नृशंसता का प्रयोग होने लगा। चौथी यह कि सर्वोपरि शासनिक शक्ति की प्राप्ति के लिए सेनेट और जनसभा में, विद्वेषात्मक, भयंकर और अमर्यादित विग्रह की अनि-

चार्यता स्पष्ट हो गयी। गणतन्त्र राज्य के अन्तिम दिनों मे उपर्युक्त समस्याओ के अनुकूल अथवा प्रतिकूल सेनापतियो, धनिको, राजनीतिक व्यवसायियो, तथा जनता की दलबन्दियाँ बनती-बिगड़ती रही। सेनापति सेला सेनेट का पोषक और मेरिअस जनता का समर्थक था। मेरिअस के बहिष्कृत हो जाने पर सेला ने सेनेट के अधिकार स्थापित कर दिये और जनसभाओ की अवहेलना की। जब वह युद्ध करने के लिए एशियाई कोचक चला गया तब रोम के सेनेट और जन सभा के प्रतिद्वन्द्वियो में खून खच्चर होने लगा। उस अवसर पर जनसभा के निर्वाचित सेनापति के नाते मेरिअस ने आकर सेनेट के पोषको का भयकर बध करा दिया। युद्ध से जब सेला लौटा तब तक मेरिअस मर चुका था। सेला ने अब सभा के पोषकों से और भी भयंकर बदला चुकाया और जनता की सेना को परास्त करके स्वय डिक्टेटर बन बैठा। उसने सेनेट की शक्ति की पुनः स्थापना की (८२ ई० पू०)।

सेला की मृत्यु के उपरान्त जनसत्ता को एक पोषक मिल गया। यह सुयोग्य और प्रबल सेनापति पाम्पे था। पाम्पे को स्पेन, पूर्वी मध्य सागर और एशियाई कोचक मे जो अभूतपूर्व सैनिक सफलताएँ प्राप्त हुई उनसे उसकी धाक और शक्ति बहुत बढ गयी। पाम्पे ने सेला के बनवाये हुए कानून रद्द करा दिये (७०—६९ ई० पू०)। संयोग से पाम्पे का सम-सामयिक जूलिअस सीजर हुआ, जो मेरिअस का भतीजा था। उसने पाम्पे का पूर्ण रूपेण समर्थन किया। पाम्पे के विदेशों मे जाने के कारण रोम मे जूलिअस सीजर नेतृत्व करता रहा और अपनी वाग्मिता से लोक-प्रियता बढाता रहा। उसका एक पेट्रीशियन मित्र था, केटलीनि, जो कान्सल होने के लिए इटली भर मे विद्रोह की अग्नि भडकाने का षड्यन्त्र करता था। सिसरो ने, जो अपने युग का सबसे प्रभावशाली वाग्मी और सुशिक्षित नेता था, इन षड्-यन्त्रो को निष्फल कर दिया और अनेक षड्यन्त्रकारियो को प्राणदण्ड देकर शान्ति स्थापित कर दी। उसे घोर सन्देह था कि सीजर भी उसमे गुप्त रूप से सम्मिलित था। कोई स्पष्ट प्रमाण न मिलने के कारण सीजर बच गया।

सयोग से पाम्पे उसी समय पूर्व से लौटकर आ गया। आते ही उसने अपनी सेना वितरित कर दी। उसे आशा थी कि उसकी सेवाओ के उपलक्ष्य मे उसके सैनिको को भूमिदान मिलेगा और राज्यो के साथ उसके किये हुए समझौते स्वीकृत हो जायेगे। किन्तु सेनेट ने दो वर्ष तक उसके प्रस्तावो को लटका रखा जिससे वह क्षुब्ध हो गया। सीजर ने उसके प्रस्तावो को स्वीकृत करा देने का आश्वासन देकर उसे मिला लिया और दोनो ने क्रीसस नाम के समृद्धशाली व्यक्ति को भी साथ ले लिया। वह सिसरो

को भी मिलाना चाहता था किन्तु उसमे उसे सफलता न हुई। चुनाव मे सीजर कान्सल हो गया। अपने वायदे के अनुसार उसने पाम्पे की माँगे तथा भूमि सम्बन्धी कुछ प्रस्ताव सेनेट और जनसभा मे रखे। जब उनके पास कराने मे अधिक विरोध हुआ तब उसने पाम्पे के सैनिको को जो रोम मे थे, शस्त्रबल के प्रयोग के लिए उत्ते-जित किया। आतक और त्रास दिखाकर यथेष्ट प्रस्ताव पास करा लिये गये। सीजर ने अनुभव कर लिया कि बिना एक सबल सेना की सहायता के उसका भविष्य अनिश्चित रहेगा। उसने अपने सैनिक नेतृत्व की परख स्पेन मे की थी जिससे उसका आत्म-विश्वास बढ गया था। उसकी इच्छा पूर्ण हुई जब उसको इलीरिआ और गाल की सूबेदारी मिल गयी।

गाल उस प्रदेश को कहते थे जिसमे आजकल फ्रास और बेल्जियम सम्मिलित है। वहाँ कई जातियो के लोग रहते थे जिनमे केल्ट, लाइजरिअन, जर्मन आदि थे। जिस समय रोमनो से उनका सम्पर्क हुआ उस समय कम से कम पचास कबीले गाल मे रहते थे। प्राय वे आपस मे लडते और सघर्ष करते रहते थे जिसका सम्भवत: परोक्ष उद्देश्य विशाल सगठन होगा। फलत अरवर्नी नामक कबीलो के आक्रमणो से पीडित होकर मसिलिया (मारसेई)के व्यापारियो ने रोम से सहायता की प्रार्थना की। सयोग से दक्षिणी फ्रास की ओर रोमनो का ध्यान विशेष रूप से इसलिए आकर्षित हुआ कि कार्थेज के सेनानायक हेनीबाल ने स्पेन से उसी प्रान्त को मझाकर इटली पर आक्रमण किया था। इटली को स्थल मार्ग से स्पेन जाने के लिए दक्षिणी फ्रास होकर जाना पडता था। मेसिलियनो का निमन्त्रण स्वीकार कर रोमनो ने वहाँ सेना भेजी जिसने लाइजरियन और अरवर्नी कबीलो को हराकर दक्षिणी फ्रास पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया (१२५--१२१ ई० पू०)।

गाल के निवासी असभ्य न थे। यद्यपि साधारण लोग लेखन-कला मे अपरि-चित्त थे तथापि उनके धार्मिक नेता अपने कामो मे ग्रीक लिपि का प्रयोग करते थे। गाल के निवासी अच्छी और मार्जित भाषा बोलते और वीर काव्य रचते थे। धार्मिक विषयो मे उनके नेता ड्रूइड लोग थे जिनका जनता के ऊपर अच्छा प्रभाव था और वे धर्म तथा शान्ति की रक्षा के लिए समझौते से लेकर बहिष्कार, प्राणदण्ड आदि अन्तिम दण्ड तक देने का अधिकार रखते थे। गाल के कुछ कबीलो पर राजा किन्तु अधिकतर सामन्त राज्य करते थे। वहाँ शासनिक संस्थाएँ तथा पदा-धिकारी भी काम करते थे। उत्तरी यूरोप और पश्चिमी मध्य सागर तथा स्पेन का व्यापार उनके ही द्वारा अधिकतर होता था। व्यापार जलमार्ग और स्थलमार्ग

से भी होता था जिसके लिए उन्होंने अच्छी खासी सडके बना ली थी। लोहे के काम मे वे स्पेन वालो से कम न थे। कृषिकर्म मे तो वे रोम वालो से भी बढे-चढे थे। गाल देश को प्रकृति ने इटली से अधिक सपन्न और उपजाऊ बनाया था। उनकी सेना, विशेषत. घुडसवारो के रिसाले, रोम वालो से भी अच्छे थे, साज-सामान भी अच्छा था। किन्तु अनुशासन और रणकौशल मे वे इतने अच्छे न थे।

जिस समय जूलिअस सीजर सूबेदार (कान्सल) होकर वहाँ गया (५८ ई० पू०) उस समय रोमनो के मित्र एडुई कबीले पर अरवर्नी और सीकानी के कबीले सयुक्त आक्रमण कर रहे थे। आपसी कलह के सिवा दूसरा सकट था सुएवे जाति के खानाबदोशो का। जर्मनी की ओर से गाल पर धावो का वेग उत्तरोत्तर बढ रहा था। एडुई कबीले ने रोम से सहायता की प्रार्थना की जिसको जूलिअस सीजर ने जो महत्वाकाक्षी था, प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अपनी सेनाएँ सचालित कर दी। शीघ्रता से बढकर पहले तो उसने एडुई प्रदेश मे घुसने वाले हटवेटाई खानाबदोशो को हराकर पीछे हटा दिया। उसके बाद उसने सुएबी दल के नेता एरिओविस्टस को कर्न के समीप ऐसा परास्त किया कि वे भाग खड़े ही नही हुए वरन् उनका दल ही छितर-बितर हो गया। जिससे दीर्घकाल के लिए राइन सीमान्त से आक्रमण की आशका जाती रही। उसके उपरान्त धीरे-धीरे उसने बैल्जिक, गालिक तथा राइन नदी के आसपास के बचे-खुचे खानाबदोशो का दमन किया। गाल मे ही नही उसने ब्रिटेन के दक्षिणी पूर्वी तट पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसका सबसे भयकर और निर्णायक युद्ध अरवर्नी कबीले के योग्य राजा, कुशल सेनानायक वर्सिजटोरी से हुआ जिसकी अध्यक्षता मे गाल के रोमनो से असन्तुष्ट कबीलो ने विद्रोह ठाना। पहले तो सीजर को गर्गोविआ मे हार उठानी पडी किन्तु अन्त मे एलेसिआ मे बुरी तरह से घिरकर वर्सिजटोरी को हथियार रख देने पडे। इस विजय से गाल पर रोमनो का अबाधित आधिपत्य स्थापित हो गया, और जूलिअस के सेनापतित्व तथा योग्यता की धाक चारो ओर जम गयी (५१ ई० पू०)। सीजर ने गाल का दमन उसी नृशसता, क्रूरता, हत्या और आततायिता के साथ किया जिसके लिए रोमन सारे साम्राज्य मे बदनाम थे। सीजर को अपार धन, सामग्री और सैनिक साधन प्राप्त हो गये जिनकी आवश्यकता उसकी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए अनिवार्य थी। उसको यह भी विश्वास हो गया कि रोम का गणराज्य जर्जरित और नि शक्त हो चुका है अत. साम्राज्य के शासन के लिए नये सगठन और विधान की आवश्यकता है तथा उसके लिए वह स्वय सबसे योग्य और

उपयोगी शासक सेनापति है। उसका सहयोगी क्रीसस पार्थियनों के युद्ध में मर चुका था। अतः पाम्पे ही से उसे अपनी चूल बैठाना शेष रह गया था।

सीजर की विक्रान्त शक्ति, सैन्रिक साधनों और महत्वाकांक्षा से घबराकर रोम की सेनेट ने पाम्पे को अपनी रक्षा करने के लिए एकमात्र कान्सल अर्थात् डिक्टेटर निर्वाचित कर दिया। उस नीति के लिए अच्छा बहाना भी इसलिए मिल गया कि रोम मे सीजर के समर्थक क्लाडिअस तथा पाम्पे के समर्थक एनिअस मिलो के गुण्डो ने गदर मचा रखा था और ऐसी अशान्ति फैला दी थी कि लोगो की नाको में दम आ गया था। उसी मार-पीट मे क्लाडिअस मारा गया। इससे क्रुद्ध होकर उसके गुण्डो ने सेनेट तथा अन्य इमारतो मे आग लगा दी। पाम्पे और सीज़र में मनोमालिन्य पैदा करने के विविध प्रयत्न किये जाने लगे। सीजर ने सेनेट से समझौता करने के लिए यह प्रस्ताव किया कि उसकी और पाम्पे की सेनाएँ भग्न और वितरित कर दी जायँ किन्तु सेनेट से तदनुकूल प्रस्ताव पास हो जाने पर भी विरोधी दल ने पाम्पे को उसके मानने से इन्कार करवा दिया। तदुपरान्त सीजर को आदेश दिया गया कि वह गाल से रोम वापस आ जाय। इस पर सीजर ससैन्य लौटा। और रुबिकन नदी पार कर इटली मे घुसा। मार्ग मे उसने पाँच छः प्रस्ताव समझौते के लिए किये जो असफल रहे। संशयात्मा पाम्पे सीजर के विरोधियो की असहिष्णुता के कारण तथा राजनीतिक अज्ञता के कारण अनायास गृहयुद्ध के आवर्त मे फँसता चला गया।

पाम्पे को गाल के सिवा सारे साम्राज्य के साधन प्राप्त थे किन्तु उसके पास तैयार सेना नगण्य थी, वह स्पेन तथा साम्राज्य मे इधर-उधर फैली थी। सीज़र के साथ लगभग पचास हजार तैयार और अभ्यस्त सेना थी तथापि वह यथासंभव युद्ध बचाना चाहता था। इसमे उसको इतनी सफलता अवश्य हुई कि केवल सेना-संचालन द्वारा सारी इटली उसके आतंक अथवा सहानुभूति से उसके पक्ष मे हो गयी। इसके बाद वह रोम पहुँच गया। पाम्पे भी सीजर से बचकर उसके पहले ही ब्रिण्डिजिअम और इटली से बाहर सेना एकत्रित करने के लिए चला गया (४९ ई० पू०)। सीजर को रोम की जनसभा नें डिक्टेटर नियुक्त कर दिया (४८ ई० पू०)।

जहाजो की कमी से सीजर पाम्पे का पीछा न कर सका। फिर भी यथाप्राप्त साधनो से एड्रिआटिक समुद्र पारकर उसने पाम्पे को फरसेलस के मैदान में परास्त कर (४८ ई० पू०) उसकी सेना तितर-बितर कर दी। पाम्पे भागा किन्तु सीजर उसका अनवरत पीछा करता हुआ मिस्र पहुँचा। मिस्र मे टोलेमी के मन्त्रियो ने

सीजर के भय से पाम्पे का वध करवा दिया। अनुमानतः सीजर यदि पाम्पे को पकड़ भी लेता तो उसके साथ वैसा व्यवहार न करता। मिस्र मे सीजर कर वसूल करने तथा वहाँ के राजा बारहवे टोलेमी और उसकी सुविख्यात वहिन क्लिओपेट्रा के झगड़ो को निपटने के लिए अलेक्जैण्ड्रिया मे ठहर गया। वहाँ के महल में उसे टोलेमी के सैनिको तथा नगर के विद्रोहियो ने कई महीनो तक घेरे रखा। कुछ सैनिको की सहायता आ जाने पर सीजर चुपके से अपने सहायको से जा मिला और युद्ध करके बारहवे टोलेमी को उसने मार डाला। यद्यपि उसका छोटा भाई सहयोगी शासक नियुक्त हुआ किन्तु वास्तविक शासन क्लिओपेट्रा के ही सुपुर्द हुआ।

जेला के युद्ध मे मिथ्रेडस महान् के पुत्र फारनेसस को हराकर (४७ ई० पू०) थेप्सस मे केटोछोरे को परास्त करके अफ्रीका मे (४६ ई० पू०) और पाम्पे के ज्येष्ठ पुत्र को मन्दा मे हराकर स्पेन मे (४५ ई० पू०), तीन-चार वर्षो के भीतर ही सीजर ने साम्राज्य के सारे विद्रोहियो का दमन कर शान्ति स्थापित कर दी। यद्यपि उसकी शक्ति अप्रतिहत थी किन्तु वह रोमन सस्थाओ और परम्पराओ का विनाश न चाहता था। यद्यपि वह जीवन भर के लिए डिक्टेटर बना दिया गया था तथापि उसने सम्राट् होने की प्रत्यक्ष कामना कभी न की थी। अपने विरोधियों के प्रति उसने उदारता और क्षमा का ऐसा व्यवहार किया कि लोग उससे चकित ही नही हुए वरन् उन्होने उसकी क्षमा के उपलक्ष मे एक मन्दिर की प्रतिष्ठा भी की।

शान्ति-स्थापन के पश्चात् सीजर ने सुधार और सगठन का कार्य हाथ मे लिया। उसके सामने मुख्य चार प्रश्न थे। पहला, रोम के विशाल साम्राज्य की व्यवस्था का संगठन और सुधार तथा सीमाओ को सुदृढ बनाने की योजना। दूसरा, रोम नगर की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनसख्या का नियन्त्रण और नगर के स्वास्थ्य तथा जनता के रहने का प्रबन्ध। तीसरा, बिना लगान बढाए क्षीण राज्य-कोप की पूर्ति। चौथा, सेना को तुष्ट करके आवश्यकतानुसार वितरण।

अपने प्रथम उद्देश्य की सिद्धि के लिए साम्राज्य के प्रान्तो का प्रबन्ध उसने एक प्रकार से अपने हाथ मे ले लिया। सूबों के प्रमुख शासको की सेवा की अवधि कम कर दी ताकि वे प्रबल न हो सके और शासन मे अधिक हस्तक्षेप न कर सकें। यद्यपि उस प्रबन्ध से कुछ हानि होने की सभावना से इन्कार नही किया जा सकता तथापि सूबेदार के अधिकारो का कुछ नियन्त्रण कर ही दिया गया। सूबो के लगान और टैक्स कम कर दिये गये और ठेकेदारो द्वारा वसूली कराने की प्रथा हटाकर

वह काम संस्था के सुपुर्द कर दिया गया। वर्ष की गणना के लिए उसने चान्द्र वर्ष की गणना को हटाकर मिस्र की सूर्य गणना का प्रचलन किया जिसका लाभ कृषको को हुआ। यह विधि थोडे परिवर्तन से आजतक यूरोप और एशिया के अनेक देशो मे प्रचलित है। किसानो के लगान की मात्रा भी निश्चित कर दी गयी जो पहले से कम थी। कई सूबो को उसने रोम प्रान्त के-से अधिकार दिलाकर उस नवीन नीति का सूत्रपात किया जिससे रोम, इटली तथा अन्य प्रदेशो के सूबो में असमानता का भाव जाता रहा और राजनीतिक तथा सास्कृतिक सम्बन्ध द्वारा ऐक्य की भावना उत्पन्न हुई। इटली के जो निवासी सूबो मे जाकर बस गये थे उन्हे अपने पूर्व अधिकारो मे प्रतिष्ठित कर दिया गया। इटली तथा रोम वालो को सुविधाएँ देकर सूबो मे बसने के लिए उत्साहित किया गया जिससे वहाँ रोमनो की सस्कृति और सभ्यता तथा स्थानीय सस्कृति और सभ्यता मे आदान-प्रदान द्वारा सामजस्य स्थापित हो सके और सूबो मे शान्ति तथा शक्ति का अधिक सचार हो। सूबो मे स्कूल खोले गये जिनमे शिक्षा देने के लिए रोमन भेजे जाते थे। सूबो की सीमाओ की रक्षा के लिए भर्मस्थानो को सुदृढ बनाने की योजनाएँ सीज़र ने स्वय बनानी आरम्भ कीं।

रोम नगर की जनसख्या करीब पाँच लाख के हो गयी थी जिससे वहाँ का जन-स्वास्थ्य जो पहले से ही अच्छा न था और अधिक खराब हो गया। रहने के लिए ही नही, सरकारी कामो तक के लिए स्थान और भवनों का अभाव हो गया। नगर मे शान्ति बनाये रखने मे कठिनाई का अनुभव होने लगा था। सीजर की योजना थी कि टाइबर नदी की धारा बदल दी जाय जिससे नगर के बढने की गुजाइश निकल सके। नगर के मध्य भाग को साफ करवा के वहाँ पर अच्छी और बड़ी इमारते बनवाने की योजना भी उसने तैयार करायी। समुद्र पार भूमि देकर शहर के अस्सी हजार आदमी वहाँ बसा दिये गये। शान्ति रखने के लिए उसने अपने मनोनीत अफसर नियुक्त किये और धार्मिक तथा व्यापारिक सघो को छोडकर जितने प्राइवेट क्लब और सस्थाएँ थी, अवैध करार देकर बन्द कर दी गयी। न्यायालयो मे जनता के निर्वाचित न्यायाधीशो की नियुक्ति न करके उनकी जगह निष्पक्ष व्यक्तियो को स्थापित कर दिया गया। क्योंकि जनता उसे अपना नेता मानती थी इसलिए सीजर जनता को प्रसन्न रखना चाहता था, अत. शासनिक आवश्यकता पडने पर उपयुक्त प्रबन्ध से वह विमुख न होता था। पिछले आन्दोलनो तथा अनाज की महँगी के कारण लगभग सवा तीन लाख आदमियो को मुफ्त अनाज बॉटा जाता था। उसने डेढ लाख आदमियो को इस सुविधा से वचित करके मुफ्तखोरो की

सख्या कम कर दी और वाकी लोगो को उपनिवेशो मे भेज दिया। नगर मे अनाज के अधिकाधिक आयात के लिए एक नया वन्दरगाह बनवाने की योजना कार्यान्वित की जाने लगी। इसके सिवा साधारण लोगो का कर्ज हलका करने के लिए कर्ज की रकम की एकदम माफी न देकर महाजनो से सूद की दर कम करा दी और अदा करने की सुविधा भी दिलवा दी।

राजकोष तथा अपने कोष की पूर्ति तथा इटली के उद्योग-धन्धो की उन्नति के लिए उसने विदेशी माल पर टैक्स फिर से लगा दिये। इसके सिवा उसने अमीरो तथा रोम राज्य के आश्रित राजाओ और नगरो से उनके अधिकारो के एवज मे उपहार के तौर पर धन वसूल कर लिया। इस विधि से साढे सत्रह करोड़ दीनार राज्यकोष मे और ढाई करोड अपने कोष मे जमा कर दिये।

सेना की तुष्टि का सबसे पहला कारण तो स्वय उसका विजयपूर्ण और सफल नेतृत्व तथा व्यक्तित्व था। सैनिको को वह इनाम-इकराम मुक्त हस्त से प्रदान करता और जमीने और पेशने भी दिलवाता था। इसके सिवा उसने सैनिको का वार्षिक वेतन एक सौ बीस से २२५ दीनार जो लगभग ११२ रुपये के बराबर था, करवा दिया।

यह स्मरण रखना चाहिए कि सीजर का आधिपत्य केवल पाँच वर्ष तक रहा जिनमे चार वर्ष तो विभिन्न स्थानो पर लडने-भिडने और विरोधियो का दमन करने मे ही व्यतीत हो गये। इस स्वल्पकाल मे उसने जो सुधार किये वे उसकी आश्चर्यजनक कर्मठ, प्रेरक तथा प्रवन्ध-शक्ति के देदीप्यमान प्रमाण है। वह केवल योद्धा और चतुर, साहसी, धैर्यवान् तथा निर्भीक सेनापति ही न था, वरन् वहुश्रुत तथा विचारशील लेखक तथा वक्ता भी था। उसमे उत्साह, उद्योग, शौर्य, तेज और प्रतिभा का अच्छा विकास पाया जाता है। उसके विचार और उसकी योजनाएँ वहुमुखी एव ऊर्जित थी। यदि वह अधिक काल तक जीवित रहता तो वहुत कुछ कर जाता और विशेष यश का अर्जन करता।

सीजर ने सेनेट के सदस्यो की सख्या छ सौ से नौ सौ करदी थी जिनमे अधिकाश उसी के आदमी थे। सेनेट पर उसका इतना प्रभुत्व हो गया था कि उसके आदेशानुसार ही सेनेट प्राय कार्य करती थी। उच्च और महत्व के पद या तो रिक्त रहते थे या उनको दिये जाते थे जिनकी वह नियुक्ति चाहता था। उसकी शक्ति और प्रभाव की सेना, जनता तथा सेनेट और शासन मे अभिवृद्धि देखकर उसके विरोधी तथा गणतन्त्र मे विश्वास करने वाले कुढते-जलते थे। यद्यपि उनकी

संख्या बहुत कम थी और यदि सीज़र चाहता तो उन्हें सरलता से निरस्त कर सकता था तथापि लोकप्रियता तथा आत्म-विश्वास के कारण उसने अंगरक्षक अथवा गुप्तचरों को भी रखना अनावश्यक समझा। षड्यन्त्र की सूचना मिलने तथा हितैषियो के आग्रह करने पर भी उसने अंगरक्षक रखने या सशस्त्र रहने से इन्कार कर दिया। सम्भवत: वह यह सोचता होगा कि लोगो की उस पर अपार श्रद्धा है और राज्य तथा साम्राज्य के श्रेय के लिए उसकी अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव लोगों को है विशेषत: जब कि वह रोम के प्रबल विरोधी पार्थियनो से लड़ने के लिए जाने वाला था। अठारह मार्च को रोम से जाने की तिथि निश्चित हो चुकी थी किन्तु पन्द्रह तारीख़ को षड्यन्त्रकारियो ने, जिनके नेता पाम्पे के अनुयायी केसियस और ब्रूटस, जिनको सीजर ने क्षमा करके अपना विश्वासपात्र समझ लिया था, तथा ट्रिबोनिअस थे, पचास साठ सेनेट के सदस्यो के साथ निरस्त्र सीज़र पर, जो मीटिंग के लिए एक संलग्न कमरे मे प्रतीक्षा कर रहा था, एकाएक आक्रमण करके उसकी हत्या कर डाली (१५ मार्च '४४ ई० पू०)। कहा जाता है कि षड्यन्त्रकारियों का मुख्य उद्देश्य गणराज्य की एक-सम्राट् राज्य से रक्षा करना था। षड्यन्त्रकारी यह न समझ सके कि एक व्यक्ति के निधन से घटनाओं का वह प्रवाह रुक न सकेगा जिसने मेरिअस और सेला के समय से दूसरा पथ ग्रहण कर लिया था और जिसकी तरग माला ने सीजर को ऊपर उठाया था।

सीजर के मरणोपरान्त सत्रह वर्ष तक रोम साम्राज्य में अशान्ति और उथल-पुथल मची रही। सेनेट का अथवा गणतन्त्र राज्य के पुनरुद्धार का प्रश्न, जिसके लिए षड्यन्त्रकारी प्रयत्नशील थे, ओझल हो गया। सेनापतियों और सूबेदारों में सीजर के उत्तराधिकारी बनने के लिए तुमुल संघर्ष होता रहा जिसमें सैनिकों का तो भयंकर निधन हुआ ही, सेनेट के सैकड़ो सदस्यो और हज़ारो नागरिको के रक्त से रोम तथा अन्य नगरों की जमीन रंग दी गयी। सीजर के रिक्त स्थान के लिये यों तो कई सेनापति लालायित थे किन्तु उनमें तीन एण्टनी, सेक्स्टस पाम्पे और आक्टेविअस सबसे प्रबल और प्रभावशाली थे। एण्टनी प्रगल्भ वक्ता, कुशल सेनापति और बलवीर्यवान् तथा साहसी व्यक्ति था। वह सीजर के प्रमुख अनुयायियों में था और उसकी हत्या का बदला लेने पर तुला हुआ था। एण्टनी ने क्लिओपेट्रा से प्रसूत जूलिअस सीजर के तीन वर्ष के पुत्र को उत्तराधिकारी घोषित कर उसके नाम से कोषादि पर अधिकार कर लिया और उसका प्रतिनिधि बनकर शासन करना आरम्भ कर दिया।

सेक्स्टस पाम्पे बड़े पाम्पे का दीर्घकाय बलवान पुत्र मध्य सागर के जहाजी बेड़े की नौ-सेना का अध्यक्ष था और तीसरा अठारह वर्ष का सीजर का दत्तक पुत्र आक्टेविअस था। नवयुवक होने पर भी महत्त्वाकाक्षा मे वह कम न था और चतुरता, नीतिज्ञता तथा कूटनीति मे अपने प्रतिद्वन्द्वियो से बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

आक्टेविअस ने एण्टनी और लेपिडस से समझौता करके आपस मे अधिकार क्षेत्र बॉट लिये। उनका सबसे पहला काम सीजर के विरोधी षड्यन्त्रकारियों और उनके समर्थको का वध करना था। रोम मे उन्होने खून की नदी बहा दी। जिस स्थान पर सीजर का अग्निदाह हुआ था उस पर एक मन्दिर बनवाकर उसमे सीजर के देवत्व की प्रतिष्ठा की गयी। ब्रूटस और केसिअस ने मेसीडोनिया भागकर सेना एकत्रित की किन्तु उनको फिलिपी के युद्ध मे सफलता न हुई। ब्रूटस का वध हुआ और केसिअस ने डरकर आत्महत्या कर ली (४२ ई० पू०)। बेचारा सिसरो जो अपनी योग्यता तथा वाग्मिता के कारण गणतन्त्र राज्य का प्रबल पोषक माना जाता था तलवार के घाट पहले ही उतार दिया गया। आक्टेविअस के सुपुर्द हुआ सेक्स्टस पाम्पे का दमन तथा रोम मे रहकर इटली और पश्चिमी प्रान्तों की व्यवस्था। एण्टनी ने पूर्वी प्रदेशो, ग्रीस एशियाई कोचक तथा मिस्र मे व्यवस्था स्थापन का काम अपने हाथ मे लिया। आक्टेविअस को सौभाग्य से अग्रिपा और मेसिनस नामक दो सुयोग्य और विश्वसनीय मन्त्री मिल गये। उसने शनै शनै अपना जहाजी बेड़ा तथा स्थल सेना सगठित कर ली और उसकी शासन-नीति भी लोकप्रिय एव शान्ति-विधायक सिद्ध हुई। किन्तु एण्टनी पूर्वी प्रान्तो मे अपनी विजयो तथा लूट-खसोटो से प्राप्त सम्पत्ति के वैभव मे मस्त होकर अपनी प्रियतमा मिस्र की सुन्दरी रानी क्लिओपेट्रा के साथ ऐशोआराम मे समय और शक्ति का नाश करता और उपहासास्पद बनता रहा। उसका आक्टेविअस से इसलिए और भी भयकर सघर्ष हुआ कि उसके बल पर ही क्लिओपेट्रा ने यह दावा किया कि सीजर से उसकी कोख मे जो पुत्र हुआ है उसी को सीजर का उत्तराधिकारी होना चाहिए। यदि उसकी वह अभिलाषा पूर्ण हो जाती तो उसका आधिपत्य सारे रोम साम्राज्य पर स्थापित हो जाता। इसमे सन्देह नही कि क्लिओपेट्रा मे अनेक गुणो का समाहार हुआ था। प्रतिभा, वाक्-चातुर्य, नीति, कार्यकौशल, कुशाग्र बुद्धि, सतर्कता, प्रबुद्धता, युद्ध-नेतृत्व, अनेक-कला-विलास, आत्मविश्वास, उत्साह, साहस, धीरता आदि गुणो से विभूषित होने पर भी सौन्दर्य, माधुर्य, कोमलता, लालित्य तथा रसज्ञता की उसमे विशेष मात्रा थी। उसकी समानता की गिनी-चुनी कुछ ही स्त्रियाँ इतिहास मे मिल सकेगी।

अपरिमित मात्रा मे मद्यपान करने पर भी उससे वह कभी अभिभूत नही हुई। उन्ही गुणो के कारण उसने सीजर और एण्टनी को अपनी मुट्ठी मे कर लिया था। उनके सिवा उसका अनुराग या ससर्ग अन्य पुरुषो से न था। क्लिओपेट्रा का दावा और एण्टनी जैसे अनुशासनवर्ती सहायक की सहायता आक्टेविअस के लिए घोर चिन्ता के विषय हो गये। अन्ततोगत्वा एग्रिपा के पूर्ण सहयोग और एण्टनी की लापरवाही से आक्टेविअस की जहाजी युद्ध मे पूर्ण विजय हुई। अपनी सेना के शत्रु से मिल जाने के कारण तथा अपनी नौ-शक्ति की क्षीणता देखकर और यह झूठी अफवाह सुनकर कि क्लिओपेट्रा की मृत्यु हो गयी, एण्टनी ने आत्महत्या कर ली (३१ ई० पू०)। उसकी मृत्यु की खबर पाकर क्लिओपेट्रा ने भी आत्मघात कर लिया। वह समझ गयी कि आक्टेविअस उसको सह न सकेगा।

रोम (३)

गणतंत्रविडम्बना : सम्राट् शासन

आक्टेविअस (२९ ई० पू०, १४ ई०) का स्वभाव और उसकी नीति अपने धर्म पिता जूलिअस सीजर से अनेकानेक अशो मे विभिन्न थी। जूलिअस सामन्तो के-से राजसिक ठाट-बाट, शान-शौकत, व्यग्रता, चपलता और अनावृत आधिपत्य के प्रदर्शित करने मे स्वभावत. नि.शक था। किन्तु आक्टेविअस सरल, साधारण, गभीर, सावधान, सूक्ष्मदर्शी, गूढनीतिज्ञ, मितव्ययी, सयमी, अव्यग्र, शिष्टाचार-प्रिय और परम्परागत विचारो तथा भावनाओ का आदर करने वाला व्यक्ति था। उसकी रूपरेखा और विचारशैली साधारण रोमन नागरिक की-सी थी। पुरानी परम्पराओ और विश्वासो का समादर करते हुए वह उनको ऐसा संयोजित अथवा व्यवस्थित करना चाहता था जिससे तत्कालीन समस्याओ की पूर्ति हो सके। पुरानी संस्थाओं तथा पदों का परिष्कार करके अथवा उनमे घटा-बढ़ी करके सुपरिचित एवं प्रचलित परिभाषाओं का प्रयोग करते हुए वह उन्हें नये अर्थो तथा उपयोगो से अनुप्राणित करके इष्ट सिद्ध करने मे निपुण था। उसके सामने मुख्य प्रश्न थे शान्ति एवं शासनिक क्षमता का संस्थापन, भयापहरण, गणतन्त्र शासन का उद्धार करके उसकी मर्यादा का स्थापन, साम्राज्य के शासन का सुधार और संगठन। रोम के नागरिको में साम्राज्य के गौरव की चेतना तथा उसके प्रति श्रद्धा और कर्तव्यनिष्ठा जाग्रत करके तदनुकूल विधान-रचना की आवश्यकता सिद्ध करते हुए उनका पथ-प्रदर्शन करना उसका मुख्य ध्येय था।

आक्टेविअस ने शासन के आरम्भ मे ही पुराने देवताओ के मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवा दिया और परम्परागत पूजाविधि का प्रचलन कर दिया। नवीन देवताओं और आचार्यो का वहिष्कार करवा दिया गया। कुछ वर्षो के वाद उसने उन कानूनो को, जो अवैध प्रतीत हुए रद्द कर दिया। इसके पश्चात् उसने सस्कारपूर्वक अपने उन अधिकारो को, जो आपत्तिकाल की तीव्रता के अनुसार अवैध ढग से ग्रहण कर लिये गये थे, सेनेट और जनता को वापस कर दिया और उनके सदुपयोग के लिए उनको प्रेरणा दी। उसकी विजयो, शान्ति स्थापन की क्षमता, क्षमानीति और अभयदान से सर्वसाधारण जनता पहले ही से प्रभावित थी। अवैध अधिकारो के उसके समर्पण से जनता मे विश्वास उत्पन्न हो गया कि वह नि स्वार्थ,निर्लोभ, कर्तव्य-परायण, और निश्छल जन-सेवक है। उसकी उदारता, दाक्षिण्य और त्याग तथा सरल जीवन का जनता तथा सेनेट पर ऐसा जादू चला कि वे उसके निर्दिष्ट पथ पर चलना ही श्रेयस्कर समझने लगे। विना माँगे ही उसको आगस्टस (महामहिम), प्रिसेप(प्रमुखाधीश), इम्पेरेटर(महाधिपति)आदि उपाधियो से जनता ने विभूपित कर दिया। उसको दस वर्ष के लिए सर्वाधिपत्य, अखिल सैन्य का सेनापतित्व, सन्धि-विग्रह के पूर्ण अधिकार, सूबो का प्रमुख निरीक्षण एवं नियन्त्रण और सीरिया, मिस्र, स्पेन, गाल सूवो की एकमात्र सूवेदारी प्रदान कर दी गयी। इटली तथा रोम के अन्न और जल का सम्भार, पुलिस का शासन तथा जन-पथो का नियन्त्रण भी उसी के सुपुर्द कर दिया गया। रोम राज्य तथा साम्राज्य के सब बडे अथवा गण्यमान्य पदाधिकारी भी उसकी छत्रछाया मे रख दिये गये। साराश यह कि उसको नाम को छोडकर व्यवहार मे वे सव अधिकार जो सम्राटो के होते थे सवैध मिल गये। केवल इतना भेद अवश्य रह गया कि उसका आधिपत्य वशानुगत न वनाया गया जिससे उसके पद का चुनाव सेनेट के अधिकार मे रहा। प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाचन का अपेक्षी रहना पड़ता था। आक्टेविअस को उपर्युक्त अधिकार एकसाथ न मिलकर धीरे-धीरे विना सनसनी पैदा किये हुए प्राप्त होते गये।

उस पर श्रद्धा-विश्वास होने के कारण उसके निर्देश के अनुसार सेनेट के सदस्यो की संख्या कम कर दी गयी। अवाछित सदस्य निकाल दिये गये। सेनेट की सदस्यता के चुनाव मे उसका हाथ रहता और जिसे वह चाहता निकलवा देता था। यद्यपि वह उच्च कुल-जाति के व्यक्तियो को ही प्राय सदस्य चुनता तथापि किसी को भी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता उसे थी। यही नही, वह जिन विषयो को उठाना या रोकना चाहता था, सेनेट तदनुसार ही करती थी। यद्यपि सेनेट उसकी इच्छाओ और

आदेशों का आदर और पालन करती थी, जिससे यह कहा जा सकता है कि सेनेट ने अपने अधिकार स्वतः खो दिये, तथापि आक्टेविअस द्वारा उसका सम्मान तथा सदस्यों के सामाजिक और आर्थिक लाभों और मान-मर्यादा की रक्षा होती रहने के कारण वाह्याडम्बर पूर्ववत् ही कायम रहा। अपनी सामाजिक नीति के अनुकूल आक्टेविअस ने सेनेट के सदस्यों का समाज मे सबसे ऊँचा स्थान बनाये रखा।

जन-सभा (असेम्बली) का परिष्कार भी उसने उसी प्रकार कर दिया। राजनीतिक दलो की उन संस्थाओं को, जो उपद्रव खड़ा किया करती थी, उसने पहले ही बन्द कर दिया था। सभा मे जो भ्रष्टाचार और अव्यवस्था फैली हुई थी उसका दमन किया गया। यद्यपि विधान की परम्परा के अनुसार असेम्बली का ही अन्तिम आधिपत्य माना जाता था तथापि व्यवहार मे वह आक्टेविअस की इच्छानुवर्तिनी थी। उसी के नामजद व्यक्तियो को वह मजिस्ट्रेट चुनती और उसके भेजे हुए प्रस्तावो को पास कर देती थी। उसकी नीति ने असेम्बली का महत्त्व एक प्रकार से सदा के लिए नष्ट कर दिया।

आक्टेविअस ने ऐसी नीति और परिपाटी का अवलम्बन किया जिससे प्रजा श्रेणी-बद्ध हो गयी। वह रोमन जाति की शुद्धता और रक्त-रक्षा का बड़ा हामी था। यथासाध्य वह वर्णसकरता का विरोधी और परम्परा का प्रेमी था। पुरानी धार्मिक सस्थाओ, वेषभूषा तथा रहन-सहन के पुनः संस्थापन के लिए वह प्रयत्नशील रहा। पुरानी सामाजिक व्यवस्था को उज्जीवित करके स्थायित्व देने का प्रयत्न करता रहा। रोम तथा इटली की शुद्ध रक्त की जनता को वह राजवशी मानता और उसको अन्य लोगो अर्थात् प्रान्तीय या विदेशीय लोगों, मुक्त दासों अथवा अन्य दासो से पृथक् एव श्रेष्ठ स्थान देता था। उसके सामने सरल और उद्यमशील होने का आदर्श रखकर वह उसमे स्फूर्ति, साहस, आत्माभिमान एवं कर्तव्यपरायणता के सचार के लिए प्रयत्न करता रहता था। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में, घर और बाहर, उत्सवो और बाजारो मे शिष्टाचार के पालन का वह जनता से सक्रिय आग्रह करता और कानूनो द्वारा उसका प्रवर्तन कराता था। उपर्युक्त सुधारों तथा नियमों का यह प्रभाव पडा कि रोम वालो मे एकता तथा जातीयता के भाव दृढ़ हो गये। परम्परागत जीवन-विधान मे यह क्षमता तो रहती ही है चाहे और कुछ भी दोष क्यों न हों।

महत्त्व के क्रम से प्रजा मे सेनेटर, भट, रोम के साधारण जन और मुक्त या अमुक्त दास थे। भटो की श्रेणी आक्टेविअस ने इसलिए प्रतिष्ठित की कि उससे उत्कृष्ट

सैनिकों और नागरिकों का उद्भव, संतुष्टि एवं सम्मान हो सके। उस श्रेणी में स्थान प्रदान करने अथवा उससे बहिष्कृत करने का अधिकार उसने अपने ही हाथ मे रखा। उसकी सदस्यता वैयक्तिक जीवन काल के लिए थी न कि वंशानुगत। उनमे से सूबेदार, सम्राट् के उच्च पदाधिकारी तक नियुक्त हो सकते थे। भट श्रेणी सम्राट् की मुखापेक्षिणी और उसकी अनवर्तिनी रहती थी। प्लीबियन श्रेणी में वे थे जो न तो सेनेटरों में न भटो मे ही गिने जा सकते थे। रोम की जनता प्रायः उसमें थी। दासो के लिए अथवा मुक्त दासो के लिए उसमे स्थान न था। आक्टेविअस ने ऐसे कानून बनाये जिनसे लोग अपनी-अपनी श्रेणी मे विवाहादि सम्बन्ध करें, उसी की मान-मर्यादा मे रहे और उसे अतिक्रमण करने का प्रयत्न न करे। दासों के लिए मुख्य क्षेत्र सेवा और मजदूरी का ही समझा गया।

आक्टेविअस साम्राज्य के अधिकाधिक विस्तार करने के पक्ष में न था। उसकी धारणा थी कि साम्राज्य पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है और उससे आगे बढ़ना अनावश्यक तथा अहितकर होगा। अत. उसने सीमाप्रान्तो की अत्यन्तावश्यकताएँ सोचकर कम-से-कम प्रदेश साम्राज्य के अन्तर्गत किये। सीमा के समीपस्थ राज्यों अथवा जातियों से यथासम्भव शान्ति विधायक समझौते उसने कर लिये, जिससे दोनो ओर से छेड़-छाड़ रुक गयी। राइन और डेन्यूब नदी को ही यूरोप में उसने साम्राज्य की सीमा निश्चित किया।

सैनिको की सख्या उसने आधी से भी कम कर दी किन्तु शेष सेना की भर्ती, सेवाकाल, वेतन तथा अनुशासन के नियमो को परिष्कृत और निश्चित कर दिया। उसके शासन मे सेना सम्राट्-भक्त रही। साम्राज्य के बढ़ते हुए खर्च के कारण सूबों पर टैक्स बढ़ा दिये और अधीनस्थ रजवाडो से अधिक भेंट ली गयी। सूबे के निवासियो को कुछ अधिक कर देना स्वीकार था क्योंकि वे अव्यवस्था, विद्रोह, मनमाने करो तथा माँगो से व्यथित हो गये थे।

वृद्धावस्था आने पर उसने टाइबेरिअस को अपना उत्तराधिकारी [illegible] निश्चित कर उसकी दीक्षा और मर्यादा को उन्नत करने के यथासम्भव प्रयत्न [illegible] और अपने जीवन काल में ही उसको इस योग्य बना दिया कि वह साम्राज्य का भार वहन कर सके। इकतालीस वर्ष तक सफल शासन करके वह [illegible] (२७ ई० पू०, १४ ई०)।

शान्ति, सुव्यवस्था, राजकोष की सम्पन्नता, प्रान्तों के बढ़ते हुए [illegible]
ग्रीस, पश्चिमी एशिया और मिस्र की [illegible] तथा संस्कृति [illegible]

साहित्य, नयी भावनाओ और उदार विचारो की अच्छी उन्नति हुई। उसका शासन-काल रोम के इतिहास का 'स्वर्ण युग' माना जाता है।

टाइबेरिअस कुशल सेनानायक था। उसको रोम, इटली तथा प्रान्तो के शासन और समस्याओ का व्यावहारिक अनुभव भी था। किन्तु उसमे कुछ चिन्त्य दोष भी थे जिनके कारण वह सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहा। वह सवरणशील, चुप्पा, अवसन्न, शकाकुलित और संशयात्मा था। अपने कुल, प्रभूति, शिक्षा-दीक्षा और पराक्रम के कारण उसमे अभिमान की मात्रा इतनी बढ गयी थी कि वह साधारण जनो को उपेक्षा और अनादर की दृष्टि से देखता था जिसके कारण वह लोकप्रिय न हो सका। वस्तुतः उससे लोग घबराते, डरते और असन्तुष्ट रहते थे। मितव्ययी होने के कारण जनता को प्रसन्न तथा अनुरक्त रखने वाले कामो, क्रीड़ाओ, उत्सवो, दान-दक्षिणाओं, जनोपयोगी इमारतो आदि के प्रति वह सर्वथा उदासीन रहता था। गृहजनित षड्यन्त्रो ने उसके चित्त मे उच्चाटन उत्पन्न कर दिया जिससे रोम छोड़कर वह क्रेपी मे रहने लगा। फिर भी उसके समय मे शासन मे कोई विचारणीय शैथिल्य न होने पाया, यद्यपि पतन के चिन्ह कुछ-कुछ दिखाई पड़ने लगे थे। उसकी मृत्यु ३७ ई० मे हुई।

उसके पश्चात् क्रमशः केलीगुला, क्लाडिअस और नीरो सम्राट् हुए किन्तु तीनो निकम्मे, निष्ठुर, निर्दयी, असंयमी सिद्ध हुए। उनके समय मे गुलामो, षड्यन्त्रकारियो, लुटेरो, हत्यारो और आततायियो की धूम रही। उनका समय रोम के इतिहास का लज्जाजनक काल कहा जाता है। उनके समय मे व्यवसायहीन, लफगो, मुफ्तखोरो, गुण्डो और अधम लोगो का बोलबाला रहा।

केलीगुला ने जा-बेजा कर लगाने शुरू कर दिये। उदाहरण के लिए उसने नजराने, गुलामो के क्रय-विक्रय तथा वस्तुओं की बिक्री, और वेश्याओ की विभिन्न केलि तथा सहवास कलाओ पर टैक्स लगाये। वह अपने को देवता मानता था और अपना पुरोहित उसने एक घोडे को नियुक्त किया। दुर्व्यसनी और व्यभिचारी होने के कारण उन्तीस वर्ष की आयु मे ही वह जीर्णशीर्ण हो गया। क्रुद्ध होकर अगरक्षको के एक नेता ने उसका वध कर डाला।

क्लाडिअस भी नितान्त निकम्मा निकला। अपने पुत्र नीरो के उत्तराधिकार के छिन जाने के डर से उसकी रानी अग्रिपिना ने उसे जहर देकर मार डाला।

नीरो की शिक्षा ग्रीक साहित्य तथा आचार-शास्त्र मे हुई। अग्रिपिना ने उसे दर्शन इसलिए नही पढ़वाया कि उससे वह शासन के योग्य न रह जाता। उसको

गद्य पर अच्छा अधिकार था। बोलने और लिखने मे उसे अच्छी क्षमता थी। कुछ कविता भी कर लेता था। गाना भी गा लेता था। अन्य कलाएं भी कुछ-कुछ सीख ली थी। व्यायाम, व्यभिचार, तथा भेष बदलकर गुण्डई करने का उसे व्यसन था। उसने टैक्स कम कर दिये। प्राणदण्ड वह लाचारी से ही देता था और क्षमा का पक्षपाती था। नववयस्क होने के कारण शासन की बागडोर उसने अपनी माता अग्रिपिना के सुपुर्द कर दी। फिर लोगो के कहने पर उसने जब शासन अपने हाथ मे लेना चाहा तब माता ने उसको नकली पुत्र का अभियोग लगाकर पदच्युत करने की धमकी दी। नीरो ने माता को अन्ततोगत्वा मरवा डाला। उसने एक हसीन गुलाम को आख्ता करवाकर उससे विवाह भी कर लिया। ऐयाशी, फिजूलखर्ची, इमारतो, इनामो मे उसने खजाना खाली कर दिया, अमीरो और मन्दिरो का धन लूटा तथा सोने-चाँदी की मूर्तियो को गलवा डाला। इसी के समय मे वह भयकर भूचाल आया जिससे पाम्पिआई नगर धरती मे समा गया। आखिरकार उत्तरी गॉल मे राजद्रोह की आग सुलगी और स्पेन के सेनापति गेल्वा ने विद्रोह का झण्डा उठाया जिसने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि नीरो को उसके नौकर-चाकरो के सिवा कोई सहायक न मिला। सेनेट ने सुअवसर समझकर नीरो को पदच्युत कर दिया और डण्डो से मार डालने का फैसला दे दिया। उस घोषणा से त्रस्त होकर उसने स्वय आत्महत्या कर ली (६८ ई०)। नीरो की मृत्यु से सुविख्यात 'जूलिओ क्लाडियन' वश का पतन हो गया।

रोम (४)

सन् ६९ ई० मे सम्राट् के आसन के लिए स्पेन, राइन, डेन्यूब, पेनोमिया तथा सीरिया के सेनापतियो मे घोर युद्ध होते रहे और भारी रक्तपात हुआ। अन्ततोगत्वा सीरिया के सेनापति फ्लेविअस वेस्पेसिअन को सम्राट् होने का श्रेय प्राप्त हुआ। उसी के उत्तराधिकारी फ्लेविअन वशी सम्राट् कहे जाते है। उपर्युक्त सघर्ष मे यह स्पष्ट हो गया कि सम्राट् का चुनाव सेनेट के हाथ मे नही वरन् सफल सेनापति के हाथ मे चला गया। इसके सिवा यह भी सिद्ध हो गया कि सम्राट् का उच्चकुलीन रोमन होना आवश्यक नही है, और यह कि उसका वास्तविक निर्वाचन रोम के बाहर से भी हो सकता है। वेस्पेसिअन न तो इटली मे ही उत्पन्न हुआ था और न किसी उच्च कुल से ही उसका सम्बन्ध था। वह साधारण राजसेवको मे भरती किया गया था। सघर्ष का महत्त्वपूर्ण दूसरा पक्ष यह था कि प्रत्येक सेनापति ने अपने स्वल्पकालिक

शासन में अपने-अपने प्रान्तो के निवासियों को रोम की नागरिकता प्रदान करा दी थी जिसका अपहरण किसी भी सम्राट् के लिए भयावह होने के कारण अनुचित और अव्यावहारिक हो गया।

वेस्पेसिअन के समय मे उपर्युक्त परिवर्तनो के अतिरिक्त यह भी प्रयत्न हुआ कि सम्राट् का चुनाव पुश्तैनी बना दिया जाय। सम्राट् लोग अपने औरस अथवा दत्तक पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर उसे 'सीजर' की उपाधि से भूषित करके लोक मे उसका महत्त्व प्रतिष्ठित करने लगे थे। विधान शास्त्रियों ने उसे ऐसा रूप दिया जिससे वह पद पुश्तैनी तो हो जाय किन्तु परम्परागत चुनाव का आडम्बर भी कायम रहे। इस दुष्कर प्रयत्न मे उन्हे न्यूनाधिक सफलता भी प्राप्त हो गयी। वेस्पेसिअन ने सादगी और मितव्ययिता को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने शिक्षा के प्रसार और उपयोगी भवनो के निर्माण कराने मे तथा भूकम्प द्वारा नष्ट नगरो को सहायता प्रदान करने मे उदारता दिखायी। गरीबो की सहायता के लिए उसने विशाल देवालयों तथा कोलीसिअम (स्टेडियम) आदि का निर्माण कराया। उनके निर्माण मे उसने यन्त्रो का प्रयोग इसलिए मना कर दिया कि जिससे अधिकाधिक आदमियो को श्रम द्वारा जीविकोपार्जन का अवसर मिल सके। आर्थिक स्थिति ज्यो-ज्यो सुधरती गयी, त्यो-त्यो उसने टैक्स कम कर दिये। इस नीति का पालन उसके उत्तराधिकारी न कर सके। शासन का खर्च फिर बढ़ने लगा जिसके लिए डोमीशियन सबसे ज्यादा जिम्मेदार था क्योकि सेना को सन्तुष्ट रखने के लिए उसने वेतन खर्च तीन सौ से चार सौ दीनार वार्षिक बढ़ा दिया था।

फ्लेवियन वंश के राज्य काल मे पेलेस्टाइन के यहूदियों से घोर युद्ध हुआ और बड़ी कठोरता से उनका दमन किया गया। उनका विशिष्ट देवस्थान जेरुसलम का मन्दिरो सहित विध्वस कर दिया गया, धर्म-प्रचार अवैध घोषित कर दिया गया और वहाँ के बचे-खुचे लोग गुलाम बना दिये गये। विद्रोह की आग राइन तथा उत्तरी गॉल मे भड़की किन्तु वेस्पेसिअन ने उसको भी शान्त कर दिया। ब्रिटेन मे वेल्स और स्काटलैण्ड की तराई तक रोमन आधिपत्य स्थापित हो गया। डोमीशियन ने राइन तथा डेन्यूब की सीमाओ को सुदृढ बनाकर वहाँ रोमन सेनाएँ नियुक्त कर दी। फ़रात घाटी तथा एशियाई कोचक को भी सगठित करने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया गया। उन सब प्रयत्नों के कारण नगरों और प्रदेशो मे शान्ति स्थापित हुई जिससे वहाँ की प्रजा की आर्थिक दशा भी सँभलने लगी। रोम साम्राज्य मे स्थिरता, शान्ति तथा आत्मविश्वास स्थापित करने के कारण वेस्पेसिअन करीब-करीब

उतना ही लोकप्रिय हो गया जितना आक्टेविअस था। मरणोपरान्त उसको देवत्व की प्रतिष्ठा प्रदान की गयी, किन्तु डोमीशियन के विरुद्ध वैयक्तिक स्वतन्त्रता चाहने-वाले गणतन्त्रवादी षड्यन्त्र करने लगे। उनको कठिन दण्ड भी दिये गये तथापि साजिशे चलती रही। अन्ततोगत्वा उसकी रानी डोमीशिया की प्रेरणा से छुरा भोककर वह मार डाला गया। सेनेट के प्रस्ताव से डोमीशियन का नामोनिशान सब स्मारको से हटा दिया गया।

सेनेट ने नर्वा नामक एक प्रसिद्ध कानूनदा को सम्राट् नियुक्त किया। वह सेनेट का आदर करता था। इटली की जनसख्या तथा खेती की उन्नति के लिए उसने विशेष ध्यान दिया। यद्यपि वह शासन-विधान और कला मे निपुण था तथापि वयोवृद्ध होने तथा युद्धकला से अनभिज्ञ होने के कारण उसको कठिनाइयो का अनुभव होने लगा। अत. उसने उत्तरी जर्मनी के सेनापति ट्रेजन को अपना उत्तराधिकारी एवं सहयोगी नियुक्त कर दिया। सयोग से नर्वा तथा उसके पश्चात् के दो सम्राटो के कोई सन्तान न थी जो अधिकार के लिए लडती-भिड़ती अतः उन सम्राटों को अपना उत्तराधिकारी चुनने मे स्वतन्त्रता रही, जिसका उन्होने अच्छा उपयोग किया, और चुनाव की अच्छी परिपाटी का प्रचलन कर दिया। नर्वा तो दो ही वर्ष तक राज्य कर सका किन्तु उसकी मृत्यु के बाद क्रमश. ट्रेजन, हेड्रियन, एण्टोनियस, ऑरिलियस सम्राट् हुए। वे सभी योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध हुए जिनके शासन-काल 'पच शुभगुणी शासको का युग' नाम से रोम के इतिहास मे प्रसिद्ध है।

ट्रेजन

उपर्युक्त युग मे सैनिक उत्कर्ष तथा साम्राज्य-व्यवस्था के कारण ट्रेजन का स्थान ऊँचा है। वह अपनी सहनशीलता, शिष्टाचार और शौर्य, शिक्षा तथा विज्ञान के संरक्षण और संवर्द्धन, लोकोपयोगी रचनात्मक कार्यो—जैसे सडको, इमारतो, घाटो, पुलो, विजय स्तम्भो आदि के निर्माण के कारण लोकप्रिय हो गया। साम्राज्य को दृढ और व्यवस्थित बनाने के लिए उसने रोमनो मे रण-प्रियता और विजय-कामना को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया। 'सदा उद्यत दण्ड' वाली नीति का अवलम्बन कर उसे साम्राज्य को सुदृढ बनाने का श्रेष्ठतम उपाय उसने मान लिया। तदनुसार साम्राज्य के सीमा प्रान्तो के आस-पास के राज्यो अथवा कबीलो पर आक्रमण कर उनका दमन करने मे वह लग गया। डेन्यूब नदी के निचले प्रान्तो मे डेशिया नाम का एक प्रान्त था। वहाँ के तथा आसपास के रहने वालो ने सघ बनाकर डेसि-

बेलस नामक एक कुशल योद्धा को अपना नेता नियुक्त किया था। उसके नेतृत्व में रोम राज्य के निकटस्थ सूबों पर वे आक्रमण करने लगे। यद्यपि कई बार रोमन सेना ने उनको दबाने के प्रयत्न किये किन्तु यथेष्ट सफलता प्राप्त न हुई। आखिर लाचार होकर सम्राट् डोमिशियन ने उनको शान्त रखने के लिए निश्चित वार्षिक रकम देना स्वीकार कर लिया। सम्राट् होने पर ट्रेजन ने रकम देना बन्द कर दिया और उन पर चढाई कर दी। डेसिबेलस को परास्त करके उसके गढ विध्वंस कर दिये। भारी मशीनें और अस्त्र छीन लिये और डेशिया में अपने गढ बनवाकर उनमें रोमन सैनिक नियुक्त कर दिये। इस निष्ठुर नीति से डेशिया के कबीलों में असन्तोष की आग सुलगती रही। अन्ततोगत्वा ट्रेजन को उन कबीलों के प्रान्त को जीतकर साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेना पडा (१०६ ई०)। ट्रेजन ने ईसाई धर्मावलम्बियों के प्रति उदार और सहिष्णु नीति का पालन किया। यह स्मरण रखना चाहिए कि ईसाइयों के सिद्धान्त उन सिद्धान्तों के अनुकूल न थे जिनपर रोम का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जीवन अवलम्बित था।

ट्रेजन ने दमिश्क और लाल सागर के बीच रहने वाले कबीलों को परास्त कर उनके प्रदेशों को भी साम्राज्य में मिला लिया जिससे मेसोपटेमिया और लाल सागर के बीच के व्यापार मार्ग रोम के अधिकार में आ गये। उसी प्रकार पार्थिया के आधिपत्य से आरमीनिया छीनकर रोम का प्रान्त बना लिया गया। ट्रेजन की नीति पश्चिमी एशिया में असफल हुई क्योंकि वहाँ की जातियाँ और कबीले अवसर मिलते ही विद्रोह करते रहे। वह उनसे लडते-लडते थक गया। अपने प्रमुख सेनापति हेड्रियन को वहाँ की समस्या सुपुर्द कर वह लौट पडा किन्तु मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गयी (११७ ई०)।

हेड्रियन

यह भी स्पेन का निवासी था। ग्रीक और लैटिन साहित्य का उसने अच्छा अध्ययन किया था, किन्तु गणित, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, शासन और कानून में उसकी विशेष अभिरुचि थी। वह अच्छा कवि, प्रौढ गद्य-लेखक, कुशल चित्रकार तथा संगीत विद्या एवं कला में निपुण था। उसकी मेधा शक्ति विलक्षण थी। उसकी योग्यता और युद्ध तथा शासन की विलक्षणता का लोहा सभी मानते थे तथापि उसके व्यवहार से बहुत लोग उसके प्रतिकूल अथवा शत्रु हो गये। वीर एवं रणकुशल होते हुए भी वह शान्तिप्रिय था। उत्तम किन्तु व्यावहारिक नीति तथा सुव्यवस्थित

शासन द्वारा वह शान्ति स्थापित करना चाहता था। साम्राज्य की सीमाओ की रक्षा करना नितान्त आवश्यक था। अतएव उसने ट्रेजन द्वारा जीते हुए प्रान्तो का उतना ही भाग साम्राज्य के अन्तर्गत रखा जितना कि रक्षा के लिए तथा अन्य राज्यों से युद्ध-निवारण के लिए आवश्यक समझा। साम्राज्य को दूसरे राज्य से पृथक् करने के लिए उसने लकडी की सरहद खिचवा दी। मेसोपटेमिया और आरमीनिया से उसने फौजे हटा ली। प्रादेशिक शान्ति रखने के लिए उसने कही उपनिवेश और कही सैनिक दल स्थापित कर दिये। उसकी नीति का फल यह हुआ कि अधिक काल तक साम्राज्य मे शान्ति रही। साम्राज्य के शासन का भार रोम नगर अथवा इटली के ऊपर न छोड़ उसने साम्राज्य के केन्द्रीय शासन के ही ऊपर रखा। सैनिक शासन और नौकरियो को उसने साधारण शासन से पृथक् कर दिया। कानूनो का विधिवत् सकलन कराके शासनयन्त्र को व्यवस्थित कर दिया। न्यायालयो के लिए सावधानतापूर्वक न्यायाधीशो का चुनाव किया। प्रदेशो मे भी शासन तथा न्याय के विधानो को स्थिर करके प्रान्तीय शासन तथा केन्द्रीय शासन के परस्पर सम्बन्धो को निर्धारित कर दिया। अपने विधानो को सुव्यवहृत करने, साम्राज्य की समस्याओ को समझन तथा सम्राट् का प्रभाव स्थापित करने एव परस्पर का सम्बन्ध घनिष्ट करने के लिए उसने साम्राज्य मे दौरे किये। सेना की उचित शिक्षा और अभ्यास के लिये भी उसने कुछ सुधार किये। विद्रोह के दमन करने मे उसने कठोरता का प्रदर्शन किया। उसके सुधारों तथा निर्माण-कार्यो से प्रेरित होकर उसकी रानी सेवाइना ने भी स्त्रियो की एक सस्था स्थापित की जो स्त्रियो मे शिष्टाचार, सामाजिक पद तथा वेषभूपा का नियन्त्रण करती थी। साम्राज्य का उत्तराधिकारी उसने एक प्रमुख सेनेटर आरिलिअस एण्टोनिअस को वना दिया। एण्टोनिअस वृद्ध और शान्तिप्रिय था। हेड्रिअन ने अपने ही जीवनकाल मे एण्टोनिअस के आग्रह से उसके भतीजे मार्कस आरिलियस को उत्तराधिकारी नियुक्त करवा दिया। एण्टोनिअस ने यथाशक्ति हेड्रिअन की नीति का पालन किया और वह सेनेट के आदर का पात्र वना रहा।

मार्कस आरिलिअस (१६१-१८० ई०)

मार्कस आरिलिअस सुशिक्षित विद्वान्, विवेकशील, विचारक, दार्शनिक, सयमी सदाचारी और सरल जीवन का प्रेमी पुरुष था। वह विचार-स्वातन्त्र्य तथा नागरिको के समान अधिकार के पक्ष मे था। प्रजा ने उसका सादर स्वागत किया।

गरीबो को सहायता देने, दान देने, करो को माफ करने में उसे अधिक संकोच न होता था चाहे उससे राज्य-कोष का नुकसान ही क्यो न हो। अत्याचार, अपव्यय तथा भ्रष्टाचार को रोकने के लिये उसने कई सुधार किये।

मार्कस के सहयोगी शासक (रिजेण्ट) लूसिअस ने उसकी नीति और निर्णयो का सदा समर्थन किया। आठ वर्ष के बाद लूसिअस की मृत्यु हो गयी जिससे साम्राज्य का कुल बोझ मार्कस पर आ गिरा। उसकी शान्तिप्रिय नीति को निर्बलता का द्योतक मानकर साम्राज्य के द्रोहियो ने, विशेषत: सीमान्त के युद्धप्रिय कबीलो और राज्यो ने, आक्रमण करना शुरु कर दिया। यद्यपि रोमनो ने पार्थियनो के आक्रमणो को निरस्त कर उन्हे पीछे हटा दिया किन्तु वहाँ से वे प्लेग (महामारी) का भयकर रोग ले आये जिससे सीरिया से गाल तक असख्य प्रजा की मृत्यु और विनाश हुआ। उसके सिवा डेन्यूब नदी के उस पार के भ्रमणशील, असस्कृत किन्तु लड़ाकू कबीलो ने आक्रमण शुरु किये। सम्भव है कि इन कबीलो पर उनसे भी पीछे रहने वाले कबीलो ने इतना दबाव डाला हो कि वे आगे बढने पर मजबूर हुए हो। जो कुछ हो, उनके आक्रमणो से साम्राज्य के लिए भयकर सकट उठ खडा हुआ। लाचार होकर मार्कस को साम्राज्य की मर्यादा ही नही वरन् इटली की रक्षा के लिए युद्ध छेडना पडा। युद्ध तेरह वर्ष तक चलता रहा। उसी के बीच केसिअस ने विद्रोह की आग भडकायी जिससे और भी उलझन पैदा हो गयी। यद्यपि केसिअस के विद्रोह का दमन कर दिया गया किन्तु उसके कारण उपर्युक्त कबीलो को पूर्ण रूप से परास्त करने मे अडचन पैदा हो गयी। कठिनाइयो को तीव्रतर बनाने के लिए अतिवृष्टि ने अकाल फैला दिया। अनेक आपत्तियो के आ जाने से साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था डगमगाने लगी। ऐसी दशा मे नये कर लगाना अनुचित एव असम्भव समझकर सम्राट् को राज्य की इमारते, जवाहरात, कलात्मक मूर्तिया, सजावट के सामान, यहाँ तक कि कपडे भी बेचकर युद्ध के लिए धन एकत्रित करना पडा। यही नही, लाचार होकर उसको आक्रमणकारियो से सन्धि करनी पडी जिससे कुछ समय के लिए सीमाओ पर शान्ति रही। किन्तु बर्बरो को अनुभव हो गया कि रोमन सेना अजेय नही जिससे उसका आतक क्षीण होने लगा।

मार्कस का गार्हस्थ्य जीवन भी चिन्ताजनक रहा। संयम, दिन मे एक बार स्वल्प भोजन तथा मानसिक चिन्ताओ के कारण वह अपनी रूपवती किन्तु चचल स्वभाव की विनोदप्रिय स्त्री को यथेष्ट समय और ध्यान न दे पाता था। लोग तरह-तरह की झूठी-सच्ची बाते कहने और व्यंग्यात्मक तथा उपहासजनक लेख और

रचनाएँ लिखने तथा सुनने-सुनाने लगे । यद्यपि रोम के अनेक [illegible] प्रतिष्ठित सेनानियो तथा सम्राटों के सम्बन्ध में ऐसी ही [illegible] और होती रही किन्तु अधिक कोमलचित्त होने के कारण [illegible] जाता था ।

मार्कस ने एक भयंकर भूल की जब उसने अपने पुत्र [illegible] उत्तराधिकारी बनाया । हट्टा-कट्टा, लापरवाह नवयुवक [illegible] शिकार, शराब, जुआ और स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक [illegible] रहता था । उसे स्त्री-रूप बनाकर तदनुकूल व्यवहार [illegible] निर्दयता के दृश्यो से उसका मनोविनोद होता था । [illegible] नर-पशु था ।

एण्टोनाइन वंश का अन्तिम सुयोग्य, गरिष्ठ और [illegible] उसकी मृत्यु के पश्चात् उस वंश का ह्रास होना [illegible]

कमोडिअस (१८०-१९२ ई०)

गया। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को अपनी ओर मिला कर या उन्हे हराकर सेप्टिमस सेवेरस सम्राट् हो गया।

सेप्टिमस सेवेरस (१९३-२११ ई०)

अफ्रीका मे फोनीगियनो तथा इसाइयो के वीच उसका पालन-पोषण हुआ था। एथेन्स मे उसने साहित्य तथा दर्शन का अध्ययन किया था। उसे कवियो और दार्शनिको को अपनी गोष्ठियो मे रखने का शौक था किन्तु उनके ससर्ग से उसके साहस, शौर्य और क्षात्र धर्म मे विकार या दुर्वलता न आ पायी। डील-डोल मे पुष्ट तथा वीर एव चतुर सेनानी होते हुए भी वह सरल जीवन और रहन-सहन की सादगी का प्रेमी था। उसने सम्राट् के गार्ड (अगरक्षक) दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। प्रिटोरिअन गार्ड का चुनाव इटेलियनो मे से ही हुआ करता था किन्तु नये सम्राट् ने वह परिपाटी तोडकर विभिन्न प्रान्तो के सिपाहियो को उत्तरोत्तर भरती करना शुरू कर दिया। उद्दण्ड व्यक्तियो तथा सेनेट के वी ी उपद्रवी सदस्यो का भी वध उसने करवा डाला। इसके सिवा वहुत वड़ी सम्पत्ति वाले कुलीनो की जायदादे भी उसने जव्त कर ली। उसकी शक्ति का रहस्य उसकी आज्ञानुवर्तिनी सेना थी जिसको उसने वेतन वढ़ा-वढ़ाकर और अच्छे-अच्छे पदो पर नियुक्त करके सन्तुष्ट कर रखा था। जिन सैनिको की नियुक्ति प्रान्तो मे होती उनको वहाँ विवाह करने को उत्साहित किया जाता। परिणाम यह हुआ कि उनकी सन्तति रोम साम्राज्य की संस्कृति, व्यापार और हित साधन मे स्वाभाविक दिलचस्पी लेती और सीमाओ की रक्षा मे दत्तचित्त रहती थी। सबसे विलक्षण सुधार सैनिक शिक्षा को अनिवार्य वनाकर भी इटेलियनो को उससे वचित रखना था। इस नीति का यह परिणाम हुआ कि भविष्य मे प्रान्तीय सेना ही सम्राट् के चुनाव के लिए समर्थ हो सकी। रोम मे उसने प्रान्तीय सेना के कई लीजन्स लाकर जमा दिये जिससे रोमनो पर आतक छाया रहे।

रोम साम्राज्य मे टैक्सों की इतनी वृद्धि हो गयी थी कि लोग टैक्स लेने वालो की सूरत देखकर भागते और मुँह चुराते थे। इसके सिवा रोम के द्वारा नियुक्त नौकरों अथवा ठेकेदारो को स्थानिक प्रजा के साथ सहानुभूति नही हो सकती थी, जिसका दुष्परिणाम यह भी हुआ था कि लोग रोमनो को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। इन सब कठिनाइयो को समझकर सम्राट् ने टैक्स वसूल करने की जिम्मेदारी म्युनिसिपल सभाओ को दे दी और उनको यह आदेश दिया कि समाज के नानवाई, तेली आदि अत्यावश्यक सेवको पर टैक्स न लगावे।

सेप्टिमस ने 'इम्पेरेटर' की उपाधि धारण की जो रोमनो के लिए एक नयी पदवी थी उससे एशियाई और मिस्री सम्राट् की ध्वनि आती थी। वह एक नये युग की सूचना-सी बन गयी। सैन्य बल शासन का आधार और स्वच्छन्द सम्राट् साम्राज्य का सर्वेसर्वा बन गये।

सेप्टिमस की महारानी जूलिआ जो एक धनाढ्य पुरोहित की पुत्री थी, अपने रूप और लावण्य के लिए विख्यात थी। सम्राट् राजनीतिक उलझनो मे फँसा था पर वह एक संस्था का सचालन कर रही थी जिसमे साहित्य और कलाओ के प्रेमी तथा कलाकार एकत्रित होते और विचार-विनिमय करते थे। महारानी उनके उत्साह का उन्मुक्त सवर्धन करती थी। उसके व्यक्तित्व का प्रभाव सेप्टिमस के विचारो और व्यवहारो पर भी दिखाई पडने लगा। अपने पुत्रो को सम्राट् ने यह उपदेश दिया कि सेना को यदि सन्तुष्ट रखा जाय तो फिर किसी की भी चिन्ता करना अनावश्यक है।

केरकेला (२११-२१७ ई०)

सेप्टिमस का पुत्र मारकस एमेलिअस, जो केरकेला के नाम से विख्यात है, सम्राट् हुआ। साझीदार होने के भय से उसने अपने छोटे भाई का वध करा दिया और उसके सहायको को भी हजारो की सख्या मे तलवार के घाट उतार दिया। केरकेला भी एक विलक्षण जीव था। साधारण शासन का भार तो उसने अपनी माँ के हाथ मे छोड़ दिया और स्वय सैनिको, द्वन्द्व युद्ध करने वालो और गरीबो के साथ मिलता-जुलता रहता था। उसे शिकार और शेर से अकेले लडने का व्यसन था। उसके भोजन के समय मेज के पास सिह बैठा रहता। एक सिह उसके पलग पर भी बैठा रहता था। युद्ध करना उसे प्रिय था किन्तु बल के बदले छल से काम चलता हो तो वह उसका निस्सकोच प्रयोग कर डालता था। धोखा देकर उसने आरमीनिया के राजा और राजकुमारो को कैद कर लिया। उसका सबसे निर्दयतापूर्ण और घृणित काम था अलेक्जैण्ड्रिया के युवको को सेना मे भरती करने के बहाने बुलाकर सबका वध करवा देना। सरकस के खेलो का उसे इतना व्यसन था कि उन पर वह अपार धन व्यय करता रहा और सैनिको का वेतन भी ड्योढ़ा कर दिया। रोम का सबसे बड़ा स्नानागार बनवाने मे भी उसने खूब धन लगाया। उसकी बड़ी उत्कट आकांक्षा महान् अलेक्ज़ैण्डर के समान विजयी होने की थी। मनसूबो तथा व्यसनो में धन का अपव्यय करने से राज्य-कोष खाली हो गया। उसकी पूर्ति के लिए उसने ऐसा

ढग निकाला जिससे साम्राज्य की नीति मे बडे मार्के का परिवर्तन हो गया और जिसका प्रभाव विस्मयजनक हुआ। उसने साम्राज्य की सब स्वतन्त्र प्रजा को रोमनो के-से नागरिक अधिकार प्रदान कर दिये (२१२ ई०)। यद्यपि क्लाडिअस के समय मे ही इस विचारधारा का कुछ कुछ विकास हो रहा था किन्तु उसको निर्भयता के साथ पूर्ण करने का श्रेय केरकेला को ही प्राप्त हुआ। उसकी नीति का एक परिणाम तो यह हुआ कि साम्राज्य मे रोमनो का विशिष्ट महत्व न रहा। दूसरा यह कि प्रान्तीय प्रजा का राजनीतिक स्तर रोमनो के समान हो जाने के कारण साम्राज्य मे उनको समान अधिकार प्राप्त हुए जिससे उनमे आत्माभिमान की वृद्धि हुई। किन्तु सम्राट् को तात्कालिक लाभ यह हुआ कि प्रान्तीय प्रजा पर वे विशिष्ट कर लग गये जिनसे अभी तक वह मुक्त थी। इसीलिए यह शका की जाती है कि केरकेला इस कार्य मे किसी उच्च आदर्श से प्रेरित नही था बल्कि अपने रिक्त कोप की आमदनी बढाने के लिए ही उसने एक साधन प्रचलित किया था। उस आर्थिक ध्येय को सामने रखकर उसने प्रचलित सिक्को का मूल्य तो पूर्ववत् रखा किन्तु उनके चाँदी-सोने मे अन्य सस्ती धातुएँ मिलाकर उन्हे भ्रष्ट कर दिया। उसके व्यवहार से क्षुब्ध होकर एक प्रिटोरियन गार्ड ने उसका वध कर डाला (२१७ ई०)। और चौदह महीने तक सिहासन सेवरस वश के हाथ से निकला रहा। केरकेला की सुन्दरी महारानी जूलिया डोम्ना ने निर्वासित दशा मे निराहार रहकर प्राण त्याग दिये।

जूलिया डोम्ना की बहन जलिआ मेइसा बडी योग्य और चतुर स्त्री थी। उसके प्रयत्न से फिर सेवरस वश का एलागेबेल्स नामक चोदह वर्ष का राजकुमार सिहासन पर बिठाया गया। सेवेरिअस एविटस बेसिएक्स सीरिया के सूर्यदेवता के मन्दिर मे पुजारी था। शायद इसीलिए वह एलागेबेल्स के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह स्वय रूपवान भी था और अपना स्थान देवता जुपिटर से भी ऊँचा समझता था। उसी धारणा के साथ-साथ वह हिराक्लस की पत्नी होने की कल्पना करता और तदनुकूल व्यवहार भी करता था। उसके अदम्य व्यभिचार और दुर्व्यसनो के कारण हिसाप्रिय तथा भोग-विलास-प्रिय रोमन भी हैरान थे। कहा जाता है कि सम्भवत. रोम का कोई भी सम्राट् या सेनानायक व्यभिचार और दुर्व्यसन मे उसकी समता नही कर सका। सनक मे आकर अपने विवाह के अवसर पर उसने बेहिसाब सौगाते बाँटी और एम्फी थियेटर के खेलो मे अगणित पशुओ का, जिनमे ५१ व्याघ्र तथा एक हाथी भी था, विभत्सता से साथ वध करवाया। वह अकारण अनेक मनुष्यो को मरवा डालता था। उसके दो कामो से रोमनो को विशेष क्षोभ और क्रोध उत्पन्न

हुआ। पहला यह कि उसने वेस्टल वर्जिन (देव कुमारी) से वलात् विवाह कर लिया औ दूसरा यह कि जुपिटर के मन्दिर से भी विशाल मन्दिर बनवाकर बडे समारोह के साथ 'एलागेबेलस' (सूर्य देवता) को उसमे प्रतिष्ठित किया। फिर अपने एलागे-बेलस का बडे धूमधाम से कार्थेज की देवी यूरेनिआ से व्याह करवाया। मन्दिर और व्याह से सीरिया और अफ्रीका के सैनिको और लोगो को चाहे जितना सन्तोप और आनन्द प्राप्त हुआ हो किन्तु रोमनों को बड़ी वेदना हुई। चार वर्ष भी राज्य के पूरे न हो पाये थे कि प्रिटोरियन गार्ड ने उसका वध कर डाला।

एलागेबेलस तो निकम्मा था किन्तु उसकी नानी जूलिआ मेइसा अद्भुत प्रतिभाशालिनी, योग्य तथा कार्यकुशल थीं। कहा जाता है कि उसका स्थान रानी एग्रिपिना से भी ऊँचा था। सम्भवत. यह प्रथम स्त्री थी जिसने सेनेट की बहसों मे भाग लिया और जिसकी सम्मति ध्यानपूर्वक सुनी जाती थी। नये सम्राट् अले-क्जेण्डर की अवस्था सिहासनरूढ होने पर केवल चौदह वर्ष की थी अतएव साम्राज्य के शासन और नियन्त्रण का भार राजमातामही प्रतिनिधि की हैसियत से वहन करती थी। उसकी नीति सेवेरस और केरकेला से भिन्न थी। केवल सेना के बल पर अवलम्बित रहना उसे श्रेयस्कर प्रतीत न हुआ। अतएव उसने सेनेट के सम्मान का पुनःस्थापन तथा शासन को सेना के हाथों से नागरिको के हाथो मे सौप देने का कुशल प्रयास किया। उसकी अध्यक्षता मे बारह वर्ष तक ऐसी शान्ति और ऐसा सुन्दर शासन रहा कि उसके युग को परवर्ती लेखक 'स्वर्णयुग' कहने लगे। उसकी नीति-कुशलता, शान्ति तथा न्याय-प्रियता, धार्मिक उदारता, प्रजा के प्रति सहानुभूति के कारण सीमाओ के दोनों ओर शान्ति रही जिससे व्यापार तथा आर्थिक सगठन मे उन्नति हुई। कला-कौशल तथा शिक्षा-प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया गया और प्रजा के भरण-पोषण मे सुरुचि तथा सहानुभूति से काम हुआ। शिक्षको और विद्वानो का आदर-सम्मान बढ़ गया। जिमीदारो के कर भी घटा दिये गये जिससे उनकी दशा भी सुधरने लगी। उपर्युक्त नीति से शासन का खर्च बढ गया तथापि राजकोष उसे झेल ले गया। राजदरबार के खर्च मे जहाँ तक किफायत हो सकी वह की गयी, जिससे साम्राज्य का कोष खाली न होने पाया। राजमाता ने अलेक्जेण्डर को बुरी सगति से दूर रखकर उसके आचार-विचारो को शिष्ट और पुष्ट बना दिया। उसकी शिक्षा और दीक्षा बड़े सुन्दर ढंग से की गयी। उसके आचरण शुद्ध और सरल थे। उसको परामर्श देने के लिए राजमाता ने सोलह सुशिक्षित और आदरणीय सज्जनों की एक समिति बना दी।

साम्राज्य बारह वर्ष तक शान्ति रही किन्तु सेना की बेकारी और व्यवस्थित शासन प्रजा को कम रुचिकर प्रतीत होने लगा। यद्यपि साम्राज्य की धाक बँध गयी थी और नीति सफल होने लगी थी तथापि सैनिकगण तथा रणप्रिय नेता मन ही मन संघर्ष चाहते थे। सयोग से वैसा अवसर भी आ गया। फारस का सासानी राजवंश दिनोदिन संगठित और बलशाली होता जा रहा था। अनुश्रुति के अनुसार सासानी वंश का अभ्युदय अनाहिता के मन्दिर के विशिष्ट अधिकारियो से आरम्भ हुआ। उक्त वश के पपक नामक व्यक्ति ने किसी प्रान्तीय सरदार की पुत्री से विवाह करके आखिरकार अधिकार भी छीन लिया (२०३ ई०)। उसके पार्थियन अधिपति ने अधिकार-परिवर्तन को अस्वीकृत कर दिया। इस पर राजा और सरदार पपक का संघर्ष आरम्भ हुआ। उस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि ईरान, विशेषतः फारस, मे विप्लव-सा उठ खड़ा हुआ। पपक की मृत्यु के उपरान्त उसके दोनो पुत्रो, शापुर और अर्दशीर मे युद्ध छिडा। दैवयोग से शापुर की मृत्यु हो गयी और अर्दशीर की सत्ता स्थापित हो गयी। उसने घोषणा कर दी कि वह फारस का स्वतन्त्र राजा है और तदनुसार उसने वहाँ के भूमिपतियो और सरदारो पर अपना आधिपत्य सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया। पार्थिया के सम्राट् ने उसके दमन के लिए जो सेना भेजी वह पराजित हुई जिससे अर्दशीर का आतक बहुत बढ़ गया। उत्साहित होकर उसने स्वय पार्थियन राज्य पर आक्रमण किये और अन्ततोगत्वा पार्थियन राजा का वध कर डाला (२२४ ई०)। यद्यपि पार्थिया को रोम वालों और कुशाण राजा ने काफी सहायता दी किन्तु अर्दशीर ने उनको भी परास्त कर दिया। दस वर्ष के भीतर ही उसका साम्राज्य फरात नदी से मर्व और हेरात तक विस्तृत हो गया। अर्दशीर की प्रबुद्ध शक्ति से रोम के सम्राट् अलेक्जेण्डर को घोर चिन्ता हुई। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि ईरान का पुराना साम्राज्य पुनः जाग उठा है और जो कार्य मकदूनिया के अलेक्जेण्डर को करना पड़ा था वह अब उसको ही करना पड़ेगा। इस कल्पना के अनुसार उसने रोम की सेना का सगठन मकदूनिया के समान कर दिया। उसका विचार फारस पर तीन ओर से आक्रमण करने का था। सासानी भी जागरूक थे। दोनो ओर से बडे पैमाने पर तैयारियाँ होने लगी। अर्दशीर ने रोम की दो सेनाओ को नष्ट कर दिया, किन्तु तीसरी से भयकर युद्ध हुआ जिसमें दोनों की बड़ी हानि हुई। दोनो को अपने अपने दृष्टिकोण से सफलता रही। किन्तु सीमा का प्रश्न ज्यो-का-त्यो रहा। रोम की यह धारणा रही कि वह असफल होकर युद्ध से पराङमुख हो गया है। इस धारणा का परिणाम उसके विरुद्ध षड्-

यन्त्र हुआ । उसी जमाने मे आलमनियो ने भी, जो जर्मनी की एक जाति थी, साम्राज्य की सीमा पर आक्रमण किया । उनको शान्त रखने के लिए रिश्वत देने का प्रस्ताव किया गया । रोम की सैनिक शक्ति की धाक शीघ्रता से बिगडती देखकर तथा अनुशासन की कठोरता तथा कायरता से क्रुद्ध होकर षड्यन्त्रकारियो ने अलेक्जेण्डर का वध कर डाला । उसी के साथ उसकी नानी का भी निधन हुआ (२३५ ई०) ।

अलेक्जेण्डर का निधन होते ही रोम की सेनाओ में बडी अराजकता फैल गयी, जो लगभग पचास वर्ष तक चलती रही । सम्राट् बनने की लालसा से अनेक सेनानायक स्वतन्त्र होकर तदर्थ प्रयत्नशील हो गये । रोम साम्राज्य का यह युग अन्धकारग्रस्त है । इतिहास भी अभी तक उस पर पूरा प्रकाश डालने मे समर्थ नही हो सका । आगामी अर्धशती मे सत्रह सम्राट् हुए जिनमे एक-दो को छोडकर सबका वध हुआ ।

सेना के निरकुश होने का सबसे बुरा फल यह हुआ कि डेन्यूब की सीमा कमजोर हो गयी जिससे 'गाथ' आदि बर्बर जातियाँ बल्कान मे घुस पडी । रोम का सम्राट् जो उनको हटाने गया युद्ध मे मारा गया । आधिपत्य प्राप्त करने के लिए खास इटली मे प्रतिद्वन्दी युद्ध करने लगे । डेन्यूब, और राइन नदी की निचली और मध्य की सीमाएँ टूट गयी जिससे फ्राक लोग बहुत बडी सख्या मे घुस पडे (२५०ई०)। और गॉल तथा स्पेन तक जा पहुँचे । उसी प्रकार आलमनी जाति के लोग राइन नदी पारकर इटली मे प्रविष्ट हो गये ।

अर्दशीर का पुत्र शापुर जो इस समय फारस के राजसिंहासन पर आसीन था अपने पिता के समान पराक्रमी निकला । उसने सीरिया पर आक्रमण किया और एण्टिआक तक आ पहुँचा । रोमन सम्राट् वेलेरिअन को छल-बल से उसने कैद कर लिया । वेलेरियन की मृत्यु कैद ही मे बड़ी बेहुरमती से हुई (२५० ई०) । अपनी विजय से उत्साहित होकर शापुर आगे बढ़ा और एनातोलिया के पश्चिमी समुद्री तट तक पहुँच गया । उसका आधिपत्य जमने के पहले ही पालमाइरा की रोमन सेना ने मेसोपटेमिया पर चढ़ाई कर दी । फलत. शापुर को लौटना पडा और मेसोपटेमिया को खाली कर देना पड़ा । इससे प्रसन्न होकर रोम के सम्राट् ने पालमाइरा के सेनानायक ओडेनेथस को राजा की पदवी से विभूषित कर दिया । कुछ ही वर्षो मे पालमाइरा के राजा ने ऐसी शक्ति सचित कर ली और ऐसा व्यवहार किया जिससे रोम के सम्राट् को अनिष्ट की आशका हो गयी । पालमाइरा का शासन विधवा रानी जिनोबिया सेप्टेमिया के हाथ मे आया (२६७ ई०) । उसे ग्रीक, सीरियन, मिस्री तथा लाटिन भाषाओ का ज्ञान था । विद्या-प्रेम के साथ ही साथ उसे मिस्र की

सुविख्यात रानी क्लिओपेट्रा के समान ऐश्वर्य और महत्त्व की प्रबल आकांक्षा भी थी। वह अपने को मिस्र के टोलेमी राजवंश की पुत्री कहती थी। पुरुषोचित व्यायाम और शिकार का उसे शौक था। तथापि उसका आचरण शिष्ट एवं शुद्ध था। उसने अपना आधिपत्य मिस्र देश पर भी जमा लिया और 'पूर्व की रानी' की उपाधि धारण कर बड़े ठाट-बाट से शासन करने लगी। अपने पराक्रम और चतुरता से उसने मिस्र से एशियाई कोचक तथा बास्फोरस तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया जिससे रोम का महत्त्व एशियाई कोचक में अस्तप्राय होने लगा। विजयों से उत्साहित होकर उसने २७२ ई० में रोम के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यदि रोम का सम्राट् जर्मन आक्रमणों को रोकने में न फँस गया होता तो सम्भवतः विद्रोह करने का साहस रानी न करती।

विद्रोह का अवसर चुनने में जिनोबिया ने भूल की। उसने यह न सोचा कि गाथ लोगों के टीड़ी दल को २७० ई० में परास्त करने से रोम के सम्राट् की चिन्ता का एक भयंकर कारण दूर हो गया। इसके सिवा नये सम्राट् आरेलिअन ने भी गाथों के उस दल को जो इटली में घुस गया था, घोर युद्ध करके भगा दिया (२७१ ई०)। उधर से निश्चिन्त होकर आरेलिअन ने जिनोबिया को, जो पालमाइरा के जलस्रोत के सूखने से हताश होकर फारस भागी जाती थी, पकड़ लिया और रोम में कैदी बना कर रखा। कार्थेज की तरह पालमाइरा भी भस्मसात् कर दिया गया (२७२ ई०)। यद्यपि आरेलिअन योग्य सेनानायक और कुशल शासक था जिससे साम्राज्य को लाभ होने की आशा थी किन्तु वह केवल पाँच वर्ष ही राज्य कर पाया। इसी थोड़े समय में उसने रोम की आर्थिक स्थिति सँभालने तथा अनुशासन दृढ़ करने और लोकोपयोगी इमारतों, नदी के तटों तथा नगर की प्राचीर को सुदृढ करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उसने सिक्कों के सुधार का भी प्रयत्न किया। गरीबों को अनाज के बदले वह पकी-पकायी रोटियाँ, तेल, नमक और सुअर का गोश्त मुफ्त बँटवाता था। यद्यपि स्वयं वह सरल, कम खर्च और सादगी-पसन्द था तथापि रोबदाब तथा जनता को आकर्षित करने के लिये अनेक प्रभावोत्पादक विधि-विधान उसने प्रचलित किये। सम्राट् को ईश्वर अथवा सूर्यदेव का प्रतिरूप कहकर उसके प्रति भक्ति, श्रद्धा तथा अर्चा का आदेश दिया। अपनी नीति और आज्ञाओं में सेनेट को वह हस्त-क्षेप न करने देता था। सूर्य की पूजा को उसने राष्ट्र-धर्म घोषित कर दिया। उसके दृढ शासन तथा प्रबल नियन्त्रण से शासक वर्ग में व्याकुलता फैली। फैलसूफ अमीरों तथा शौकीन लोगों को सीधे-सादे रहन-सहन के प्रति उसका आग्रह असन्तोषजनक

हो गया। रिश्वतखोरो तथा अनाप-शनाप लाभ उठाने वाले व्यवसायियो मे भय और रोष बढा। सूर्य देवता के एक विशाल मन्दिर के निर्माण होने तथा उसे धर्म का प्रमुख केन्द्र बनाने के प्रयत्न से अन्य धर्माधिकारियो मे ईर्ष्या-द्वेष के भाव जाग्रत हो गये। साधारण जनता पर पूँजी वालो ने जो अक्षय कर्ज लाद रखा था उसको उसने अनुचित और अन्यायपूर्ण घोषित करके अदा करने से मुक्त कर दिया। इससे सूदखोरो और गुलामो पर अत्याचार करने वालो मे हलचल फैल गयी। इन सब जनोपयोगी कार्यो का यह फल हुआ कि उसके विरुद्ध षड्यन्त्र की भावना स्वार्थ परायण समुदायो मे बढती गयी। अन्ततोगत्वा इराम नामक उसके सेक्रेटरी ने एक जाली पत्र बनाया जिसमे कई अफसरो को प्राणदण्ड देने का आदेश लिखा हुआ था। उत्तेजित होकर अफसरो ने सम्राट् को मार डाला (२७५ ई०)। हत्याकाण्ड का समाचार फैलते ही सैनिको ने इरास तथा हत्यारे अफसरो का वध कर दिया।

फारस मे शापुर के उत्तराधिकारियो मे राजसिहासन के लिए सघर्ष छिड गया (२७२ ई०) जिसके कारण फारस से न तो जिनोबिया को सहायता मिली और न रोम वालो का विरोध हुआ। रोम वाले भी पालमाइरा की विजय से लाभ उठा कर फारस को हानि इसलिए न पहुँचा सके कि आरेलिअन के वध के पश्चत् जो सम्राट् हुए वे गाल पर जर्मनो के आक्रमणो मे उलझे रहे या स्वच्छन्द सेनापतियो से लडते रहे। उनका शासनकाल भी अधिक स्थायी न रहा। यद्यपि सम्राट् केरस ने फारस के सम्राट् बहराम द्वितीय पर, जिसने आरमीनिया और मेसोपटेमिया पर अधिकार जमा लिया था, चढाई की (२९२ ई०)। किन्तु उसका कोई परिणाम न निकला।

डायोक्लीशियन (२८५-३०५ ई०)

डायोक्लीशियन ने साम्राज्य की सीमाओ पर बारम्बार आक्रमणो को रोकने और शासनिक व्यवस्था स्थापित करने के लिये नवीन योजना बनायी। इस योजना के अनुसार दो आगस्टस एक स्वय डायोक्लीशियन और दूसरा मेक्सिमिनिअस नियुक्त हुए। यद्यपि डायोक्लीशियन का स्थान प्रथम था तथापि दोनो के अधिकार समान निश्चित किये गये। डायोक्लीशियन ने निकोमीडिया मे जो बाइजेण्टम से कुछ मील दूर था और मेक्सिमिनिअस ने मिलान मे अपनी राजधानियाँ बनायी। प्रत्येक आगस्टस को एक सीजर चुनने का अधिकार दिया गया। आगस्टस से सीजर का दर्जा कम था और उसके अधिकार भी कम थे। डायोक्लीशियन ने अपना सहयोगी गेलेरिअस को और मैक्सिमिनिअस ने कान्स्टेण्टिअस को चुना।

आगस्टीय क्षेत्रो के अन्तर्गत एक भू-भाग का शासन सीजरो को दे दिया गय और उनके शासन-केन्द्र निश्चित कर दिये गये। यही नही, आगस्टसों ने अपने-अपने सीज़रों का अपनी-अपनी पुत्री के साथ विवाह भी कर दिया।

योजना की दूसरी विशेपता यह थी कि प्रत्येक कानून अथवा आज्ञाएँ चारों पदाधिकारियो के नाम से प्रकाशित होती जिससे यह प्रतीत न हो कि साम्राज्य चार टुकडो में बाँट दिया गया। तीसरी विशेपता यह थी कि दोनो आगस्टसो ने यह निर्धारित किया कि बीस वर्ष के शासन के उपरान्त वे अपना स्थान सहयोगी सीजर को देकर हट जायेगे। उनकी धारणा थी कि उपर्युक्त प्रथा से आगस्टस पद के लिए सघर्ष कम और साम्राज्य की चारों दिशाओ का प्रबन्ध सुदृढ़ और सन्तोपजनक हो सकेगा। इसके सिवा आगस्टस के पद पर पहुँचने के पहले सीज़र को शासन सम्बन्धी नीति और उसका व्यावहारिक ज्ञान एव अनुभव भी अच्छा होगा और साम्राज्य की नीति में आमूल उलट-पुलट की सम्भावना भी कम होगी। सिद्धान्त के हिसाब से उपर्युक्त नीति अच्छी कही जा सकती थी किन्तु उससे चारों मे संघर्ष की आशका तो दूर न होती थी।

शासन में उत्तरदायित्व, गम्भीरता एवं शिप्टता के स्थापन के लिए डायोक्लीशियन ने कुलीनो की मर्यादा और अधिकारो को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। ऐरे-गैरे पचकल्याणी लोगो के हाथ मे शासन के चले जाने से रोम राज्य तथा साम्राज्य को कटु अनुभव होते रहे थे जिससे सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती थी। कुलीन श्रेणी का पुनर्निर्माण करने के लिए सम्राट् ने पदों को वंशानुगत कर दिया जिससे नौकरशाही स्थिर, गम्भीर तथा अधिक अनुभवी हो सके। सम्राट् की यह धारणा थी कि शान्ति एवं सरक्षित परिस्थिति मे ही जनसत्ता का आनन्द उठाया जा सकता है, अन्यथा डिक्टेटरशिप उससे कही अधिक उपयोगी तथा बलदायक होती है। साम्राज्य की स्थिति के अनुसार उसी की आवश्यकता है।

डायोक्लीशियन ने आर्थिक दशा सुधारने के लिए काफी उत्साह दिखाया। सिक्को की भ्रप्टता को, जो चाँदी की कमी के कारण हुई थी, यथासाध्य कम करके उसने नये और अच्छे सिक्के प्रचलित किये। प्राइवेट व्यापार को उत्तेजना दी। शासन के हाथ मे कुछ गिने-चुने व्यापार आवश्यक समझकर रख दिये। लोहा, सोना, अनाज, शराब, नमक, दलाली तथा कीमती वस्त्र आदि का कण्ट्रोल शासन के हाथ मे रखा। बेकारी दूर करने के लिए लोकोपयोगी अनेक निर्माण-कार्य चालू किये। खाने-पीने की आवश्यक चीजो की दर निर्धारित कर दी गयी और नीची

श्रेणी के कारीगरो तथा मजदूरो का वेतन भी निश्चित किया गया (३०१ ई०)। गरीबो की स्थिति के अनुसार खाने की चीजे या तो आधे दाम पर या मुफ्त दी जाने लगी। सरकारी कामो मे सबसे अधिक नौकर तथा मजदूर भरती किये गये।

सैनिक विभाग को साधारण विभाग से पृथक् कर देना डायोक्लीशियन के महत्त्वपूर्ण सुधारो मे गिना जाता है। नौकरियो की सख्या भी खूब बढायी गयी जिससे बेरोजगारी कम हो सके। शासन को दृढ तथा नौकरियो की वृद्धि करने के लिए उसने सूबो तथा प्रान्तो की सख्या बढा दी। प्रिटोरियन गार्डो की शक्ति तोडने के लिए उसने उन्हे सवारो और पदातियो के अध्यक्षो के सुपुर्द कर दिया। प्रिटोरियन नेताओ को जिन्सी कर वसूल करने तथा न्याय वितरण का काम दिया गया।

डायोक्लीशियन के समय मे सम्भवत गेलेरियम के आग्रह से ईसाई धर्म का घोर दमन किया गया। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि धार्मिक मामलो मे रोमनो की उदार नीति थी उसका पालन न करके ईसाई अपने मत को छोडकर अन्य सभी मतो का खण्डन और विरोध करते थे। विभिन्न मतो या धर्मो के होते हुए भी रोमनो ने एक राष्ट्र-धर्म की आवश्यकता का अनुभव किया और उसका सक्रिय प्रचार किया। ईसाई उसका भी विरोध करते थे क्योकि वह उनके विश्वासो के अनुसार कपोल-कल्पित और मिथ्या था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि ईसाई डायोक्लीशियन के विनाश के लिए षड्यन्त्र करते थे। यह सच है कि वे सम्राट् को ईश्वर का प्रतीक मानकर उसकी पूजा करने के लिए कदापि तैयार न हुए। दमन की नीति से ईसाई धर्म का सम्मान और प्रचार बढने लगा। आखिरकार दमन को बन्द कर देना ही ठीक समझा गया।

बीस वर्ष तक सम्राट् रहने के पश्चात् डायोक्लीशियन ने अपना पद त्याग कर (१ मई ३०५ ई०) तटस्थ रूप मे अपने जीवन के अन्तिम दस वर्ष व्यतीत किये (३१६ ई०)। मेक्सिमिनिअस ने भी अपना पद त्याग दिया।

डायोक्लीशियन की योजना के अनुसार दोनो नियुक्त सीजरो को आगस्टस का स्थान मिलना चाहिए था। किन्तु वह आशा पूर्ण न हुई। प्रत्युत बहुत-से दावेदार उठ खडे हुए। सन् ३१० ई० मे ही पाँच आगस्टस बन बैठे। सघर्ष होने के पश्चात् कान्स्टेण्टाइन साम्राज्य का एकमात्र सम्राट् हो गया (३२४ ई०)।

कान्स्टेण्टाइन (३२४–३३७ ई०)

कान्स्टेण्टाइन सदाचारी, सयमी, हृष्ट-पुष्ट और तेजस्वी, उदार विचार तथा

विवेकशील और कार्यकुशल था। उसने ज्ञान और विज्ञान के संवर्द्धन तथा कलाओं को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। अपने साम्राज्य का दबदबा स्थापित करने के लिये और शान-शौकत मे फारस के सम्राट् से भी आगे बढने की स्पार्धा के कारण अपनी राजधानी, राजमहल, दरबार आदि पर इतना अधिक धन व्यय किया कि उसको कोष के पूर्ण करने की चिन्ता बढी। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह लोभ-ग्रस्त हो गया। जो कुछ भी हो, उसकी नयी राजधानी बाइजेण्टिअम (कान्स्टेण्टिनोपल) इतनी श्री-सम्पन्न हो गयी कि रोम की शान भी उसके सामने फीकी जान पडने लगी। राजनीतिक और शासनिक केन्द्र हो जाने से उसका महत्त्व उसी अनुपात से बढा जिससे रोम का कम हुआ। नयी राजधानी से फारस तथा उत्तरी और पूर्वीय बर्बरो की गतिविधि पर कडी नजर रखी जा सकती थी और उनके दमन के लिए शीघ्रतापूर्वक प्रतिकार किया जा सकता था। इसके सिवा वहाँ खाने-पीने की चीजे सरलता से पर्याप्त मात्रा मे मिल सकती थी।

यद्यपि कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई मत को विजयी करने का झण्डा उठाया था तथापि उसने अन्य धर्मावलम्बियो के देवालयो के निर्माण मे कोई अड़चन न डाली और न ईसाई धर्म को राष्ट्र-धर्म घोषित किया। रोम की परम्परागत रूढ़ियो से मुक्त हो जाने के कारण नयी राजधानी मे ईसाई धर्म को उन्नति करने का अभूतपूर्व अवसर मिला और ईसाईयो को विशेष सम्मान प्राप्त हो गया। कान्स्टेण्टाइन की आंशिक समता सम्राट् अशोक से इसलिए की जाती है कि दोनों ने नवीन धर्मो का पोषण और प्रचार किया जिससे पहले उनकी उन्नति हुई और आगे चलकर अवनति हो गयी। उसके सिवा अशोक के अन्य गुण उसमे नही पाये जाते। कान्स्टेण्टाइन ने ईसाईयो के दो मुख्य सम्प्रदायो को मिलाकर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया किन्तु यथेष्ट सफलता प्राप्त न हो सकी। ईसाई धर्म को उसने खुल्लमखुल्ला स्वीकृत नही किया। हाँ, मरने के करीब ईसाइयो का आरियन मत स्वीकार कर लिया।

एशिया के करीब राजधानी आने से एशियाई राज्यो के ठाठ-बाट और दरबारी शिष्टाचार का प्रभाव कान्स्टेण्टाइन के संगठनो और सुधारो पर पडा। सम्राट् का दर्शन साधारण जनता के लिए दुर्लभ हो गया। ईश्वर का प्रतिनिधि होने की हैसियत से सम्राट् के ऐश्वर्य की वृद्धि हुई, जिससे उसके दर्शन का सौभाग्य राज्य के बडे पदाधिकारियो और दरबारियो को ही प्राप्त होता था। सम्राट् के परामर्श-दाताओ मे राजभवन का मुख्य प्रबन्धक, नकदी करो और भेटों आदि का साग्रहिक

तथा सम्राट् का व्ययाध्यक्ष, न्यायाध्यक्ष आदि उल्लेखनीय हैं। सम्राट के बाद क्लेरिस्मिमी (महातेजस्वी) तथा 'प्रिफेक्टिसिमिनी' (महानिपुण) के स्थान गिने जाते थे। सम्राट् के मन्त्रिमण्डल में बीस प्रमुख पदाधिकारी थे जो शासन तथा सेना के अध्यक्ष होते थे। केवल सम्राट ही धूप-छाँह का विशिष्ट वस्त्र पहनने, सिर पर रत्न-जटित मुकुट धारण करने और गरुड़मुखी राजदण्ड रखने का अधिकारी था।

सारे राज्य के पदाधिकारियों का एक मुख्याध्यक्ष था जो जासूसों द्वारा उनकी गतिविधि का निरन्तर ज्ञान प्राप्त करता रहता था। प्रत्येक प्रान्त तथा नगर के शासन के लिए वहाँ का शासक और उसको परामर्श देनेवाली सभाएँ नियुक्त थी।

साम्राज्य मे सेना पर बहुत व्यय होता था। सैनिकों के साठ दल थे। उनके सिवा सहायक सेनाएँ, अश्वारोहियों के रिसाले तथा नौ-सेना थी। सीमाओं की सुरक्षा के लिए उचित स्थानों पर सेनाएँ नियुक्त थी जिनको भू-भाग दे दिये गये थे। उन पर साधारण शासन का नियन्त्रण न था। उस भू-भाग पर सैनिक खेती-बारी करने और आवश्यकता पड़ने पर लड़ने चले जाते थे। उनके सिवा दो लाख सुसज्जित और युद्धकला मे दक्ष सेना थी, जिसके दल आवश्यकता पड़ने पर निश्चित स्थान पर शीघ्रतापूर्वक भेज दिये जाते थे। साढ़े तीन हजार चुने हुए सैनिक सम्राट् के खास संरक्षक-दल मे तैनात रहते थे। पदातियों और अश्वारोहियों के अलग-अलग सेनाध्यक्ष थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्कालीन समाज को ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो मानव-शक्ति तथा शासन एवं अन्य साधनों की पूर्ति करने मे समर्थ हो। इस उद्देश्य को सामने रखकर यह नीति निश्चित की गयी कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र तथा विभाग मे काम करनेवालों को वंशानुगत व्यवसाय मे प्रतिष्ठित कर दिया जाय। शासक, व्यापारी, उद्योग-धन्धे वाले, कृषक, सैनिक आदि वर्गों को अपने-अपने क्षेत्र मे पुश्त-दर-पुश्त काम करना आवश्यक अतएव अनिवार्य कर दिया गया। इस विधान मे अनेकानेक उपजातियाँ-सी संगठित हो गयी। यद्यपि इस प्रबन्ध मे आवश्यक साधनों मे स्थिरता और दृढ़ता अवश्य आ गयी तथापि मनुष्य को अपना व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता खो देनी पड़ी।

साम्राज्य के बढ़ते हुए खर्च के लिए अमीरों और जमीदारों पर अनिश्चित कर लगाये गये। युद्धों तथा महामारी के कारण साम्राज्य की जनसंख्या घटती जाती थी अत. सेना मे बर्बर जातियों के लोगों को भरना आवश्यक हो गया। सैनिक बल बढ़ाये बिना उतने बड़े साम्राज्य मे शान्ति तथा सीमाओं की रक्षा असम्भव थी।

ऐसी स्थिति मे साधारण मध्य श्रेणी के लोगो का लोप हो गया, कृपक भी कठिनाई से अपने कुटुम्ब का पालन कर पाते थे। साराश यह कि साम्राज्य की आर्थिक दशा दिनो दिन बिगडती चली जाती थी।

चौथी शती का उत्तरार्द्ध रोम साम्राज्य के लिए प्रलयकारी सिद्ध हुआ। साम्राज्य के लिए तो युद्ध चलते रहे किन्तु मध्य एशिया के हूणो के पश्चिम की ओर प्रयाण तथा फारस के सासानियो के आघातो से रोम साम्राज्य की पूर्वी सीमाएँ टूटने लगी। हूण दल चीन की कई जातियों के, जिनमे मंगोल, तुर्क और तुगस मुख्य थी, सम्मिश्रण से बना था। वे लोग खानाबदोश घुडसवार थे यद्यपि उनके साथ बैल, ऊँट और भेडे भी रहती थी। उनका भोजन मास था और उनके वस्त्र पशुओ की खाल से बनाये जाते थे। बचपन से ही उनको युद्ध करने का अभ्यास होता था। कई शतियो तक वे चीन मे उथल-पुथल करते रहे। यद्यपि हानवशीय चीनी सम्राटो ने उन्हे कुछ समय के लिए शान्त रखा, किन्तु वे अदम्य थे और अवसर पाते ही उपद्रव करने लगते थे। चीनी सम्राटो के अथक परिश्रम से हूणो का प्रवाह पश्चिम की ओर मुड गया। मार्ग की बसी जातियो को ठेलते-ढकेलते हुए वे पूर्वी गाथ (आस्ट्रो-गाथ) के दलो पर टूट पडे और उनको अस्त-व्यस्त करके रोमन साम्राज्य की पूर्व-यूरोपीय सीमाओ पर बसने वाले पश्चिमी गाथ (विजी गाथ) लोगो पर, जो उस समय धार्मिक भेद के कारण आपस मे लड-भिड रहे थे, छा गये।

फारस के सासानियो पर चढाई करने की कान्स्टेण्टाइन को उत्कट अभिलाषा थी किन्तु ३३७ ई० मे उसकी मृत्यु हो जाने के कारण वह पूर्ण न हो सकी थी।

कान्स्टेण्टाइन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियो मे भयकर युद्ध होने लगा, जिनमे मरसा का युद्ध (३५१ ई०) अत्यन्त विनाशकारी सिद्ध हुआ। कहा जाता है कि उस युद्ध मे रोमन सेना के जितने बडे-बडे शूरवीर थे सभी काम आये। यह अव्यवस्थित दशा सन् ३६३ ई० तक चलती रही।

सेना ने उसके पुत्रो के सिवा किसी अन्य को सम्राट् बनाना स्वीकार न किया। कुछ समय तक उसके दोनो पुत्र सयुक्त होकर राज्य करते रहे। कान्स्टेन्स की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कान्स्टेण्टिअस बचा।

कान्स्टेण्टिअस (३३७–३६० ई०) के कोई सन्तति न थी, इसलिए उसने अपने भतीजे जूलियन को सीजर नियुक्त कर दिया। फारस के शापुर द्वितीय ने आरमीनिया और मेसोपटेमिया पर आक्रमण किया, जिसको निरस्त करने के लिए कान्स्टेण्टिअस को बहुत समय तक युद्ध करना पडा।

इसी समय कान्स्टेंटाइन वंश का यह उल्लेखनीय व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वियों के मुकाबले में विशेष प्रकाश मे आया। इसको कान्स्टेण्टाइन ने अपने जीवनकाल में पश्चिमी यूरोप की रक्षा के लिए नियुक्त किया था। उसने अपनी योग्यता और कर्मण्यता का अच्छा प्रमाण दिया। अपनी सेना से कई गुना बड़ी, चुनी हुई जर्मन सेना को स्ट्रासबर्ग के युद्ध मे नष्ट कर उसका दमन कर दिया। फ्रैंको लोगों से कलोन के युद्ध में उसने तोबा बुलवा ली। राइन के उस पार भी उसने जर्मनी पर आतंक जमाने के लिए तीन सफल आक्रमण किये और सन्धि की अपनी शर्तों को मानने के लिए उनको वाध्य किया। इतनी सफलता उस क्षेत्र मे किसी रोम वाले को पहले कभी नही मिली थी। सेना पर उसका इतना गम्भीर तथा उत्साहवर्धक प्रभाव था कि बिना वेतन के भूखे-प्यासे रोमन सहर्ष उसका अनुगमन करते थे। जलियन सुशिक्षित विचार का तथा विवेकशील शासक था। उसकी प्रशंसा और महत्त्व की वृद्धि से कान्स्टेण्टिअस के हृदय में ईर्ष्या और द्वेष की भावना जगी। उसने जूलियन को गाल से हटाकर फारस की सीमा पर जाने का आदेश दिया। उसका उलटा प्रभाव पड़ा। जूलियन के सेनानियों ने उसको जाने से रोककर सम्राट् घोषित कर दिया। कान्स्टेण्टिअस ने उसको दण्ड देने की तैयारी कर ली। पर युद्ध छिडने के कुछ पूर्व कान्स्टेण्टिअस की मृत्यु हो गयी। उसी के साथ जूलियन साम्राज्य का एकछत्र शासक बन गया।

जूलियन को न्याय, कर्तव्य और शिष्टता से प्रेम था। उसकी रुचि स्वाभाविकतया ईसाई धर्म के अनुकूल न थी। रोम के प्राचीन प्रतिष्ठित देवताओ के प्रति उसने श्रद्धा का प्रदर्शन किया, जिससे उनमे फिर एक बार कुछ जान आ गयी। निश्चिन्त होकर जूलियन ने फारस पर चढाई की। किले और नगर विध्वंस करता हुआ वह फारस की राजधानी के करीब पहुँच गया। किन्तु आरमीनिया की शिथिलता के कारण उत्तरी ओर से आने वाली सेना समय पर न पहुँच सकी। फिर भी युद्ध ने भयकर रूप धारण किया। उसी युद्ध मे किसी अज्ञात सैनिक द्वारा आहत होकर जूलियन ने प्राण विसर्जन किया (३६३ ई०)। उसके निधन के साथ ही कान्स्टेण्टाइन वंश का अंत हो गया। फारस के सम्राट् द्वितीय शापुर ने पुनः मेसोपटेमिया और आरमीनिया पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

३६४ ई० मे साम्राज्य के इटली तथा पश्चिमी प्रदेशो पर वेलेण्टिनियन ने और पूर्वी भाग पर उसके भाई वेलेन्स ने आपसी समझौते के अनुसार अपना-अपना अधिकार

जमा लिया। गाथ के कबीले रोम साम्राज्य के भीतर शरण लेकर सम्राट् वेलेन्स की सहायता के प्रार्थी हुए। उनकी सहायता के लिए भेजे हुए रोमन सेनाध्यक्षों ने उनके साथ अच्छा बर्ताव न किया और न उनको अन्नादिक देने का उचित प्रबन्ध ही किया। उनसे ऊबकर गाथों ने विद्रोह कर दिया और रोम के सेनापति को परास्त कर साम्राज्य की राजधानी पर भी चढाई कर दी। सम्राट् वेलेन्स भारी सेना लेकर उनका दमन करने गया किन्तु वह एड्रियानोपल के युद्ध मे मारा गया। (३७८ ई०)। गाथ थ्रेस में घुसकर जम गये। उपर्युक्त पराभव से रोम साम्राज्य की धाक बहुत घट गयी और आक्रमणकारियो का साहस, उत्साह तथा आतंक बढ़ गया। पूर्व में ही नही, पश्चिमी प्रान्तो मे भी उनकी महिमा नष्ट हो रही थी।

सन् ३६४ से सन् ३९२ तक सम्राट् वेलेण्टिनियन और उसके भाई वेलेन्स ने राइन और डेन्यूब की सीमाओ की रक्षा के लिए असफल प्रयत्न किये। सुयोग्य सेनापति थिओडोसिअस को अफ्रीका और ब्रिटेन के आक्रमणकारियो से रक्षा करने के लिए नियुक्त किया गया। उपर्युक्त काल में ईसाइयो में साम्प्रदायिक भेद और संघर्ष बढ गया और हूण लोग अन्य बर्बर जातियों; आलान, पूर्वी गाथ, पश्चिमी गाथ आदि को अस्त-व्यस्त कर आगे बढ़ते आये। उससे त्रस्त होकर बहुत सख्या में विजी (पश्चिमी) गाथ रोम राज्य के भीतर शरणार्थी बनकर आ बसे, किन्तु उपद्रव करते रहे। जैसा कि हम कह चुके हैं, वेलेन्स उनका दमन करने के प्रयत्न में मारा गया। रोमन सेना नष्ट करके विजी-गाथो ने बल्कान प्रान्त को लूट लिया। किन्तु कान्स्टेण्टिनोपल को लेने मे वे असमर्थ रहे। अपने चाचा के निधन का समाचार पाकर सम्राट् ग्रेशियन ने थियोडोसिअस के पुत्र को अपना सहयोगी सम्राट् नियुक्त किया। थियोडोसिअस ने छल-बल से गाथो को शान्त करके उन्हें दक्षिणी डेन्यूब की रक्षा के लिए आसपास के प्रान्तो मे बसा दिया। ये लोग आगे चलकर आस्तीन के साँप सिद्ध हुए, विशेषकर इसलिए कि गाथो का सैनिक दल उनके नेताओं के नेतृत्व में अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रहा और अपने जाति-बन्धुओ के साथ सहानुभूति रखता रहा। कुसमय आने पर उनका भरोसा भ्रम मात्र रह गया।

थियोडोसिअस ने ईसाई धर्म के उस सम्प्रदाय का समर्थन और पोषण किया जो पूर्वी प्रान्तों के आरियन सम्प्रदाय से भिन्न था। वह देवताओं की पूजा बन्द करने के सिवा पुराने धर्मों को मानने वालो की जमीन छीन ली और सम्मानित पदों पर उनकी नियुक्ति बन्द कर दी। शासन को सगठित करने तथा राज-कर घटाने का भी उसने प्रयत्न किया।

थियोडोसिअस सारे रोम साम्राज्य का अन्तिम सम्राट् था। अपने जीवनकाल मे ही उसने साम्राज्य को दो भागो मे विभक्त कर अपने दोनो लडको मे बॉट दिया। उस समय से वे पृथक्-पृथक् चले। यह पार्थक्य केवल भूमि और शासन तक ही सीमित न रहा। संस्कृति, आचार-विचार सभी क्षेत्रो मे वह व्याप्त हो गया। इस पार्थक्य के दो स्पष्ट कारण थे। एक तो यह कि पूर्व तथा पश्चिम की समस्याएँ कम उलझने पाती थी और प्रत्येक भाग अपनी पूरी शक्ति तथा ध्यान अन्यत्र लगा सकता था। दूसरा यह कि पूर्व की संस्कृति तथा सामाजिक संगठन पश्चिम वालों से भिन्न थें। अतएव उनकी समस्याओ के समाधान के लिए विभिन्न नीति एवं विधि-विधान आवश्यक थे।

सन् ३९५ से साम्राज्य पर पुन: भयकर आक्रमण आरम्भ हुए। थियोडोसिअस की मृत्यु के कुछ समय बाद ही विजी-गाथो के बर्बर कबीलो का नेता अलारिक ग्रीस में घुसकर लूट-मार करने लगा। साम्राज्य के पूर्वी भाग के सम्राट् आरकेडिअस ने उसे घूस देकर मिला लिया और एपिरस की सेना का सेनापति बना दिया। अनुकूल अवसर देखकर उसने अपने सैनिकों को अच्छे अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित कर दिया। यह स्थिति केवल विजी गाथों की ही नही थी, वाण्डाल, बर्बर तथा अन्य जर्मन उपजातियों के सैनिक और सेनापति एव मंत्री भी साम्राज्य की नौकरी मे थे। वाण्डालो के स्टिलिको नामक एक सरदार ने तो थियोडोसिअस की भतीजी से विवाह भी कर लिया था। जब एलारिक ने साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर आक्रमण किया तब स्टिलिको ने दो युद्धों मे उसे परास्त कर लौट जाने पर मजबूर कर दिया। पश्चिमी भाग का सम्राट् होनोरिअस निकम्मा था। उसका मुख्य व्यसन मुर्गी पालना था। होनोरिअस के कान लोगो ने स्टिलिको के विरुद्ध इतने भरे कि उसने सेनापति का वध करवा दिया। उसके मरने से उत्साहित होकर एलारिक पुन लौटा और रोम तक जा पहुँचा। बीमारी फैलने तथा भोज्य पदार्थो की कमी के कारण रोम वालो ने उसे भारी घूस देकर शान्त किया। दूसरे वर्ष वह फिर लौटा और उसने सम्राट् से कुछ प्रान्तो को माँगा जिसमें वह अपने कबीलो के लोगो को बसा दे। उसने होनो-रिअस को सिहासनच्युत करके अपने निर्वाचित व्यक्ति को सम्राट् बना दिया। फिर भी झगडा तय न हुआ। आखिरकार सन् ४१० ई० मे विजी गाथो ने रोम फतह कर नगर को लूट लिया। ऐसी घटना रोम के इतिहास मे पहले कभी न हुई थी। रोम की जो कुछ बची-खुची धाक थी वह सब भी मिट्टी मे मिल गयी। लोगो को यह प्रतीत हो चला कि रोम का तिरोभाव ससार के इतिहास के एक बहुत बडे

अध्याय की अथवा यों समझिए कि प्राचीन संसार के एक महान् युग की समाप्ति में हो रहा है।

रोमनों की देन

पाश्चात्य देशो में से ग्रीस तथा रोम का इतिहास इसलिए विशेष महत्त्व का है कि उनकी सभ्यता की गहरी छाप ही यूरोप की संस्कृति और सभ्यता पर नही पड़ी; वरन् समग्र यूरोपीय सभ्यता का ही वह मूल स्रोत है। रोम ने भूमध्यसागर की, विशेषतः ग्रीस की, संस्कृति को पश्चिमी यूरोप में फैलाया। अव्यवस्थित देशो में रोम साम्राज्य ने दो सौ वर्ष तक शान्ति स्थापित रखी और उसके बाद दो सौ वर्ष तक उनकी रक्षा की। रोम का शासन-विधान, उसका कानून, विशेषतः उसका सार्वजनिक पक्ष अद्यावधि मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। रोम ने राजसत्ता, कुलीन-सत्ता, जनसत्ता तथा उनके मिश्रण के विविध प्रयोग किये और रोमन अपने अनुभवों का इतिहास सभ्य ससार के लिए छोड़ गये। साम्राज्य काल में उन्होंने करीब पाँच-सौ म्यूनिसिपैल्टियो की स्थापना की और देश-काल के अनुसार उनके संगठन में हेर-फेर करते रहे, जो शिक्षाप्रद है। यातायात, यात्रा तथा सैनिक आवश्यता की पूर्ति के लिए उन्होंने बहुत-सी सड़कें और लगभग एक सहस्र पुल बनवाये। कला के क्षेत्र में स्थापत्य और मूर्तिकला की उन्होंने बड़ी उन्नति की जिसके प्रमाण आज तक मौजूद हैं। भवनो को एक केन्द्र से गर्म रखने का ढग सम्भवतः उन्ही ने सिखाया। व्यापार के लिए बंको, धन-विनियोग आदि का बाकायदा उपयोग रोम साम्राज्य में हुआ। शिक्षा के संवर्धन तथा पाठ्यक्रम की व्यवस्था का उन्होंने प्रबन्ध किया। वनस्पति तथा जन्तु-जगत् और कानून तथा चिकित्सा सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली की रचना की। भाषालंकार, प्रभावपूर्ण गद्य तथा इतिहास आदि की लेखन-कला में उन्होने अच्छी उन्नति की। शासनव्यवस्था ऐसे ढंग की बनायी जिसका अनुकरण राजनीति क्षेत्र मे ही नही वरन् ईसाइयो के धार्मिक संगठन में भी पूर्ण रूप से किया गया। उनके उत्सव, रीति-रिवाज, खेल-कूद तथा अन्यान्य मनोरंजन अभी तक पाश्चात्य देशों मे चले आते हैं। सारांश यह कि रोमनों की सभ्यता से यूरोपीय सभ्यता आज तक उपकृत हो रही है।

रोम साम्राज्य के तिरोहित होने की समस्या पर शतियो से विचार होता चला आता है। सैकड़ो विद्वानो ने विभिन्न दृष्टिकोणों से उस पर विचार किया है और अपनी-अपनी रुचि तथा भावनाओ के अनुसार उसके कारण निर्धारित किये हैं।

कोई भी बड़ी सभ्यता और संस्कृति जब नवीन स्थिति में विलीन अथवा परिवर्तित होकर नया रूप धारण करती है तब उसका निदान प्रायः पेचीदा और कठिन होता है। ईसाई धर्म से प्रेरित लेखकों ने रोम के क्षय के कारण उसके मिथ्या धार्मिक विश्वास, भोग-विलास-प्रियता, नैतिकता की अवहेलना और स्वार्थपूर्ण क्रूरता बताये हैं। सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्ति के लेखको के अनुसार पूंजी-पतियो और गरीबों तथा मजदूरों का संघर्ष अथवा कुलीन सत्ता एवं राजसत्ता का जनसत्ता से द्वन्द्व रोम साम्राज्य के विनाश का कारण है। आधुनिक तकनीकी दृष्टि-कोण के लोगो ने औद्योगिक साधनों की कमी को ही रोम के क्षय का मुख्य कारण निर्धारित किया है। हाल की गवेषणाओं से यह स्पष्ट हो गया है कि नैतिकता की अवहेलना, मिथ्या धार्मिक विश्वास, सन्तति निरोध, अन्तर्जातीय, विशेषतः विभिन्न वर्ण या रंगों के लोगों में पारस्परिक विवाह या यौन सम्बन्ध और स्नायविक शैथिल्य आदि को रोमनो के विनाश का कारण बताना नितान्त भ्रमात्मक, अज्ञानमूलक और असत्य है। यह हो सकता है कि उपर्युक्त कारणों में सत्यता का कुछ लेश हो किन्तु जिस रूप में और जिस दृढ़ता के साथ उनको महत्त्व देने की चेष्टा की गयी है वह उपहासजनक है।

रोमनों के, पाँचवी शती ईसवी तक के, इतिहास का विहंगावलोकन करने से कुछ साफ और कुछ धूमिल रेखाएँ दिखाई पडती है, जिनसे उनकी उन्नति और अवनति की गतिविधि की कल्पना की जा सकती है। आरम्भ में रोमन लोग साधारण कर्मठ किसान थे। वे स्वतंत्रता, सरल जीवन और स्वावलम्बन के प्रेमी थे। उनका समाज पारिवारिक और प्रजातान्त्रिक विधानों पर आश्रित था। जब उन पर बाहरी अनुशासन आरोपित करने का प्रयत्न हुआ, तब अपनी सत्ता और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए वे लड़ गये। उनकी विजय ने उनको आगे बढ़ने के लिए उत्साहित किया, जिससे वे अपना राज्य बढाने के प्रलोभनों में फँस गये। उनकी व्यापारिक तथा सैनिक आवश्यकता उनके कदमो को आगे बढाती चली गयी। इटली पर आधिपत्य जमाकर वे भूमध्यसागर पर आधिपत्य जमाने को प्रेरित हुए, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका कार्यक्षेत्र स्पेन से पश्चिमी एशिया तक, भूमध्यसागर के दोनो तटो पर स्थित प्रदेशो तथा ब्रिटेन से डेन्यूब नदी तक फैल गया। विस्तार के साथ-साथ नयी परिस्थितियाँ और समस्याएँ पैदा होती गयी जिनसे रोमनो की उलझने बढती चली गयी। डेन्यूब नदी के पूर्वी भाग में और काले समुद्र के तटों तथा फरात-दजला नदियो के पार ऐसी युद्धजीवी जातियों, राज्यो से उनकी

मुठभेडे आरम्भ हो गयी जो कई शतियो तक चलने पर भी शान्त न हो सकी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रवाह के कारण रोमनो का कृषिमूलक सरल स्वाभाविक जीवन और समाज आमूल बदल गया। देश-विदेश की विजयो मे लूटी हुई सम्पत्ति तथा गुलामो के दलो और वहाँ से प्राप्त करो की आमदनी के कारण रोमनो को कृषि छोड़कर व्यापार, सरल जीवन को छोड़कर अमीरो की चर्या और जनसत्तात्मक संगठन के बदले राजसत्तात्मक विधानो का आश्रय लेना पडा। ऐतिहासिक परिस्थितियो के अनुसार रोमनो के जीवन मे जो परिवर्तन हुआ वह अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। मानव-समाज के विकास मे इस प्रकार के परिवर्तन होते आये एव हो रहे है और सम्भवतः होते ही रहेगे।

सास्कृतिक पक्ष पर विचार करने से भी कमोवेश यही नतीजा निकलता है। रोमनो का ग्रीक, मिस्री तथा एशियाई सभ्यताओ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर उनके प्रभाव से अछूता रहना असम्भव-सा था। रोमन विचारों, रहन-सहन, व्यवहारो और विधानो मे विविध प्रकार के विदेशी प्रभावो का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। रोम साम्राज्य जल और स्थल दोनो ही मार्गो से दूर-दूर तक सम्बद्ध था। इसलिए सकुचित अथवा सीमित रहने की नीति उसके लिए अव्यावहारिक और शायद अनुचित ही सिद्ध होती। इतिहास मे ऐसे उदाहरणो का मिलना कठिन है जहाँ एक प्रगतिशील सत्ता सफलता के साथ आगे कदम बढाकर आप-से-आप ही बिना किसी अनिवार्य कठिनाई के पीछे हटी हो। रोमनो ने जब अपनी शक्ति को, बाहरी परिस्थिति तथा अदम्य विरोध का अनुभव होने पर पीछे हटाना चाहा तब तक उनकी दशा बहुत कमजोर हो चुकी थी। यही क्या कम है कि वे लगभग एक सहस्र वर्ष तक ग्रीस मे और सौ वर्ष तक पश्चिम में अपने पैर जमाये रह सके।

सेनापतियो के आन्तरिक युद्धो, उत्तरी एवं पूर्वी सीमाओ के बर्बरो अथवा सभ्य शक्तियो के आक्रमणो, प्लेग, मलेरिया की बीमारियो और सन्तति निरोध के प्रचलन के कारण साम्राज्य की जनसख्या इतनी कम हो गयी कि सेना मे प्रान्तीय लोगो को ही नही वरन् बर्बर आक्रमणकारियो को भी भरती करना साम्राज्य के लिए अनिवार्य हो गया। इन नये भरती किये गये भाडे के सैनिकों से न तो रोम साम्राज्य के प्रति उतनी श्रद्धा की और न किसी प्रकार की जातीय भावना की आशा की जा सकती थी। कठिन परिस्थिति आने पर वे उसका सामना करने का उत्साह दिखाने के बदले पलायन ही किया करते थे।

यह आशा थी कि सारे साम्राज्य की प्रजा को रोमनो के समान अधिकार दे देने से उसमे अपनत्व की भावना जाग्रत होगी; किन्तु उसका स्थायी प्रभाव यह हुआ कि रोमनो की मान-मर्यादा भग हो गयी और प्रान्तीय नेता रोम के राजनीतिक जीवन मे घुस पडे। वे रोम के उत्कर्ष की चिन्ता न करके स्वार्थ-साधन मे ही सलग्न रहते थे। रोमनो की दृष्टि मे उन्होने स्वतन्त्रता का सदुपयोग करने के वदले उसका दुरुपयोग ही किया। सम्भव है कि किसी सीमा तक उन्होने साम्राज्य का पशुबल वढ़ाया हो किन्तु प्राण-वल को क्षीण करने मे काफी भाग लिया।

आर्थिक क्षेत्र मे भी रोमनो की नीति उपयोगी सिद्ध न हुई। ऊपर सकेत किया जा चुका है कि रोम का कृषक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। यहाँ तक नौवत पहुँची कि रोमनो को अफ्रीका के तटस्थ प्रदेशो से अन्न मँगाना आवश्यक हुआ। वहाँ से अनाज आने मे कोई वाधा आते ही त्राहि-त्राहि का आर्तनाद गूँजने लगता था। जो कोई अनाज लाकर देता, रोम की जनता उसी का जय-जयकार करने लगती थी। रोमनो का व्यापार आरम्भ मे अच्छा-खासा चलता था किन्तु साम्राज्य के वढने और यातायात के यथेष्ट साधनो की कमी के कारण व्यापारी लोग प्रान्तो मे जाकर उद्योग-धधे जमाने लगे। प्रान्तो से कारीगरो की माँग वढी, जिससे रोम के कारीगर अधिक लाभ की आशा से वहाँ जा वसे। जब प्रान्तो मे उद्योग-धन्धे चमक उठे तव रोम की वनी चीजो की माँग घट गयी और उसके व्यापार को ऐसा क्षय रोग लग गया जिससे वह उवर न सका। रोमनो के अमीरी रहन-सहन के कारण उनकी शौकीनी की चीजो की आवश्यकताएँ वढी। उनके पास न तो खाने-पीने और न किसी व्यापार की ऐसी सामग्री थी जिसे वे वाहर से आयी चीजो के वदले दे सकते। जव तक उनकी खाने सोना-चाँदी देती रही तबतक तो कोई खास कठिनाई न हुई, किन्तु जब चाँदी की कमी पडी तव उन्होने मुद्रा का काल्पनिक मूल्य निर्धारित करना, अथवा यो कहिए कि उसको भ्रष्ट करना शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वाहरी व्यापारियो ने स्वर्णमुद्रा मे चीजो की कीमत लेने का आग्रह किया। अतः सोना-चाँदी की उत्तरोत्तर कमी होती गयी जिससे विविध क्षेत्रो पर अनिष्ट प्रभाव पडा। उसी प्रकार लकडी की माँग वढने से अनेक निर्माण कार्यों तथा सैनिको की आवश्यकताओ के लिए पेड़ो के जगल काट डाले गये। फलत. अच्छी लकडी की भी कमी पड गयी। इन सब कठिनाइयो के साथ-साथ साम्राज्य की, विशेषत. इटली और रोम आदि नगरों की प्रजा में वेकारी और गरीवी उत्तरोत्तर वढती चली गयी। जीवन-निर्वाह के लिए उनको रोटी, नमक, तेल देना आवश्यक हो गया। उसके

सिवा उनके मनोविनोद के लिए कोलीसियम, स्टेडियम आदि के खेल-तमाशों का करवाना भी आवश्यक समझा गया, जिसमें बहुत धन खर्च होता था और जिसके अभाव में उपद्रवों और अनेक प्रकार के जुर्मों के बढ़ने की सम्भावना थी। फलतः गरीबों और बेकारों तथा लुंगाड़ो को अनुदान देने, बेकारी रोकने तथा झूठे-मूठे निर्माणकार्यों को चलाने में भी बहुत रकम खर्च करनी पड़ती थी। उन कठिनाइयों से भी बढ़कर शासन तथा सेना की अनिवार्य वृद्धि के कारण खर्च में अपार वृद्धि होती चली जाती थी। ऐसी चिन्त्य दशा में करों, लगानो, टैक्सों आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण किसानों की तो दशा शोचनीय थी ही, व्यापारियो को भी अधिकाधिक बाधाओं का सामना करना पड़ा। सारांश यह कि कृषि, व्यापार, मुद्रा, साख, उद्योग-धन्धे आदि आर्थिक जीवन के सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था, असन्तोष एवं क्षय के लक्षण भीषण होते चले गये।

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि जिन-जिन क्षेत्रो में रोमनो ने कदम उठाया उनमें वे पराकाष्ठा तक पहुँच गये, जिससे आगे बढना तभी सम्भव हो सकता था जब कोई नवीन दृष्टिकोण अथवा नयी चेतना जगती। तत्कालीन परिस्थिति में उसकी कोई सम्भावना दिखाई न पड़ी। स्थापत्य, मूर्तिकला और कुछ इंजीनियरी का विकास अवश्य हुआ, परन्तु विज्ञान अथवा कला के क्षेत्र में उन्होंने किसी विशिष्ट अथवा प्रगतिशील सिद्धान्त की कल्पना न की। दर्शन का ज्ञान उनको ग्रीस वालों से मिला किन्तु वह इतना परिपक्व था कि रोम वाले उससे आगे बढने में नितान्त असमर्थ रहे। वस्तुतः रोमनों की प्रतिभा व्यावहारिक विषयो से सम्बद्ध रही, तत्त्वानुसन्धान की सामर्थ्य का उन्होंने कोई प्रमाण न दिया। साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होने ग्रीको का ही अनुसरण किया। काव्य, अलंकार, व्याख्यान, कला और इतिहास तक ही उनको साहित्य में दिलचस्पी रही। सारांश यह कि उनकी प्रतिभा न तो बहुमुखी थी और न पारदर्शिनी ही। फलतः सांस्कृतिक क्षेत्र में वह एक सीमा तक पहुँचकर रुक गयी, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका कार्य समाप्त हो गया अर्थात् उस युग का अन्त हो गया। आगे के विकास के लिए नये विधान और दृष्टिकोण की आवश्यकता हो गयी। नगरों तथा नागरिक जीवन की शिथिलता के कारण बहुमुखी सभ्यता तथा संस्कृति का जीवनस्रोत सूख-सा गया। यह माना जाता है कि ईसाई मत तथा उत्तरी यूरोप के विधानों से नये युग का सन्देश प्राप्त हुआ, जिससे-पाश्चात्य सभ्यता के दूसरे अंग का आरम्भ हो गया।

रोम का सामाजिक जीवन

ऐतिहासिक रोम के प्रथम सहस्र वर्षो मे रोम का सामाजिक जीवन प्रगति अथवा परिवर्तनशील रहा, अतएव सुविधा के लिए उसका क्रमवद्ध वर्णन अनिवार्य है। प्रथम तीन शताब्दियों (६००—३०० ई० पू०) में सामाजिक जीवन कृषि तथा कुटुम्वमूलक था। पैतृक व्यवस्था के अनुसार पिता का कुटुम्ब पर एक प्रकार से अपरिमित प्रभुत्व रहता था। वह यदि चाहता तो अपनी पुत्री, पुत्र तथा स्त्री का वध तक कर सकता था। सारी सम्पत्ति पर उसका अधिकार था, वही सर्वेसर्वा था और सब लेन-देन करता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कुटुम्ब के प्राणियों को संगठित अनुशासन मे रहने का अभ्यास हो गया और कौटुम्बिक जीवन दृढ तथा आत्मीय भावना से अनुप्राणित हो गया। आचार-विचार तथा व्यवहार में नियन्त्रण स्थापित हो गया। साधारणतः पिता अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करता था क्योकि उसका मनुष्यत्व, रीति-रिवाज, जनमत, वंश के पचो की सभा तथा प्रेटर का अनुशासन उसके व्यवहार पर एक प्रकार का सन्तुलन और प्रतिबन्ध बनाये रखते थे। पुरुष का अविवाहित रहना अनिष्टकारी माना जाता था, क्योकि उससे कुटुम्ब की शक्ति के ह्रास, अनिवार्य विवाह के कानून के अतिक्रमण तथा आर्थिक हानि सहने के सिवा मरणोपरान्त आत्मा को अनेक यातनाओं का कष्ट भोगना पड़ता था। विवाह का विशिष्ट ध्येय पुत्र उत्पन्न करना माना जाता था। पैदा होने के आठ दिन के बाद वच्चे को संस्कार द्वारा कुटुम्ब मे शामिल किया जाता था। रोमन माताएँ बच्चों को दाइयों या दासियो के भरोसे नही पालती थी। वे उन्हे स्वयं स्तनपान कराती और उनका पोषण करती थी। माता का सन्तान के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता था। यद्यपि पत्नी के अधिकार कानून द्वारा रक्षित न थे और स्त्री होने के कारण उसको पिता, भ्राता अथवा पुत्र की रक्षा मे रहना आवश्यक था, तथापि व्यवहार मे उसका स्थान तथा प्रभाव अच्छा-खासा था। अपनी सम्पत्ति का वह स्वयं प्रबन्ध करती और लेन-देन भी करती थी। कुटुम्ब मे उसका आदर-सम्मान था। वह परदे के भीतर वन्द नही रखी जाती थी। धार्मिक क्षेत्र मे वह पुरोहितिन का पद ग्रहण कर सकती थी। गृहिणी अथवा पुरन्ध्री की हैसियत से वह नौकरों-चाकरो तथा खर्च का नियन्त्रण करती थी। बुनना, कातना, उसके साधारण काम थे। उसको ओछे कामों के करने की आवश्यकता इसलिए न पडती थी कि प्रायः उन कामों के लिए गुलाम रख लिये जाते थे।

विवाह के लिए पुरुषो की आयु चौदह से वीस वर्ष और कन्याओ की कम से—

कम बारह वर्ष से १९ वर्ष तक की अच्छी समझी जाती थी। वैवाहिक सम्बन्ध वर-वधू के माता-पिता निश्चित करते थे। विवाह मे रोमानी प्रेम के लिए कोई स्थान न था। प्रेम का प्रसंग विवाह के उपरान्त आरम्भ होता था। यद्यपि पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य की कैद न थी और उनको स्वैरिता की काफी गुंजाइश थी, किन्तु विवाह के लिए कन्या का अछूता होना आवश्यक समझा जाता था, जिससे सन्तति की शुद्धता सुरक्षित रहे। लड़के वाले को स्त्री-धन (दहेज)देना पड़ता था। वर वधू की चौथी उँगली मे लोहे की अँगूठी पहनाता और तृण तोड़कर अपने कर्तव्य पालन की प्रतिज्ञा करता था। विवाह पाँच या छ. प्रकार के होते थे। उच्च कुल मे विवाह धार्मिक सस्कारो के साथ किया जाता था और वह सबसे अच्छा माना जाता था। कन्या-हरण अथवा कन्या-क्रय बुरा समझा जाता था। विवाह के अवसर पर नाच-गाना, भोज और धूम-धाम होती थी। यद्यपि विवाह-विच्छेद अवैध न था तथापि उसका प्रचलन नगण्य-सा था। तलाक के नियम भी कठोर थे। वन्ध्यत्व और प्रत्यक्ष व्यभिचार ही उसके मुख्य कारण हो सकते थे। केवल पुरुषो को तलाक देने का अधिकार था। साधारणत. पति-पत्नी प्रेम के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते थे। पुंश्चलियो का व्यापार प्राचीन रोम में ठण्डा न था यद्यपि ग्रीस के समान रोमनो में वेश्यागमन कोई जघन्य कार्य नही गिना जाता था।

कौटुम्बिक वातावरण के फलस्वरूप रोमनों मे कर्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, सयम, उद्यमशीलता, रहन-सहन की सरलता, परम्परा का आदर, अनुशासन का सम्मान, व्यवहार-कुशलता आदि गुण प्रस्फुटित हो गये। यद्यपि रोम वालो को पैसा प्यारा था और दान-दक्षिणा देने से वे यथासाध्य बचते थे तथापि चोरी, बेईमानी और भ्रष्टाचार मे दूर रहते थे। मित्रो तथा परिचित लोगो में बिना सूद के लेन-देन होता था। सज-धज, बनाव-शृंगार, चटक-मटक, ठाट-बाट, टीम-टाम को वे अच्छे गुण नही मानते थे। उनकी पोशाक ग्रीस के लोगो की-सी थी। पुरुष अथवा स्त्री चादर ओढते थे, जिसके किनारे रंगीन होते थे। समाज मे उनका स्थान ज्ञात रहता था। घरो मे पुरुष सादी कमीज और स्त्रियाँ लबादे पहनती थी। तीसरी शती ई० पू० तक रोम वालो का भोजन रोटी, शहद, पनीर, जैतून का तेल, तरकारियाँ, फल और पीने के लिए हलकी मदिरा थी। श्री-सम्पन्न लोग ही मांस और मछली खाते थे। उत्सवो के अवसर पर दावतें देने और खाने का लोगो को शौक था।

उपर्युक्त गुणो के कारण रोमन लोग अपने प्रतियोगियो पर विजय पाते रहे। किन्तु ज्यो-ज्यो उनका राज्य तथा ग्रीक सभ्यता और आचार-विचार का प्रभाव

बढता गया त्यो-त्यो उनके रक्त, स्वभाव और रहन-सहन मे परिवर्तन होते गये। युद्धो के कारण उनमे निर्दयता तथा हिसा के भाव भी बढते गये। लूट-खसोट से प्राप्त सम्पत्ति और गुलामो की वृद्धि से उनके जीवन मे कृत्रिमता, शान-शौकत, भ्रष्टाचार तथा ऐश-आराम और विलासिता बढती गयी। सैनिक आवश्यकताओ के कारण अधिक समय तक घर-बार से दूर रहने से उनका कौटुम्बिक जीवन शिथिल और क्षीण होता चला गया। वे क्रूर, लालची, स्वेच्छाचारी, स्वार्थी तथा विलासी होते चले गये। कौटुम्बिक जीवन अस्त-व्यस्त होने से उनमे उच्छृखलता तथा अनुशासन की अवहेलना बढती गयी। उनके रहन-सहन और आचार-विचारो मे अमीरो की चकाचौंध घर करती गयी। उपर्युक्त लक्षण ईसा के पूर्व तीसरी शती से उत्तरोत्तर बढते गये, यहाँ तक कि रोम वालो के जीवन और समाज की काया ही पलट गयी। पुरुषो के ही नही वरन् स्त्रियो के भी संयम और आचरणो मे दिनो-दिन परिवर्तन होता गया। कौटुम्बिक जीवन की मर्यादाएँ टूटती चली गयी और स्वार्थ, स्वैरिता तथा विलासिता का समा बँधता चला गया। बडे नगरो के पुरुषो तथा स्त्रियो मे व्यभिचार का प्रचलन हो गया। वेश्यागृह और भटियारखाने बढते चले गये। वेश्याओ और वेश्यालयो का रजिस्टर रखा जाने लगा। वेश्यागृह शहर के बाहर होते और केवल रात्रि मे खुलते थे। वेश्याओ मे एक ऐसा वर्ग भी था जो सुशिक्षित और काव्य, सगीत तथा नाटय कला एव बातचीत तथा शिष्ट व्यवहार मे बडा निपुण था। पुरुषो का भी एक वर्ग था जो वैशिक वृत्ति करता था। लोग आर्थिक अथवा राजनीतिक लाभ के लिए विवाह करने लगे। यदि उन्हे आशा के अनुकूल लाभ न हुआ तो विवाह विच्छिन्न करने मे उन्हे संकोच न होता। एक पुरुष से सन्तुष्ट हो जाने वाली स्त्रियो की सख्या उत्तरोत्तर न्यून होती चली गयी। स्त्रियाँ बनी-ठनी रहने, स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने-फिरने और विलास करने लगी। पुरुषो की दशा उनसे भी बुरी थी। पुत्र जनने के कष्ट और गृहस्थी के झमेलो मे लोग-लुगाई बचने लगे। वैवाहिक बन्धन मे न फँसने वालो की सख्या मे चिन्ताजनक वृद्धि हो गयी। यह स्थिति शिक्षित तथा उच्च श्रेणी के रोम वालो की थी किन्तु अन्यान्य प्रदेशो से लाये हुए गुलामो तथा आजीविका की तलाश मे आये हुए लोगो की सन्तति बढती चली जाती थी, जिससे रोमन समाज और सस्कृति दबती जाती और आर्थिक समस्या जटिल होती जाती थी। कानून द्वारा रक्त सम्मिश्रण रोकने, अविवाहितो पर टैक्स लगाने और व्यभिचार रोकने के प्रयत्न किये गये किन्तु वे निष्फल रहे। विरोधियो ने अविवाहित रहने का कारण यह बताया कि स्त्रियाँ स्वैरिणी और

अविश्वसनीय तथा खर्चीली हो गयी है। राज्यसभा ने बढ़ती हुई फैलसूफी को रोकने के लिए कानून बनाये किन्तु जब उसके सदस्य ही उनका उल्लंघन करते थे तो अन्य लोग उनकी क्यों परवाह करते। बैंक, व्यापार, महल, कोठियाँ, विलासकुंज, हमाम, बाग-बगीचे आदि आमोद-प्रमोद के साधन तथा कामुकता के प्रसाधन पुरुषों में ही नही वरन् नारियों में भी बढ़ते चले गये। उपर्युक्त प्रवृत्तियों की पूर्ति में गुलामों की अभिवृद्धि ने खूब सहायता की। शहरों में भिखारियों, बदमाशों और लुंगाड़ों की, जिन्हें मुफ्त में अन्न मिलता था, संख्या बढ़ती चली गयी। यह स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त दोष प्रायः नगरों में पाये जाते थे। ग्रामों और छोटी बस्तियों में उन्होने विकराल रूप धारण नही किया। वहाँ रोमनों के पूर्ववर्णित गुणोंमें उतना क्रान्तिकारी परिवर्तन नही हुआ।

यद्यपि पुरानी मर्यादाओं के उल्लंघन से स्त्रियों की नैतिक हानि हुई तथापि उनमें निरे दोष ही नही प्रकट हुए। उन्हें तलाक देने का अधिकार हो गया किन्तु वे उसका उपयोग यदाकदा ही करती थीं। व्यसन और विलासिता के साथ-ही-साथ उनमें ललित कलाओं और विद्या का अनुराग उत्पन्न हो चला। वे ग्रीक साहित्य, दर्शनशास्त्र, डाक्टरी, कानून आदि पढ़ने-पढ़ाने और विविध विषयों पर भाषण देने लगी। काव्य, नृत्य, गान तो उनके लिए उपयुक्त थे ही, वे व्यापार और लेन-देन भी अच्छे-खासे पैमाने पर करने लगीं। पुरुषों की तरह खुलकर सामाजिक आमोद-प्रमोद में भाग लेने योग्य हो गयीं। पुरुषों की-सी स्वतन्त्रता और अधिकार की माँग स्त्रियो की भी होने लगी। इस आन्दोलन का प्रमुख प्रतिपादक मुसोनिया का रूफस था (६५ ई०)।

रोमनो में जात्यभिमान और कुलाभिमान अधिक था। आरम्भ में रोम के निवासियों में तीन वर्ग थे। एक तो 'पेट्रीशियन' उच्च वर्ग, दूसरा 'प्लीबियन' निम्न वर्ग। इन दोनो के बीच में 'एक्विटस' थे जिनका पेशा व्यापार था। पेट्रीशियनो के हाथ मे राज्य-सभा और सैन्य-संचालन था। वे लोग व्यापार करना तुच्छ काम समझते थे। प्लीबियन प्रायः कारीगर, छोटे किसान अथवा स्वतन्त्र किये हुए विजित लोग थे। सबसे अधम श्रेणी गुलामों की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि रोम मे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा गुलाम चार वर्ग थे। चूंकि विद्या के प्रति न तो उस समय प्रेम ही था और न उसका प्रचार ही। अतएव वहाँ ब्राह्मणो की-सी कोई श्रेणी न थी। उसका प्रादुर्भाव ई० पू० तृतीय शती से हुआ और ग्रीक साहित्य से स्फूर्ति पाकर विद्यानुराग उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

आर्थिक व्यवस्था

आरम्भ में रोम तथा इटली के निवासी कृषक थे। पुरुष, स्त्रियाँ, लड़के-लड़कियाँ खेतो मे काम करते और अपनी साधारण आवश्यकताओ की मितव्ययिता से पूर्ति करते थे। लोगों के पास दो-चार एकड़ अपनी जमीन होती थी जिससे वे अपना काम चलाते थे। युद्ध करके जीती हुई जमीन राज्य अथवा जनता की मानी जाती थी। अनाज के अलावा वे तरकारियाँ और फल-फूल भी पैदा करते थे। लोग प्रायः भेड़ और सुअर पालते और मुर्गियाँ रखते थे। संघर्ष तथा राज्य की वृद्धि के कारण किसानों को सेना में शामिल होना पड़ता था। सैनिक कार्य की अभिवृद्धि तथा युद्धों में कट-मर जाने से कृषक-समाज अव्यवस्थित होता गया। खेती-बारी स्वतन्त्र कृषक के बदले गुलामों के द्वारा करायी जाने लगी। खेतो की देख-भाल और उनके रक्षण में लापरवाही होने के कारण किसान खेतो को या तो बेचने लगे या अन्न के बदले फल आदि अधिक लाभप्रद पदार्थो की खेती करने लगे। बडे जमीदारों का मुकाबला करने के साधनों के अभाव में छोटे कृषक जमीन बेचकर शहरों में रोजगार और धन्धे ढूँढ़ने लगे। अनाज की उपज उत्तरोत्तर कम होती गयी किन्तु उस कमी की पूर्ति के लिए कृषि-विकास पर ध्यान नही दिया गया। बहुत-सी खेती-योग्य जमीन भेड़ों के लिए चरने को छोड़ दी गयी अथवा अमीरो ने उस पर बाग या बगीचे लगवा लिये। भेड़, गाय, घोड़े और सुअर पैदा करने के लिए तथा अगूर, सेब, अंजीर तथा जैतून की फसल से अधिक फायदा होता देखकर धनिको ने बड़े-बडे चरागाह और बाग बना लिये। खेती स्वतन्त्र किसानों के हाथ से गुलामो के हाथ में चली गयी और जमीदार गाँवों मे न रहकर शहरो में बसते चले गये।

इटली में यद्यपि कुछ लोहा, ताँबा, टीन और जस्ता पाया जाता था। किन्तु इतनी मात्रा मे नही कि जिससे बड़े पैमाने पर व्यापार चलाया जा सकता। सोने का अत्यन्त अभाव था और चाँदी नगण्य-सी मिलती थी। खानो मे गुलाम काम करते थे। धातु की चीजों में सबसे अधिक लाभप्रद औजार तथा अस्त्र-शस्त्र थे। इनके अलावा मिट्टी के बरतन, पाइप, टाइल, कुछ ऊनी और कुछ सूती कपडा भी बनता था। पेशो के अनुसार कारीगरो की संगठित श्रेणियाँ थी। रोम के उद्योग-धन्धो का ह्रास होने के कई कारण हुए। एक तो यह था कि इटली से दूसरे प्रदेशों को माल भेजने मे इतना खर्च लग जाता था कि वहाँ कीमत बढ़ने से खरीदार कम मिलते थे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए बड़े व्यापारियों ने प्रदेशो मे कारखाने खोल दिये जिनमें इटली के कारीगर काम करते और सिखाते थे। उस नीति का परिणाम यह

हुआ कि इटली के वने माल का वाजार करीव-करीव जाता रहा। व्यापार घटने से इटली के कारीगर दूसरे प्रदेशो मे जाकर वसने लगे और इटली मे उनकी कमी पड गयी। दूसरी कठिनाई रोम के रईसो का शौक था। वे लोग वढिया मे वढ़िया सामान अन्य देशो से मँगवाते थे, इटली के माल से उनको सन्तोप न होता था।

पहले मार्गों की व्यवस्था ठीक न होने से व्यापार में वडी अडचने पडती थी। भूमध्यसागर पर अधिकार प्राप्त होने तथा सडकें और पुल वन जाने से आगे चलकर सुविधाएँ तो प्राप्त हुई किन्तु तव तक साम्राज्य तथा व्यापार का ऐसा नकशा वदल गया कि आयात की अपार वृद्धि तथा निर्यात की शोचनीय कमी पड गयी। जब तक रोम को अपने अधीनस्थ प्रदेशो से लूट अथवा कर द्वारा धन मिलता गया तब तक तो गुलछर्रे उडते रहे, किन्तु जव उस प्रकार की आय से साम्राज्य का खर्च चलाना ही कठिन हो गया तव रोम की आर्थिक समस्या उत्तरोत्तर चिन्ताजनक होती चली गयी। इसके अलावा प्रदेशों मे धनिको और कारीगरो के चले जाने से वहाँ तो उद्योग वढा किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि इटली की बनी चीजो की माँग घटती चली गयी और उसकी आर्थिक दशा दिनो दिन विगडती गयी। वेकारो और गरीवो की संख्या में भयंकर वृद्धि होती रही।

ईसा के पूर्व चौथी शती तक रोम वालो मे सिक्के का प्रचलन न था। आदान-प्रदान विनिमय द्वारा होता था। प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन पशुओं की उपयोगिता से किया जाता था। ई० पू० ३२८ से ताँबे के, २६९ से चाँदी और २१७ ई० पू० से सोने के सिक्को का प्रचलन हुआ जिससे महाजनी और वैंकिंग की उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी। आरम्भ में वैक मन्दिरो मे स्थापित किये गये, क्योंकि पवित्र देवालय मे चोरी या लूट की आशंका कम थी। सूद की दर साधारणतः वारह प्रतिशत थी किन्तु लोग उससे अधिक लेने का प्रयत्न करते रहते थे। सूदखोरी का रोग आगे चलकर इतना वढ़ा कि वहुत-से वैक और कोठियाँ मन्दिरो से निकलकर नगर में स्थापित हो गयी।

शासन को कभी-कभी व्यापार के नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ जाती थी और वह निर्यात तथा आयात की मात्रा को घटा या वढ़ा देता था। साधारणतया उसकी नीति उदार थी। नगर में आनेवाली वस्तुओ पर चुगी ढाई प्रतिशत लगायी जाती थी। साम्राज्य की आवश्यकता के अनुसार टैक्स घटते-वढते रहते थे। किन्तु साम्राज्य के उत्तर काल मे टैक्सों की इतनी वृद्धि होती चली गयी और टैक्स उगाहने वाले ठेकेदारो की क्रूरता इतनी वढ़ी कि प्रजा मे त्राहि-त्राहि मच गयी।

दर्शकों को किसी प्रकार की फीस नहीं देनी पड़ती थी। यद्यपि कभी-कभी रोमन व्यक्ति भी अभिनय करते किन्तु साधारणतः वे अभिनय करना अच्छा न समझते थे। अभिनेता प्रायः ग्रीक लोग होते थे। इन अभिनयों में यद्यपि चेहरे लगाकर प्राचीन नाटकों के अंशों का पाठ अथवा कथोपकथन होता था तथापि मूक प्रदर्शनों में जनता की अभिरुचि अधिक थी। कठपुतलियों के खेल, नाच, जादू के खेल, कन्दुक उछालने, कला-लाघव, अंगोपांगों का उद्घाटन तथा भाँड़ों की नकलों का, जो कभी-कभी स्पष्ट अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाती थी, प्रदर्शन होता था। रोमनो की रुचि का स्तर ग्रीक लोगों से कहीं अपरिष्कृत तथा नीचा था।

वर्ष में सौ दिन त्यौहार के लिए निश्चित थे। महीने का पहला, पाँचवाँ तथा नवाँ या पन्द्रहवाँ दिन त्यौहार के विशेष दिन माने जाते थे। प्रत्येक त्यौहार मनाने का निश्चित विधान और उसका अपना महत्त्व था। उनके त्यौहारों का अधिकतर सम्बन्ध कृषि या कृषक-जीवन के साथ था। पेरेण्टीलिया तथा फेरेलिया के उत्सव फरवरी मास मे धूमधाम से मनाये जाते थे। उस अवसर पर दावतें होतीं, मद्यपान से लोग मत्त होकर मदनोत्सव मनाते थे, वे विधवाओं, विवाहिताओं, कुमारिकाओं तथा स्वतन्त्र वालको पर हस्तक्षेप न करते थे। अप्रैल में फूलो का उत्सव मनाया जाता। दिसम्बर का मख्य उत्सव सेटर्नालिया सत्रह से तेईस तारीख तक मनाया जाता था। उस अवसर पर पेट्रीशियन और प्लीबियन, स्वामी और दास का भेद भूल सब सम्मिलित होते और उत्सव मनाते थे। उस समय पर अश्लीलता के वन्धन और सदाचार के नियम शिथिल कर दिये जाते थे। इस उत्सव की समता भारत के होलिकोत्सव से की जा सकती है।

कलाएँ

आरम्भ में रोमनों के मकान पक्की ईंटो के बनते थे जिनमें केवल एक ही कमरा होता था। उसी में उठना-बैठना, चूल्हा-चौका, खाना-पीना होता था। छत में एक गवाक्ष बना होता था जिससे धुँआँ वाहर निकलता रहे, किन्तु वर्षा में उसमें होकर जल भीतर घुस आता था। आर्थिक उन्नति के साथ-साथ वास्तुकला की उन्नति होने लगी। यूट्रेस्कन लोग एशिया से महराव, गुम्वज तथा पक्की नालिका बनाने की कला सीख चुके थे। रोम वालो को ग्रीस के गृहस्तम्भो तथा छतों की पटाई का ज्ञान भी था। अतः वास्तुकला की उन्नति शीघ्रतापूर्वक होने लगी। सम्पन्न लोगो ने विशाल भवनों का निर्माण कराया जिनमें सुन्दर खम्भों वाले दालान,

कमरे, स्नानागार, हौज, फव्वारे, हम्माम, पच्चीकारी के फर्श, जल आने-जाने की तथा कमरो को गर्म रखने की नालिकाएँ बनायी जाती थीं। मकानो की सजावट के लिए पत्थर एव ताँबे की विभिन्न आकार तथा विविध प्रकार की मूर्तियाँ और कालीन, परदे, फर्नीचर आदि एकत्रित कर लिये जाते थे।

लोगो के मकान और महल समृद्धि के उतने द्योतक न थे जितने कि विशेषतः रोम तथा अन्य बड़े नगरो के देवालय, जातीय स्मारक, मेहराबदार फाटक, लोकोपयोगी स्नानागार, राजभवन, सर्कस और थियेटर आदि थे। यद्यपि यह सत्य है कि रोमनों की कलात्मक प्रतिभा ग्रीको के समान न थी तथापि ग्रीस की कला ने और कुछ अश मे मिस्र की कला ने उन्हे अनुराग और स्फूर्ति ऐसी प्रदान की जिससे पूर्ण लाभ उठाकर और उस पर अपनी छाप लगाकर उन्होंने अपनी वास्तुकला की श्रीवृद्धि की। उनकी इमारतो में ठोसपन, दृढता, विशदता, विशालता तथा महानता के गुण प्रचुर मात्रा मे मिलते है, जिनका अनुकरण शतियों तक यूरोप मे होता रहा। उनकी कला के लिए 'रोमनेस्क' शब्द का प्रयोग किया जाता है। रोमनो ने पत्थर के अलावा पक्की ईंटो तथा कंक्रीट का जैसा उपयोग किया वैसा सम्भवतः उनसे पहले कही भी न हुआ था। पत्थर से हलकी होने के कारण कंक्रीट से बड़ी और चौड़ी मेहराबो, बडे-बड़े गुम्बजों और धनुषाकार मेहराबदार छतो की रचना कर सकना सम्भव हो गया। विशाल इमारतो को सुसज्जित करने मे भी उनको बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई। नदियो के मेहराबदार सुदृढ़ पुल जैसे रोमनो ने बनाये वैसे पहले कही भी न बने थे। रिमिनी का पुल (२२ ई०) उनकी कला का प्रत्यक्ष प्रमाण आज तक विद्यमान है। फ्लेवियन वश के बनाये कोलिसियम (८० ई०) के ध्वंसावशेष अद्यावधि दर्शको को चकित कर रहे है। कारकेला का स्नानागार (हमाम) लोकोपयोगी स्थापत्य-कला के रत्नो मे गिना जाता है। लोकोपयोगी विशाल भवन जैसे रोमनो ने बनाये वैसे पहले कभी किसी ने भी न बनाये थे। हेड्रिअन द्वारा निर्मित 'वीनस' का देवालय, कान्स्टेण्टाइन का 'बाजिल्का' गिरजाघर धार्मिक इमारतो मे विशिष्ट स्थान रखते हैं। उरु-सन्धि के सिद्धान्त पर मेहराबो के पारस्परिक सयोजन से विशाल प्रशालाओ और भीतरी छतो की शोभा मे चमत्कार उत्पन्न किया जाता था। गुम्बज बनाने की कला मे रोमनो ने अभूतपूर्व सफलता ही नही प्राप्त की, वरन् उसको पराकाष्टा पर पहुँचा दिया। हेड्रिअन के 'पान्तिआँ नामक सर्वदेव मन्दिर का गुम्बज आज तक अपने ढग का ससार मे सबसे बड़ा गुम्बज माना जाता है। सैकड़ो वर्ष तक उस कला मे कोई वैसी उन्नति न कर सका। इमारतो

के बाहरी भाग को सुशोभित करने की कला का उन्होंने ऐसा विकास किया कि जिससे वे उसमे ससार के शिक्षक कहलाने के अधिकारी हो गये। रोमनों की बनवायी सैकडो मील लम्बी पक्की सडकें, गढ तथा घाटियाँ, पानी वहा ले जाने वाले पक्के नल, पक्के पुल आदि उनके साम्राज्य की महत्ता तथा कौशल की साक्षी दे रहे हैं। टाइटस की निर्माण करायी इमारतो मे स्मारक प्रवेश-द्वार की कला अपने पूर्ण यौवन पर दिखाई पड़ती है।

स्थापत्य के साथ ही साथ शिल्प तथा मूर्तिकला की भी श्रीवृद्धि होती रही। उनकी कृतियाँ यूरोप की अक्षय निधि मानी जाती हैं। टाइटस के उपर्युक्त प्रवेश-द्वार तथा ट्रेजन का विजय-स्तम्भ शिल्पकला के नवयुग का सन्देश देने वाले माने जाते हैं। उसकी छाप उन्नीसवी और बीसवी शती मे भी स्पष्ट दिखाई देती है। मूर्तिकला का प्रसार रोम मे इसलिए अधिक हुआ कि वहाँ के नेताओ को अपनी प्रतिमूर्तियाँ निर्माण कराने तथा उन्हे प्रतिष्ठित कराने का बड़ा शौक था। सम्राट् का स्थान देवताओ के बराबर माना जाता था। फलतः उनकी कला मे आदर्श तथा कल्पना का उतना प्रयास एव प्रकाश नही दिखाई पडता जितना कि ग्रीस की कला मे मिलता है। किन्तु उसमे वास्तविकता और अनुरूप की यथार्थता की विशेषता है। कलापूर्ण अश्वारोही मूर्तियो का प्रचलन रोमनो ने विशेष रूप से किया जिसका अनुकरण अद्यावधि होता है। आवक्ष प्रतिमा बनाने मे उन्हे विशेष सफलता प्राप्त हुई।

चित्रकला मे रोमनो ने हेलेनिस्टिक एवं अलेक्जैड्रिया की कलाओं से स्फूर्ति प्राप्त की। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी चित्रकला शिल्प तथा मूर्तिकला से विशेषतः प्रभावित हुई। उसने अपनी किसी स्वतत्र परिपाटी का अवलम्बन अथवा विकास नही किया।

शिक्षा-दीक्षा

साधारण रोमन को माता-पिता से जो कुछ थोडी बहुत शिक्षा मिलती थी वह पर्याप्त मानी जाती थी। अध्यापको द्वारा विधिपूर्वक अथवा पाठशालाओ मे शिक्षा प्राप्त करने का पहले रिवाज न था। शिक्षा का एकमात्र ध्येय व्यक्ति को उद्यमी, विनीत, साहसी, सयत, तत्पर, कर्त्तव्यपरायण, निर्भीक और व्यवहारकुशल बनाना था। ज्ञानसवर्धन, बौद्धिक प्रखरता, गम्भीर एव सूक्ष्म चिन्तन, साहित्य-विज्ञान-सर्जन आदि कार्य साधारणतया मनुष्यता अथवा पौरुष के लिए अनिवार्य या आवश्यक

नही समझे जाते थे। यही नही, लोग उनको क्षीणता, धूर्तता एवं छलना का प्रवर्तक समझकर उनसे झिझकते थे।

शिक्षा का सविधि प्रचलन विदेशी गुलामो अथवा मुक्त दासों द्वारा आरम्भ हुआ। आरम्भ मे केवल भाषा, कुछ साहित्य तथा गणित की ही शिक्षा दी जाती थी। ज्यो-ज्यो रोम राज्य का सम्बन्ध अन्य देशो से बढ़ता गया त्यों-त्यो रोमनो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों मे परिवर्तन होता गया और उन्हें उसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता का अनुभव होने लगा। ईसा के पूर्व तीसरी शती के उत्तर काल से शिक्षा एवं साहित्य को उत्तरोत्तर प्रोत्साहन मिला। ग्रीको का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव दिनों दिन गहरा होता गया। होमर के महाकाव्य का लैटिन में अनुवाद हुआ और लोक-प्रदर्शन के लिए सुखान्त एवं दुखान्त नाटको की रचना हुई। उपर्युक्त ग्रन्थों का रचयिता लिविअस् एण्डोण्टोनिकस एक ग्रीक था। विद्या की अधिष्ठात्री देवी मिनर्वा के मन्दिर मे कवियो और नाटककारो की गोष्ठियाँ होने लगी। साहित्य तथा सगीत को प्रोत्साहन देने के लिए सम्राट् डोमिटियन ने (८६ ई०) केपिटोलाइन के खेलों के साथ उनको भी प्रतियोगिता के लिए शामिल कर दिया।

रोमनों ने साहित्य एव शिक्षा मे ग्रीको का यथासाध्य अनुकरण किया, यद्यपि उनमें ग्रीको की सी प्रतिभा और कलात्मकता न थी। फलतः इतिहास, जीवन-वृत्त, वक्तृत्वकला, राजनीति, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र का गद्य के क्षेत्र मे और महाकाव्य, नीतिकाव्य, नाटक, लोककाव्य का पद्य-क्षेत्र मे पठन, मनन एव सर्जन हुआ। उनके अतिरिक्त रोमनो की भी अपनी कुछ देन है। कानून तथा विधान, विज्ञान एवं कला सम्बन्धी साहित्य उनकी अपनी विशेषता है। उनके धार्मिक दृष्टिकोण की विशेषता भी उनके साहित्य पर अंकित है। उनके प्रहसनो और व्यग्यो मे भी वैशिष्ट्य का अभाव नही। सबसे बडी देन तो उनकी समृद्ध भाषा है जिसकी गभीरता, गुरुता एव सतुलित अभिव्यक्तिशीलता का लोहा पश्चिमी ससार आज तक मान रहा है। लैटिन भाषा का व्यापक प्रभाव आज दिन भी कानून, दर्शन, चिकित्सा, स्थापत्य, कृषि, वनस्पति-विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य में विद्यमान है। रोम के लैटिन इतिहास-लेखको मे ग्रीक पोलीबायस (२०४–१२२ ई० पू०), सालस्ट (८६–३४ ई० पू०), जूलिअस सीजर (१००–४४ ई० पू०), लिवी (५९–१७ ई० पू०), टेसिटस (५५–१२० ई०) के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। जीवनचरित्रो के प्रमुख लेखको मे वेरो (११६–२६ ई० पू०), ग्रीक प्लूटार्क (४६–१२६ ई०), ग्रीक फिलास्ट्रेटस (२५० ई०) सुप्रसिद्ध हैं। रोम के इतिहासज्ञो तथा जीवन-

वृत्त-लेखकों का मुख्य ध्येय कुनीति के दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराना, महान् व्यक्तियों के जीवन से शिक्षा ग्रहण करना तथा उत्साह-सवर्धन मात्र था। उनकी वर्णनशैली आकर्षक तथा उत्तेजक है। केवल पोलीबायस ने इतिहास की तुलनात्मक आलोचना करने का प्रयास किया है।

काव्य

लैटिन भाषा का सबसे पहला उल्लेखनीय कवि क्विण्टस कूविअस (२३९ ई० पू०) हुआ जिसने विविध प्रकार के काव्यों तथा नाटकों की रचना की। उसके दुखान्त नाटक तथा ग्रीक प्लाटर्स (१५४–१८४ ई० पू०) के सुखान्त नाटक रोम वालों का मनोविनोद करते थे। टेरेन्स (१९५–१५९ ई० पू०) के नाटक प्लाटर्स के नाटकों से भी अधिक परिष्कृत माने जाते हैं। उनके नाटकों में ग्रीक नाटकों का अनुकरण है। वस्तुतः नाटक-रचना तथा नाट्य कला में रोमनों ने कोई विशेष स्मरणीय कार्य नहीं किया। ल्यूक्रेटिअस (९९–५५ ई० पू०) की दार्शनिक अनुभूति से गर्भित काव्य के विषय में कहा जाता है कि वह होमर और शेक्सपियर से कुछ ही मध्यम किन्तु शेली, कीट्स तथा वर्डस्वर्थ के सुकोमल स्पन्दनों से युक्त है। प्रकृति के सौन्दर्य को उसका हृदय तीव्रतापूर्वक अनुभव करता था। उसने लैटिन पद्य की श्रीवृद्धि उसी प्रकार से की जैसी कि गद्य की सिसरो ने। यदि उसे रोमन साहित्य के स्वर्ण-युग (३० ई० पू०, १८ ई०) का प्रभात कहा जाय तो अनुचित न होगा। उससे प्रभावित होकर रोम के महाकवि वर्जिल ने 'ईनेईड' नामक महाकाव्य की रचना की जो अपनी अपार देशभक्ति, विशाल हृदय, मानवता की कल्पना और कान्त-पदावली से पाठकों को मुग्ध करता है। यद्यपि उसके काव्य में वह बल, तेज तथा गुरुता नहीं जो होमर में मिलती है, तथापि रोम के सुप्रसिद्ध कवि होरेस की दृष्टि में वह होमर की समकक्षता का अधिकारी है। रोम वाले उसे अपना राष्ट्रकवि मानते चले आते हैं। 'ईनेईड्' केवल रोम की ही नहीं वरन् मानव जगत् की भी काव्यात्मक वाणी कही जाती है। उसका समकालीन होरेस (६५–८ ई० पू०) एक मुक्त दास का पुत्र था। जीवन के उतार-चढाव, रंग-बिरंगे साहित्य, रोमन समाज के भीतरी तथा बाहरी व्यापार, स्वयं अपने जीवन की समता-विषमता, आचार-अनाचार की उसने सहृदय मधुकर की भाँति अर्जन और विसर्जन द्वारा भावुक वृद्धि की। साराश यह है कि उसने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का सम्यक् दरश-परस और व्यंग्यात्मक आलोचना भी किया। उसके गीति-काव्य ने

उपर्युक्त विचारधारा का निरूपण सबसे चमत्कारपूर्ण और कमनीय भाषा में एथेन्स के आचार्य किन्तु सीरिया के निवासी लूसियन ने किया (१६५ ई०)। उसने छिहत्तर लघु पुस्तिकाओ द्वारा संवाद-शैली मे अपने विचार प्रकट किये। उन पुस्तिकाओ का नाम उसने 'मृतको के संवाद', 'वारागनाओ के सवाद' आदि रखे, जिससे लोगो का ध्यान शीघ्र ही आकर्षित हुआ, यद्यपि उनका विषय दूसरा ही था। उनमें उसने ग्रीस के देवताओ का खण्डन और उपहास किया। ग्रीस के प्रचलित धर्म के सिवा उसने दार्शनिकों तथा अलंकार-विभूषित भाषा के लेखको तथा वक्ताओ की धज्जियाँ उड़ायी। इस हद तक उसने कह डाला कि दार्शनिक पागल कुत्तो के समान भूँकनेवाले हैं, उनसे बचकर चलना चाहिए। मानवजगत् अस्तव्यस्तता, पारस्परिक संघर्ष, आशा-निराशा, स्वार्थपरता, ठगी, क्रूरता. झूठ, रगड़-झगड, राग-द्वेष एव नियति के चक्कर मे फँसा हुआ है। यह उत्थान-पतन, उलट-फेर, उतार-चढ़ाव उपहास्य तथा ग्लानिवर्धक हैं। अतएव मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह राग-द्वेष को छोड़कर अपने सामने जो काम आये उसे मुस्कराते हुए यथायोग्य करता रहे और वितण्डावाद तथा तत्त्वान्वेषण की मरु-मरीचिका से बचता रहे। दर्शन का एक मात्र लाभ उपर्युक्त सासारिक प्रवृत्तियो का प्रदर्शन मात्र है, न कि समस्याओं का समाधान। संसारचक्र के सामने झुकने के सिवा अन्य कोई उपाय नही है।

ग्रीक दार्शनिकों ने विविध दृष्टिकोणो से सासारिक समस्याओ का अनुशीलन किया तथापि उनका अन्तिम समाधान न हो सका। अतएव साधारण लोग अपने परम्परागत ईश्वर तथा देवी-देवताओं के विश्वास पर चलते रहे। नयी बात इतनी अवश्य हुई कि पुनर्जन्म के प्रति उनकी आस्था पहले से बहुत बढ गयी, क्योकि उसी ढग से किसी अचिन्त्य भविष्य मे संसार-चक्र से मुक्त होने की आशा सम्भव प्रतीत हुई।

प्लेटोनिक मत

ईसा की तीसरी शती (२०३—२७० ई०) मे प्लैटिनस नामक एक रहस्यवादी दार्शनिक सन्त मिस्रियो के वश मे उत्पन्न हुआ। उसके मत को प्लैटोनिज्म कहते हैं। उसके मत की विशेषता यह है कि उसमे प्लेटो के दार्शनिक विचारो से रहस्यवादियो की धारणाओ का समन्वय है। उसका गहरा प्रभाव ईसाई धर्म पर ही नही वरन् पश्चिमी, मध्य तथा दक्षिणी एशिया पर भी पडा। प्लैटिनस ने सिपाही

की हैसियत से फारस तक की यात्रा की, वहाँ के धार्मिक तथा आचार-सम्बन्धी विचारों का अनुशीलन किया और अन्त में रोम में जा बसा। सम्राट् गैलिएनस पर उसका काफी प्रभाव पड़ा। उसका जीवन सरल, नम्र और सासारिक विषयों तथा शारीरिक सुखो के प्रति विरक्त था। शरीर को वह लौह-पिंजर-सा समझता, जिसमें जीव बन्दी होकर फड़फड़ाया करता है। मांस, मदिरा, मैथुन को वह सर्वथा त्याज्य मानता था परन्तु उनका विरोध न करता था। वह उत्कट आदर्शवादी था। उसका विश्वास था कि परम-आत्मा के मानस मे आत्मशक्ति से प्रेरित होकर प्रकृति-तत्त्व और जीव-तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः उनमे वही स्वय विभिन्न रूपों और नामो से विद्यमान है। ससार के सभी व्यापार और स्थितियो पर आत्मा के मानस की प्रतिक्रियाएँ होती है। मानसिक क्रियाओं का विवेकसहित नियन्त्रण करने वाला बुद्धि-तत्त्व है जो मन, जीव तथा शरीर का अध्यक्ष है। देखने मे जीव अनेक जान पड़ते है, किन्तु वे सब एक विश्वात्मा से ही प्रसूत है, जैसा कि परमात्मा से विश्वात्मा तथा प्रकृति का प्रादुर्भाव हुआ है। जीव का परम लक्ष्य पार्थिव बन्धन से मुक्त होकर विश्वात्मा मे और वहाँ से परम-आत्मा मे मिल जाना है। यह वैराग्य तथा अध्यात्म-चिन्तन से हो सकता है। मुक्त जीव को परम-आत्मा का आवेश और साक्षात्कार हो जाता है जो आनन्द की चरम सीमा है, क्योंकि वह सर्वसौन्दर्य, सर्वज्ञान् और सर्वशक्तिमान् है। वह अनुभवगम्य है। जो बुद्धि की अवहेलना करते है वे जन्म-मरण तथा पुनर्जन्म के चक्कर मे गोता खाया करते है। यहाँ तक कि मनुष्य-योनि खोकर पशु-पक्षी आदि के शरीरो में फँस जाते है। वे ऊर्ध्वगामी न होकर कर्मानुसार अधोगामी हो जाते है। परमात्मा से मिलने के मुख्य साधन बुद्धि का सदुपयोग, सदाचार, प्रेमनिष्ठा, भक्ति और इष्टसाधना है। उसके विचारो मे ग्रीस, फारस, भारत और मिस्र के धर्मो तथा विश्वासों का न्यूनाधिक प्रभाव प्रतिबिम्बित है।

मिथ्र धर्म

ईसा का दूसरी और तीसरी शती में ईरानियो का मिथ्र धर्म यूरोप मे उत्तरी इग्लैण्ड तक फैल गया। लन्दन मे उसका एक मन्दिर भी निकला है। मिथ ज्योतिर्मय आहुर मजदा का पुत्र ही नही वरन् अवतार के समान था। आत्मतत्त्व, प्रकाश, पवित्रता एव सत्य का वह साक्षात् स्वरूप माना गया, जिसका उद्देश्य अन्धकार के प्रसारक अह्रिमन का विनाश कर मनुष्य को तमस् से निकालते हुए ज्योतिःपूत करना था। उसके सिद्धान्त के अनुसार जीव को संघर्ष एवं प्रयत्न द्वारा पवित्रता तथा शुद्धता

प्राप्त करनी चाहिए, न कि पलायन द्वारा। उसे आत्मवान् होना चाहिए न कि आत्म-त्यागी। मिथ्र की अर्चा के लिए ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ नियुक्त थी। उसकी मूर्ति के आगे दिन-रात अग्नि-शिखा जलती रहती थी। अनुयायियो के लिए आचार-विचार के नियम जटिल थे। विश्वास यह था कि मरणोपरान्त कर्मानुसार मिथ्र जीवो को स्वर्ग अथवा नरक भेजता है। मिथ्र-धर्म रहस्यात्मक था और उसमे रक्त तथा प्रीति-भोज द्वारा जीव के प्रायश्चित्त अथवा पाप का प्रक्षालन करने का विधान प्रचलित था।

अध्याय ६

भारतवर्ष

भौगोलिक स्थिति

भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति की कुछ विचारणीय विशेषताएँ है। एशिया महाद्वीप के दक्षिणी भाग के मध्य मे उसका स्थान होने के कारण पश्चिमी ईरान, मेसोपटेमिया तथा मिस्र जैसे सभ्य देशो मे उसका जल और स्थल मार्ग से सम्पर्क आसानी से हो सका। पूर्वी देशो, जैसे बर्मा, इण्डोनेशिया, इण्डोचीन तथा जावा आदि टापुओ के समूह से भी आदान-प्रदान सम्भव हो गया। पूर्व की ओर चीन से भी कुछ सिलसिला चलता रहा। सारांश यह कि संस्कृति तथा व्यापार दोनो की दृष्टि से भारत की स्थिति सभ्य ससार के मध्य मे मानी जा सकती है।

भारत भूमि की लम्बाई अठारह सौ मील और चौड़ाई भी उतनी ही है। उत्तर मे हिमालय तथा पश्चिम और पूर्व मे पर्वतमालाएँ उसकी रक्षा उसी प्रकार करती हैं जिस प्रकार बगाल की खाड़ी,हिन्द महासागर और अरब सागर दक्षिणी भाग की करते हैं। भारत का क्षेत्रफल पन्द्रह लाख वर्गमील है, जिसमे अनेक प्रदेश है। उसका जलवायु, गरमी-सरदी तथा उपज विभिन्न प्रकार की हैं। इसी कारण यहाँ विभिन्न प्रकार के अन्न, फल, फूल, वृक्ष, लताएँ आदि उत्पन्न होते है जिनके प्रभाव से देश में अनेक प्रकार की वेषभूषा, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और बोलियाँ प्रचलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत भूमण्डल का लघुरूप अथवा सार अश है।

ऐतिहासिक काल के आरम्भ मे भारत की वह रूपरेखा बन चुकी थी जो आज दिखाई पडती है। भेद इतना अवश्य हुआ कि सिन्ध को पार करता हुआ रेगिस्तान राजपूताने मे फैलकर उत्तर प्रदेश की पश्चिमी सीमा तक बढ आया है। कुछ नदियाँ या तो लुप्त हो गयी अथवा अपने पुराने रास्ते से इधर-उधर हट गयी। प्राचीन युगो में भारत में अनेक विशाल वन थे किन्तु जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होने तथा अन्य

अनेक आवश्यकताओं के कारण वन साफ कर दिये गये और बस्तियाँ वहाँ स्थापित होती रही तथा अब तक हो रही है ।

भारत मे प्रकृति ने नदियो का ऐसा जाल फैलाया है जिससे कृषि और कृषक दोनो को लाभ पहुँचा है। सिन्धु तथा पजाब की पाँच नदियाँ, गगा, यमुना, घाघरा, गोमती और उनकी सहायक नदियाँ, बिहार में गगा, गण्डक और शोण, बंगाल मे ब्रह्मपुत्र, उडीसा की महानदी, दक्षिण के उत्तरी छोर पर नर्मदा और ताप्ती, दक्षिण की गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, तुगभद्रा, आदि प्रमुख नदियो के सिवा अनेक छोटी नदियाँ हैं जो भारत भूमि को कृषि-प्रधान देश बनाने मे सलग्न रही हैं। अतः थोड़े ही परिश्रम से सिंचाई हो सकी और देश की बढती हुई जनसख्या का काम चलता रहा। किन्तु बीसवी सदी से जनसख्या इतने वेग से बढने लगी जिससे पुराने विधान मे परिवर्तन करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी। जल के नियन्त्रण और वितरण तथा उपज बढ़ाने की समस्या इस प्राचीन देश के लिए नवीन-सी है। प्राचीन काल मे बन्दरगाहों की कठिनाई उतनी न थी जैसी कि आधुनिक युग मे है। उस समय जहाज छोटे थे इसलिए समुद्रतट के पास बहुत गहराई की आवश्यकता न थी, जैसी कि बड़े-बडे जहाजो के लिए अब हो गयी है। मौर्यकाल के पहले भरुकच्छ (भडौच), शूर्पारक (सोपारा) आदि बन्दरगाह (पोताश्रय) पश्चिम भारत मे थे। वंग देश में ताम्रलिप्ति आदि बन्दरगाह उत्तर के प्रदेशो की आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। दक्षिण मे भी विशेषतः पश्चिमी तट पर छोटे-बड़े अनेक बन्दरगाह थे। पूर्वी तट पर उनकी कमी न थी। प्राचीन युग की आर्थिक व्यवस्था को देखते हुए भारत को समुद्रमार्ग से पूर्वीय तथा पश्चिमी देशो से व्यापार करने मे कोई विशेष कठिनाई न थी।

उत्तरी भाग की पर्वतमालाओ से देश के जलवायु को तो लाभ हुआ ही, उधर से आनेवाले आक्रमणकारियो को भी अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। दर्रो की संकीर्णता के कारण आक्रमणकारी अपार सख्या मे एकाएक घुस न सकते थे। जब तक उन मार्गों पर भारतीयो का आधिपत्य रहा तब तक आक्रमण के दरवाज़े बन्द-से रहे। जब वह उनके अधिकार से बाहर निकल गये तब से आक्रमण होते रहे। जब समुद्रमार्ग से आक्रमण होने लगे तब देश को अभूतपूर्व आपत्तियो का सामना करना पड़ा। नये प्रश्न और नयी समस्याएँ उपस्थित हो गयी, जिनका भारत के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। फिर भी पर्वतो और सागरों के कारण ऐसी परिस्थिति न होने पायी जिससे देश का सास्कृतिक जीवन आमूल

नष्ट-भ्रष्ट और उसका व्यक्तित्व सर्वथा विकृत हो जाता। सम्भवतः पर्वतों, नदियों तथा सागरो से उपकृत होने के कारण यहाँ के निवासी देवी-देवताओ की तरह उनका सम्मान करते आते हैं। उन सब ने मिलकर देश को एक भौगोलिक इकाई और स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिसका प्रमाण हमारा सास्कृतिक और आर्थिक जीवन है। विविधता और एकता का इतना स्पष्ट प्रदर्शन संसार के शायद ही किसी अन्य देश में हुआ हो। विशाल देश होने के कारण यहाँ जो आया उसके लिए स्थान मिल गया। फलतः यहाँ आर्य भाषा, द्रविड़, शबर तथा किरात आदि भाषाओं के बोलनेवाली श्वेत, कृष्ण तथा पीत वर्ण की जातियाँ या उपजातियाँ पायी जाती हैं जिनमें वैयक्तिक विभिन्नता रहते हुए भी सांस्कृतिक एकता के अनेक लक्षण स्पष्टतया पाये जाते हैं। एकीकरण का प्रवाह पहाड़, वन और नदी-नदो को अतिक्रमण करता हुआ पुरातन काल से चलता आ रहा है। बहुत पुराने अवशेषों से यह जान पडता है कि भारत में भी मानव-सभ्यता का विकास प्रायः उसी क्रम से हुआ जैसा कि संसार के अन्य भू-भागो मे। पहले यह माना जाता था कि दक्षिण भारत में ताम्र-युग नही हुआ, प्रस्तर युग के बाद ही वहाँ लौह-युग आरम्भ हो गया। किन्तु नवीन खोजो, विशेषकर रायचूर में प्राप्त पुरातन युग के अवशेषों से उपर्युक्त मत अब शिथिल और भ्रमात्मक-सा माना जाता है।

आदिम संगठित सभ्यता (सिन्धु सभ्यता युग २७५० ईसा-पूर्व)

अनुमान किया जाता है कि ईसा के तीन हजार वर्ष पहले ईराक और ईरान के पठार की ओर से कुछ जनसमूहो ने आकर बिलोचिस्तान में कच्ची ईंटो और पत्थरों के घर बनाकर गांव बसा लिये और वे शान्तिपूर्वक रहने लगे। वे लोग खेती और पशुपालन करते थे। सिंचाई के लिए नदियो के पानी को बाँध बनाकर रोक लेते थे, किन्तु धातुओं में उन्हें ताँबे का ही ज्ञान था। उनकी सभ्यता ने विकसित और पुष्ट होकर वह स्थिति और रूप धारण किया जिसके प्रमाण मोहन-जोदड़ो एवं हरप्पा आदि में आज भी दिखाई पड़ते हैं। हरप्पा अथवा सिन्धु घाटी की सभ्यता का प्रसार सतलज नदी, यमुना, ताप्ती और नर्मदा की तराई तक तो पाया ही जाता है, सम्भव है कि उससे भी अधिक हुआ हो।

नगर-निर्माण

मोहनजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता ग्रामीणता से बहुत ऊँची उठ चुकी थी।

उसे यदि हमारे देश की नागरिक सभ्यता का आदिम रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा। किसी-किसी अंश में, जैसे कि सड़को के निर्माण व जल के निकास के लिए नालियों और सुन्दर स्नानागारो के निर्माण में उन्होंने अतुलनीय उन्नति कर ली थी। उस उन्नति तथा सम्पन्नता का कारण केवल कृषि नहीं वल्कि मुख्यतः अनाज, लकड़ी और व्यापार थे। मोहनजोदड़ो के मकान दो कोठरियो से लेकर उस वड़े महल तक थे जिसकी चौड़ाई-लम्बाई पचासी फुट और सत्तानवे फुट थी। मकान पक्की ईंटो के प्रायः दो-मंजिले होते थे। ईंटें साढ़े पाँच से वीस इंच तक लम्बी होती थीं। ईंटो की मजबूत जुड़ाई चूने से की जाती और दीवारों पर कच्चा या पक्का पलस्तर लगाया जाता था। मकानो के आँगन मे कुएँ वनाने का रिवाज था। तब भी जनता के सुभीते के लिए नगर मे जगत वाले अनेक पक्के कुएँ वने थे, जिनमे से कोई-कोई आज तक पानी दे रहे है। उसी तरह मकानों में यद्यपि नहाने के पक्के कमरे होते थे जिनमें पानी वाहर निकालने की नालियाँ वनी थी, तथापि जनता के लिए एक स्नानागार ६० गज लम्बा और ३६ गज चौड़ा, ८ फुट ऊँची दीवार से घिरा हुआ वनवाया गया था। उस हाते मे १३ गज लम्बा, साढ़े सात गज चोड़ा और आठ फुट गहरा स्नान का तालाव था जिसके चारो ओर वरामदे और कमरे वने हुए थे। पानी भरने के लिए तालाव के पास कुएँ वनाये गये थे और पानी निकालने के लिए वडी नाली निकाली गयी थी। कुण्ड के समीप ही सम्भवतः एक हम्माम भी था जिसमें गरम हवा से तापमान स्थिर रखा जाता होगा। धार्मिक अथवा सामाजिक अवसरो पर एकत्रित होने के लिए तीस गज की लम्वाई और उतनी ही चौडाई की विशाल वैठके भी नगर मे वनी थी। नगर की रक्षा के लिए ऊँचे स्थान पर सुदृढ गढ़ी थी और अनाज जमा करने के लिए वडी खत्ती भी थी। कमरो मे लकड़ी के पलंग, विने हुए मूढे तथा कुरसियाँ रखी जाती थी। रोशनी के लिए ताँवे, सीप और मिट्टी के चिराग या मोमवत्ती के शमादान होते थे। नगरो मे पानी निकालने वाली नालियो तथा सडकों की व्यवस्था सुन्दर और सन्तोषप्रद थी। एक गज चौड़ी गलियो से ग्यारह गज तक चौडी सडके वड़े सुन्दर ढंग से चौपड की तरह विछायी-गयी थी। तत्कालीन अपूर्व नगर-निर्माण-कला का प्रभाव पश्चिमी राजपूताना के नगरो मे आज भी पाया जाता है। शहर का पानी निकालने के लिए दो इंच से डेढ फुट गहरी, पक्की, पलस्तर की हुई नालियाँ थी। कूड़ा-कचरा डालने के लिए इधर-उधर गहरे गड्ढे वना दिये गये थे जिनमे से निकालकर कूड़ा शहर से वाहर फेंक दिया जाता था। प्राचीन काल मे सड़को और नालियो का ऐसा

इतिहास मे मिलना कठिन है। सस्कृत भाषा तथा साहित्य की जैसी उन्नति हमारे देश मे हुई वैसी यूनान को छोडकर शायद कही नही हुई। इतिहास की ओर से हमारे पूर्वज उदासीन रहे। उनकी प्रवृत्ति पुराणो की ओर झुकी रही। उसके सिवा जन-साधारण की भाषाओं, जैसे पाली मे भी बौद्धो एव जैनो ने विशाल साहित्य की रचना की। जातकमाला साहित्य का एक अद्वितीय रत्न है। राजनीति मे चाणक्य का अर्थशास्त्र, वैद्यक मे चरक एव सुश्रुत आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सुश्रुत मे एक सौ इक्कीस औजारो का उल्लेख है जिनका प्रयोग शल्य चिकित्सा मे होता था। फूली, हर्निया, गर्भ मे मरे हुए शिशुओ को निकालने के लिए आपरेशन होता था।

कला-कौशल

स्थापत्य तथा शिल्पकला की उन्नति भी मौर्यकालीन भारत मे अच्छी थी। कुछ लोगो का कहना है कि ईरानियो तथा यूनानियो का उसके विकास पर विशेष प्रभाव पडा। साँची तथा भरहुत की शिल्प रचना, गुफाओं के मन्दिर और चैत्य, उडीसा मे पश्चिमी भारत तक इधर-उधर बिखरे अब तक दर्शकों को आश्चर्यान्वित एवं कुतूहली बनाते है। अजन्ता की गुफाओ के भित्ति-चित्रो की प्रशसा आज भी हो रही है। एलोरा और बाघ की गुफाओं की रचनाएँ, देवगढ़ के मन्दिर, बोध गया का महाबोधि मंदिर, तत्कालीन स्थापत्य कला के सुन्दर प्रमाण है। अशोक के स्तम्भो की सफाई, पालिश तथा उनके शीर्ष पर बनी पशुओ की मूर्तियाँ फारस तथा पश्चिमी एशिया की कला को भी लज्जित करनेवाली है। मूर्तिकला मे यूनानी शैली, जिसे गान्धार शैली भी कहते है, के अनुसार बनायी गयी भव्यमूर्तियो के सिवा अमरावती तथा मथुरा की भारतीय शैली की मूर्तियाँ एशिया के अन्य देशो की कलाओ से उत्तम गिनी जाती है। भाव-प्रदर्शन तथा अगभगिमा मे वे यूनान एव रोम की कला से भी किसी-किसी अंश मे आगे बढी हुई है। अलौकिक कल्पनाओ को उत्कीर्ण करने की जिस योग्यता का प्रदर्शन भारत मे हुआ वैसा शायद ही कही हुआ हो। ताँबे तथा लोहे का भी स्तुत्य काम यहाँ होता था। दिल्ली का लोहे का स्तम्भ उसके बाद भी कई शतियो तक संसार मे कही भी न बन सका। एक प्रमुख विद्वान् का कथन है कि कला के क्षेत्रो मे जिस वैचित्र्य तथा प्रतिभा का प्रदर्शन भारत मे हुआ वैसा उन युगो मे भू-मडल पर अन्यत्र कही भी नही हुआ। भारत की कलाओ तथा धर्म एवं दर्शनशास्त्र का प्रभाव फारस से लेकर चीन, जापान तथा सील्नोन प्रायद्वीप और काबोज तक शतियों

तक बढ़ता चला गया। बोरोबुदूर तथा अंगकोरवाट के विश्वविख्यात मंदिर भारतीय कला के ही प्रसाद हैं।

धर्म

भारतीय आर्य लोग आरम्भ से ही धर्मप्राण थे। वेद, पाश्चात्य मतानुसार, मुख्यतः स्तुतियो के सग्रह है। ये स्तुतियाँ प्रायः यज्ञो तथा अन्य शुभ अवसरों पर पढ़ी या गायी जाती थी। ईरान वालो की तरह वैदिक काल में आर्य लोग न तो मन्दिर बनाते थे और न सभवतः मूर्तिपूजन ही करते थे। वे अलक्ष्य दैवी शक्ति अथवा प्राकृतिक शक्तियो को अनुप्राणित समझते थे और उनको तुष्ट करने के लिए यज्ञ एवं स्तुतियाँ करते थे। उनका विश्वास था कि देवताओं अथवा देवियों को प्रसन्न कर लेने से ऐहिक तथा पारलौकिक कामनाओ की पूर्ति हो जाती है। उनके असन्तुष्ट होने से अनेक बाधाएँ पड़ती हैं और सफलता दुष्प्राप्य हो जाती है। उनके प्रमुख देवता इन्द्र, अग्नि, सविता, प्रजापति, रुद्र तथा विष्णु आदि थे, देवियाँ थीं पृथ्वी, अदिति, ऊषा, सरस्वती आदि। साथ ही उनकी यह भी धारणा थी कि समस्त शक्तियों को अनुप्राणित तथा सचालित करने वाली एक महान् शक्ति है जो अनादि, अनंत, तथा अवर्ण्य है। प्रत्येक कार्यसिद्धि के लिए यज्ञ की आवश्यकता है चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा। साधारण गृहस्थ को पाँच महायज्ञ करने का आदेश था। वे थे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथि यज्ञ। बड़े यज्ञ कभी-कभी महीनों तक चलते रहते थे जिनमे अपार सामग्री, द्रव्य, धन, समय, और आयोजन की आवश्यकता पड़ती थी। श्रौत यज्ञ मे राजा और सामन्त सोम-पान करते थे। मनोरथ विशेष के लिए जैसे दीर्घायु, पुत्र-कामना, वर्षा अथवा आधिपत्य आदि के लिए भी यज्ञ किये जाते थे। आधिपत्य और स्वराज्य के लिए वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध यज्ञ का विधान था। उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आर्य लोगो के यज्ञ केवल व्यक्ति के लिए ही नही वरन् पितरो, मनुष्यो, विश्व, राज्य, साम्राज्य के हितों के निमित्त भी किये जाते थे। कुछ यज्ञो मे पशुवध भी बाद मे होने लगा था। वैदिक काल के बाद यज्ञो की ओर से कुछ लोगो का जी ऊबने लगा। यज्ञों द्वारा सिद्धि, सुख-शान्ति तथा अमरत्व को प्राप्त करना उनको भ्रममूलक जान पड़ने लगा। कुछ ने यज्ञो को प्रतीकात्मक मान कर उसके गूढ तात्पर्य को समझाने की चेष्टा की। कुछ ने उनको नि.सकोच होकर व्यर्थ घोषित कर दिया। यज्ञो के बदले उन्होने मन, बुद्धि तथा काया की शुद्धि को ही दुःख-निवृत्ति और मुक्ति का साधन निश्चित

किया। उनके द्वारा सर्वभूतात्मा का साक्षात्कार नहीं तो अनुभव प्राप्त करना ही अन्तिम ध्येय और अमरत्वप्रद बताया गया। उनके अनुसार जीव, आत्मा, ब्रह्म, इत्यादि का ज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है। इन्ही विषयों पर उपनिषदों मे गंभीर विचार पाया जाता है।

१. जैनधर्म के सुप्रसिद्ध 'जिन' वर्धमान का जन्म ज्ञात्रिक कुल के प्रधान सिद्धार्थ की लिच्छवी कुल की त्रिशलीदेवी के गर्भ से हुआ (५४० ई० पू०)। विवाह हो जाने और एक पुत्र को जन्म देने पर उनका चित्त सांसारिक वैभव-विलास मे न लगा। अन्ततोगत्वा उन्होने तीस वर्ष की आयु में वैराग्य लेकर निर्ग्रन्थ मत ग्रहण कर लिया और जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। वैराग्य लेने के तेरह वर्ष अनंतर वे अर्हन्त एव जिन की सिद्धावस्था को प्राप्त हुए। अनुमानतः पावा नगर मे उनका देहावसान (४६८ ई० पू०) हुआ।

२. हिमालय की तराई मे शाक्यो का एक छोटा-सा गण राज्य था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहाँ के गणमुख्य राजा शुद्धोधन की महारानी महामाया ने लुम्बिनी में एक बालक को जन्म दिया, जिसका नामकरण सिद्धार्थ हुआ (४८६ ई० पू०) और जिसका पालन मौसी गौतमी द्वारा होने के कारण गौतम उपनाम निर्धारित हुआ। बाल्यकाल से ही उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी। यद्यपि उनका विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ था और उससे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, तथापि उनका चित्त निवृत्तिमार्ग से न हटा। अन्ततोगत्वा उन्होंने गृह त्याग (महाभिनिष्क्रमण) कर विरक्त रूप से सत्य की खोज की। पैंतीस वर्ष की आयु मे बोधिवृक्ष के नीचे उनचास दिनों के अनवरत ध्यान तथा संधान से उनको सत्य सिद्धान्त प्राप्त हुआ। तदनतर वे अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे। उनका विशिष्ट कार्यक्षेत्र पूर्वी उत्तरप्रदेश, तथा मगध रहा। अस्सी वर्ष की आयु मे पावा में उनका परिनिर्वाण हो गया। उनके बाद उनकी स्थापित भिक्षु संस्था, 'सघ', उनका कार्य करती रही।

३. श्री महावीर स्वामी के गोसाल मस्करी-पुत्र नामक एक सहयोगी ने मत-विभिन्नता के कारण उनका साथ छोड़ कर "आजीविक" नामक अपना सप्रदाय अलग स्थापित किया। उसका देहावसान ४८४ ई० पू० मे हुआ। गौतमबुद्ध तथा महावीरजिन राजवंशी थे। किन्तु गोसाल का जन्म साधारण वर्ग मे हुआ था।

यह विचारणीय है कि उपर्युक्त तीनो मतो के प्रचारकों का अभ्युदय एवं कार्य-

क्षेत्र पूर्वी उत्तरप्रदेश, मगध और संभवतः आगे भी रहा हो। संभव है कि उन क्षेत्रों मे ऐसे आर्येतर लोगों का प्राधान्य हो जिन पर वैदिक धर्म का उस समय तक अधिक प्रभाव न रहा हो।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म का सिद्धान्त अव्यात्ममूलक न होकर मनोवैज्ञानिकता पर आश्रित था। मानुषिक जीवन को वह मूलतः दुःखमय मान कर चलता है। असंतोष, वेदना, दु ख और तज्जनित यातनाएँ सर्वव्यापक और जीवन से सम्बद्ध हैं। उन सब का मूल कारण तृष्णा है जो अहन्ता अथवा भ्रमात्मक आत्मा या जीव की सत्ता में विश्वास करने से उत्पन्न होती है। आत्मा की असत्यता समझ लेने से तृष्णा का स्रोत वन्द हो जाता है और तृष्णा के अभाव में दुःख छिन्न-भिन्न होकर सत्ताहीन हो जाता है। वस्तुतः आत्मा की कोई सत्ता नही, वह केवल कपोल-कल्पना है। इसी कारण बौद्ध मत को अनात्मवाद कहा गया है। उपर्युक्त ज्ञान तभी प्राप्त होता है जव सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति, और सम्यक् चिन्तन अथवा समाधि का अवलम्वन किया जाय। अज्ञान अथवा सत्य ज्ञान के अभाव में कल्पना, निजत्व, नाम, रूप, छः ऐन्द्रिक तत्व स्पर्श-भावना, तृष्णा, वन्धन, व्यक्तित्व, पुनर्जन्म और दुःख-जाल क्रमशः प्रकट होते रहते हैं। संसार दु.खमय और अनित्य एवं क्षणिक है। न जीवात्मा और न विश्वात्मा अथवा परमात्मा की कोई सत्ता है, संसृति के प्रवाह से निवृत्त हो जाना ही निर्वाण अथवा मोक्ष है जिसकी प्राप्ति जीवन काल में भी हो सकती है। मृत्यु के उपरान्त वह परिनिर्वाण हो जाता है।

जैन धर्म

जैन सिद्धान्त के अनुसार जगत् अनादि और अनन्त है। उसका स्रष्टा कोई नही। ससार-चक्र नित्य चलता रहता है यद्यपि उसमे उन्नति (उत्सर्पण) तथा अवनति (अवसर्पण) होती रहती है। ससार का व्यापार जीव और अजीव मे आकाश, काल, गति, (धर्म), अगति (अधर्म), और भूतद्रव्य (पुद्गल) प्रत्येक पदार्थ मे विद्यमान रहता है। किन्तु भौतिक आवरणो से ढक जाने के कारण उस पर मलीनता आ जाती है। यह दशा कर्मो के फल के अनुसार होती है। इसी कारण जीव कर्मानुसार पुनर्जन्म अथवा आवागमन के चक्कर मे फँसा रहता है। उससे छुटकारा तव मिल

सकता है। जब जन्म तथा कर्मों का क्षय कर दिया जाय। फिर जीव उसके बन्धन में नहीं पड़ता। सयम, तप द्वारा कर्मों के आवरणों से मुक्त होने पर जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होकर, संसार सें ऊपर उठकर उच्चतम स्वर्ग का भी अतिक्रमण कर अक्षय आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसी स्थिति को 'निर्वाण' कहते हैं। वही ईश्वरत्व और सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

आजीवकों के मत

उनके सिद्धान्त के अनुसार "नियति" के विधान से ही ससार चक्र चल रहा है। उसकी गति अनिवार्य और अटल है। नियति अमूर्त किन्तु अनादि एवं सर्वग्राही तत्व है जिसके व्यापार को रोकना दुसाध्य ही नही वरन् नितान्त असभव है। मनुष्य ही नहीं, सारा विश्व ही उसका खिलौना है। जप, तप, आचार, विचार, यम, नियम आदि नियति की गति मे कोई फेर-फार नही कर सकते। मनुष्य जो कुछ अच्छा या बुरा करता है वह सब नियति की प्रेरणा से ही। यह प्रेरणा ही सब को कठ-पुतली की तरह नचाती है। अतः पुरुषार्थ अथवा शुभाशुभ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और नियति के प्रवाह को सन्तोषपूर्वक सहन करने के सिवा कोई अन्य उपाय नही।

कुछ विचारक तो यहाँ तक कहने लगे कि वेद ही नही वरन् स्वर्ग, जीव, आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, कर्म, आचार, शास्त्र, मोक्ष, निर्वाण आदि की कल्पनाएँ व्यर्थ, भ्रमात्मक और सर्वथा असत्य हैं। सत्य तो यह है कि जब तक जीवन रहे तब तक विधि-निषेध का चक्कर छोड़ कर, जिस प्रकार बन पडे सुख और मौज तथा आनन्द उठाने में चूकना न चाहिए। ऐन्द्रिक, मानसिक, सब प्रकार के सुख सत्य हैं और जीवन की सफलता उनके अधिकाधिक उपभोग मे ही समझनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत की भारतवासियो ने अवहेलना की और उसे उपहासपूर्वक उड़ा दिया।

उपर्युक्त मतो पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि छठी और पांचवी शती (ई० पू०)मे प्राचीन धारणाओ और रूढियो के प्रति असन्तोप ही नही,वरन् अविश्वास-सा हो चला था। सभव है कि तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक परि-स्थितियो का वातावरण लोगो मे ऐहिक और लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता एव असतोप का सवर्धन कर रहा हो। सरल और स्वाभाविक ग्रामीण जीवन, छोटे-छोटे राज्यो की स्वतत्रता, नगरो की स्वार्थपरायणता, अनाचार और विलासिता, ब्राह्मणो और क्षत्रियो के पतन, अनार्यों और शूद्रो के अभ्युदय, करो की वृद्धि आदि ने लोगों

को जीवन के प्रति उदासीन कर दिया हो। संभव है उन्हीं कारणों से बुद्ध, महावीर तथा अधिकांश अन्य चिन्तक नगरों में विशेषतया उपदेश देते और संस्थाएँ स्थापित करते फिरते थे। इसके सिवा नवीन आन्दोलनों का विशेष कार्यक्षेत्र पूर्वी उत्तर-प्रदेश, मगध आदि में ही साधारणतः सीमित-सा रहा। नवीन आन्दोलनों की क्षमता तथा तीव्रता को सोच कर शैशुनाग, मौर्य तथा नन्द वंश के उदीयमान साम्राज्य स्थापकों ने बौद्ध और जैन मतों को अपने लालन-पालन तथा सरक्षण में लेना उचित समझा हो। उस नीति से उनको एक लाभ तो यह हो सका कि उनको ऐसे समुदाय की सहायता प्राप्त हुई जो वैदिक युग के राजाओं को ब्राह्मणो से मिला करती थी। दूसरा लाभ यह हुआ कि नये मतों का प्रचार करने वाले नये साम्राज्य अथवा राज्यों के विरुद्ध आन्दोलन न उठाते थे अपितु उनको आशीर्वाद देते रहते थे। तीसरा लाभ यह हुआ कि आर्यों की दुर्दमनीय जातिवादिता के निराकरण के साथ ही साथ उनमें प्रचलित यज्ञादि पर जो राज्य का धन व्यय होता था उससे छुटकारा मिल गया। संभव है कि चतुर नीतिज्ञ यह भी जानते हों कि नये धर्मों के सिद्धान्त ऐसे हैं जो सर्वसाधारण में श्रद्धा भले ही उत्पन्न करें किन्तु मानवीय दुर्बलताओं के कारण व्यवहार में सक्रिय रूप में न आ सकेंगे। लोगों का ध्यान ऐहिक समस्याओं से हटाकर पारलौकिक चिन्तन की ओर झुका देने की क्षमता उन क्रान्तिकारी मतों में पायी गयी जिसका लाभ राजनीतिक और व्यापारिक समुदाय को अनायास मिल सकता था।

औपनिषदिक, जैन तथा बौद्ध मतों में अनेक समानताएँ हैं। उदाहरणार्थ तीनों त्याग, कर्मफल, मुक्ति, मन, वचन और कर्म की सत्यता, आचार-विचार की शुद्धता, तप, नियम तथा न्यूनाधिक अहिंसा में विश्वास रखते हैं। किन्तु उनकी परिभाषाएं तथा विषयों के महत्त्व-वितरण में थोड़ा बहुत भेद है। उदाहरण के लिए जैन त्याग, तप, ज्ञान तथा अहिंसा पर अत्यधिक जोर देते हैं। बौद्ध धर्म मध्य मार्ग का अवलम्बन करता है। अनेक समानताओं के साथ-साथ उनमें कुछ बातों में बहुत बड़ा मतभेद है। औपनिषदिक सिद्धान्त जीवात्मा को मानता है। जैन भी जीव को मानते हैं किन्तु बौद्ध उसको नहीं मानते। उपनिषद ब्रह्म अथवा ईश्वर की सच्चिदानन्दात्मक सत्ता जीवों से पृथक् मानते हैं। जैन सृष्टि का कोई कर्त्ता धर्ता और संहर्ता तो नहीं मानते किन्तु जीव की पूर्ण उन्नति हो जाने पर उसी में सच्चिदानन्दात्मक ईश्वरत्व की स्थिति होना वे मानते हैं। किन्तु प्राचीन बौद्ध धर्म न तो आत्मा का न जीव का पुनर्जन्म, न ईश्वर का ईश्वरत्व मानता है। बौद्धों

के अनुसार तृष्णा के निरोध होने पर तथा कर्मों के क्षय हो जाने पर व्यक्तित्व की चेतना जाती रहती है। वे उसी को दुःख से परम निवृत्ति अथवा निर्वाण कहते हैं। वैदिक मतानुकूल दर्शनशास्त्रो की रचना हुई। साख्य, वेदान्त और मीमासा योग, न्याय और वैशेषिक षड्दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार आगे चल कर बौद्धो तथा जैनों ने अपने-अपने दर्शन शास्त्रो की रचनाएँ की।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से एक तो यह बात स्पष्ट है कि उस युग से ही विचारो तथा मतो की स्वतंत्रता हमारे देश में थी। दूसरी बात यह कि आचार-विचार की शुद्धता, त्याग, अहिंसा, अक्षय शान्ति का जितना समादर हमारे देश में हुआ वैसा शायद ही कही हुआ हो। उन्ही के कारण हिंसात्मक यज्ञो का विधान बदल गया और निरामिष भोजन का प्रचार बढ़ गया। भारतवासियों की उनमे श्रद्धा तथा विश्वास तब से निरतर अब तक चला आता है और वे आदर्श हमे सास्कृतिक व्यवित देते चले आ रहे हैं।

सभव है कि उपर्युक्त धारणाएँ सब एक साथ ही उत्पन्न न हुई हों और विभिन्न व्यक्तियो को उनका आशिक रूप ही सुझाई पड़ा हो। शैशुनाग, नन्द और मौर्यवश में अशोक को छोड़कर कोई ऐसा सम्राट् नही दिखाई पड़ता जिसकी नीति और जीवन-वृत्त से यह अनुमान किया जा सके कि वह भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट आचारो और विचारो पर चलने के लिए लालायित अथवा सन्नद्ध हो। उनके राज्यकाल मे राजनीति, अर्थनीति और दण्डनीति वैसी ही वक्र गति से चलती रही जैसी कि अन्यत्र दिखाई पड़ती है। जो कुछ भी हो, साधारण श्रद्धालु जनो में प्रचलित तत्कालीन धार्मिक विचारो द्वारा धर्म का सम्मान, अधर्म के प्रति ग्लानि, आचार और विचार की शुद्धता, कर्तव्य के प्रति ध्यान आदि की भावनाओं का संरक्षण होता रहा। भारतवासियों की धर्मप्रियता की पुष्टि हुई तथा विचारों की स्वतंत्रता की रक्षा होती रही।

यद्यपि मूर्तिपूजा और सम्भवतः देवालयो की प्रतिष्ठा सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी पायी जाती है तथापि यह कहा जा सकता है कि ईरानियो की तरह वैदिक आर्यों ने उनको स्वीकृत नहीं किया। बौद्धो तथा जैनों ने पवित्र स्थानो तथा महात्माओं के पार्थिव अवशेषों का श्रद्धापूर्वक समादर करने की परिपाटी का आरम्भ किया जो उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। वही आगे चल कर मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, देवालयों की प्रतिष्ठा के रूप में विकसित होकर सारे देश मे फैल गयी। इन बातों में कालान्तर में हमारा देश सबसे आगे बढ़ गया। इन प्रवृत्तियों में यदि कुछ दोप थे तो कुछ गुण भी

थे। उन्ही के कारण स्थापत्य कला, शिल्प कला तथा किसी अंश तक चित्र कला में भी अपूर्व उन्नति हुई। तीर्थ-स्थान, तथा मन्दिर बहुत काल तक इस देश में विद्या तथा संयमित जीवन के केन्द्र-से रहे। इन स्थानो की यात्रा अनुभव तथा शिक्षा प्राप्त करने का आकर्षक साधन बनी। वे विचार-विनिमय के ही नहीं वरन् व्यापार एवं कला-कौशल के आदान-प्रदान के भी माध्यम हुए। एक-सी सांस्कृतिक एकता और देश-बन्धुत्व की भावना को जाग्रत एवं स्थिर रखने के लिए तीर्थयात्रा अच्छा व्यावहारिक उपाय सिद्ध हुआ। इन संस्थाओ द्वारा भारत की सांस्कृतिक देनो तथा आदर्शों का बहुत कुछ संरक्षण एवं पोषण होता रहा। इसी के साथ यह भी कहना अनुचित न होगा कि धार्मिक उत्साह, श्रद्धा तथा भावो की क्षीणता होने पर ये संस्थाएं निर्जीव होकर आदर्शों, आचार-विचारो से पतित होकर दोषात्मक हो गयी। उनमे वे ही अवगुण आ गये जो पश्चिमी एशिया तथा मिस्र की वैसी संस्थाओं मे प्रचलित हो गये थे।

जैन तथा बुद्ध धर्मो को मौर्यो, कुषाणो तथा अन्य राज्यो से बड़ी सहायता मिली थी। किन्तु शुंग, शातवाहन, वाकाटक तथा गुप्तवंशियो ने वेदोपनिषद्, मन्त्रादि-शास्त्रो, षट्दर्शनो का पोषण और संवर्धन किया। हीनयान को छोड़कर बौद्ध मत की विचारधारा महायान की ओर झुकी। बुद्ध को उसने ब्रह्म और ईश्वर से जा मिलाया और भक्ति, करुणा, दया और कृपा का महत्त्व स्थापित किया। उधर वेद-धर्मानुयायियो ने भी हिंसात्मक तथा लम्बे-चौड़े यज्ञो से विमुख होकर उन्ही भावो एवं विचारो को घटा-बढ़ा कर प्रचलित करना शुरू किया। बुद्ध को भी उन्होने राम-कृष्ण की तरह का एक अवतार मान लिया और महायान की तरह ही मूर्तिपूजा एवं तत् समान अर्चा तथा उत्सव उन्होने भी प्रचलित कर दिये। परिणाम यह हुआ कि दोनो का भेद दिनोदिन मिटता चला गया और अन्त मे दोनो ने नवीन पौराणिक धर्म का तथा शंकराचार्य जी के ब्रह्म-मायावाद का दार्शनिक रूप धारण कर लिया। बौद्ध धर्म का व्यक्तित्व नये हिन्दू धर्म मे विलीन हो गया। जैन धर्म का अस्तित्व भारत मे तो कायम रहा, किन्तु भारत से बाहर उसका प्रचार न हो सका।

पौराणिक हिन्दू धर्म

पौराणिक धर्म की पहली विशेषता तो यह है कि वह अनेक मतो का संयोजन तथा समन्वय करके एक ऐसा सिद्धान्त स्थापित करने की चेष्टा करता है जो अधिका-

...िक लोगो को सुगम तथा लोकप्रिय हो। उसमें नीचे स्तर के थोथे मतों से लेकर अत्यन्त सूक्ष्म तथा सुसंस्कृत सिद्धान्तो तक को स्थान दिया गया है जिससे अशिक्षित समुदाय से लेकर प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक तक लाभ उठा सके। उनमे समन्वय स्थापित करने का भी यथासंभव प्रयत्न किया गया। धर्म, कर्म, जीव, काम, अर्थ, मोक्ष, ईश्वर, भक्ति, अहिंसा, सत्य, ज्ञान, तीर्थ, अर्चा आदि सभी विषयो का समावेश तथा समन्वय किया गया है। उसमें अवतारवाद, मूर्ति पूजा, व्रत-उपवास, भक्ति, तीर्थ-माहात्म्य आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। वर्णाश्रम धर्म की महिमा मानते हुए भी उसको भक्ति, दया, औदार्यादि के सहारे मृदुल बनाने का प्रयत्न वेदोपनिषद मतावलम्बियो ने किया है। वैदिक श्रद्धा के साथ ईश्वर-विश्वास, ऐहिक तथा स्वर्गिक सुख की कामना के सम्मिश्रण से भक्ति-मार्ग का उद्भव हुआ। धर्म की प्रतिष्ठा और अधर्म का नाश करने के लिए ईश्वर आवश्यकतानुसार समय-समय पर उपयुक्त रूप धारण कर लेता है। वह स्वाभाविक करुणा, दया, वत्सलता के कारण ही यह अवतार लेता है। हिन्दू दश अवतार मुख्य मानते हैं। जिनमे श्रीराम और श्रीकृष्ण विशिष्ट हैं। कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति अस्पष्ट रूप में बौद्धो और जैनियो में प्रतिभासित है। तीर्थंकरो तथा बोधिसत्वों मे भी अवतारो के-से तत्व कमोवेश पाये जाते हैं। उनमे भी हिन्दुओं की-सी भक्ति भावना जाग्रत हो गयी। यह भक्ति-आन्दोलन गुप्तकाल तक पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। पुराणो मे अठारह पुराण मुख्य माने जाते हैं। गुप्तकाल तक उनका वह रूप बन गया जिसमे वे आजकल मिलते हैं। जैनों के भी पुराण हैं। गुप्तकाल के बाद भी समय-समय पर बहुत-से अश पुराणो मे जोड दिये गये। कुछ पुराण शैव, कुछ वैष्णव, कुछ शक्ति अथवा अन्य अनेक दृष्टिकोणों से रचे गये हैं। अतएव उनमे साम्प्रदायिकता दिखायी पड़ती है। किन्तु उनमे न्यूनाधिक रूप से उपर्युक्त विषयों तथा भूगोल, इतिहास, अनुश्रुतियो, गाथाओ, लोक प्रथाओ एवं संस्थाओ आदि का वर्णन मिलता है। उनका प्रभाव जनता पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यहाँ तक कि सारे हिन्दू समाज का धर्म उन्हीं पर अवलम्बित हो गया।

राजनीतिक विधान

वैदिक समाज तथा राजनीति-संगठन का मूलाधार गृह था। गृह का सगठन सुव्यवस्थित रूप से किया गया था। गृहपति तथा गृहिणी का पूर्ण सम्मान और उनके अनुशासनो का पालन होता था। समान कुल-शील वाले गृहो के समूह के

लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त होता था। कुछ ग्रामो को मिलाकर एक 'विश' बनता था और कुछ विश एक 'जन' में संगठित कर दिये जाते थे। उपर्युक्त विशेष शब्द पहले सामाजिक संगठन के अर्थ में प्रयुक्त होते थे किन्तु कालान्तर में उनका प्रयोग दूसरे अर्थों में होने लगा। इनमें से प्रत्येक अंग का एक प्रमुख अधिकारी होता था, जैसे गृहपति, ग्रामणी, विशांपति, गणाधिपति तथा जनाधिपति। जनाधिपति ही राजा कहलाता था। वह राजकुल का होता और पैतृक उत्तराधिकार के अनुसार राजत्व प्राप्त करता था। किसी-किसी दशा में विशापति मिल कर राजपुत्रों में से सबसे उपयुक्त व्यक्ति को राजा चुन लेते थे। युद्ध, न्याय-वितरण तथा जातीय यज्ञादि में प्रायः राजा ही नेता होता था। धर्मानुसार शासन करना तथा प्रजा का पालन-पोषण करना उसका कर्तव्य था। राजा की सहायता करनेवाले अधिकारियों में से पुरोहित, सेनानी तथा ग्रामणी प्रमुख समझे जाते थे। उसको परामर्श देने के लिए एक सभा होती थी। जिसके सदस्य प्रायः योग्य ब्राह्मण तथा श्रेष्ठ लोग होते थे जो आमन्त्रित किये जाने पर राजा को सम्मति देते थे। उनकी सम्मति का राजा बड़ा सम्मान करता था। राजा के चुनाव के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिस्थिति आने पर सार्वजनिक समिति का अधिवेशन किया जाता था। समिति के निर्णय को अनुशासन मान कर राजा शिरोधार्य करता था। उपर्युक्त बन्धनों के सिवा राजा पर धर्म का भी प्रतिबन्ध रहता था। धर्म का उल्लंघन करना उसके लिए सर्वथा अनिष्टकारी समझा जाता था। राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजा का संरक्षण और शत्रुओं का दमन था।

उत्तरवैदिक काल में राजा के वैभव, उसकी शक्ति तथा राज्य-विस्तार से उसके कर्तव्यों की सीमा में भी वृद्धि हुई। वह पुरों के विशाल भवन में अधिक ठाठ-बाट के साथ रहने लगा। उसके रहन-सहन में नागरिकता का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ने लगा। उसके कर्तव्यों में विद्वानों, विद्यार्थियों और निःशक्त लोगों की सहायता करना आवश्यक समझा जाने लगा। प्रजा की रक्षा के लिए यह विधान बना कि यदि डाका अथवा चोरी से किसी की हानि हुई हो तो स्थानिक कर्मचारियो का कर्तव्य होगा कि वह उसकी पूर्ति करें। राजा तथा शासन के बढ़ते हुए खर्च के लिए कृषकों को दशमांश से षष्टमांश तक 'कर' देना पडता था। व्यापार, धातुओं, पशुओं, फल-फूलो, वनस्पतियों, मांस, घास और लकड़ी तक पर कुछ-न-कुछ कर लग गये थे। महीने में कम-से-कम एक दिन बेगार भी ली जाने लगी। राजा की सम्पत्ति, वैभव, बल तथा साधनों के बढ़ने से उसमे स्वच्छन्दता की अभि-

लाषा बढ़ने लगी। सभा शायद साधारण मुकद्मे करती थी और समिति विधि-विधान पर विचार करने लगी। पुराने ढग की सभा एवं समिति का महत्त्व कम होने लगा। राजा ने अपने मन्त्रियों की संख्या बढा कर, उनकी राय लेकर अपनी नीति स्वयं निर्धारित करना शुरू कर दिया। राजा में देवत्व की कल्पना होने लगी जो उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी। चन्द्रगुप्त की सभा मे बारह मन्त्री थे। शासन का क्षेत्र एव कार्य बढ जाने से मन्त्रियो की संख्या का बढ़ना आवश्यक ही था। राजा की सभा में सूत (पौराणिक), कोषाध्यक्ष, राजकर मन्त्री तथा जुआ, शिकार-विभाग के अध्यक्ष भी शामिल किये गये। रानियो को भी शायद मन्त्रिसभा मे स्थान दिया गया। राज्य की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए शासन का भी अधिक संगठन करना पड़ा। ग्रामो में तो ग्रामणी पहले था ही; उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम भाग तक दश ग्राम, विंशति ग्राम, शत ग्राम तथा सहस्र ग्रामो के अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे। पत्येक क्षेत्र के अधिकारी को अपनी-अपनी परिधि में कर उगाहने, अपराधी को दण्ड देने, शान्ति रखने तथा न्याय-रक्षा का अधिकार दे दिया गया। ग्रामो की स्वतन्त्रता में अधिक हस्तक्षेप न किया जाता था तथापि शासन मे नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) की-सी झलक दिखाई पडने लगी।

यों तो आरम्भ से ही आर्यों के दल आपस मे लड़ते-भिड़ते थे, किन्तु सम्पत्ति, वैभव, बल की वृद्धि के साथ राज्य बढ़ाने की लालसा भी स्वभावतः बढती गयी। छोटे-छोटे राज्यो का युग बदल कर बड़े राज्यो का जमाना आ गया। राज-सत्तात्मक राज्यो के सिवा गण (वंश) राज्यो का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवतः एक वश के सजातीय लोगों के इतस्ततः राज्य थे, जिनका शासन गणों अथवा अल्पतन्त्र द्वारा होता रहा होगा। स्पष्ट प्रमाण के अभाव मे यह प्रतीत होता है कि कुलो के मुख्य नेताओ की सभा शासन का नियन्त्रण करती होगी। कभी-कभी कई वशो के लोग मिल कर सयुक्त शासन करते थे। छठी शती ई० पू० के आरम्भ तक उत्तरी भारत मे कई बड़े-बड़े राज्य स्थापित हो गये। उनमे आठ दस गण-राज्य भी थे। उनमे आपस में प्रभुत्व के लिए भयंकर संघर्ष होते थे। राजतन्त्र के सुसगठित बल तथा तत्परता के आगे प्रजातन्त्र राज्य छिन्न-भिन्न होने लगे। बुद्ध भगवान् के समय तक यह नौबत आयी कि मालवा से मगध तक केवल चार बल-शाली राज्य रह गये। उनमे भी संघर्ष होता रहा। अन्ततोगत्वा मगध के राज्य ने सबको परास्त कर एक साम्राज्य स्थापित किया जो मालवा से पूर्वी बिहार तक

विस्तृत था। सम्भवतः साम्राज्य विस्तार से उत्पन्न शत्रु-वाहुल्य के कारण ही सम्राट् को अपनी अंग-रक्षा के लिए महलों के भीतर भी सशस्त्र स्त्री-रक्षकों की आवश्यकता पड़ने लगी थी बाहर का तो कहना ही क्या। मगध के सम्राट् घन-नन्द के समय मे सिकन्दर के आक्रमण के वाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाव भी मगध साम्राज्य मे शामिल कर लिया। मौर्यों के समय मे मैसूर तक दक्षिण मे तथा हिन्दु-कुश तक पश्चिम में और उड़ीसा तक पूर्व मे मौर्य साम्राज्य वट गया। साम्राज्य-स्थापन के बाद भी पश्चिमी प्रान्तों मे साम्राज्य के अन्तर्गत गणतन्त्र चलते रहे होंगे।

इतने बड़े साम्राज्य का शासन करने के लिए कुछ नवीन विधानों की आवश्यकता पड़ गयी। पहली आवश्यकता तो थी विजित राज्यो तथा प्रान्तों के निरीक्षण करने की और दूसरी थी बड़े नगरो में व्यवस्थित शासन स्थापित करने की। साम्राज्य के यथेष्ट प्रबन्ध के लिए ईरानी परिपाटी के अनुसार उसे प्रान्तो में विभक्त कर दिया गया। कुछ राज्यो को आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर यथापूर्व चलते रहने की स्वतन्त्रता दे दी गयी। प्रान्तो की अध्यक्षता राजवंश के कुमारों को प्रायः दी जाती थी। चार प्रान्तो, तक्षशिला, तोषाली, उज्जैन तथा सुवर्णगिरि का उल्लेख मिलता है।

साम्राज्य के वढते हुए कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजमन्त्रियो की सख्या सम्भवत. अठारह तक वढा दी गयी थी। इनके लिए तीर्थ शव्द का भी प्रयोग होता था। ये मन्त्री थे पुरोहित एवं प्रधानमन्त्री, समाहर्ता (राजस्वमन्त्री), सुनिधाता (कोषाध्यक्ष), युवराज, प्रदेश न्यायाध्यक्ष, व्यावहारिक, नायक, सेना-ध्यक्ष, कर्मान्तिक (उद्योगमन्त्री), मन्त्रि परिषद् अध्यक्ष, दण्डपाल, अन्तपाल, दुर्गपाल, पौरनगराध्यक्ष, प्रशास्ता, दौवारिक, (द्वारपाल), आटविक (वनविभाग का अध्यक्ष)। यद्यपि मन्त्रि परिषद् मे योग्य और अनुभवी व्यक्ति रहते थे तथापि सम्राट् को उनके निर्णय या सम्मति को मानने या न मानने का अधिकार था। सभा केवल परामर्श देने के लिए थी। प्रान्तो के विषय में जानकारी रखने के लिए ईरानी विधान के अनुसार जासूस तथा सम्वाददाता नियुक्त किये जाते थे। इस कार्य में सन्यासियो तथा स्त्रियो से भी काम लिया जाता था। शीघ्रातिशीघ्र समा-चार ले जाने के लिए सिखाये हुए कबूतरो का उपयोग किया जाता था। अशोक को धर्म प्रचार का शौक था। अतः उसने प्रान्तो मे धर्म-महामात्रो की नियुक्ति की थी जिनका काम सम्राट् के अनुमोदित धर्म का प्रचार, सहायता तथा उसकी

मर्यादा का रक्षण करना था । बहुत-से अंशो में प्रान्तों का शासन राजधानी के शासन के अनुसार होता था। न्याय के लिए भी महामात्रों की नियुक्ति होती थी।

इतने बडे साम्राज्य की रक्षा के लिए ऐसी भारी सेना की, जो जल तथा स्थल पर काम कर सके, आवश्यकता हुई। मौर्य सेना मे छः लाख पैदल, तीस हजार सवार, नौ हजार हाथी, तथा आठ हजार रथ थे। चारो अगो की संख्या में समय-समय पर रद्दोबदल होता रहता था। उसका समुचित प्रवन्ध करने के लिए छ विभाग थे। चार तो उपर्युक्त चतुरगिणी सेना के प्रत्येक अंग के लिए, पाँचवाँ जल सेना तथा छठा रसद आदि के लिए था। सम्भवत प्रत्येक विभाग मे पाँच मुख्य प्रवन्धक होते थे। सेना-परिवहण तथा व्यापार के लिए लम्बी सड़के वनवा दी गयी। वडे नगरो का शासन कमोवेश राजधानी पाटलिपुत्र के शासन के अनुसार रहा होगा। पाटलिपुत्र के शासन के लिए भी तीस सदस्यो का वोर्ड था। वे छ. विभागो मे बँटे हुए थे। एक विभाग कलाकौशल का, दूसरा विदेशीय का, तीसरा जन्म-मृत्यु का, चौथा व्यापारादि का, पाँचवाँ माल वनाने और वेचने का तथा छठा विक्री के माल पर कर वसूल करने का प्रवन्ध एव निरीक्षण करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नगर के शासन का न्यूनाधिक प्रवन्ध उन्ही सिद्धान्तो पर किया जाता था जिन पर आधुनिक म्यूनिसिपैल्टियो का होता है।

साम्राज्य का दण्ड-विधान भी कठोर कर दिया गया था। साधारणतया तो जुर्माना किया जाता था किन्तु वहुत-से जुर्मो के लिए कारागार, अंग-विच्छेद, शारीरिक पीड़न, निर्वासन अथवा प्राणदण्ड दिया जाता था। उदाहरण के लिए विक्री पर कर न देने अथवा चोरी के लिए भी प्राणदण्ड का विधान था।

राज-वैभव, भारी सेना एवं विशाल शासन-यन्त्र के रख-रखाव के लिए धन की अधिक आवश्यकता थी। राज्य की आय के मुख्य साधन थे किलों तथा नगरो से प्राप्त आय, भूमिकर, खानो से कर, पशुओ पर कर, फल, शाक तथा औषधि का कर, जगलो पर कर, चरागाहो पर कर, व्यापार के यातायात पर कर, शस्त्रो के निर्माण पर कर, मुद्रा, नशीली चीजो, जुआ, वेश्याओं पर लगे कर आदि। सिंचाई, घाटो, रोजगारो, घरों, पगडण्डियों और चक्कियों पर भी कर लगा हुआ था। भूमि की उपज पर चतुर्थांश कर लिया जाता था। चुगी की दर भी उत्तरोत्तर बढाने की तरकीबे निकाली गयी थी। राज्य के खर्च के मुख्य विभाग थे राजपरिवार,

सेना, शासन, दौत्य, धार्मिक कृत्य, इमारतें, दान, शिक्षा, मार्ग-निर्माण तथा संरक्षण आदि।

बौद्ध, जैन तथा भागवत मतों के अहिंसा तथा दया के सिद्धान्तों का प्रभाव कानून पर भी पड़ा। उसी के कारण गुप्तकाल में प्राणदण्ड का विधान बन्द हो गया किन्तु बड़े भयंकर अपराधों के लिए अंग-विच्छेद का दण्ड चलता रहा। साधारण अपराधों के लिए न्यूनाधिक जुर्माना कर दिया जाता था। कानून की कठोरता कम हो जाने पर भी चोरी-डकैती की कोई वृद्धि न हुई। देश में शान्ति और अच्छी व्यवस्था कायम रही। यदि चीनी यात्री फाहियान का कथन ठीक माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि मौर्यकालीन शासन के मुकाबले में गुप्त-कालीन शासन नरम था और कर भी कम लेता था।

शासनयन्त्र में यद्यपि नये पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन होता गया तथापि वह मौर्यकालीन सिद्धान्तों पर ही चलता था। साम्राज्य कई भुक्तियों (सूबों) में विभक्त था। प्रत्येक भुक्ति का प्रमुख शासक (गवर्नर) उपरिक, महाराज अथवा गोप्ता प्रायः राजवंश का होता था। भुक्ति कई विशों में विभक्त होती थी। प्रत्येक का अधिष्ठाता विशापति उच्च राज्य अधिकारियों में से चुना जाता था। अधिकारियों के सिवा शासन को सहायता और परामर्श देने के लिए समितियाँ थीं, जिनके सदस्य प्रमुख अनुभवी तथा प्रभावशाली व्यक्ति नियुक्त होते थे। कुछ ऐसा ही प्रबन्ध स्थली और गाव के लिए भी था। गाँव के पंच ही वहाँ के महत्तर को चुनते थे।

गुप्तकाल तक आर्यावर्त में जनसत्तात्मक राज्यों का अन्त हो गया था। राजसत्ता में समितियों द्वारा जनता जहाँ तक अपने भाव अथवा विचार प्रकट कर सकती थी उतने ही से उसे सन्तोष करना अनिवार्य था। छठी शती ई० पू० से पाँचवीं शती ई० तक लगभग एक हजार वर्ष में आर्यावर्त में गणतन्त्र का लोप और राजसत्ता का प्राबल्य हो गया। इसका एक कारण शायद भारतवर्ष पर विदेशियों का आक्रमण रहा हो जिसकी प्रतिरक्षा के लिए भारी सेना रखना तथा व्यवस्थित संगठन और अधिक आर्थिक साधन जुटाना आवश्यक था। धन एवं बल की सहायता से साम्राज्यों ने गणतन्त्र राज्यों को तो नष्ट कर ही दिया पर विदेशियों को भी बहुत दिनों तक रोकथाम की। किन्तु उनकी शक्ति भी शनैः-शनैः क्षीण होती गयी। यद्यपि दक्षिणी भारत में विदेशियों के आक्रमण का भय न था तथापि वहाँ भी साम्राज्य स्थापित करने की प्रवृत्ति विश्वव्यापी साधारण कारणों से बढ़ती गयी।

आर्थिक जीवन

अनार्यों से निरन्तर युद्ध होने के काल से ही आर्यो के युग का भारत जंगलो से भरा हुआ था। इस जंगल को काट-काट कर अपना रास्ता निकालने और वस्तियाँ बसाने की कठिन समस्या उनके सामने थी। साहस और धैर्य से वे उसे सुलझाते गये। कृषि, पशुपालन और थोड़े-वहुत व्यापार पर उनका आर्थिक जीवन निर्भर था। कृषकों की संख्या अन्य जातियो से अधिक थी, इसीलिए गाँवो या छोटी बस्तियो मे वे रहते थे। उनका रहन-सहन सीधा-सादा था। उनकी सम्पत्ति विशेपतः भूमि और पशु ही थे। पशुपालन वे कृपि से भी अच्छा काम मानते थे। हल चलाने के लिए कभी छ. से वारह वैल तक जोतते थे। यव (जौ) की खेती, वडे पैमाने पर होती थी। उसके अतिरिक्त सम्भवत. गेहूँ, चना, तिल, ईख, कपास, तथा कुछ अन्य प्रकार के अनाज भी वोते थे। सिचाई अधिकतर वर्षा के जल से, कुओ के जल से, अथवा झीलो, तालाबो और नहरो के पानी से होती थी। वे शायद कुओ पर रहट चला कर चरसे या वरवो से भी पानी लेते थे। घोड़ो से खेती न कराके उन्हे वे चढ़ने और रथ खीचने के काम मे लाते थे। वढिया घोड़े और बैलो की वड़ी कदर की जाती थी। पशुओं की सख्या से आदमी की हैसियत आँकी जाती थी। पाणिनि के समय तक तीन श्रेणी के कृपक थे। प्रथम, जिनके पास हल न था। दूसरे, वे जिनके पास अच्छा हल होता था और तीसरे खराव हल वाले। ऋग्वेद के युग से ही खेत वॉसो से नापे जाते थे। नापने वाले की ऋभ् सज्ञा थी। खेत अर्थात् क्षेत्र का मालिक क्षेत्रपति होता था। क्षेत्रपति अपनी इच्छा के अनुसार अपनी भूमि को बेच अथवा दान भी कर सकता था। किन्तु यह निश्चित नही कि गोचारण भूमि पर सामूहिक अथवा वैयक्तिक अधिकार था या नही। सम्भवतः उस पर पशु चराने की कोई रोक-टोक न थी।

तत्कालीन सादे जीवन के अनुसार उनके उद्योग-धन्धे भी थे। वढ़ई, लोहार, कुम्हार, सोनार, चर्मकार, रथकार, कपड़ा बुनने वाले, रगसाज, धोवी, चटाई बिनने और छप्पर वनाने वाले, धनुष-वाण वनाने वाले, वैद्य तथा सुरा वनाने वाले कारीगर आर्यों की साधारण दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर देते थे। वैदिक युग के आरम्भ मे आर्य सोने से परिचित थे, किन्तु उत्तरवैदिक काल मे सीसा, टीन, चाँदी और ताँवा मिलने लगा जिससे वे हथियारो के सिवा वरतन आदि भी वनाने लगे। फलत· नये उद्योग-धन्धे और रोजगार खड़े होने लगे। आरम्भ में आर्य कामचलाऊ कैम्प की तरह के छप्पर के मकान, जिनकी दीवारे चटाई की

रहती, वना लेते थे। अव्यवस्थित राजनीतिक परिस्थिति के कारण वड़े और पक्के मकान शायद ही कोई वनवाता हो। गाँवों मे निवास तथा कृच्छ् जीवनचर्या उनके स्वभाव का अंग वन गयी थी।

प्रारम्भ मे चीजो का मूल्य वछड़ो और वैलो से निश्चित होता था पर उस युग मे व्यापार विनिमय के द्वारा होने लगा। सम्भवत: सिक्के का ज्ञान ही उन्हे न था इसलिए उससे उत्पन्न मोह का कोई प्रश्न न था। आगे चल कर सोने-चाँदी के टुकडो का प्रयोग होने लगा जिनका मूल्य उनके वज़न पर निर्धारित होता था। निष्क तथा मन्स का वजन निश्चित-सा माना जाता था। कौटिल्य के समय तक सोने के निष्क राज्य द्वारा सचालिन किए जाते थे। व्यापार स्थल और जल मार्ग दोनो से होता था। वैल गाडी या घोड़ा गाडी, डाँडी या पतवार से चलायी जाने वाली नावे और पोत उनके यातायात के साधन थे। सम्भवत: फारस और मेसोपोटामिया आदि पश्चिमी देशो से उनका व्यापार होता होगा। वाज चीजो का दाम वहुत अधिक था।. इन्द्र की एक प्रतिकृति का मूल्य दस गाय था। व्यापार ने आर्यों को भी लालची और सूदखोर वना दिया। व्यापारी वणिक (पणि) श्रेणी की अध्यक्षता के लिए प्रयत्न करता था। लिखा-पढी से लेन-देन करता था। सवा छ: से करीव सत्रह प्रतिशत तक वह सूद खाता था। पता नही कि सव पणी आर्य ही थे अथवा आर्येतर लोग भी उनमे शामिल थे। यदि कोई अभागा कर्ज अदा न कर सकता तो उसके लिए शारीरिक दण्ड और गुलामी के सिवा कोई चारा न था।

श्रमजीवी लोग अपनी सेवाओ के लिए यदि स्वतन्त्र होते तो वेतन पाते और यदि दास (गुलाम) होते तो वे स्वामी की कृपा के भरोसे रहते थे। कृषक भूमि पर खेती करने के लिए राजा द्वारा नियुक्त "ग्राम-योजक" को भूमि-कर देते थे। उपज के एक वटे वारह से लेकर एक वटे छ:, और आवश्यकता पड़ने पर एक वटे चार तक भाग भूमि-कर के लिए निर्धारित था। सम्भव है कि उक्त विभिन्न दरे स्थानिक विशेषताओं अथवा विविध प्रकार की भूमियों की उपज के आधार पर रही हो। द्रोणमापक द्रोण की तौल से फसल जोखता था। यदि राजा चाहता तो किसी भूमि को कर से मुक्त कर देता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय तक वहुत-सी भूमि पर राजा का अधिकार हो गया था। वह या तो अपने सेवको द्वारा खेती, वागवानी आदि करवाता था अथवा उसे लगान (वलि) पर उठा देता था। यदि राजा स्वनिर्मित साधनों द्वारा कृषको को जल-प्रदान करता तो उनसे उपज

का एक बटा छः से एक बटा चार तक कर लेता था। राजकीय कार्यों के सम्पादन के लिए पांच या दश ग्रामो पर 'गोपों' की, जनपद के चतुर्थ भाग पर 'स्थानिकों' की और सम्पूर्ण जनपद के लिए 'समाहर्तो' की नियुक्ति कर दी गयी थी। मौर्य काल तक भूमि-कर बढ़ा दिया गया था किन्तु साधारणतया उपज का एक बटा चार कर में लिया जाता था। जो भूमि दान मे अथवा वेतन के बदले ब्राह्मणो, स्त्रियों, बच्चों तथा धार्मिक सस्थाओं अथवा सैनिको को दी जाती, वह प्रायः करमुक्त होती थी।

शिल्पजीवी अपने-अपने परम्परागत व्यवसायों में लगे रहते थे। उनका कार्यक्षेत्र ग्रामों से अधिक नगरों में था। शिल्पविशेषो के लोग 'पूग' अथवा 'श्रेणी' में प्रायः सगठित हो गये थे। ऐसे पूगों की संख्या अठारह से अधिक ही रही होगी। शिल्पी ही नही वरन् तत्कालीन विधान के अनुसार शस्त्रजीवी भी सघो में संगठित थे। धार्मिक संस्थाओ ने भी अपने-अपने संघ अथवा पूग बना लिए थे। ब्राह्मणो ने भी अपने गणों का निर्माण कर लिया था। प्रत्येक वर्ग के लोग जहाँ तक सम्भव हो सकता ग्रामों विशेषतः नगरो में अपने-अपने मुहल्लो में रहना पसन्द करते थे। एक जगह जमा होने तथा समान व्यवसाय करने के कारण उनमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ता गया जिसका परिणाम शायद यह हुआ कि उत्तरोत्तर नयी स्थानिक उपजातियाँ-सी बनती चली गयी जो अपनी-अपनी विशिष्टता के संरक्षण मे सतर्क रहने लगी। प्रत्येक उद्योग-समूह का एक नेता होता था। विभिन्न पारिभाषिक शब्दों से वह अभिहित होता था—जैसे, ज्येष्ठक, प्रधान, सेट्ठि आदि। यह प्रथा इतनी प्रचलित हो गयी थी कि चोरो के समूह के भी ज्येष्ठक होते थे।

वैदिक युग में लोग ग्रामो में रहते थे। व्यापार अथवा नीतिक आवश्यकताओ से नगरो का निर्माण हुआ और वहाँ नागरिक जीवन का उदय हुआ। आर्य लोग उस प्रवृत्ति को अवनतिकारिणी कहते थे। किन्तु धीरे-धीरे नगरो का आकर्षण बढता गया। दास-दासियो की माँग बढ़ने लगी। ब्राह्मण, क्षत्रिय भी व्यापार करने लगे। सोने, चाँदी, ताँबे के सिक्को का प्रयोग बढ गया और उनकी बहुमुखी वृद्धि होती गयी, यहाँ तक कि नगरवासी ग्रामीण लोगो को अपने से कम सभ्य और असस्कृत-सा समझने लगे। नागरिक जीवन ने इतनी वृद्धि कर ली कि शासन को उसके प्रबन्ध और नियन्त्रण का भार अपने हाथ मे लेना आवश्यक हो गया। बिना राजाज्ञा के कोई व्यक्ति न तो व्यापार प्रचलित कर सकता था न व्यापारी

काम ही कर सकता था। वस्तुओं के प्रमापन, मूल्य-निर्धारण, क्रय-विक्रय के निरीक्षण अथवा नियन्त्रण, शुल्क, चुगी, तौल, नाप और व्यापारियों के झगड़े निपटाने आदि कार्यों के लिए पण्याध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, अन्तपाल, पोताध्यक्ष आदि नियुक्त किये जाते थे। खाने-पीने की चीजो की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखा जाता था। नगरो की उन्नति के साथ पृजीपतियो की वृद्धि होने लगी, वड़े-वड़े व्यापारी काफिले आने-जाने लगे, जल और स्थल मार्गो का प्रवन्ध होने लगा। यद्यपि वैंक न थे तथापि धन जमा करने के लिए नगर के निकाय अथवा विश्वस्त साहूकार काफी समझे जाते थे। साराग यह कि प्राचीन वैदिक युग का सरल तथा साधारण संगठन दिनोदिन पेचीदा होता चला गया। वेईमानी, सूदखोरी, भोगोपभोग के नये-नये साधन एकत्रित होते गये। नयी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याएँ उठती रही। यूनानियों के प्रभाव से भारत में सुन्दर मुद्रा का प्रचलन हुआ। मौर्य-युग मे व्यापार के मार्गों में प्रथम कलकत्ता के समीप ताम्रलिप्ति से प्रारम्भ होकर पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्वी, मथुरा, सियालकोट होकर तक्षशिला तक, दूसरा मथुरा से राजपूताना होता हुआ पैटन तक, तीसरा कौशाम्वी से उज्जैन होकर भड़ौच तक और चौथा पैठन से कान्ची और मदुराई तक जाता था। इन वड़े मार्गो से सवन्धित अनेक छोटे मार्ग थे। मार्गो के किनारे-किनारे छायादार वृक्ष, जगह-जगह पर विश्रामगृह और जल के लिए कुएँ वने थे। व्यापार मे कुछ वाधाएँ भी पड़ती थी। लुटेरों का भय सदा वना रहता था। उनसे रक्षा करने के लिए शस्त्र-जीवियो को रखना पड़ता था। दूसरे यातायात के साधन ऐसे थे जिनसे व्यापार की गति मन्द रहती थी। उदाहरण के लिए पहले मिस्र तक जाने के लिए एक वर्ष लगता था किन्तु वाद मे ईसा की प्रथम शती तक भी तीन महीने लग जाते थे। चीन के दक्षिणी कोने तक जाने मे भी एक वर्ष लगता था। रास्ते में शायद अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे। इसके सिवा जव तक काफिला पूरा न हो तव तक यात्रा आरम्भ न की जा सकती थी। काफिलो मे पॉच सौ गाड़ियों तक का वर्णन मिलता है। समुद्र मार्ग से छोटे जहाज द्वारा यात्राएँ होती थी। कभी-कभी जहाज डूब भी जाते थे।

अनेक कष्ट तथा वाधाओं के रहते हुए भी भारतवर्ष का व्यापार वहुत उन्नत था। पूर्व में चीन, वर्मा, कम्वोडिया, स्याम, मलय आदि तक पश्चिम में मेसोपटेमिया, फारस, मिस्र एवं रोम तक, पश्चिमोत्तर एवं उत्तर मे खोतान, तुर्फान, काशगर, यारकन्द तक भारत से नाना प्रकार के सूती-रेशमी कपड़े, रत्न, मोती, आभूषण,

मसाले, सुगन्धित द्रव्य, चीनी, चावल, घी, मोरपख, हाथीदाँत, रंग, लोहा, शेर, वाघ, भैसे, हाथी, वन्दर, पक्षी आदि भेजे जाते थे, जिससे करोड़ों का सोना, चाँदी देश मे आता रहता था। यहाँ के माल का इतना सम्मान होता था कि कभी-कभी तो सौगुनी कीमत पर वह विक जाता था। सम्भवत: उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत को व्यापार करने तथा लाभ उठाने का अवसर अधिक प्राप्त था। अन्य देशो से भारत भी सोना, चाँदी, धातु या धातु से वनी चीजें, शीशे का सामान, कपूर, रेशमी व ऊनी कपडे, घोड़े, ऊँट, हथियार आदि मँगवाता था। किन्तु आयात से निर्यात की मात्रा वहुत वढी-चढी थी, जिससे भारत उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होता चला जाता था। इसीलिए कर्मभूमि के साथ-साथ भारत स्वर्णभूमि भी वन रहा था।

वृहत्तर भारत

भारतवासियो का अन्य देशो से केवल सम्पर्क ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्वन्ध भी प्राचीन काल से चला आता है। सिन्धु घाटी के लोगो का व्यापार और सम्भवत: सांस्कृतिक आदान-प्रदान पश्चिमी एशिया से था। वैदिक आर्यो का ईरानियो के साथ सांस्कृतिक सम्वन्ध के अलावा राजनीतिक सम्वन्ध भी था। भारत की पश्चिमी सीमा पर भारत तथा ईरानियो का संगम हुआ। यह स्मरण रखने योग्य है कि भारत का सबसे प्रमुख और उच्चतम शिक्षा केन्द्र तक्षशिला मे था। जहाँ से भारतीयो और ईरानियों तथा मध्य एशिया के अन्य लोगो का सांस्कृतिक ज्ञान-विज्ञान-विनिमय चलता रहा। अलेक्ज़ेण्डर के आक्रमण से ग्रीकों तथा यूनानियो का भी भारत के साथ विभिन्न स्तरो पर आदान-प्रदान होता रहा। मौर्यकालीन भारत में पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया से आना-जाना, व्यापार तथा सांस्कृतिक सम्वन्ध और भी वढ़ गया। गुजरात, सिन्ध तथा दक्षिणी भारत के निवासियो का मेसोपटेमिया, मिस्र तथा दक्षिणी एशिया और हिन्दसागर के टापुओ और प्रदेशो से उत्तरोत्तर सम्वन्ध वढता गया। कुषाणकाल से चीनियो का व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्वन्ध भारत से वढता गया। तव से गुप्तकाल तक उत्तरी भारत से भी लोग व्यापार और धर्म प्रचार के लिए स्वर्णभूमि, मलय, इण्डोनेशिया, कम्वोडिया आदि देशो मे जाने लगे। युन्नान (इण्डोचीन), तथा कम्वोडिया मे हिन्दुओ ने प्रथम शती मे अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। वहाँ से वे चीन के साथ व्यापार करते रहे। राजा जयवर्मा ने चीन को अपने दूत पाँचवी

शती में भेजे। चौथी और पाँचवी शती ई० में मलय में हिन्दुओं ने अपना राज्य भी स्थापित कर लिया। वहाँ व्यापार के साथ-साथ बौद्ध, शैव तथा वैष्णव धर्मों का खूब प्रचार होता रहा और देवालयों की बड़े पैमाने पर स्थापना होती रही। चम्पा में तृतीय शती ई० का एक संस्कृत का लेख मिलता है। सारांश यह कि भारतीयों का एशिया के प्रायः सभी सभ्य देशों से आदान-प्रदान होता रहा जिससे भारतीय संस्कृति का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता रहा।

द्वितीय खंड

अध्याय ७

क्रीट टापू

मध्य सागर के पूर्वीय भाग का एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व है, उसके उत्तरी तट पर ग्रीस, दक्षिणी तट पर मिस्र और एशियाई तट पर एनाटोलिया (एशियाई कोचक), पेलेस्टाइन आदि प्रदेश हैं जिनमें अपनी निजी संस्कृति के अलावा बेबीलोनियन, मिट्टनी तथा अरबी संस्कृतियों का प्रभाव देखा जाता है। उसके समुद्री क्रोड़ मे क्रीट, साइप्रस तथा ईजिअन अंचल के अनेक छोटे-छोटे टापू हैं जिनका अपना-अपना इतिहास है। यह निश्चित है कि ग्रीकों की प्रसिद्ध सभ्यता और संस्कृति के उदय होने के पहले एशियाई तट तथा क्रीट आदि टापुओं मे उल्लेखनीय सांस्कृतिक उन्नति हो चुकी थी, जिसका प्रभाव ग्रीस की सभ्यता पर पड़ा।

टापुओं में सम्भवतः सबसे महत्त्व का स्थान क्रीट को प्राप्त हुआ था। पुरातत्व-शास्त्रियो ने वहाँ के ताम्रयुग की सभ्यता के सुन्दर अवशेष ढूंढ़ निकाले हैं, जिनसे पता चलता है कि ईसा से ढाई हजार वर्ष पहले से लगभग ग्यारह सौ वर्ष तक वहाँ के निवासी उन्नति करते रहे और उन्होने ऐसी सभ्यता की स्थापना की जिसमें मिस्र तथा एशिया की संस्कृतियों के साथ-साथ उनका अपना भी योग है। यद्यपि कुछ विद्वान् क्रीट वालों का सेमेटिक लोगो से सम्बन्ध होना असम्भव नही समझते तथापि अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि वे लोग न तो अरब के सेमेटिक और न अफ्रीका के हेमेटिक थे। अनुमानतः वे एनाटोलिया की ओर से आये होंगे। वे लम्बे, सुडौल, छरहरे, पतली कमर और सुन्दर आँख-नाक वाले लोग थे। मर्द तो कमर में घुटने तक कपड़ा लपेटे रहते, किन्तु स्त्रियाँ पूरे आस्तीन का झोलदार साया पहनती जो टखनो तक को ढाके रखता था; जैसा पहनावा तीस-चालीस वर्ष पहले यूरोप में प्रचलित था।

ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व उनको ताँबे और टीन को मिलाकर एक नया योग बनाने की क्रिया का रहस्य ज्ञात हो गया था जिससे उन्हें अच्छा लाभ हुआ। क्रीट टापू में करीब सौ नगरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं जिनमे नोसस के अवशेष सबसे

अच्छी दशा में है। नगरो की रचना से ऐसा जान पड़ता है कि वे लोग समृद्धिशाली व्यापारी थे, जो शतियो तक शान्तिपूर्वक फूले-फले। उन्होंने शायद यह न सोचा कि उनके नगरो पर आक्रमण भी कभी हो सकेगा। फलतः नगर की रक्षा के लिए वहां किसी प्रकार का प्रवन्ध नही किया गया था। उनकी उस धारणा का क्या कारण था यह अभी तक ज्ञात नहीं। सम्भव है कि उस समय समुद्र और नौ-शक्ति को ही रक्षा के लिए काफी समझा गया हो। या तो उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी न था या तत्कालीन राज्यो ने उसको सर्वोपयोगी व्यापार का स्टेशन समझकर वहाँ युद्धक्षेत्र न बनाने का समझौता कर लिया हो। जो कुछ भी हो, नगर की, जहां एक लाख जनसंख्या थी, रक्षा का प्रवन्ध न करना उनकी भूल थी, जिसके लिए उन्हें बहुत पछताना पड़ा होगा।

नोसस के माइनास वंश के राजाओं का भवन पहाड़ी के ढालू भाग पर छः एकड जमीन पर बना है। १०० फुट लम्बे और ८५ फुट चौड़े खुले हाते के चारो ओर इमारतें बनी हुई हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि वे एक साथ किसी खास नक्शे के अनुसार नहीं बनायी गयी। कुछ भाग तो कायदे से बने हैं, शेष समय-समय पर आवश्यकतानुसार बढा लिये गये होंगे। भूकम्प से इमारतो को भारी हानि पहुँची, किन्तु १६०० ई० पू० में उनका जीर्णोद्धार करा कर नयी इमारतें बढा दी गयी। इससे राजभवन एक गाँव के समान हो गया। इमारतें ईंटो की हैं जिनकी छतें लकड़ी की धरनियो पर पटी हैं। कोई-कोई इमारत कई मंजिलो की है। दरबार के कमरे के पश्चिमी भाग के पास देवी का आलय बना है, दरबार के पीछे भाण्डार है, जिसमें बड़े-बड़े मटको में जैतून का तेल, शराब और अनाज भरा हुआ है। पूर्वी भाग में राजा और उसके परिवार के रहने के कमरे, रनिवास, स्नानागार, शौचागार, तैलगृह, बरतनों का कोठा, पहरेदारो की कोठरियाँ, शस्त्रागार, दो बड़े-बड़े हाल, बरामदे आदि सब इमारते एक-दूसरे से सटी हुई हैं। बड़े बरामदे की दीवालो के पलस्तर पर बड़े सुन्दर सुरुचिपूर्ण चित्र बने हैं जिनसे उन लोगों की प्रकृति-सौन्दर्याभिरुचि का अच्छा अनुमान लगाया जा सकता है। वृक्ष, पशु-पक्षी, सफेद लिली एवं गुलाब के फूल बडी सजीवता और यथार्थता तथा गतिशीलता से बने हैं। उन कलात्मक चित्रों के सौन्दर्य को देख कर दर्शक चकित और मुग्ध हो जाता है। मनुष्य और उसके समूहों के चित्रण में भी उन्होंने लाघव और निपुणता का प्रमाण दिया है। मनुष्यों को काले और लाल रंगो में, और स्त्रियो को सफेद रंग में चित्रित करने की परिपाटी थी। दोनो की शरीर-रचना और आकृति का कलात्मक प्रदर्शन हुआ है।

वहाँ मिट्टी के सुन्दर रंगीन बरतन बड़ी कारीगरी से बनाये जाते थे क्योंकि उनकी अन्य देशों मे अच्छी कद्र होती थी। वे उन पर तरह-तरह के चित्र-विचित्र फूल-पत्तियों और जन्तुओं की सुन्दर डिजाइने बनाते थे। मिट्टी के बरतनो के अलावा वे जैतून का तेल, शराब तथा धातु की चीजे भी बाहर भेजते थे।

नगरों का शासन सम्भवतः सन्तोषजनक रहा होगा क्योंकि वहाँ की सडके पक्की हैं और पक्के पुल और कुल्याएँ बनी है। ईसा से १६०० वर्ष पहले वे घोडों, बैलो और रथो से काम लेते थे। उन्हे लिखने-पढ़ने और गणित का व्यावहारिक ज्ञान था। उनका जीवन निश्चिन्त और विनोदपूर्ण प्रतीत होता है। सबसे अच्छी बात तो यह थी कि उनके समाज में श्रेणीगत असमानता न थी। आर्थिक व्यवस्था इस ढंग की थी कि समाज का कोई अंग दलित या बहुत गरीब न था। किसान, कारीगर और व्यापारी का स्थान मध्य श्रेणी का-सा था। मिस्र तथा मेसोपटेमिया की तरह भयकर असमानता न थी। फलतः लोग सुखी थे। खेल-कूद, नाच-गाना, व्यायाम, मल्ल-युद्ध, असि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, सॉड़ फँसाने, साँड़ो और कुत्तो की लडाई, आदि के वे शौकीन थे। वहाँ बडे मन्दिर न थे। लोग अपने घरो मे पूजा-गृह अथवा पहाड़ियो पर या गुफाओ मे देवालय बनाते थे। वे लोग भगवती महामाता देवी की, जिसका प्रतीक दोधारा फरसा था, आराधना करते थे। उसके सिवा नागिन का पूजन होता था। कहा जाता है कि सर्पिणियॉ भी संयम और सजनन की सौभाग्यदायिनी देवियाँ मानी जाती थी। कहा जाता है कि सर्पिणी जीव की प्रतीक समझी जाती थी जिसका मरणोपरान्त स्थान पाताल लोक है।

उस सुख, शान्ति और सम्पन्न जीवन का ईसा से चौदह शती पहले आक्रमण-कारियो ने नाश कर दिया जिससे उनकी सभ्यता उत्तरोत्तर क्षीण होती गयी। उनके ह्रास के साथ माइसीन (यूरोप के उस भू-भाग की सभ्यता जो आगे चलकर ग्रीको की कर्मभूमि बनी) की सभ्यता का उदय हुआ। क्रीट के कटु अनुभवो से शिक्षा ग्रहण कर माइसेनी तथा ट्राय के नगरो ने मजबूत किलाबन्दी करना आरम्भ कर दिया। क्रीट की सभ्यता का प्रभाव माइसेनी तथा ग्रीस की सभ्यता और सस्कृति पर पाया जाता है।

अध्याय ८

ग्रीस

भौगोलिक स्थिति

यूरोप के दक्षिणी पूर्व कोने का कटा-फटा और छोटे-छोटे टापुओं से जड़ा भू-भाग ग्रीस कहलाता है। यह एशियाई कोचक के ठीक सामने है। दोनों के बीच में मध्य-सागर की एक शाखा है जो वासफोरस और डार्डनेल की जल कड़ियों के लगाव द्वारा काले समुद्र से मिल जाती है। ये समुद्र तथा जल ग्रीवाएँ एशिया को यूरोप से पृथक् करती हैं। किन्तु सुगम होने के कारण आने-जाने तथा आदान-प्रदान मे कोई विशेष बाधा नहीं डालती।

ग्रीस के तीन ओर समुद्र और उत्तर की ओर असीमित पहाड़ियाँ तथा जंगल थे। समुद्र के जल ने भीतर घुस-घुस कर ग्रीस को तीन भागों में विभक्त कर दिया है। उत्तरी भाग मे थेसेली और एपिरस, मध्य में एटिका और थेबीज़ आदि और दक्षिणी मे लेकोनिया (स्पार्टा) तथा कोरिन्थ आदि थे। ग्रीस एक पहाड़ी प्रदेश है जिसमे इधर-उधर छोटी-बड़ी उपत्यकाएँ हैं। वहाँ कोई ऐसी नदी नही जो व्यापार के काम की हो, किन्तु नालों और झरनो का अभाव नही। वहाँ की झीलें भी नगण्य-सी है। अतएव वहाँ कृषि बहुत सीमित हो सकती थी। इस कमी की पूर्ति जैतून तथा फलो की बागवानी से न्यूनाधिक होती थी। ग्रीस मे यद्यपि कुछ चाँदी, लोहा और ताँबा मिलता था तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि वहाँ की धातु सम्पत्ति भी ऐसी वैसी ही थी। आर्थिक सम्पन्नता के साधनो की कमी चिन्त्य थी, किन्तु वहाँ का जलवायु, विमल आकाश, वातावरण तथा प्राकृतिक सौन्दर्य उसकी अपूर्व सम्पत्ति थी। उसी की बदौलत उसने उन गुणों, कर्मो एवं स्वभाव का प्रदर्शन किया जिनसे उसका नाम ससार मे अमर हो गया।

ग्रीस प्रदेश गरीब था, किन्तु समुद्र वहाँ के निवासियो को देश से बाहर निकल कर कीर्ति एवं सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए तीन ओर से आमन्त्रित करता था। एशिया और कुछ अश मे अफ्रीका के मार्ग को सुगमतर बनाने के लिए प्रकृति ने वहाँ अनेक

टापू बिछा दिये है। उत्साही एवं पुरुषार्थी ग्रीको ने उनसे पूरा लाभ उठाया। फलत: एशिया तथा मिस्र की सभ्यता, संस्कृति तथा व्यापार से ग्रीस निवासियो का बड़ा उपकार हुआ।

जिस समय मिस्र तथा क्रीट की सभ्यता अपने उत्कर्ष पर थी उस समय यूरोप अन्धकार मे ग्रस्त था। क्रीट के कुछ उद्यमी लोग ग्रीस के समुद्री तट पर इधर-उधर बस गये थे। अपनी बस्तियो को अर्द्धसभ्य अथवा असभ्य खानाबदोशो से बचाने के लिए उन्होंने बस्तियो के चारों ओर शहरपनाह, पत्थरो की दीवार बना ली थी। १५०० ई० पू० तक वे लोग स्वयं सभ्यता के प्रशस्त मार्ग पर पहुँच गये थे जैसा कि उनके रहन-सहन, पोशाक, घर-द्वार, कला-कौशल से अनुमान किया जाता है। किन्तु माइसीन और तीरइन्स नगरो से सहस्र वर्ष पूर्व ईजिअन समुद्र तट पर अन्य समृद्धि-शाली नगर बसे हुए थे जिनमे ट्राय नामक नगर प्रभूत धनधान्यवान् और बलशाली माना जाता था। ईजिअन सभ्यता पर इण्डो आर्य जाति के खानाबदोश बलकान पहाड़ियो के पीछे से प्रलयकारी घटा के समान चढ आये (२०००से ५०० ई० पू०)। उन्ही असभ्य या अर्द्धसभ्य लोगो मे वे दल भी सम्मिलित थे जिन्होने आगे चल कर ग्रीस मे अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त की और सभ्यता के स्तर को अत्युच्च बनाकर यूरोप निवासियों को नये, विशद और सुसम्पन्न जीवन का पथ प्रदर्शन कराया।

ग्रीक लोग सब एक जाति या वश के नही थे। ग्रीस मे सबसे पहले आर्केडियन, फिर क्रमश: एकियन, आयोनियन, डोरियन, और इओलियन आये। सम्भवत. ये आर्य जाति की ही शाखाएँ थी। इन लोगो की भाषा आर्यभाषा थी तथा उनके धार्मिक विचारो मे बहुत कुछ समानता थी। अतएव वे दोनो उन कबीलो को एकता के सूत्र मे किसी प्रकार बाँधे हुए थे। उनके आने के पहले ग्रीस मे ईजिअन सभ्यता प्रचलित थी, किन्तु उसका अभी तक यथोचित ज्ञान प्राप्त नही हो सका, किन्तु यह कहा जाता है कि वे भी माइसीयन और क्रीटन सभ्यता के प्रचारक थे। ईजिअन संस्कृति वालो को हटाकर डोरिअन कबीले के लोगो ने ग्रीस के दक्षिणी भाग पर अपना अधिकार जमा लिया (१५ या १४ शती ई० पू०)। डोरिअनो का प्रताप एकिअन कबीलो के थेसली आ जाने के कारण हो गया (१००० वर्ष ई० पू०)। एकिअन लोगो ने उस सभ्यता का निर्माण किया जिसका दिग्दर्शन ग्रीस के महाकवि होमर ने अपने अमर काव्य मे कराया है।

एकिअन लोग सुसज्जित मकानो मे रहते थे। मकान का एक भाग पुरुषो और दूसरा स्त्रियों के लिए था। उन लोगो को शिकार, व्यायाम, द्वन्द्व-युद्ध, सगीत और

नृत्य कला का शौक था। वे शराब पीते और मांस तथा रोटी डटकर खाते थे। यद्यपि स्त्रियो और पुरुषों के कार्यक्षेत्र और अधिकार समान न थे, तथापि स्त्रियों, वृद्धो और अतिथियो के प्रति उनका व्यवहार शिष्ट था।

उनके समाज मे पुरुषो की दो ही श्रेणियाँ थी। एक तो राजन्यों की जिनके कन्धों पर रक्षा का भार था और दूसरी कृषि-वाणिज्य करने वालो की। राजा स्वतन्त्र और बलशाली लोगो की राय से राजकाज, सन्धि-विग्रह आदि करता था। वह सेना तथा जातीय धार्मिक कृत्यों मे अग्रणी का काम करता था। उन लोगों का विश्वास था कि दैविक विधान से कुछ गिने-चुने वंशों के ही लोग रक्षा तथा शासन का कार्य करने की क्षमता रखते है। अत. वे काम उन्ही के सुपुर्द रहने चाहिए।

ग्रीस के लोग शान्तिप्रिय न थे। उनका स्वभाव अव्यवस्थित, चंचल और उद्दण्ड था। लड़ने-झगडने, युद्ध करने का व्यसन राजाओ मे ही नही, साधारण जनता मे भी था। व्यापार और अर्थ-सग्रह में उनकी बड़ी रुचि थी, परन्तु वे ईमानदारी को कोई महत्त्व न देते थे। फारस का सम्राट् कहा करता था कि यदि किसी को यह देखने का शौक हो कि एक व्यक्ति दूसरे के प्रति कितना विश्वासघात कर सकता है और शपथ लेने पर भी स्वार्थ के लिए निस्सकोच एक-दूसरे का गला काट सकता है, तो वह ग्रीस के बाजारो मे जाकर देख ले। वे लोग न तो चैन से रहते और न रहने देते थे। कोई आश्चर्य नही कि उनके इतिहास मे विरोधात्मक प्रवृत्तियो का विलक्षण प्रदर्शन पाया जाता है। देशभक्ति, देशद्रोह, वीरता, कायरता, वफादारी, दगाबाजी, उदारता, निर्दयता, बुद्धिमत्ता और मूर्खता एक साथ ही समरस से फूलती-फलती दिखायी पडती है।

उस युग मे एशियाई कोचक के उत्तरी पश्चिम कोने पर 'ट्राय' नाम का एक समृद्धिशाली नगर था। वहाँ फ्रीजियन, आरमीनियन आदि मिश्रित कबीलो के लोग बसे थे जिनको ग्रीस वाले 'ट्रोजन' कहते थे। वहाँ की संस्कृति भी एशिया और ग्रीक सस्कृतियो के मिश्रण से बनी थी। एशिया और ग्रीस के व्यापार से उनको बड़ा लाभ हुआ जिससे उनकी शक्ति तथा साधन खूब बढ़-चढ गये थे।

उस युग का विशद वर्णन होमर के काव्य मे मिलता है। अनुश्रुति के अनुसार ट्राय का एक राजकुमार स्पार्टा आया और वहाँ के राजा की भावज, हेलन को फुसलाकर निकाल ले गया। अपमान से क्रुद्ध होकर एकिअन वश के सब राजाओ ने ट्राय पर आक्रमण करके नगर का विध्वस कर डाला। वह सग्राम दस वर्ष तक होता रहा

किन्तु वे हेलन को वापस ले ही आये। ट्राय में अन्तिम विध्वंस ११८४ ई० पू० हुआ। अब वहाँ एक घुसमाटीला है जिसको 'हिसारलिक' कहते हैं।

स्वतन्त्र ग्रीकों के सिवा ग्रीस में दासो की बहुत बड़ी संख्या थी। ग्रीक लोगो ने पराजित लोगो को दासता की श्रृंखला से सदा के लिए जकड़ दिया था। शायद ही कोई ऐसा ग्रीक हो जिसके यहाँ कम-से-कम एक दर्जन गुलाम न रहते हों। एथेन्स में तो खेती करना गुलामी का काम समझा जाता था। भलेमानुस केवल जमीदारी करते थे। ग्रीस के बड़े-से-बडे विद्वान्, दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ की सम्मति में ग्रीको के सिवा अन्य सब लोग असभ्य और निकम्मे थे। वे पशुओ के समान माने जाते और उनसे हर प्रकार की सेवाएँ ली जाती थी। वस्तुतः दासता की नींव पर ही ग्रीक सभ्यता का प्रासाद निर्मित किया गया था। यह उसकी बड़ी नैतिक कमजोरी थी।

नगर

घाटियों के पहाड़ियो से घिरे रहने के कारण पृथक्-पृथक् अनेक बस्तियाँ बन गयी थी। ये ही नगर के रूप में विकसित हो गयी। सातवी या आठवी शती ई० पू० तक ग्रीस में ही नही, वरन् मध्य सागर के तटो पर एवं टापुओं मे अनेकानेक नगरो की स्थापना हो गयी थी। ग्रीक सभ्यता में 'नगर' का विशेष स्थान है। प्रत्येक नगर स्वतन्त्र था और शासन तथा सभ्यता का केन्द्र भी। वस्तुत. नगर ही राज्य या राष्ट्र था। किसी-किसी नगर का आधिपत्य आसपास के कुछ गाँवों पर भी था, किन्तु उनसे उसके संगठन पर विशेष प्रभाव न पड़ता था। प्रत्येक नगर में प्रायः एक जाति या वंश के ही कुटुम्बी रहते थे जिससे उनमें बन्धुत्व तथा आत्मीयता का भाव जाग्रत रहता था। नगर अपने निवासियो का प्राण, विकास का साधन एवं प्रतीक था और उनकी आशाओं, आदर्शो, सफलताओ तथा विफलताओं को प्रतिबिम्बित करता था। उसके लिए जीना या मरना उनका परम धर्म और अन्तिम ध्येय था। इसी से प्रत्येक नगर-राज्य के निवासियो पर आत्म-गौरव, स्वाभिमान, और राज्य-भक्ति का नशा-सा छाया रहता था।

कोई नगर किसी दूसरे नगर की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार न था। ऐसा करना अपमान और लज्जा का कारण समझा जाता था। इस भाव के रहते हुए वहाँ बडे राज्यो का निर्माण हो ही नही सकता था, साम्राज्य का तो कहना ही क्या। तथापि भाषा-साम्य, धार्मिक विश्वास एवं विचारो और सहजातीयता के

सस्मरण के अतिरिक्त ग्रीस में कुछ ऐसी संस्थाएँ थीं जिनके द्वारा उनमें ऐसा आपसी सम्पर्क रहता था जिससे सभी ग्रीक लोगों को आत्म-दर्शन, अपने महत्त्व तथा सामूहिक व्यक्तित्व का अनुभव करने का अवसर मिल जाता था। उनमे अधिक महत्त्व के कुछ देवस्थान थे जैसे ओलिम्पिआ, जहाँ देवताओ एवं देवियों की सभा जुटती थी। वहाँ विभिन्न नगरो से यात्री आते और उत्सव मनाते थे, विचारो का आदान-प्रदान, क्रय-विक्रय, लाग-डाँट के खेलों, साहित्यिक कृतियों तथा कला-कौशल, खेल-कूद और व्यायाम आदि का अच्छा प्रदर्शन भी वहाँ होता था। उन अवसरो पर ख्याति प्राप्त करना व्यक्तियों और नगरों का विशेष ध्येय समझा जाता था। ओलिम्पिआ का समारोह हर चौथे वर्ष होता था। उसके सिवा देवी-देवताओ के उपलक्ष में अन्य त्योहार कमोबेश उसी ढंग पर अन्य स्थानो मे भी मनाये जाते थे। उन उत्सवों का ग्रीस की सभ्यता, समाज, आचार-विचार एवं संस्कृति पर बहुत गहरा प्रभाव पडा।

राजाओ का शासन-काल ईसा के पूर्व सातवी शती तक चलता रहा, किन्तु उनके अत्याचारो से पीडित होकर सरदारो ने जनता की सहायता से या तो राज-शासन का अन्त कर दिया या विविध विधानों से उनकी शक्ति को नियन्त्रित कर दिया।

आठवी से छठी शती (७५०–५५० ई० पू०) तक ग्रीस वालों ने बहुत-से उपनिवेश स्थापित कर लिये। यात्रा के पहले डेल्फी के अपोलो नामक देवता से आज्ञा माँगी जाती थी। उस अवसर पर आसपास के मित्र-नगरों के लोगो को भी आमन्त्रित किया जाता था। प्रवासियो के नेता को प्रमाण अथवा अधिकार पत्र दिया जाता था जिसमे नेता का नाम, उपनिवेश स्थान, राज्य से सम्बन्ध की शर्तें आदि आवश्यक बाते लिख दी जाती थी। उपनिवेश, ईजियन सागर, काला सागर, उत्तरी अफ्रीका, सिसली, इटली, दक्षिणी फ्रास, स्पेनो में बसाये गये थे। उपनिवेश स्थापित करने के मुख्य कारण थे व्यापार की वृद्धि एवं राज्यो की बढ़ती हुई जनसंख्या को स्थानान्तरित करना। सतर्क रहने पर भी अनेक उपनिवेशो में स्वतन्त्र हो जाने की लालसा अथवा आवश्यकता बढ़ती गयी। उपनिवेशों मे सिसली तथा सेराक्यूज़ जहाँ कारिन्थ नगर के डोरियन लोग बस गये थे सबसे महत्त्वपूर्ण थे। (७३४ ई० पू०)। सिसली पर ग्रीको की बढती हुई शक्ति का कार्थेज के नगर-राज्य से संघर्ष अनिवार्य हो गया। कार्थेज का व्यापार-जीवी नगर भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग पर दूसरे का आना-जाना अपने लिए घातक समझता था। फिर भी दक्षिणी फ्रांस

मे मस्सिलिन (मारसेई) मे ग्रीको ने उपनिवेश वना ही लिया। जिवराल्टर के आगे ग्रीक लश्कर कार्थेज के विरोध के कारण न वढ़ सके। काले समुद्र के किनारे उपनिवेश असीम संख्या मे स्थापित किये गये।

ग्रीस के प्रत्येक नगर की अपनी सभ्यता और अपना इतिहास था। यद्यपि ग्रीस का इतिहास वस्तुत. नगर राज्यो का ही इतिहास है तथापि पॉच स्थान विशेष रूप से महत्त्व रखते थे। वे थे—स्पार्टा, कोरिन्थ, एथेन्स, थेवीज़ और मेसीडोनिया (मकदूनिया)। उनके दिग्दर्शन से ग्रीस के इतिहास और सभ्यता का इसलिए ज्ञान हो जाता है कि अन्य नगरो की प्रगति न्यूनाधिक उन-जैसी ही हुई थी।

स्पार्टा

ग्रीस का दक्षिणी भू-भाग पेलोपोनेसस कहलाता था। एक प्रकार से वह टापू-सा माना जा सकता है क्योकि समुद्र की भुजाओ ने उसे अन्य प्रान्तो से करीव-करीव पृथक् कर दिया था। उसमे कई राज्य थे जिनमे स्पार्टा का सबसे अधिक महत्त्व था। स्पार्टा की उर्वरा भूमि चारो ओर से दुर्गम पहाडियो से घिरी हुई थी। वह डोरिअन ग्रीको के अधिकार मे थी। राजपूतो या जापानी सिमूरिओ की तरह स्पार्टा वाले स्वतन्त्रता, वीरता और युद्धकला के अनन्य सेवक थे। शारीरिक सगठन, मल्लयुद्ध, व्यायाम तथा अस्त्र-शस्त्र सचालन के सिवा वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति, स्त्री और पुरुष तथा समाज का अन्य कोई ध्येय न था। कला-कौशल, विद्या-व्यापार, ठाट-वाट, ऐश-आराम आदि से उनको कोई वास्ता न था। पढ़ना-लिखना, मानसिक उधेड़वुन, शौकीनी, लजीज खान-पान, साहित्य-पटुता विशेषकर वाक-चतुरता और व्याख्यान-कला को वे अनावश्यक ही नही वरन्, निन्दनीय भी मानते थे। यदि उनमे किसी प्रकार की कविता का मान था तो वह था जुझावट के कडखो या वीरो के गुणगान का। उनकी विचारधारा, उनका दैनिक जीवन इसलिए सम्भव हो सका कि उन्होने विजित लोगो को वड़ी संख्या मे गुलाम वना रखा था। गुलामो (हेलटो) की संख्या स्वतन्त्र लोगो से दस गुनी थी। वे ही खेती-वाड़ी, उद्योग-धन्धे, सेवा-शुश्रुषा तथा डोरियन विजेताओ की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। वे सेना मे भी भर्ती किये जाते थे। युद्ध मे जो असाधारण वीरता दिखाते थे उन्हे स्वतन्त्र कर दिया जाता था। शुद्ध स्पार्टनो और हेलटो के वीच एक समुदाय मिश्रित जाति के लोगो का था। वे लोग स्वतन्त्र थे किन्तु नगर के आसपास की वस्तियो में वसा दिये गये थे। व्यापार उन्ही लोगों के हाथ मे था।

स्पार्टा के ग्रीक अपना रक्त विशुद्ध रखना आवश्यक समझते थे। उनका यह प्रयत्न रहता था कि उनकी सन्तान निर्बल और क्षीण न हो। इसलिए वे कुमारियों के स्वास्थ्य और वल की रक्षा और सवर्द्धन प्राय उसी प्रकार करते थे जैसी कि अपने वालको के स्वास्थ्य की। कुमारियों को भी दौड़ने, कूदने, मल्ल युद्ध करने, वर्छी चलाने आदि की प्रेरणा दी जाती थी और उनके शरीर को भी हृष्ट-पुष्ट और सुसगठित वनाने के प्रयत्न किये जाते थे। निर्भीकता और स्वावलम्बन के साथ लैंगिक चेतना के प्रति आनुपातिक उदासीनता उनको सिखायी जाती थी। झिझक दूर करने के लिए कुमारो की तरह कुमारियाँ भी विशेष अवसरो पर नग्न होकर जुलूसो और व्यायाम-शालाओ मे आती-जाती थी। वैसे अवसरो पर यदि उन्हें कुदृष्टि से कोई देखता या अशिष्ट शब्द कहता था तो उसकी दुर्दशा की जाती थी। शुद्ध भाव और आचरण वालो का गुणगान और व्यभिचारियो की घोर निन्दा की जाती थी। नग्न शरीर प्रदर्शन एव पुरुषो से मिलने-जुलने ने स्पार्टा को दुराचारी नही वनाया। वहाँ की स्त्रियो मे शील और सदाचार की कमी न थी। लुच्चापन, छिछोरपन, स्त्रैणता, दुर्व्यसन और वारविलासिता के लिए उनके समाज मे स्थान न था। स्त्री, पुरुष, सभी सीधे-सादे थे। उनमें विषयी व्यक्तियो की भावनाएँ नही पायी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के लोगो की दुनिया ही दूसरी तथा अद्वितीय थी। स्पार्टा के पुरुष और स्त्रियाँ अपनी जातीयता, राष्ट्र-प्रेम और मर्यादा-पालन के लिए विख्यात थी।

स्पार्टा मे विवाह प्रेम का परिणाम न था। प्रेम के लिए विवाह करना मूर्खता समझी जाती थी। स्पार्टा वालो के विचार के अनुसार सच्चा प्रेम प्रायः पुरुषों में परस्पर हो सकता है। अन्य गुणो के साथ उनमे कामुकता के दोष की सम्भावना थी, किन्तु अविवाहित युवको में वह क्षम्य सा माना जाता था। विवाह के लिए पुरुष की उम्र कम-से-कम तीस और वधू की वीस होना आवश्यक था। उत्सवों और खेलो के अवसर पर कन्या पुरुष को और पुरुष कन्या को विवाह के लिए स्वय चुन लेते थे। विवाह हो जाने पर स्त्रियो के केश कटवा दिये जाते थे। पति और पत्नी वड़े सयम से रहते थे। पति-पत्नी सतान होने पर भी प्रकाश मे एक-दूसरे से मिलने न पाते थे। लुक-छिपकर रात्रि मे किसी अँधेरे स्थान मे थोड़े समय के लिए मिलने पाते थे। सवसे विचित्र प्रथा तो यह थी कि विवाहिता स्त्री भी अपने पति के परामर्श और सम्मति से प्रतिभाशाली, वलवान् और पराक्रमी पुरुष से गर्भाधान करा लेती जिससे उसके भी उसी प्रकार सन्तान उत्पन्न हो। उसी प्रकार स्त्री की अनुमति

लेकर कोई उत्तम पुरुष भी सुन्दरी और शुभगुण-कर्म-विभूषिता स्त्री मे उत्कृष्ट सन्तान प्राप्त करने की कामना से गर्भाधान कर सकता था। इस व्यवस्था मे कोई अपमान नही, वरन् सम्मान समझा जाता था, क्योकि व्यक्तियो और समाज का ध्येय हृष्ट-पुष्ट, शूरवीर, तेजस्वी सन्तान प्राप्त करना था। अविवाहित पुरुष को लोग नीची नजर से देखते थे। अविवाहित रहना जुर्म समझा जाता था। ऐसे व्यक्ति को नागरिक के अधिकार नही दिये जाते थे। ग्रीस के राज्यो मे पिता को अधिकार था कि वह चाहे तो अपने शिशु का पालन-पोषण करे अथवा मार डाले। स्पार्टा का व्यवहार इससे भिन्न था। सन्तान की उत्पत्ति होने पर शिशु को पानी के बदले शराब से साफ किया जाता था जिससे उसकी सहन शक्ति बढे। बच्चे को वे किसी पहाड़ी पर छोड़ आते थे। यदि तीन दिन बीतने पर वह जीता-जागता रहा तो उसको वापस लाकर बडी सतर्कता के साथ उसका पालन-पोषण और राष्ट्र के आदर्श के अनुकूल उसका शारीरिक एवं मानसिक संवर्द्धन किया जाता था। सात वर्ष की अवस्था आने पर वह माता-पिता से ले लिया जाता था। उस पर माता-पिता का नही, वरन् समाज और राष्ट्र का अधिकार हो जाता था और उसका पालन और सवर्द्धन कर्तव्य।

स्पार्टा मे स्त्रियो का स्थान ग्रीस के दूसरे राज्यो से अच्छा था। उनमे स्वाभिमान, स्वावलम्बन, विचार-स्वातन्त्र्य की भावनाएँ रहती थी और बेधडक अपने विचारो को कह देने का उन्हे अभ्यास था। वे अपने को पुरुषो से कम न समझती और पति से सगौरव व्यवहार करती थी। पुरुष तो साठ वर्ष की उम्र तक सामाजिक भोजनालय मे जो कुछ मिलता उसी से प्राय सन्तुष्ट रहते, किन्तु उनकी किफायत से खर्च करने वाली पत्नियाँ मनोनुकूल अच्छा भोजन करती और अच्छे वस्त्र पहनती थी। वे अपनी सम्पत्ति जमा कर सकती और स्वय उसका उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकती थी। ऐयाशी करने के लिए न तो पुरुष को, न स्त्री को ही कोई प्रेरणा या अवसर मिलता था। शराबखोरी और मस्ती से ऊधम मचाने का व्यसन उन लोगो मे कभी प्रचलित न हो सका। इसीलिए वहाँ मोटे-भद्दे और आलसी नर-नारियों का अभाव-सा था। स्थूल शरीरवालो का उपहास ही नही होता था, वरन् उनको डाँट-डपट सुननी पडती थी।

स्पार्टा मे अमीर और समृद्धिशाली के लिए कोई स्थान न था। स्पार्टन अपने राज्य मे सोना-चाँदी न आने देते थे। उनके नगर मे लोहे के सिक्के चलते थे। अतएव सम्पत्ति के अभाव मे जायदाद के झगडे न होते थे। वहाँ के ग्रीक लोग गरीबी से भी परिचित न थे। सरल और साधारण जीवन के निर्वाह के लिए सबको प्रायः

एक-से साधन प्राप्त थे। वे उतने से ही सन्तुष्ट थे। अन्य लोगो के कुत्सित प्रभाव से दूषित होने की सम्भावना के भय से वे अपने नागरिको के विदेशो में जाने अथवा विदेशियो से सम्पर्क बढाने के विरोधी थे।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि यद्यपि स्पार्टा मे कठोर व्रती, वीर, निर्भीक, आन पर मर मिटने वाले तथा यशस्वी योद्धाओ का निर्माण होता था और एक प्रकार का सयमित एव आदर्श-प्रेरित समाज था, परन्तु वहाँ विद्वान्, विचारशील, तत्त्वदर्शी, साहित्यिक, सौन्दर्योपासक, दयावान् तथा कला-कुशल व्यक्ति के लिए कोई स्थान न था। वहाँ के निवासियो का जीवन उतना नियन्त्रित तथा सकुचित था कि उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक आत्मविकास की गुजाइश न थी। फलतः स्पार्टा की सस्कृति चर्खी की तरह अपनी सकीर्ण परिधि मे घूमती रह गयी। ससार की सभ्यता, बौद्धिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति मे उसने कोई स्थायी काम न किया। वहाँ की सभ्यता प्रगतिशील न होने के कारण जड रह गयी। उसका सगठन और आर्थिक जीवन 'हेलट' लोगो (दासो) की गुलामी पर अवलम्बित था। उन्ही के पसीने और परिश्रम से स्पार्टा का निर्वाह होता था। उनको दबाये रहने मे ही स्पार्टा के समाज का कल्याण था और उसी मे उनका विनाश निहित था।

स्पार्टा के नैतिक विधान की रचना लाइकर्गस (६०० ई० पू०) ने की थी। उसके अनुसार वहाँ राजवश से चुने दो राजा होते थे, जिनको परामर्श देने के लिए अट्ठाईस सदस्यो की, जो साठ वर्ष की आयु से कम के न होते, एक सिनेट (जेरजिआ) थी। सन्धि, विग्रह आदि के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न साधारण असेम्बली मे, जिसके सदस्य तीस वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति न होते थे, निश्चित किये जाते थे। असेम्बली मे वे ही लोग अपने विचार प्रकट करने पाते थे जिनसे प्रार्थना की जाती थी। साधारणतया असेम्बली सेनेट के भेजे प्रस्तावो को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती थी, पर उन पर विवाद न उठा सकती थी। केवल युद्ध और सन्धि के प्रश्नो पर पूछताछ या विचार प्रकट करने का सदस्यो को अवसर दिया जाता था।

स्पार्टा ने पहले अपनी शक्ति का प्रयोग टेगारा नगर के दमन के लिए किया (छठी शताब्दी ई० पू०)। तदुपरान्त उसने पेलोपोनेशियन लीग का सगठन किया। स्पार्टा के शत्रु अरगोलिस को छोड़कर उसमे पेलोपोनेसस के सभी राज्य शामिल हो गये। उसका नेतृत्व स्पार्टा ने अपने ही हाथो मे रखा। लीग की एक असेम्बली थी जो स्पार्टा या कोरिन्थ मे आमन्त्रित की जाती थी। ईरानी साम्राज्य से सघर्ष होने के पहले लीग सगठित हो चुकी थी।

स्पार्टा के राजनीतिक आदर्श सीमित और सकीर्ण थे। लचीले और प्रगतिशील विचार न होने के कारण यह नवीन समस्याओ के समझने और समयानुकूल व्यवस्था करने मे असमर्थ रहा। उसके नेतृत्व मे एथेन्स की सी स्वार्थपरायणता और महत्त्वाकाक्षा के लक्षण देखकर उसके साथी नगरो की श्रद्धा घटने और उदासीनता बढने लगी। एथेन्स यद्यपि क्षत-विक्षत हो गया था तथापि वह अपनी परिस्थिति सँभालने का प्रयत्न करता रहा। सयोग से स्पार्टा ने एशियाई कोचक की ग्रीक रियासतो को फारस के आधिपत्य से छुडाने के लिए उस पर चढाई कर दी। स्पार्टा के राजा और उसकी चुनी हुई सेना के एशिया मे उलझ जाने से ग्रीस ने थेबीज, कोरिन्थ आदि नगरो को उसके आधिपत्य से मुक्त हो जाने का अवसर प्रस्तुत कर दिया। एथेन्स और आरगस भी उन नगरो के साथ हो गये। स्पार्टा ने यद्यपि कई युद्ध जीते तथापि परिस्थिति प्रतिकूल ही रही। अन्ततोगत्वा फारस के सम्राट् से सन्धि करके स्पार्टा ने उससे सहायता माँगी। स्पार्टा ने एशिया से अपनी सेना हटा ली और वहाँ के ग्रीको को उनके भाग्य पर छोड दिया। उधर से छुट्टी पाकर स्पार्टा ने फिर ग्रीस के राज्यो का विद्रोह दमन किया। अपनी शक्ति को और भी सुदृढ करने के लिए उसने सिसली और इटली के ग्रीको से भी मैत्री का सम्बन्ध जोड लिया। इन सब प्रयत्नो का परिणाम यह हुआ कि स्पार्टा के नेतृत्व मे ग्रीस का ऐसा सयोजन और एकीकरण हुआ जैसा कि पहले कभी नही हुआ था (३९५ से ३७० ई० पू०)। स्पार्टा मे ग्रीस तथा इटली, सिसली, मेसिडोन के सब राज्यो के प्रतिनिधि एकत्रित हुए। फारस के सम्राट् का दूत भी उसमे दर्शक के रूप मे आमन्त्रित किया गया। सम्भवत: यह विराट् सम्मेलन ससार के इतिहास का सबसे पहला अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन था, जिसका ध्येय सार्वदेशिक शान्ति की स्थापना था। उसमे यह निश्चय हुआ कि जितने ग्रीस के राज्य है वे सब स्वय निरस्त्र हो। ध्येय तो सर्वथा प्रशसनीय था, किन्तु वह सफल न हो सका। कारण यह हुआ कि थेबीज कई राज्यो की ओर से सन्धि पर हस्ताक्षर करना चाहता था। स्पार्टा वाले उसे किसी अन्य का प्रतिनिधि मानने को तैयार न हुए। फलत. दोनो मे झगडा हुआ और युद्ध छिड़ गया। थेबीज का नेता एपामिनाण्डस सुशील राजभक्त, चतुर नीतिज्ञ, सुशिक्षित विचारक, प्रतिभाशाली और यशस्वी सेनानायक था। सैनिक सगठन और सेना-परिचालन मे उसने नवीन विधान प्रचलित किया। ल्यूक्ट्रा के मैदान मे उसने स्पार्टा की सेना को परास्त कर दिया (३७१ ई० पू०)। इस घटना से स्पार्टा की शान किरकिरी हो गयी। नेतृत्व उसके हाथ से निकलकर थेबीज राज्य को मिल गया। स्पार्टा ने एथेन्स के साथ

मिलकर थेवीज पर फिर आक्रमण किया। संयुक्त सेना को एपामिनाण्डस ने मेण्टीनिआ के मैदान मे करीव-करीव हरा दिया था, किन्तु दैवयोग से उसका निधन हो गया (३६२ ई० पू०)। यद्यपि विजय किसी दल को न मिली, तथापि थेवीज की शक्ति का ह्रास हो गया। उसी के साथ स्पार्टा का महत्त्व भी नष्ट हो गया।

एथेन्स को परास्त करके स्पार्टा ने ग्रीस का नेतृत्व (४०८ से ३७१ ई० पू०) किया। उसका एक मात्र ध्येय एथेन्स के प्रभुत्व से ग्रीस के नगर-राज्यो को मुक्त कराना था। पर उसमे भी वही लालसा जाग उठी जो एथेन्स मे थी। उसने भी अन्य राज्यो पर पंजा कसना शुरु कर दिया। स्पार्टा एव थेवीज को युद्ध करना तो आता था, किन्तु इसके सिवा उनमे कोई योग्यता या ऐसी विशेषता न थी जिसके आधार पर वे अपना महत्त्व इतिहास मे वनाये रखते। यही नही, वे अपने लाभ के लिए ग्रीस के शत्रु फारस से मिलकर एक दूसरे के विनाश मे सलग्न हो जाते थे।

कोरिन्थ

एथेन्स के उत्थान के पहले डोरिअन कवीले के कोरिन्थ नगर को अधिक धन, वैभव और सस्कृति के प्रभुत्व की ख्याति प्राप्त हो गयी थी। वह नगर उसी नाम के डमरूमध्य की पहाड़ी पर स्थापित होने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता था। उसे यदि पिलोपेनेसस का सयोजक अथवा विभाजक स्थान कहा जाय तो युक्तिसगत होगा। वहाँ से ग्रीस के भीतर अथवा समुद्र द्वारा व्यापार करने का वड़ा सुभीता था। उसने प्रवल जहाजी वेडा निर्माण कर (८वी शती ई० पू०) यहाँ-वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित कर दिये, जिनसे अच्छा व्यापार चलने लगा। सिसली का सुप्रसिद्ध, सुदृढ और समृद्धशाली सेराक्यूज नगर कोरिन्थ वालो ने वसाया था।

कोरिन्थ के निवासी शक्ति के उपासक थे। जूनो नाम की देवी स्त्रियो के अहिवात, दाम्पत्य जीवन और सन्तान की रक्षिका मानी जाती थी। 'वीनस' नाम की दूसरी देवी लौकिक प्रेम एव सौन्दर्य की प्रतीक और सरक्षिका गिनी जाती थी। व्यापार द्वारा कोरिन्थ नगर समृद्ध और धनवान् होता गया। अतएव वहाँ मोद-प्रमोद और भोग-विलास के साधन प्रचुर मात्रा मे उपस्थित हो गये। मगलामुखियो तथा गणिकाओ, विशेषकर मन्दिरो की सेविकाओ और देव-दासियो, का वहाँ जमघट था। समाज मे उनका अच्छा सम्मान भी था। यूरोप और एशिया के धनी व्यापारी वहाँ भोग-विलास के लिए आते और पर्याप्त धन लुटा जाते थे। जव कोई भयकर विपत्ति आ जाती थी, तव मगलामुखियो और गणिकाओ द्वारा वीनस देवी प्रसन्न की

जाती थी। इससे उनका महत्त्व और दल उत्तरोत्तर वढता जाता था। उनकी कलाओ से नगर मे वाहर से धन आता था। शासको का दूसरा लाभ यह भी हुआ कि नगर की जनता भोग-विलास और नाच रग मे फँसे रहने के कारण राजनीतिक उखाड़पछाड़ से विरक्त होकर चैन की वशी वजाती और विघ्नकारी आन्दोलनो का द्वार वन्द किये रहती थी।

कोरिन्थ के नेताओ मे पेरिएनडर नामक एक क्रूर व्यक्ति ने (६२५ से ५८५ ई० पू०) शासन मे कुछ सुधार किये। उसके शासन-काल मे कोरिन्थ के औपनिवेशिक विस्तार, व्यापार, कला और साहित्य ने अच्छी उन्नति की। व्यापार पर कर कम कर दिया गया और शासन की ओर से सिक्को का प्रचलन हुआ। वड़े व्यापारियो और पूंजीपतियो से छोटे व्यापारियो का रक्षण तथा पोपण हुआ। इन सव गुणो के रहते भी उसका शासन क्रूरतापूर्ण रहा। छठी शती ई० पू० मे कोरिन्थ मे ग्रीको के अन्तर्जातीय उत्सव और कला-कौशल प्रदर्शन का एक केन्द्र स्थापित हुआ जिससे उसका महत्त्व, आकर्पण तथा व्यापार और भी वढ गया।

व्यापारिक ईर्प्या, औपनिवेशिक नीति तथा व्यापारियो और जमींदारो के पारस्परिक सघर्प आदि कारणो से कोरिन्थ अन्य ग्रीक राज्यो के साथ समय-समय पर सन्धि, विग्रह तथा युद्ध करता रहा। एथेन्स, स्पार्टा तथा थेवीज राज्यो से कभी युद्ध ओर कभी मेल होता रहा। इन युद्धो मे कोरिन्थ की लूट-खसोट होती रही जिससे वह उत्तरोत्तर हतश्री होता चला गया। चतुर्थ शती (३९५ ई० पू०) मे तो यहाँ तक स्थिति विगडी कि कोरिन्थ एक प्रकार से आरगस राज्य का अनुचर सा हो गया। अलेक्जेण्डर के पिता फिलिप ने कोरिन्थ मे अपनी सेना स्थापित की (३३८ ई० पू०) और अलेक्जेण्डर ने उसे ग्रीस के अनुशासन का केन्द्र वना दिया। यद्यपि कोरिन्थ का राजनीतिक ह्रास हो गया तथापि उसका व्यापार वहुत कुछ चलता रहा। रोम के साथ जव ग्रीस के राज्यो का सघर्प हुआ तव कोरिन्थ भी उसमे फंस गया। परिणाम यह हुआ कि एक रोमन सेनानायक ने नगर को लूट मार कर जला दिया (१४६ ई० पू०)।

एथेन्स

ग्रीस मे अनेक नगरो का अपना-अपना अलग महत्त्व था, किन्तु एथेन्स नगर की सभ्यता और सस्कृति ने जो ख्याति प्राप्त की वह किसी को न मिली। उसका महत्त्व केवल ग्रीस के ही नही, वरन् ससार के तथा सस्कृति के इतिहास मे सदा के

लिए प्रतिष्ठित हो गया। उसका सास्कृतिक प्रभाव आजतक न्यूनाधिक मात्रा में चल रहा है। वहाँ के कलाकारो, राजनीतिशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विचारको का आज भी सारे ससार मे स्वागत हो रहा हे। एक सहस्र फुट लम्बी और पाँच सौ फुट चौड़ी चट्टान पर बसा हुआ एथेन्स नगर सैकड़ो नही, वरन् सहस्रो वर्षों तक सभ्य संसार के सम्मान का पात्र हो गया, इसका रहस्य वहाँ के निवासियों की स्वातन्त्र्य-प्रियता और प्रगतिशीलता मे है जिसको वहाँ के प्राकृतिक सुन्दर वातावरण और विचित्र समुद्रतट के आकर्षणो ने पुष्ट और समृद्ध किया। वहां के निवासी न तो स्पार्टा वालो के समान कछुए की तरह अपने आवरण मे सकुचित रहे न कोरिन्थ वालो की तरह निश्चिन्तता के साथ अपनी शक्ति का क्षय करते रहे। एथेन्स नगर ग्रीस के 'एटिका' नामक प्रान्त मे था जिसका क्षेत्रफल एक सहस्र वर्ग मील से शायद ही कुछ अधिक था। उस प्रान्त के निवासी अपने को एथीनियन कहना पसन्द करते थे, न कि एटिकन।

एथेन्स के ग्रीक् आयोनियन शाखा के थे। उनका विश्वास था कि वे कही बाहर से नही आये थे, वही के मूल निवासी थे। डोरियन आक्रमण के मार्ग में न पडने के कारण वे उसके भयकर परिणामो से बच गये और उनका विकास अपने स्वतत्र मार्ग पर चलता रहा। एथेन्स के निवासियो के तीन वर्ग थे। सब से धनी और सम्पन्न लोग मैदानी भूमि के जमीदार थे। मध्य श्रेणी के, विशेषतः व्यापारी और उद्योगो मे लगे लोग समुद्र तट पर बस गये थे। गरीब लोग पहाड़ों पर बसे हुए थे। इन तीनो वर्गो मे पारस्परिक स्पर्धा और द्वेष रहता था।

अन्य नगर-राज्यो के समान वहाँ भी पहले क्रमशः राजतत्र, फिर कुलीनतत्र और बाद मे जनतत्र स्थापित हुए। राजतत्र युग के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान नगण्य-सा है किन्तु इतना ज्ञात है कि राजा के स्वेच्छाचार के नियंत्रण के लिए वहाँ नौ प्रभावशाली व्यक्तियो की एक समिति ईसा के पूर्व सातवी शती मे स्थापित हो गयी थी। सदस्यो का चुनाव प्रति वर्ष होता था। समिति को एरिओपेगिटास नाम दिया गया था। उसमे मुख्य न्यायाधीश सेनाध्यक्ष आदि थे। नौ अरकानो के सिवा भूतपूर्व अरकानो की सभा थी जिसका कर्त्तव्य कानूनो का प्रतिपालन कराना और कानून भग करने वालो को दड देना था। इसके सिवा आयोनियन लोगो के चार मुख्य कबीले थे जिनकी तीन-चार सौ शाखाएँ थी जिनका सामाजिक सगठन, रहन-सहन, धार्मिक विचार एवं जीवन के आदर्श प्राय. समान थे। वे ही लोग सैनिक समझे जाते और उन्ही को अरकानो के चुनने का भी अधिकार था। साधारण जनता के

अधिकार अशिनचित एव नगण्य-से थे। वास्तविक अधिकार कुलीनो के हाथ मे था जो प्राय. जमीदार अथवा सफल व्यापारी होते थे। कृपक वर्ग कर्ज मे डूबा जाता था। ऋण न चुका सकने के कारण स्वतत्र यूनानी या तो अपनी वहनो, वेटियो या वच्चो को वेचकर गुलामी से मुक्त होते थे अथवा देश छोडकर विदेश भाग जाते थे।

एथेन्स मे कुलीनो का समुदाय पहले से ही प्रवल था। व्यापार से धनिको का उदय हुआ। उनका भी दल वन गया। कुलीनों का महत्त्व कम हो जाने के दो कारण थे। पहला कारण था नये ढग की पैदल सेना (होपलाइट) का सगठन जिसमे घोडसवारो की महिमा कम हो गयी। दूसरा कारण सिक्को का प्रचलन हुआ जिससे उद्यमी अकुलीन भी अमीर और प्रभावशाली होने लगे। जमीदारो और व्यापारियो के अनाचार और साधारण जनता की आर्थिक अवनति के कारण असन्तोप वढता गया जिससे विद्रोह की भयकर आग भड़क उठने की आशका हो गयी। उसे शान्त करने के लिए पहला प्रयत्न ड्रेको (६२१ ई० पू०)ने यह किया कि एथेन्स के कानून लिपिवद्ध कर दिये, किन्तु उससे उनकी कठोरता और क्रूरता मे कोई कमी न हुई। साधारण जनता ऋण और गरीबी के वोझ से दवती ही रही और आर्थिक समस्या ज्यो की त्यो वनी रही।

अनाचारी, वलात्कारी शासको का युग ६०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक रहा। अनाचारी वे कहे जाते थे जो अवैध ढग से शासन पर आधिपत्य जमाये रखते थे। असन्तोप के कारण जनता मे उत्पन्न क्रान्तिकारी भावो से अनाचारियो को वल प्राप्त होता था। वे उससे लाभ उठाते थे। अनाचारियो के सुधारो से जनसत्ता का संवर्धन होता था। अनाचारी शासन का आरम्भ लीडिया से हुआ। अन्य नगरो मे भी वह फैलता गया। छठी शताव्दी ई० पू० के आरम्भ मे (५९४ ई० पू०) एथेन्स-वासियो ने कानूनो मे सुधार करने के लिए सोलन (६०० ई० पू०)नामक एक उदार-चेता, राष्ट्र-भक्त तथा विद्वान् का चुनाव किया। सोलन की शिक्षा मिस्र मे भी हुई थी। ग्रीस की गतिविधि से वह पूरी तरह परिचित था। उसने प्रजा का सव प्रकार का कर्ज ही नही माफ कर दिया, वरन् उसके कारण उनकी जो सम्पत्ति अथवा स्वतत्रता छिन गयी थी वह भी उनको वापस करा के ऐसा कानून वनाया कि जिससे कर्ज के लिए उन्हे फिर उसे खोना न पडे। भोज्य पदार्थो का भाव कम करने के लिए उसने फलो और अनाज का वाहर ले जाना रोक दिया। व्यापार एव कला-कौशल की उन्नति के लिए वाहर से कारीगरो को वुलाकर उसने नगर मे वसा लिया। व्यापार की उन्नति के लिए उसने सिक्को, नाप-तोल तथा यातायात मे सुधार किये,

किन्तु सब से महत्त्व का कार्य जो उसने किया वह सार्वजनिक सभा में सब नागरिकों को भाग लेने का तथा न्यायाधीश को चुनने का अधिकार प्रदान करना था। यही नही, उसने एक जूरी सभा को, जिसमें तीस वर्ष से अधिक उम्र के लोग थे, यह अधिकार दिया कि मजिस्ट्रेटो की वार्षिक अवधि के समाप्त होने पर यदि वह चाहे तो अनाचार के लिए उन पर अभियोग कायम कर दे। यद्यपि सोलन के सुधारों ने एथेन्स को प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाया तथापि अधिकार-प्रदान मे उसने धनिकों को उनकी हैसियत से कही अधिक महत्त्व दिया।

सोलन के सुधारो से रुष्ट होकर कुलीन अधिकारी वर्ग ने उपद्रव करना आरम्भ कर दिया। कुछ उद्दण्ड, अत्याचारी लोगो ने शासन को बलपूर्वक अपने कब्जे में करना शुरू कर दिया। किन्तु जनता के विरोध तथा अधिकारी वर्ग की पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष के कारण उद्दण्डता के पोषक एक-एक करके या तो मार डाले गये या देश से भगा दिये गये। स्वय अधिकारी वर्ग के असन्तुष्ट अथवा उदारचेता व्यक्ति जनता के नेता बनने लगे। सोलन की नीति से जमीदार असन्तुष्ट रहे। उनके सिवा पहाड़ा पर रहने वाले पशुचारियो को कोई विशेष लाभ न होने से उनमें भी असन्तोष रहा। उस परिस्थिति से लाभ उठाकर पिसिस्ट्रेटस नगर का नेता हो गया (५६०-५२७ ई० पू०)। उसने गरीबो की कृषि के योग्य जमीन, बीज और जोतने के लिए पशु आदि दिलवाये। न्याय-वितरण के लिए जजो के घूम-घूम कर गाँवो मे अदालत करने की परिपाटी चलायी। जनता को प्रसन्न करने के लिए सड़को, सुन्दर देवालयो तथा धार्मिक उत्सवो की स्थापना की तथा कवियो और कलाकारों को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। व्यापार, विशेषतः निर्यात व्यापार, बढ़ाने के उसने प्रयत्न किये। उसके शासनकाल मे एथेन्स ने काफी उन्नति की। वशानुगत महत्त्व प्राप्त कुलीनो की शक्ति घटाने के लिए क्लीस्थनीज (५०७ ई० पू०) ने एथेन्स को दस भागो मे विभक्त कर दिया। इस नीति से कुलीनो की सामूहिक शक्ति निर्बल हो गयी और प्रभुत्व-प्राप्त घराने इधर-उधर बँट गये। विभक्त हो जाने से वे विभिन्न क्षेत्रों मे अल्पसख्यक हो गये। सेना में विशिष्ट कुलों के साथ ही अन्य श्रेणियो के लोग भी भरती किये जाने लगे, यहाँ तक कि सेना मे कुलीनो का महत्त्व क्षीण हो गया। प्रत्येक नागरिक को व्यावहारिक अनुभव तथा शासन का ज्ञान उपार्जन करने और कुलीनो तथा जटिल रूढिग्रस्त विचारको से मुक्त करने के लिए उसने अधिकाधिक सख्या में निश्चित अवधि के लिए अफसरो के चुनाव की परिपाटी स्थापित की। प्रत्येक कबीले से पचास व्यक्ति प्रति वर्ष चुने जाते जो छत्तीस दिनो तक शासन करते थे।

प्रति दिन उन्ही में से एक व्यक्ति सभापति चुन लिया जाता था। इस सुधार का यह परिणाम हुआ कि राज्य सभा (बूली) मे पॉच सौ सदस्य हो गये जिनकी सदस्यता का परिवर्तन चक्र के समान होता रहता था। राज्य-सभा सन्धि, विग्रह, तथा उन विषयो पर जिन्हे वह सभा मे भेजना चाहती विचार-विमर्श करती थी। एथेन्स का प्रत्येक नागरिक साधारण 'जनसभा' का (एक्लीसिआ) सदस्य होता था। जनसभा हर दसवे दिन बैठती और राजसभा के प्रस्तावों के अनुकूल कानून बना देती थी। उपर्युक्त सुधारो से प्रजातत्र शासन पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। किन्तु उसको यथेष्ट सफलता इसलिए प्राप्त न हो सकी कि लोगो मे शासन का रोब, दबदबा और महत्त्व क्षीण हो गया। नये शासकों मे वशानुगत स्वाभिमान एवं कर्त्तव्यपरायणता का भी ह्रास हो गया। ईरानियो से मिलजुल कर चलने की क्लीस्थनीज़ की नीति जिसका स्पार्टा ने प्रबल विरोध किया, आगे चलकर उसके तथा एथेन्स के लिए अहितकर सिद्ध हुई। क्लीस्थनीज ने गरीब जनता के भी अधिकार बढ़ा दिये और देश-निष्कासन का कानून ऐसा बना दिया जिससे प्रति वर्ष सन्देह मात्र पर जनता जिसे चाहे देश से दस वर्ष के लिए बहिष्कृत कर दे सकती थी। यद्यपि इस कानून का दुरुपयोग हुआ तथापि जनता की शक्ति की ऐसी धाक बँध गयी कि ग्रीस के अन्य नगरो मे सनसनी मच गयी। एथेन्स मे साधारण जनता की बढती शक्ति से घबरा कर स्पार्टा ने खुल्लमखुल्ला उसका विरोध किया।

पॉचवी शती ई० पू० मे ईरान तथा ग्रीस का भयकर सघर्ष हुआ जिसके प्रभाव से ग्रीस मे अपूर्व स्फूर्ति और उन्नति हुई। पिछले अध्याय मे यह वर्णन किया गया है कि ईरानी सम्राट् कुरुश के समय से ईरान का साम्राज्य उत्तरोत्तर बढता रहा। सेलिटस नगर को छोड़कर एशियाई तट पर स्थित यूनानियो के सब नगरो को लीडिया वालो ने अपने राज्यो मे मिला लिया। मध्यसागर के पश्चिमी तट पर स्थित यूनानी नगरों को एक-एक करके लीडिया वालो ने हड़प लिया जिससे वे बड़े बली, वैभवशाली हो गये। लीडिया वालो का राज्य नष्ट करके साइरस नाम के फारस के सम्राट् ने उनकी राजधानी सारडेस को तथा उनके राज्य को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। फलतः एशियाई तट के नगरो पर फारस का प्रभुत्व स्थापित हो गया, किन्तु यूनानी नगर पुनः स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए आन्दोलन और प्रयत्न करते रहे। ग्रीस वाले उनकी सहायता करते थे। यूनानियो की चिन्ता उनके रोष एव विरोध के साथ बढ़ती गयी। ग्रीस वालों और विशेषतः एथेन्स ने कुछ सहायता भी दी, किन्तु वह ईरानी शक्ति की वृद्धि को न रोक सकी और उसका परिणाम यह हुआ कि

ईरान का ग्रीस यूनान से वैमनस्य इतना बढ़ गया कि दारा ने उस पर चढ़ाई कर दी।

डोरिअस प्रथम (दारा) का पहला आक्रमण (४९२ ई० पू०) जल और स्थल दोनो मार्गो से हुआ, किन्तु थ्रेस की वर्बर जातियो के विरोध तथा तूफान की भयकरता से वह विफल हुआ। दो वर्ष वाद दारा ने लगभग वीस सहस्र सेना से दूसरा आक्रमण किया। एथेन्स के पास मराथान के मैदान में एथेन्स की दस सहस्त्र सेना ने ऐसा घोर युद्ध किया जिससे ईरानी सेना को पीछे लौटना पडा (४९० ई० पू०)। एथेन्स ने अपनी ही नहीं, वरन् ग्रीस की भी रक्षा की और उसके आत्म-विश्वास तथा महत्ता को अभूतपूर्व उत्तेजना प्रदान की। दारा के पुत्र जेरेक्सीस (क्षयार्ष) ने सम्राट् होने के चार-पाँच वर्ष के वाद ही ४८० ई० पू० मे वड़ी सेना लेकर ग्रीस पर भयकर आक्रमण कर दिया। उसके साथ लगभग छ: लाख सैनिक थे। थर्मोपली के दर्रे पर स्पार्टा के राजा लिआनिडस ने तीन सौ चुने सैनिकों के साथ ईरानी दल को रोकने की चेष्टा की। दर्रा वहुत सकीर्ण था इसलिए यह साहसिक प्रयत्न सभव हो सकता था, किन्तु ग्रीक जाति के द्रोहियो द्वारा दिखाये हुए दूसरे मार्ग से ईरानी सैनिकों ने स्पार्टा के सैनिको को घेर लिया और वे लडकर कट मरे। यह घटना ग्रीस के इतिहास में राजपूताने की हल्दीघाटी वाली घटना से भी वहुत अधिक महत्त्व रखती है। इसने सारे ग्रीस मे नया जीवन एव उत्साह फूँक दिया जिसका वहुत गहरा प्रभाव जनता पर पडा।

ईरानी सेना ने एथेन्स को घेर लिया। वहाँ के निवासी हताश से होकर नावों पर चढ़कर भाग निकले। एथेन्स तथा अन्य कुछ नगर नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये अथवा जला दिये गये। किन्तु जब भुलावे मे आकर ईरानी जल-सेना ने ग्रीस के जहाजी वेडे पर 'सेलेमिस' मे आक्रमण किया तव वह परास्त हो गयी (४८० ई० पू०)। उसका कारण यह था कि स्थान की सकीर्णता के कारण अपने भारी जहाजी वेडे का अच्छी तरह सचालन फारस वाले न कर सके। इसके सिवा स्थल-सेना को आवश्यक रसद पहुँचाना भी वद हो गया। फिर भी फारस की स्थल-सेना लगभग एक वर्ष तक ग्रीस मे जमी रही। खिन्न होकर क्षयार्ष सेना का नेतृत्व मर्दोनियस को देकर लौट गया। दूसरे वर्ष प्लाटी के मैदान मे मर्दोनिअस के निधन से त्रस्त होकर ईरानी सेना के पैर उखड गये। विजयश्री ग्रीस वालो के पक्ष मे चली गयी। उसी के साथ अपार धन, अस्त्र, शस्त्र, साज-समान ग्रीको के हाथ लगा। ग्रीस का आतंक और महत्त्व वहुत वढ़ गया।

ईरानी आक्रमणो से अपनी रक्षा करने के लिए ग्रीस को संयुक्त शक्ति की आवश्यकता पडी तथा उससे स्पष्टतया लाभान्वित करने के लिए किसी न-किसी प्रकार का सघ स्थापित करने की प्रेरणा भी उन्हे हुई। संघ की इसलिए भी आवश्यकता थी कि विना उसके न तो ईरानी शक्ति का अवरोध हो सकता था, न ईरानियों द्वारा जीते हुए मध्यसागर के तट के ग्रीक नगर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने की आशा कर सकते थे। एथेन्स के नेतृत्व मे एक सघ का निर्माण हुआ जिसका नाम 'डीलियन लीग' इसलिए रखा गया कि उसका केन्द्र डिलास में था। संघ की वार्षिक वैठक होना तथा उसका कोप डिलास मे रखना निश्चित हुआ। सघ की सवसे वड़ी कमजोरी यह थी कि उसमे 'पेलेपोनेसस' के राज्य जिनका नेतृत्व स्पार्टा करता था, सम्मिलित न किये जा सके। पेलेपोनेसस वालो ने अपनी लीग वना ली जो पेलेपोनेसिअन लीग कहलायी। इस प्रकार ग्रीस के राज्य एकता स्थापित न करके दो बड़े सघो मे विभक्त हो गये जिनकी नीति और ध्येय विभिन्न होने के कारण भविष्य में पारस्परिक सघर्प के वीज पनपते रहे। स्पार्टा की नीति राज्याधिकारो को विशिष्ट वर्ग मे सीमित रखने की थी। एथेन्स जनता को प्रभुत्व देना चाहता था। स्पार्टा का ध्येय, तथापूर्व सरक्षणात्मक था, किन्तु डीलियन लीग का आक्रामक। स्पार्टा की नीति स्थल पर ही प्रभुत्व सीमित रखने की थी, किन्तु डीलियन लीग समुद्र पर आधिपत्य स्थापित करना चाहती थी।

प्रारम्भ मे तो यह निश्चित किया गया था कि डीलियन सघ के वडे राज्य नौकाएँ तथा निश्चित परिमाण मे आर्थिक सहायता भेजा करेंगे, किन्तु वाद को अधिकाश राज्यो ने केवल धन से सहायता करना ही सुविवाजनक समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि एथेन्स ने लीग के धन से नौकाएँ वनवा कर अपनी नौशक्ति को प्रवल कर लिया। एथेन्स की वढती शक्ति से त्रस्त होकर तथा ईरान की ओर से चिन्ता-मुक्त होने के कारण जिन नगरो ने अपना भाग देने मे उदासीनता या हिचकिचाहट दिखायी उनका एथेन्स ने वलपूर्वक दमन किया और उनको दड दिया। फारस के विशाल साम्राज्य की प्रवल शक्ति से ग्रीस की रक्षा करने के लिए शायद यह आवश्यक था कि ग्रीस का साघिक सगठन सुरक्षित रहे। यदि कोई राज्य सघ की अवहेलना करता दिखाई पड़ता तो एथेन्स उसको दवाने का प्रयत्न करता था। धीरे-धीरे तीन-चार राज्यो के सिवा कोई भी राज्य स्वतंत्र न रह गया। यही नही, एथेन्स ने सघ के कोष को डिलास से हटा कर अपने यहाँ रख लिया। इसके सिवा राज्यो के झगड़ो को सुलझाने के लिए एथेन्स मे एक अदालत भी स्थापित कर दी। इस प्रकार

अर्जित एव सम्पत्ति बढने तथा कोप पर अधिकार तथा आर्थिक आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर एथेन्स को स्वार्थ और आत्मोत्कर्ष की लालसा ने दवा लिया।

फारस के सम्राट् पर विजय पाने से एथेन्स की राजनीति मे अभूतपूर्व स्फूर्ति पैदा हो गयी। उस समय के नेता वड़े उत्साही और योग्य थे। थेमिस्टाक्लीज (५२३-४५८ ई०पू०) ने एथेन्स के जहाजी वेडे का सगठन ही नही किया, वरन् उसका इस ढग मे सचालन किया कि फारस का जहाजी वेडा सेलेमिस मे असफल और प्रणष्ट हो गया। दूसरा उल्लेखनीय नेता मेराथौन की विजय प्राप्त करने वाले मिलीटडीज का पुत्र 'मिमान' था (५०७—४४९ ई० पू०)। वह डीलियन लीग की नौ-सेना का प्रधान सेनापति था। उसने फारस की सयुक्त जल और थल सेना को यूरीमेडान में परास्त किया (४६९ ई०पू०)। ग्रीस के इतिहास का सम्भवत. सवसे प्रसिद्ध नेता पेरीक्लीज (८०९—४२९ ई० पू०) था जो युगप्रवर्तक की उपाधि से विभूपित हुआ। उसका पिता जलसेना का नायक और प्रेरी के युद्ध का विजेता था।

डीलियन लीग तथा एथेन्स की नीति के विपय मे उपर्युक्त नेताओ का मत एक न था। थेमिस्टाक्लीज का मत था कि एथेन्स को स्पार्टा का साथ छोड देना चाहिए क्योकि उसकी नीति सकीर्ण तथा रूढ़िग्रस्त है। एथेन्स को फारस से मैत्री कर लेना चाहिए, प्रगतिशील जनतत्रात्मक विधान को आगे बढाना चाहिए और एथेन्स के वन्दरगाह को यथाशक्ति सुदृढ वनाना चाहिए। इसके विपरीत 'सिमान' का मत था कि एथेन्स का हित इसी मे है कि वह अपने ग्रीक वन्धु स्पार्टा से मैत्री कायम रखे क्योकि फारस पर भरोसा करना भयकर भूल होगी। फारस और ग्रीस की मैत्री धोखे की होगी। उधर पेरिक्लीज की राय थेमिस्टाक्लीज से मिलती थी। वह एथेन्स के राजनीतिक प्रभुत्व के साथ ही साथ सास्कृतिक नेतृत्व और जनतत्र के प्रवल विधान के आदर्श की ओर प्रयत्न करना चाहता था।

थेमिस्टाक्लीज का मत जन-सभा को अच्छा न लगा। उसने सिमान के कहने सुनने पर उसको गुलामो (हेलेट) का दमन करने के लिए स्पार्टा की सहायता करने की अनुमति दे दी और थेमिस्टाक्लीज को देश से वहिष्कृत कर दिया। सिमान स्पार्टा को सहायता देने गया, किन्तु स्पार्टा वालो ने उसको वापस लौटा दिया। उन्हे एथेन्स की सहायता की कोई आवश्यकता प्रतीत न हुई। वह अपना-सा मुँह लेकर लौट आया। एथेन्स वालो ने उसकी नीति से अपनी मानहानि समझकर उसे भी देश से निकाल दिया (४६१ ई० पू०)। यही नही, एथेन्स की जनता मे कुलीनो के प्रति अश्रद्धा और अविश्वास भी वढ़ गया जिससे जनतत्रवादियो का वोलवाला

हो गया और शासन-विधान मे तदनुकूल संशोधन कर दिये गये। सिमान के पतन के पश्चात् पेरिक्लीज को नेतृत्व प्राप्त हुआ।

पेरीक्लीज का युग (४९० से ४२९ ई० पू०)

पेरीक्लीज़ एक सुप्रसिद्ध नौसेना नायक तथा एक प्रतिष्ठित क्ली वश की कुलस्त्री का पुत्र था। उसकी माता क्लीस्थनीज की भतीजी थी। सुशिक्षित लोगो से मिलने-जुलने तथा अनेक्सागौरस नाम के प्रसिद्ध दार्शनिक के ससर्ग से उसकी अच्छी शिक्षा-दीक्षा हुई जिससे उसको यह विश्वास हो गया कि मनस्तत्त्व ही पुरुष की महानिधि है और अन्ततोगत्वा वही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। वह गभीर और आत्म-स्थित था। उसे न तो साधारण लोगो से मिलने-जुलने का शौक था और न लोकप्रिय होने की वासना। किन्तु उसके विचार क्रान्तिकारी थे। प्रगतिशील दल से उसकी सहानुभूति थी। उस दल का ध्येय स्पार्टा के प्रभाव से मुक्त रह कर ऐसी नीति को प्रतिष्ठित करना था जिससे जनसत्ता का बोलबाला रहे। प्रभावशाली तथा सफल नौ-सेनापति 'सिमान' की नीति उस नीति के विपरीत थी। प्रगतिशील दल का प्रभुत्व बढा जिसकी तरगमाला से प्रेरित होकर पेरीक्लीज को प्रभुत्वधारी नेता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसने सिमान की नीति का साग्रह विरोध किया। एथेन्स और स्पार्टा की विरोधात्मक नीति के कारण विनाशकारी युद्ध ठन गया। इस युद्ध से एथेन्स की पहले तो राज्य-वृद्धि हुई। समुद्री क्षेत्र मे उसका साम्राज्य-सा स्थापित हो गया और ईरान साम्राज्य से उसकी मान सहित सधि भी चलती रही।

पेरिक्लीज ने ४५० से ४४३ ई० पू० तक अपनी प्रजातान्त्रिक नीति को कार्यान्वित कर दिया। सिमान के दामाद थ्यूसीडाइडीज के प्रबल विरोध करने पर भी पेरिक्लीज ने प्रस्तावो को एसेम्बली से स्वीकृत करवा लिया। पेरिक्लीज की नीति थी कि एथेन्स का अखड और पूरा प्राधान्य ग्रीस मे हो जिसमे स्पार्टा या किसी अन्य राज्य का साझा न होने पाये। प्रजातत्र का पूरा विकास होने के लिए यह आवश्यक माना गया कि राज्यसेवा करने वालो को आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता दी जाय। एथेन्स की राष्ट्रनीति को विशुद्ध रखने के लिए उन्ही को नागरिक अधिकार दिया जाय जिनका पैतृक एव मातृक परिवार एथेन्स के आयोनियनो का हो। राज-काज मे लगे लोगो को सेवा के अनुसार वेतन दिया जाय। जिन लोगो के पास जमीन न हो उनको अन्य राज्यो से ली हुई भूमि पर बसाया जाय जिससे उनमे भूमिरक्षा का उत्साह बढे और उनका भरण-पोषण भी हो। उपर्युक्त सुधारो का खर्च आवश्यकता-

नुसार अन्तर्राष्ट्रीय कोप से पूरा किया जाय। उसी कोप से एथेन्स की शोभा बढाने का भी खर्च निकाला जाय। ईरान से युद्ध शान्त हो जाने के बाद कोप के धन को व्यर्थ पडा न रखकर उसका सदुपयोग होना चाहिए। तदनुसार 'पारथेनान' का विश्वप्रसिद्ध मंदिर तथा स्थापत्य कला की भव्यता की द्योतक राष्ट्रदेवी एथेना की हाथीदाँत और स्वर्ण से बनी विशाल प्रतिमा, नृत्यशाला, व्यायामशाला, स्नानागार आदि का निर्माण हुआ। उपर्युक्त नीति से एथेन्स की श्रीवृद्धि के साथ बेकार लोगों तथा कारीगरो को काम मिल गया। कुछ राज्यो ने उस धन के उपर्युक्त उपयोग का विरोध किया, किन्तु वह न चल सका। एथेन्स समृद्धिशाली होता गया परन्तु लीग के अन्य राज्यो मे उसके प्रति श्रद्धा घटने और असन्तोष बढने लगा।

पेरिक्लीज का युग सर्वसम्मति से ग्रीस का स्वर्ण युग माना जाता है। उसके युग मे एथेन्स ने कलाकौशल, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान मे ऐसी अद्भुत उन्नति एव चमत्कृति दिखायी कि उसका नाम ससार के इतिहास मे अमर तथा यूरोप के इतिहास मे सर्वोपरि हो गया, यद्यपि तत्कालीन व्यक्ति उस युग को व्यर्थ वैभव और पतनोन्मुख प्रवृत्तियो का युग समझते थे। यही नही, उस युग मे लीग या यो कहिए एथेन्स की नौशक्ति का मध्यसागर मे अबाधित प्राबान्य स्थापित हो गया था। एथेन्स, नगर-राज्य न रहकर, उस काल मे एक समुद्री साम्राज्य बन गया। ग्रीस के नगरो का नेता बन कर वह उनका शास्ता भी बन बैठा। दु ख है कि ग्रीस के इतिहास और संस्कृति की परंपराओ का उल्लघन कर वह साम्राज्यीय ऐश्वर्य के प्रलोभनो मे फँस गया। जिस ईरानी साम्राज्य की नीति का विरोध करना ग्रीस अपना कर्तव्य समझता था, वही अब उसका आदर्श बन गयी। ईरानी साम्राज्य का दमन करते-करते एथेन्स स्वयं साम्राज्य मे परिवर्तित हो गया।

पेलोपनेसियन युद्ध (४३१ से ४०४ ई० पूर्व तक)

पेलोपनेसियन संघ स्पार्टा के नेतृत्व में पुरानी नीति पर आरूढ़ था। एथेन्स की नीति और उसके उत्कर्ष को स्पार्टा बहुत समय तक सहन न कर सका। स्पार्टा की नीति ग्रीस के भीतर ही रहकर स्थल-शक्ति संगठित करने की थी, किन्तु एथेन्स की नीति ग्रीस मे ही नही, वरन् ग्रीस से बाहर निकलकर साम्राज्य स्थापित करने की थी। एथेन्स ने अपने प्रभुत्व के द्वारा समुद्री व्यापार भी अपने हाथ में ले लिया। इससे दूसरे व्यापारिक नगरो की हानि होने लगी। फलत: वैमनस्य और भी बढ़ गया। जब कोरिन्थ नगर ने एथेन्स के अनाचार तथा अनियंत्रित आधिपत्य से रक्षा

करने के लिए स्पार्टा से प्रार्थना की तब उसने प्रसन्नतापूर्वक निमंत्रण स्वीकार कर लिया। युद्ध छिड़ गया। युद्ध मे आसपास की बस्तियाँ उजाड़ डाली गयी। एथेन्स का अवरोध हुआ। यद्यपि प्राचीरो के पीछे एथेन्सवासियों ने छिपकर आत्मरक्षा तो कर ली, किन्तु नगर मे अग्नि देवता का ताडव नृत्य होता रहा। यदि एथेन्स के सौभाग्य से आक्रमणकारियो को रसद की कमी हो जाने से वापस न जाना पड़ता तो शायद एथेन्स नेस्तनाबूद हो जाता।

दूसरे वर्ष फिर एथेन्स पर आक्रमण हुआ। वहाँ प्लेग का प्रकोप भी हुआ जिससे क्रीस्थनीज की मृत्यु हो गयी (४२९ ई०पू०)। नगर के तिहाई निवासी प्लेग से मर गये। एथेन्स मे त्राहि-त्राहि मच गयी। एथेन्स का आर्थिक विनाश हो गया। अत्याचारी और उद्दण्ड लोग नेता बन बैठे। ऐसी विषम परिस्थिति होते हुए भी न्यूनाधिक तीव्रता के साथ पेलोपनेसियन युद्ध सत्ताईस वर्ष तक चलता रहा।

इस समय एथेन्स के सम्मोहक एव भड़कीले, किन्तु अदूरदर्शी नेता 'एलसीबाय-डीज' का वहाँ की जनता पर ऐसा जादू चल रहा था कि वह उसकी उगलियो और इशारो पर नाचती थी। उसकी प्रेरणा से सिसली के प्रसिद्ध डारियन उपनिवेश, सेराक्यूज पर एथेन्स के जहाजी बेडे ने आक्रमण किया (४१४ ई०पू०)। किन्तु वह निष्फल ही नही वरन् विनाशक सिद्ध हुआ। एथेन्स की नौशक्ति का आतक नष्ट हो गया और इस नौशक्ति के परास्त होने से स्पार्टा को उस पर आक्रमण करने की पुन. उत्तेजना हुई (४१३ ई० पू०)। उसका जहाजी बेड़ा भी ईरान की सहायता से स्पार्टा के जलसेना नायक लाइसेण्डर ने पकड़ लिया (४०५ ई० पू०)। एथेन्स जल और स्थल दोनो ओर से घेर लिया गया। अन्ततोगत्वा एथेन्स का पतन हो गया (४०४ ई० पू०)। उसकी प्राचीरे तोड़ दी गयी, जहाज छीन लिये गये और स्पार्टा का अनुचर बने रहने का उसे वचन देना पडा। स्पार्टा भी शिथिल हो गया। एथेन्स का उत्थान और पतन सत्तर वर्ष के भीतर ही हो गया। एथेन्स के पतन के साथ युद्ध के कारण क्षत-विक्षत, भ्रान्त तथा आदर्श-च्युत ग्रीस गिरता ही चला गया। कुछ विद्वानो का विचार है कि उच्छृखल एवं अमर्यादित जनसत्ता की क्षुद्रता, अयोग्यता और स्वार्थान्धता के कारण ही एथेन्स का विनाश हुआ।

एथेन्स की अभूतपूर्व सास्कृतिक उन्नति उसके पतन को क्यो न रोक सकी, इसके मुख्य कारण तो वहाँ की जनता की अमर्यादित एव भयंकर दलबन्दियाँ थी। कुलीनो के युग मे साधारण जनता के साथ जो अनाचार हुआ था उससे जनता मे प्रतिहिसा के भाव ने उग्र रूप धारण कर लिया। बदला लेने मे उसने कोई कोर-कसर न उठा रखी।

-वर्गो-वर्गो, कुलीनों और अकुलीनों, धनियों और गरीबों के आपसी संघर्ष तीव्रतर होते गये। बहुत-से लोग देश-निष्कासित होने पर एथेन्स के शत्रुओ के साथ मिल कर षड्यंत्र करने लगे। शासन की बागडोर हाथ में आ जाने से धन का अनापशनाप अपव्यय करना उन्होने शुरू कर दिया। बढते हुए खर्च के लिए विविध प्रकार के टैक्स लगा दिये गये। जान-बूझकर ही नही 'कभी-कभी झूठे इल्जाम लगाकर जुर्माने की रकमे जमा की गयी और येनकेन प्रकारेण लोगो पर मुकदमे चलाकर पैसे वालो का शोषण किया गया। जुर्माना और टैक्स वसूल न होने पर लोगो की बची-खुची सम्पत्ति नीलाम कर दी जाने लगी। बहुत-सा कर देने वालो की सख्या उत्तरोत्तर घटती गयी जिससे राजस्व क्षीण होता चला गया। लगान तथा टैक्स वसूल करने के लिए ठेका और इजारा बिकने और बँटने लगा। लाचार होकर देवमंदिरो मे सचित धन से कर्ज लेना शुरू हुआ, पर उसके अदा करने का कोई प्रबन्ध न बन पड़ा। युद्धो के कारण सेना बढती गयी और उसी के साथ खर्च भी बढता चला गया। अफसरो, विविध सभाओ के सदस्यो, जजो और जूरियो की सख्या और वेतन मे दिनोदिन वृद्धि होती गयी। कोष की क्षीणता के कारण सेना मे असतोष बढ़ता रहा जिससे विजय की सभावना कम होती चली गयी। सारांश यह कि एथेन्स का आर्थिक दिवाला निकल गया। कृषको की दुर्दशा के कारण उन्हे अपनी जमीन बेच डालनी पडी। खेती की जमीन छोटे-छोटे टुकडो मे बाँट दी गयी। फलत: खेती अधिकाधिक गुलामो द्वारा करायी जाने लगी। बहुत-से स्वतत्र ग्रीक देश छोड़कर विदेशो मे सिपहगिरी, कारीगरी आदि का पेशा करने चले गये। पेशेवरो के चले जाने तथा अन्य देशो मे और स्थानो मे ग्रीस के से उद्योग-धधे स्थापित हो जाने से एथेन्स आदि का व्यापार गिरता चला गया और उसकी आर्थिक दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती ही चली गयी। सबसे चिन्त्य शासको की मनोवृत्ति हो गयी। राज्य सेवा मे विशेष लाभ और अर्थसिद्धि न होते देख तथा उसकी अस्थिरता एव भयकरता से ऊबकर लोग उससे विमुख होते और निजी व्यापार तथा उद्योग-धन्धों में दत्तचित्त होते गये। लोगो मे समाजसेवा और राष्ट्रसेवा के भाव घटते और स्वार्थपरायणता के भाव बढते गये। अव्यवस्थित-चित्त, चंचल, भावुकताप्रधान किन्तु विवेकशून्य जनता, चलते पुरजो, बातें बनानेवालो तथा सब्जबाग दिखाने वालो के वाक्जाल मे फँसकर अपनी नवीन शक्ति का दुरुपयोग करती चली गयी। एथेन्स के जनतन्त्र युग मे स्वार्थ, रिश्वत कत्ल, हिंसा, प्रतिहिसा का ताण्डव नृत्य होता रहा, यहाँ तक कि मदान्ध जनता आखिर अपने साथ राष्ट्र को भी ले डूबी। इस प्रकार एथेन्स का इतिहास जनसत्ता

की आंशिक सफलता और पूर्ण विफलता का देदीप्यमान प्रमाण वन कर रह गया।

किन्तु दुर्दिन आने पर भी एथेन्स की सास्कृतिक और मानसिक प्रगति सर्वथा नष्ट न हुई। इसका प्रमाण वहाँ के प्रसिद्ध दार्शनिक साक्रिटीज (सुकरात), तथा प्लेटो (अफलातून) हैं। यूनान के राज्यो मे पारस्परिक युद्ध होने के कारण सभी राज्य निर्वल हो गये। उनको पुन: संयुक्त करनेवाला कोई न रह गया। राजा का शासन केवल स्पार्टा, मकदूनिया और एपिरस मे रह गया। अन्य राज्यो की दशा वहुत अव्यवस्थित हो गयी। कही अत्याचारियो का, कही जनता का और कहीं आभिजात्यो का आधिपत्य स्थापित हो गया। ऐसा राज्य कोई न रहा जिसमे लोग भयकर दलवन्दियो से आपस मे लड़ते-झगड़ते न हो। वैमनस्य की इतनी प्रचण्ड अग्नि भड़की कि मित्र, पुत्र, पिता, भ्राता किसी का किसी का विश्वास न रहा। ऐसे अव्यवस्थित राज्यो का अधिक काल तक कायम रहना असम्भव था। फारस के साम्राज्यो ने ग्रीस के राज्यो की आपस की लडाई की उत्तेजना देकर उन पर अपना ऐसा प्रभाव जमाना शुरू कर दिया कि ग्रीस मे शान्ति और अशान्ति स्थापित करने की कुजी उसके हाथ मे चली गयी।

मेसीडोनिआ का उत्थान

उपर्युक्त परिस्थिति ने मेसीडोनिआ (मकदूनिया) के राजा फिलिप को ग्रीस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अच्छा अवसर दिया। मकदूनिया के निवासी यद्यपि उसी वश के थे जिसके कि यूनानी, किन्तु उनमे सामाजिक अथवा सास्कृतिक उन्नति अधिक नही हुई जिसके कारण ग्रीस वाले उनको अपने से पृथक् समझते थे। वे लोग युद्ध-प्रिय और उद्दण्ड स्वभाव के घुड़सवार सिपाही थे। कृषि उनका मुख्य व्यवसाय था। वहाँ के राजाओ पर ग्रीस के से वैधानिक नियन्त्रण न थे और न जनसत्ता के प्रति लोगो का विशेष अनुराग था। यह स्मरण रखना चाहिए कि मेसीडोनिआ वाले अपने को एक राज्य और एक विरादरी का मानते थे, न कि किसी नगर विशेष के नागरिक जैसा कि ग्रीस मे था। कहा जाता है कि यूरोप के इतिहास मे सवसे पहले राष्ट्रीयता की चेतना सम्भवत: मेसीडोनिआ मे ही मिलती है। सम्भव है कि व्यवसाय और व्यापार के अभाव के कारण राजसत्ता को नियन्त्रित करने की चेतना का विकास वहाँ न हुआ हो। राजा के प्रति प्रजा की अनुरक्ति थी। यद्यपि राज-दरवार मे कवियो और कलाकारो को वुलाया और

उनका मान किया जाता था, किन्तु उसका अनुकरण करने की कोई रुचि वहाँ उत्पन्न नही हुई। कभी-कभी ग्रीस वाले उनसे छेड़-छाड़ करते थे और वहाँ के राजघराने के झगड़ो मे हस्तक्षेप भी।

मेसिडोनिया (मकदूनिया) का राज्य जब फिलिप द्वितीय को मिला (३५९ ई० पू०) तब वहाँ नये युग का आरम्भ हुआ। कुमारावस्था मे फिलिप को थेबीज राज्य मे ओल बन कर रहना पड़ा था। वहाँ उसने ग्रीस की युद्धकला, शासन-व्यवस्था और राजनीतिक परिस्थिति का तथा शिक्षा-दीक्षा का ज्ञान प्राप्त किया था। तेईस वर्ष की अवस्था मे राजसिहासन पर बैठने के उपरान्त उसने अपनी धूर्तता, क्रूरता, प्रतिभा, कार्यकुशलता और उद्यमशीलता का अच्छा प्रदर्शन किया (३६० ई० पू०)। ग्रीस मे अपना शासन स्थापित करने का उसने संकल्प कर लिया। उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सेना का सगठन किया और नवीन युद्ध-कौशल का आरम्भ किया जो स्पार्टा और थेबीज में प्रचलित युद्ध-शैली से श्रेष्ठतर था। उसके देश मे घोड़े बहुत थे जिससे घुडसवार सेना का अच्छा संगठन सभव हो सका। रथो के उपयोग की उसने आवश्यकता न समझी। सम्पूर्ण सेना शस्त्र-जीवी सैनिको की थी। पैदल सेना के दल को उसने गहनतर बनाया और अधिक लम्बे भालो का प्रयोग सिखा दिया। सवारों और पैदल सेना के सयुक्त परिचालन के विधान ने उसकी सैनिक शक्ति को अतीव दृढता प्रदान की। स्वय परम प्रधान सेनापति होने के कारण सेना के विधिपूर्वक संचालन मे उसे कोई कठिनाई पडने की आशका न थी।

ग्रीस के राज्यो से जब उसका सघर्ष आरम्भ हुआ तब वहाँ दो मत पाये गये। एक मत था उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लेने के पक्ष मे। उस विचारधारा का सबसे प्रसिद्ध पोषक कुशल राजनीतिज्ञ आइसोक्रटीज़ था। दूसरे मत का प्रतिपादक ससार का सुप्रसिद्ध व्याख्यान-वाचस्पति डेमास्थिनीज था जो ग्रीस के नगर राज्यो पर किसी का भी आधिपत्य सहन नही कर सकता था और उनको फिलिप का भयकर विरोध करने एव अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए उत्ते-जित करता रहता था। उसकी अद्भुत वाक्शक्ति के प्रभाव से प्रेरित होकर एथेन्स ने फिलिप का विरोध किया जिसमे अन्य राज्यो ने भी उसका साथ दिया। किन्तु ग्रीस वालो को फिलिप ने केरोनिया में इतनी गहरी पराजय दी कि उनको उसका आधिपत्य स्वीकार करना ही पड़ा (३३८ ई० पू०)। राजा फिलिप का आधिपत्य मानने मे एथेन्स वालो को विशेप आपत्ति इसलिए नही हुई कि लोगो मे

यह विश्वास फैल गया था कि ग्रीस की व्यवस्था विना राजसत्ता की स्थापना के सम्भव न हो सकेगी। दूसरी धारणा यह भी फैल गयी थी कि ग्रीस वाले तब तक आपस मे लड़ते-झगड़ते रहेगे जब तक उनकी सामूहिक शक्ति किसी प्रवल शत्रु-राज्य या साम्राज्य से टक्कर मे न आ जाय। केवल स्पार्टा ही एक ऐसा राज्य बचा जिस पर फिलिप का अधिकार न हुआ। यदि फिलिप का ध्यान स्पर्टा के अधीन हुए एशियाई कोचक के नगरों को स्वतन्त्र करने मे न लग जाता तो सम्भवतः स्पर्टा भी उसके हाथ आ जाता। फिलिप का ध्येय था कि वह अपने नेतृत्व मे ग्रीस की सयुक्त शक्ति का संगठन करके फारस पर आक्रमण करे। फिलिप ने अपनी रानी ओलिम्पिया को तलाक दे दिया। वह अपने पुत्र अलेक्जेण्डर को लेकर अलाहदा रहने लगी। फिलिप को अपनी पुत्री के विवाहोत्सव मे एक सरदार ने मार डाला। अलेक्जेण्डर ने अपनी माता का पक्ष लिया।

फिलिप के निधन के वाद उसका पुत्र अलेक्जेण्डर (सिकन्दर) जिसके रिसाले ने केरोनिया मे ग्रीस वालो की शक्ति तोड़ दी थी, सिंहासनारूढ हुआ। उस समय उसकी उम्र वाईस वर्ष की थी। अपने शारीरिक सौन्दर्य, आकर्पक व्यक्तित्व, उत्कट शौर्य, अप्रतिम पराक्रम के कारण वह सैनिको का आराध्य-सा हो गया था। दैव-योग से उसको कई सुयोग्य और पराक्रमी सेनानायको की सेवाएँ भी प्राप्त हो गयी।

पिता की नीति का अनुसरण करते हुए अलेक्जेण्डर ने फारस के साम्राज्य पर आक्रमण करना शुरू किया। उसका पहला वड़े मार्के का युद्ध फारस की सेना से जिसमे यूनानी भी अच्छी सख्या मे थे, हुआ। गानिकस नदी के किनारे अले-क्जेण्डर ने वडी चतुरता और शीघ्रता से उसको अस्त-व्यस्त कर दिया (३३४ ई० पू०)।

फरात (यूफ्रेटीज) नदी मँझाकर अलेक्जेण्डर फारस की सेना से युद्ध करने के लिए आगे वढा। वहुत वडी सख्या मे फारस की सेना को एकत्रित करके सम्राट् दारा तृतीय ईसस की खाड़ी के तट पर उसे रोकने के लिए जमा हुआ था। अपने घुड़सवारो के रिसाले से अलेक्जेण्डर ने इतने वेग और आवेश से आक्रमण किया कि फारसी सेना का एक पार्श्व टूट गया। वहाँ से घूमकर वह मध्यस्थित सेना पर टूट पडा। यद्यपि फारस के दाहिने पार्श्व की सेना वीरता से लड रही थी तथापि दारा घवराकर रणक्षेत्र से भाग गया, जिससे फारसी सेना के पैर उखड़ गये। लगभग ९० लाख रुपयो के सिक्के, दारा की एक रानी, दो लड़कियाँ और एक

नन्हा-सा लड़का विजेताओ के हाथ लगे। दारा ने सन्धि का प्रस्ताव भेजा और फरात नदी तक का प्रदेश देने को राजी हो गया। यद्यपि अनुभवी और कुल सेना-नायको ने सन्धि कर लेने के लाभ समझाने का प्रयत्न किया तथापि अलेक्जेण्डर ने उनकी सम्मति स्वीकृत न की। वह अपने को एकिलीज़ का उत्तराधिकारी समझता था और उसे यह विश्वास था कि ट्रोजन युद्ध के ध्येय तथा अनुष्ठान की पूर्ति करने के श्रेय का वह भागी है। विश्वविजयी होने की अक्षम्य आकाक्षा उसके मन में जाग उठी थी और जवानी का जोश उसको उत्तरोत्तर उत्तेजित कर रहा था (३३३ ई० पू०)। उसने सन्धि करने से इनकार कर दिया।

अलेक्ज़ेण्डर ने फारस की ओर न बढकर मध्य सागर के तट पर स्थित नगरो को अपने अधीन करना आवश्यक समझा। कारण यह था कि उनको ले लेने से मध्य सागर से फारस के जहाजी बेड़े की शक्ति क्षीण हो जाती और ग्रीस पर उसके आक्रमण से अलेक्ज़ेण्डर के एशिया-विजय के मन्सूबो मे विघ्न उपस्थित होने की आशंका न रहती। तदनुसार उसने लीडिया के समृद्धशाली और सुरक्षित नगर 'टायर' को बलपूर्वक जीत लिया। उसी प्रकार गाजाँ नगर भी उसने छीन लिया। उन विजयो से प्रभावित और उत्साहित होकर मिस्र वालो ने, जो फारस की साम्राज्य नीति से असन्तुष्ट और पीड़ित थे, अलेक्ज़ेण्डर को अपना सम्राट् बनाने का निश्चय कर प्राचीन सस्कार विधि से उसे 'फेरो' की उच्चतम उपाधि से विभूषित कर दिया। उसे देवत्व (सूर्य पुत्र की पदवी) प्राप्त हो गयी। ज्योस का पुत्र तो वह अपने को पहले से ही समझता था। मिस्रियों के निश्चय के परिणामस्वरूप उसे लोग ज्योस-एमोन का पुत्र कहने लगे। अलेक्ज़ेण्डर ने प्रत्येक नगर को यह आज्ञा भेजी की वह उसको देवता मान कर तद्वत् अभिनन्दन भी किया करे। कहा जाता है कि उसी ने यूरोप मे राजाओ के दैवी अधिकार का सूत्रपात किया। किन्तु मेसीडोनिया वाले उसकी नीति से असन्तुष्ट हो गये। उत्तरी अफ्रीका के तट के कुछ प्रसिद्ध नगरो पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर अलेक्जेण्डर का साम्राज्य कार्येज राज्य की सीमा से जा मिला। नील नदी और मध्य सागर के संगम के पास उसने अलेक्जण्ड्रिया नाम का एक नया नगर स्थापित किया ताकि फोनेशिया का व्यापार उधर खिचकर चला आये।

पश्चिमी एशिया और मिस्र से निश्चिन्त होकर तथा फारस के जहाजी बेड़े को अस्त-व्यस्त करके अलेक्जेण्डर फिर फारस की ओर बढा। मेसोपटेमिया की दजला नदी को मँझाकर वह 'अरबेला' की ओर चला जहाँ ससैन्य दारा उसकी

प्रतीक्षा में खड़ा था। फारस की सेना मे वीर-धीर सैनिको की कमी न थी। यही नही, फारस की सेना मे हजारो ग्रीक सैनिक भी थे; किन्तु उनका युद्ध-कौशल पुराने ढग का था। अलेक्ज़ेण्डर की सेना नये विधान से सगठित थी और उसका सचालन भी नवीन ढग से होता था। फलत: फारस की सेना की पराजय हो गयी, जिससे त्रस्त होकर दारा को भागना पडा (३३१ ई० पू०)। अरबेला का युद्ध ससार के इतिहास मे बडा महत्त्व इसलिए रखता है कि उसके अनन्तर फारस का महान् साम्राज्य नष्ट हो गया और ग्रीस वालो के लिए तथा उनकी सभ्यता, संस्कृति एवं व्यापार के लिए भी मध्य एशिया और भारतवर्ष तक का एक नया रास्ता निकल आया जिसका यूरोप और एशिया दोनो पर अतुलनीय प्रभाव पड़ा।

कहा जाता है कि विजय प्राप्त कर अलेक्जेण्डर ने फारस की राजधानी पर्सिपोलिस के राजभवनो को एक साधारण वेश्या की सनक से प्रभावित होकर नशे की झोक में नष्ट-भ्रष्ट कर भस्मसात् करवा डाला। वेश्या का नाम थेइस था। नशे की मस्ती में उसने वारुणी-प्रमत्त सिकन्दर को, फारस वालो द्वारा हुए यूनान के नगरो के विध्वंस का वदला चुकाने के लिए पर्सिपोलिस जला देने के लिए उत्तेजित किया। कुछ लोगो का विचार है कि यह कल्पना मात्र है। आग तो संयोग-वश लगी थी जो यथाशीघ्र वुझा दी गयी। कोई यह कहते हैं कि फारस साम्राज्य पुराने युग का प्रमुख प्रतीक था। उसको भस्मसात् करने से उस युग की अन्तिम आहुति देकर नवीन युग-प्रवेश की जाज्वल्यमान घोपणा की गयी अथवा फारसी साम्राज्य के नाश को रोमांचकारी अग्रिम आहुति के प्रतीक रूप वनाया गया। पर्सिपोलिस जैसे समृद्धिशाली, वैभव, शोभा, कला से युक्त तथा कौशलपूर्ण नगर को जिस वर्वरता से अलेक्ज़ेण्डर ने ध्वस्त किया उसके लिए होश आने पर उसे स्वयं लज्जित और खिन्न होना पडा। छ:-सात महीने वहाँ रहकर वह 'एकवताना' की ओर जहाँ दारा तृतीय जाकर रुक गया था, वढ़ा। यह समाचार पाकर दारा वहाँ से भी भागा। दारा की कापुरुषता तथा उद्यमहीनता से उसका आदर-सम्मान मिट्टी मे मिल गया और सीस्तान, वल्ख, तथा अफगानिस्तान के तत्कालीन राज्य-पालो ने षड्यन्त्र कर उसे कैद कर लिया और लोहे के पिंजरे मे वन्दी करके साथ ले चले। अलेक्जेण्डर के धावे का समाचार सुनकर उससे उन्होने घोड़े पर वैठकर भाग चलने का आग्रह किया। उसने जव इनकार किया तव उन्होंने उसे वर्छे से घायल कर मरने के लिए छोड़ दिया (३३० ई० पू०)। अलेक्ज़ेण्डर ने उसका

शव राजसी धूमधाम से परसिस के राजरौजे मे दफन करवा दिया। आगे चलकर उसने दारा के हत्यारे बेसस को अच्छी तरह कोड़ो से पिटवा कर कैदखाने में झोंक दिया।

फारस के साम्राज्य पर अधिकार प्राप्त करने से अलेक्जेण्डर को अपार धन और सम्पत्ति प्राप्त हुई। उसके मन मे कई वर्षों से यह आकाक्षा जाग्रत हुई थी कि उसकी गणना देवताओ मे की जाय। वह धीरे-धीरे पुष्ट होती गयी। जब मिस्र वालो ने उसको 'फेरो' की उपाधि प्रदान की तब उसको अपने स्वप्न के प्रत्यक्ष होने की आशा स्पष्ट दिखाई पडने लगी। किन्तु फारस के साम्राज्यासन पर बैठते ही वह अपने दावे को सिद्ध हुआ समझकर लोगो से देवोचित सम्मान की कामना खुल्लमखुल्ला करने लगा। फारस के लोगो ने उसका मान रखा और खुशामदियो ने उसको बढावा दिया। किन्तु उसके मकदूनिया और ग्रीस के सहयोगी सेनानायकों ने उसकी इस जिद का विरोध किया। अलेक्जेण्डर उनके विरोध से ऐसा क्रोधावेश मे आया कि उसने अपने सर्वश्रेष्ठ सेनानायक को स्वय मार डाला और उसके पिता का जिसने युद्धकाल तथा शान्ति के समय राज्य की बड़ी सेवाएँ की थी, वध करवा दिया। उसे जब क्रोध आता तब वह पागल-सा हो जाता था। क्रोध शान्त होने पर कभी-कभी वह बहुत पछताया करता, किन्तु उससे क्या फायदा हो सकता था। उनके वध से रुष्ट होकर कुछ लोगो ने अलेक्जेण्डर की हत्या कर डालने का षड्यन्त्र किया, किन्तु भेद खुल जाने से अनेक व्यक्तियो को प्राण-दण्ड दिया गया। उन लोगो मे प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का भतीजा भी था। इसी प्रकार मेलिटस के निवासियो के, जिन्होने जेरेक्लीज को अपोलो के मन्दिर की निधि दे दी थी, बाल-बच्चों और बूढ़ो तक का उसने कत्लेआम करवा डाला।

अलेक्जेण्डर मध्य एशिया मे समरकन्द और खोकन्द तक गया। काहिक नदी के तट से लौटकर बल्ख और समरकन्द में विश्राम कर और अपनी सेना को एकत्रित तथा संगठित कर वह अफगानिस्तान की ओर बढा। बल्ख में उसने वहाँ के आक्षयार्तेश नामक एक ईरानी सरदार की कुमारी कन्या रोक्षनी से विवाह कर लिया (३२७ ई० पू०)। तदनन्तर उसने फारस के अविजित प्रान्त हिन्द (सिन्ध नद के समीप) को जीत लिया। वहाँ तक्षशिला के राजा आम्भी ने उससे अपने प्रतिद्वन्दी राजा पौरुष या पुरु (पोरस) पर चढ़ाई करने की प्रार्थना की। अलेक्जेण्डर ने एक लाख बीस हजार पैदल और पन्द्रह हजार सवारो से सिन्ध नद पार करके मार्च, ३२६ ई० पू० मे पंजाब पर आक्रमण किया। यद्यपि पुरु आदि पर उसकी

विजय हुई तथापि उसको प्रतीत हो गया कि भारतीय सैनिक वीर और योद्धा हैं। उनको जीतने मे उसे अनेकानेक युद्ध और कठिनाइयो का निरन्तर सामना करना पड़ेगा। भारत बहुत बड़ा देश है और उसमे एक प्रवल साम्राज्य के अलावा अनेक राज्य भी हैं। उसके सिपाहियो को अपना देश छोड़े कई वर्ष बीत गये थे, पर अलेक्जेण्डर की महत्त्वाकाक्षा असीम सी थी। उसकी वे कहाँ तक पूर्ति करते। अतएव उन्होंने उसके उत्तेजनात्मक भापणो की उपेक्षा कर आगे बढ़ने से साफ इन्कार कर दिया। फलत: उसे लौटना पड़ा। सिन्ध नद के मार्ग से होता हुआ वह जहाज पर फारस के तट के किनारे-किनारे बेबीलोन की ओर लौटा। उसकी सेना अनेक प्रकार के कष्ट झेलती हुई स्थल मार्ग से वापस गयी। एसा नगर में अलेक्ज़ेण्डर ने दारा की पुत्री बेर्षिनि और (स्ततीरा) से अर्ताजरक्षस तृतीय की पुत्री पर्यसतीस से विवाह किया। इस प्रकार दो राज्यवशो से उसने अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। उसकी देखादेखी बहुत-से सैनिको ने भी एशिया वालों से व्याह किये। ऐसे लोगो का राज्य कर्ज भी अदा करता और उनको अच्छा दहेज भी देता था। इसमे उसे करोड़ो रुपये खर्च करने पड़े। इसके सिवा तीस हजार एशियाई युवकों को उसने ग्रीस भापा और युद्ध-कला सिखायी। अलेक्ज़ेण्डर का फारस तथा अन्य एशियाई सरदारो की ओर अधिक झुकाव और एशियाई राजसी ठाट-बाट के प्रति बढता हुआ अनुराग देखकर ग्रीस के सिपाहियो और सरदारो मे असन्तोष बढता गया और स्वामिभक्ति का भाव क्षीण-सा हो गया। देवताओ मे अपना स्थान विशिष्ट समझने के कारण उसमे लोगो से आग्रहपूर्वक अपने को पुजवाने की लालसा बढी। सम्भव है कि उसकी इस लालसा का कारण ग्रीक अनुयायियो की श्रद्धा मे उत्तरोत्तर बढ़ती कमी ही हो। उसने एक बड़े यज्ञ का अनुष्ठान किया। यद्यपि वह व्यभिचारी न था किन्तु बडा शराबी था। उस अवसर पर उसने बेहद मदिरा पी। कुछ समय से उसका स्वास्थ्य भी बिगड रहा था। उसको ज्वर आया जो रोज़-बरोज़ बढ़ता गया। तैंतीस वर्ष की अवस्था मे ११ जून (३२३ ई० पू०) को सन्निपात ज्वर से उसकी मृत्यु हो गयी।

अलेक्ज़ेण्डर के धार्मिक विचार मूलत. ग्रीस वालो के-से थे। देवताओ, देवियों, भविष्यवक्ताओ मे उसे विश्वास था। ग्रीस वालो की मान्यता के अनुकूल वह भी मनुष्य का चरम आदर्श देवत्व प्राप्त करना मानता था। विजयो तथा विशेषकर मिस्र के धर्माधिकारियो की आग्रहपूर्वक व्यवस्था से उसको विश्वास हो गया था कि उसे देवत्व प्राप्त हो गया है। उस धारणा पर जब कोई सन्देह या विरोध करता

तब वह दुःखी ही नही वरन् क्रोधान्ध होकर मरने-मारने पर उतारू हो जाता था। अपने को देवता समझने पर भी ग्रीस के देवताओं के प्रति उसके श्रद्धा विश्वास में कोई कमी न हुई। उसका ध्येय सम्भवतः देवताओ की बिरादरी मे पहुँचना, न कि उनकी अवहेलना, करना, था। अन्य देवी-देवताओं की अपेक्षा ग्रीस के हरक्यूलीज, मिस्र के आमोन तथा हेकती देवी पर उसकी विशेष श्रद्धा थी। हेकती पाताल लोक की भयंकरी देवी थी जो देखने में सुन्दरी थी पर उसकी दृष्टि विध्वंसकारिणी थी। उसको पिल्लों की बलि चढ़ायी जाती थी। देवी को प्रसन्न करने के लिए वह मद्य तथा पशु बलि चढ़ाया करता था। कठिन समस्या पडने पर वह बड़े भारी पैमाने पर यज्ञ करता था। अहम्मानी और अबाध रूप से सफल होते हुए भी वह कभी-कभी उदास होकर अपनी सफलताओं को विडम्बनामय समझने लगता था। सम्भव है कि किशोरावस्था की अपनी कटु अनुभूतियों के तथा त्याग एवं वैराग्यमयी एशियाई विचारधारा के कारण उसमे विह्वलता और असन्तोष की लहरें कभी-कभी उठा करती हो।

ससार के विजेताओ में अलेक्जेण्डर का स्थान बहुत ऊँचा तो माना ही जाता है किन्तु ससार के सास्कृतिक विकास के इतिहास मे भी उसका बड़ा महत्त्व है। जिस प्रकार उसने अपना प्रभुत्व एशिया में स्थापित किया उसी भाँति वह यूरोप और उत्तरी अफ्रीका भर मे भी अपना साम्राज्य प्रतिष्ठित करना चाहाता था, ऐसा साम्राज्य जिसका मुख्याधिपति एक सुयोग्य व्यक्ति हो और जिसके कर्मचारी, जाति, धर्म, देश, रंग के अनुसार नही वरन् अपनी योग्यता के कारण चुने जाया करे। सम्भवतः उसका विचार एक विश्वव्यापी नैतिक और सांस्कृतिक विधान रचने का था। उसके कार्यकलाप से अनुमान होता है कि उसका ध्येय यूरोप और एशिया का सास्कृतिक संयोजन था। उस विधान से वह एक ऐसे विशाल साम्राज्य का निर्माण करना चाहता था जिसमें एशिया, यूरोप और अफ्रीका का नैतिक ही नही वरन् सास्कृतिक संगम होकर एक नयी धारा का प्रवाह हो सके। उस आदर्श की प्राप्ति के लिए उसने विभिन्न समाज के लोगो मे रोटी-बेटी के सम्बन्ध का सूत्रपात कर अन्य लोगों को प्रोत्साहित किया। वेषभूषा में भी तदनुकूल परिवर्तन प्रारम्भ किया। उसने सत्तर नये नगरों का इतस्ततः निर्माण कराया जिनमें ग्रीक तथा अन्य लोग मिल-जुलकर रहते थे। उन नगरों में सबसे प्रमुख, प्रतिष्ठित, और प्रभावशाली नगर मिस्र में स्थापित अलेक्ज़ेण्ड्रिया था। बहुत सम्भव है कि उसके विचारो को ईरान के राजनीतिक सिद्धान्तों और शासनिक नीति से भी

सहायता मिली हो। साम्राज्य की रचना और उसका शासन जिस पैमाने पर फारस के सम्राटों ने किया वैसा पश्चिमी एशिया ही नहीं वरन् कहीं और भी उस युग तक नही हुआ था। मकदूनिया अथवा ग्रीस वालों को भी उन समस्याओं का, जो ऐसे विशाल साम्राज्य में जिसमे विभिन्न संस्कृतियो के लोग रहते हो उठा करती हैं, अनुभव नही था। कुशाग्र बुद्धि अलेक्ज़ेण्डर ने यह समझ लिया होगा कि अपने साम्राज्य के शासन मे उसे ग्रीस की राजनीति से यथेष्ट सहायता न मिलेगी उसी के साथ उसको यह भी अनुभव हो गया कि ग्रीम वाले ईरान के साम्राज्य-विधान और विशेपतः सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सम्राट् की कल्पना को स्वीकार न करेंगे। अतएव उसे एक ऐसा मध्य मार्ग निकालना आवश्यक हो गया जिसकी व्यावहारिक सफलता सम्भव हो सके। ग्रीस की तथा नवीन साम्राज्य की नीति को उसने एक साथ तोलना दुस्तर समझ कर यह निश्चय किया कि ग्रीस में तो वह मेसिडोनिया का राजा और कारिन्थियन लीग का प्रधान सेनाध्यक्ष रहेगा किन्तु नवीन-साम्राज्य मे वह सम्राट् की हैसियत से शासन करेगा।

हेलेनिक युग

अलेक्ज़ेण्डर की मृत्यु से लेकर रोम द्वारा मिस्र के टोलमी राज्य का अन्त किये जाने तक का समय 'हेलेनिक युग' कहा जाता है। उस युग की कुछ अपनी विशेपताएँ थी। पहली यह कि ग्रीस तथा एशिया की संस्कृतियो का अधिकाधिक मिश्रण और आदान-प्रदान हुआ। दूसरी यह कि नगर राज्यों तथा लीगो को छोड़कर ग्रीको ने ऐसे राज्यो की जिन पर राजा शासन करते थे तथा राजसत्ता का प्राधान्य था, स्थापना की। नये राज्यों की राजधानियो तथा अर्द्ध स्वतन्त्र बड़े-बड़े व्यापारिक नगरों मे विभिन्न देशो और सस्कृतियो के सम्पर्क से एक तो यह स्पष्ट हो गया कि ग्रीको का नागरिक विधान सकुचित होने के कारण सर्वत्र उपयुक्त नही हो सकता। दूसरा अनुभव यह हुआ कि ग्रीको का यह विचार कि उनके सिवा अन्य लोग बर्बर और अधम ह, बिलकुल भ्रममूलक है। उसके स्थान पर मनुष्य-मात्र की मूलगत एकता एवं समता के सिद्धान्त का अभ्युदय होने लगा। इस नवीन विचारधारा का प्रभाव इतिहास और संस्कृति पर उत्तरोत्तर बढ़ता चला आ रहा है। व्यक्ति के जीवन पर समाज के सम्पूर्ण अधिकार का सिद्धान्त शिथिल होने लगा। व्यक्ति की अपनी निजी सत्ता तथा जन्मजात अधिकार की ओर विचारकों का ध्यान अधिकाधिक खिचने लगा। उपर्युक्त विचारो का

प्रभाव तत्कालीन धर्म, साहित्य और कानून पर विशेष रूप से दिखाई पड़ता है।
अलेक्जेण्डर के पश्चात् ग्रीक दर्शन, राजनीति, साहित्य और कला का भारी प्रभाव जिस प्रकार एशिया, अफ्रीका पर पड़ा वैसा ही एशियाई सभ्यता और संस्कृति का यूरोप पर भी पडता रहा।

मेसीडोनिया में एण्टीगोनस द्वितीय ने राज्य-व्यवस्था स्थापित कर शान्ति और सस्कृति का सरक्षण किया। ग्रीस मे नगर राज्यो ने मिल कर दो लीगें—एटोलियन और एकिअन—स्थापित की जो अपने-अपने क्षेत्र की बाहरी नीति, रक्षा, व्यापार तथा सामूहिक विषयो का प्रबन्ध करती रही किन्तु दोनों लीगों ने आपस मे युद्ध करना आरम्भ कर दिया जिससे ग्रीस में फिर अव्यवस्था, अशान्ति और शक्ति का क्षय होता रहा।

ग्रीस के नगरो में आपस मे लडाई-झगड़े बढ़ते गये। नगरों का शासन अव्यवस्थित होने के कारण अराजकता की वृद्धि होती गयी। उद्दण्ड सरदार बड़े-बड़े दलबल इकट्ठा कर महान् नेता बनने के लिए आपस मे लड़ते और लूट-मार करते थे। स्वतन्त्र जनता क्षीण होती चली गयी और गुलामों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। धनी और निर्धन वर्गों की विषमता के साथ उनका सघर्ष भी बढने लगा। स्पार्टा का क्लीयोमेनीज मजदूरो और निर्धनो का प्रसिद्ध नेता बन कर सशस्त्र विद्रोह मे इतना सफल हुआ कि उससे सब आशकित हो गये। उसका दमन कठिनाई से हो सका। समाजवाद का निरूपण जीनो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ मे किया, जिससे विद्रोहियो को बौद्धिक प्रेरणा भी मिली। तत्कालीन परिस्थिति के कारण लोगो की देवी-देवताओ और धार्मिक विचारों मे श्रद्धा घट गयी। नास्तिकता की ओर लोगो का अधिक आकर्षण होने के कारण जो कुछ नैतिक मर्यादाएँ उस समय तक थी, दिनो-दिन टूटती चली गयी। राज्य-भक्ति तथा राज्य धर्म मे विश्वास शिथिल हो जाने से ग्रीस की सभ्यता की आधार-शिलाएँ टूट गयी। पुरुषो और स्त्रियो मे उच्छृंखलता और अनाचार की प्रगति तीव्र हो गयी, ऐयाशी और बदचलनी का बाजार बहुत गर्म हो गया। स्त्रियाँ जननी बनने से घबराती थी और बचती थी। लडकियाँ पैदा करना दुर्भाग्य का चिह्न समझकर बहुधा शैशवावस्था मे ही मार डाली जाती थी। यह सब होते हुए भी स्त्रियो ने तत्कालीन कलाओ और साहित्य की रचना मे स्तुत्य कार्य किया। उनमे से अरिस्टोडामा का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

अलेक्जेण्डर का सौतेला भाई, जो मकदूनिया में रहता था, स्वास्थ्य खराब

होने के कारण बेकार-सा हो गया। अलेक्जेण्डर की रानी रोवसेनिया का पुत्र गर्भ ही मे था जब उसकी मृत्यु हो गयी। ऐसी दशा मे सेनापतियो मे सघर्ष होना अनिवार्य था। उनमे सबसे योग्य एण्टीगोनस था जो सारे साम्राज्य को अपने अधिकार मे रखना चाहता था। अतएव उसका घोर विरोध हुआ। इप्सस में भयंकर युद्ध हुआ जिसमे वह मारा गया (३०१ ई० पू०)। साम्राज्य पाँच सेनापतियों मे बँट गया। एण्टीपेटर ने मकदूनिया और ग्रीस पर, राइसिमेकस ने थ्रेस पर, एण्टीगोनस ने एशियाई कोचक पर, सैल्यूकस ने वेवीलोनिया पर और टोलेमी ने मिस्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया। ग्रीस के नगरो मे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए विद्रोह होता रहा। अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाकर केल्टगाल नाम के वर्वर कवीले ग्रीस तथा एशियाई कोचक मे घुस कर लूट-मार करते रहे। अव्यवस्था और अराजकता सर्वत्र मच गयी और छोटे-वडे नगर अथवा राज्य सगठित अथवा स्वतन्त्र रूप से आपस मे लडते-भिड़ते रहे।

ग्रीस तथा मकदूनिया के वाहर तीन साम्राज्यो की स्थापना हुई। सैल्यूकस के वश वाले ईजियन सागर से भारत की सीमा तक राज्य करते रहे। उतने वडे भू-भाग पर शासन करना कठिन कार्य था, तथापि जैसे-तैसे वे शासन चलाते रहे। फरात नदी के पश्चिमी प्रान्तो को सगठित करने का उन्होने विशेष उद्योग किया। ग्रीस के नगरो के ढाँचे पर उन्होने वहुत-से नगरो की स्थापना की जिनके द्वारा अलेक्जेण्डर की नीति का कमोवेश प्रचार होता रहा। उन्हें आन्तरिक शासन की यथासम्भव स्वतन्त्रता दी गयी। सम्राट् का आधिपत्य उन पर कायम रहा। ग्रीस और एशिया की सस्कृतियो के सम्मिश्रण के कारण उन नगरो की सस्कृति की अपनी विशिष्टता है। उसका प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा मे कई शतियो तक पजाव से भूमध्यसागर तक की सस्कृतियो पर पडता रहा।

फारस के सोने और चाँदी को लेकर अलेक्जेण्डर ने सिक्को का अच्छा प्रचलन किया। सैल्यूकस वश ने उस नीति का ऐसा अनुसरण किया कि विनिमय द्वारा व्यापार एक प्रकार से उनके साम्राज्य मे वन्द हो गया। सिक्को के प्रचलन से व्यापार की दिनो-दिन उन्नति होती गयी। वैको द्वारा व्यापार और लेनदेन वढता गया। सडको के सुधार से यातायात की अधिक सुविधा हो गयी। दमिश्क, वैरूत, आन्द्रिआक, वेबीलोन, स्मरना, परगेमम आदि दर्जनो नगरो की अभूतपूर्व समृद्धि हुई।

इतने बड़े साम्राज्य का शासन तत्कालीन साधनो को देखते हुए वहुत कठिन

था। तीसरी शताब्दी ई० पू० से ही उसका कटना-छटना आरम्भ हो गया। यह गति सीमान्त प्रदेशों में आरम्भ हुई। नये-नये स्वतन्त्र राज्य समरकन्द, बल्ख (बैक्ट्रिया), फारस, आरमीनिया आदि धीरे-धीरे अलग हो गये। बर्बर केल्टों और गालों ने भी हाथ-पाँव मारना प्रारम्भ किया। दूसरी शती ई० पू० के मध्य तक सैल्यूकस वंश ने अपनी शक्ति ही नहीं वरन् बची-खुची स्वतन्त्रता भी खोदी। रोम साम्राज्य का बोलबाला हो गया।

मिस्र के टोलमी

अलेक्ज़ेण्डर के शव और उसकी प्रेयसी थाइस को उसका योग्य सेनापति टोलमी मिस्र के मेम्फिस नगर ले गया (३२३ ई० पू०)। शव को तो उसने एक भव्य स्मरण-समाधि (Mussoleum) में रख दिया और थाइस से ब्याह कर लिया जिससे दो पुत्र उत्पन्न हुए। अलेक्ज़ेण्डर के सम्पूर्ण साम्राज्य पर शासन करने की लालसा में न फँस कर उसने मिस्र को ही अपना कार्य क्षेत्र बना लिया। अठारह वर्ष तक वह शासन और शक्ति के संगठन में लगा रहा। तदनन्तर ३०५ ई०पू० में राजसिंहासन पर बैठकर उसने मिस्र में टोलमी राजवंश को प्रतिष्ठित कर दिया। इस वंश के प्रथम तीन टोलमी योग्य और शक्तिशाली थे। उसके बाहर उनका राज्य निर्बल होता चला गया। व्यापार, कृषि तथा उद्योग-धन्धों ने उसकी बड़ी तत्परता से उन्नति की। राजधानी के लिए उसने अलेक्ज़ेण्ड्रिया नगर इसलिए चुना कि वहाँ से वह भूमध्यसागर, ग्रीस तथा पश्चिमी एशिया की गतिविधि का निरीक्षण अच्छी तरह कर सकेगा और आवश्यकता पड़ने पर उसमें भाग भी ले सकेगा। इसके सिवा भूमध्य सागर तथा लाल सागर के तटों द्वारा वह पूर्व और पश्चिम के व्यापार से यथेष्ट लाभ भी उठा सकेगा। इस ध्येय के अनुसार उसने प्रबल जहाज़ी बेड़े का निर्माण कराया। जल और स्थल की सेना में ग्रीक लोगों को यथासम्भव भरती किया। अपने समुद्री आधिपत्य को पुष्ट करने और व्यापार का संरक्षण करने के लिए टोलमियों ने दक्षिणी सीरिया और घपेलेस्टाइन पर अपना अधिकार जमा लिया। टोलमी द्वितीय ने नील को लाल सागर से मिलाने के लिए पुरानी नहर की खुदायी करवायी, किन्तु कुछ समय के बाद वह फिर बन्द हो गयी। टोलमी राजे अपने को फेरो का उत्तराधिकारी मानते थे। यद्यपि उन्होंने भी नगरों को शासनिक स्वतन्त्रता दे दी थी तथापि नगरों एवं सारे राज्य पर टोलमी नरेशों का ही पूरा अधिकार था। सिद्धांततः सारी जमीन नरेश की ही मानी

जाती थी तथापि व्यवहार मे नरमी वरती जाती थी। टोलमी को निर्वाचित सभा, समितियों की कोई आवश्यकता प्रतीत न हुई। फेरो के वशो की तरह वह एक-छत्र राज्य अपने सेवको के द्वारा करता था। बीस वर्ष तक सगठन करने के उपरान्त वह वडी शान-शौकत के साथ ३०५ ई० पू० मे राजसिहासन पर बैठा। उस समय से रोम साम्राज्य की मिस्र पर विजय तक उसके वशज वहाँ राज्य करते रहे राजा के वाद अर्थमन्त्री का पद विशेष महत्त्व रखता था। वह भी वडे ठाट-वाट के साथ रहता था। जिमीदारी तथा व्यापार से उसको वडी आमदनी थी।

फेरो के विधान के अनुकूल राज्य लगभग चालीस भागो मे बँटा हुआ था। प्रत्येक भाग (नोम) मे कई जिले और प्रत्येक जिले मे कई गाँव थे। प्रत्येक नोम का एक अधिपति (नोमार्क) होता था किन्तु वास्तविक अधिकार ग्रीक सेनापति के हाथ मे रहता था, क्योकि नोम मे शान्ति रखने और दण्ड की व्यवस्था का कार्य वही करता था। इतनी शक्ति के होते हुए भी उसको वित्त विभाग मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। ग्रीको और मिस्रियो के दीवानी मामले उनके अपने-अपने विधानो तथा व्यवहारों के अनुकूल उनकी अपनी-अपनी अदालतो मे तय किये जाते थे। ग्रीको और मिस्रियो के वीच झगड़े उपस्थित होने पर ग्रीको और मिस्रियो की संयुक्त अदालत मामला तय करती थी।

प्रथम और द्वितीय टोलेमी राजाओ के काल मे अलेक्जेण्ड्रिया की विभूति और समृद्धि ने इतनी उन्नति की कि वह प्राचीन युग का सर्व प्रकार से प्रमुख नगर माना जाने लगा। व्यापार द्वारा चारो ओर से उस नगर मे धन खिचा चला आता था। वहाँ की जनता भी मिश्रित थी। ग्रीक, मिस्री, यहूदी, पारसी, अरव, हवशी आदि जातियो का वहाँ जमघट था। सम्भवत· पश्चिम तथा दक्षिण भारत के लोग भी वहाँ पहुँचे होगे। विभिन्न देशो और जातियो के लोगो के साथ उनकी सस्कृतियो का भी सगम हुआ। अमीरो की विविध आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कारीगरो, सेवको, गुलामो आदि की सख्या उत्तरोत्तर वढती रही। ऐश-आराम, आमोद प्रमोद, विनोद के लिए कलाकारो, गायक-गायिकाओ, नर्तक-नर्तकियो, रूपजीवियो की सख्या मे अच्छी वृद्धि हुई। व्यापार का ही नही, वरन् विद्या-विलास का भी वह एक विश्वविदित केन्द्र हो गया। कवियो, दार्शनिको, विद्वानो, उपन्यासकारो, नाटककारो, अध्यापकों और ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा के लिए आये विद्यार्थियो की वहाँ कमी न थी। अनुमान किया जाता है कि अलेक्जेण्ड्रिया की जनसख्या द्वितीय शती ई० पू० मे पाँच लाख से कम न होगी।

श्रीसम्पन्न नगर की विभिन्न आवश्यकताओ के लिए नगर की रचना वडे पैमाने पर श्रीसम्पन्नता के अनुकूल हुई। नगर मे सौ-सौ फुट चौड़ी वडी सड़कें, शोभा-सम्पन्न विशाल राजमहल, राजकीय भवनों, शासनालय, बैंक, देवालयों, पुस्तकालय, रगमंच, नाट्यशाला, व्यायामशाला, कला भवन, बागो, वाटिकाओ-सुरालयों, भोजनालयों आदि का सावधानता के साथ निर्माण किया गया। सड़कें एक-दूसरे को इस तरह काटती थी जिससे नगर चौकोर चौपडो में बस गया था। आश्चर्य है कि सड़को पर रोशनी का प्रबन्ध न था। अमीरो ने भी अपनी-अपनी स्थिति, आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार कई मजिल की कोठियाँ, बाग-बगीचे आदि बनवाये। बाजार मे व्यापारियो ने ठाटदार दूकाने बनवायीं जिनमे हर प्रकार की चीज़े मिल सकती थी। निज के मकानो मे सबसे सुन्दर मकान गणिकाओ और रूपजीविनियो के थे। साराश यह है कि विद्या, विनोद, व्यसन एव विलास के सभी साधन उस नगर में प्राप्त हो सकते थे। पुरुषो की तरह स्त्रियाँ भी बाहर आती-जाती, खरीद-फरोख्त करती, विद्या एवं विनोद में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेती थी। उनकी उपस्थिति से सामाजिक जीवन मे अपूर्व चारुता, लालित्य एव रमणीयता का सचार हो गया था, जिसका प्रभाव तत्कालीन गद्य एव पद्य की रचना मे झलकता है। हेलेनिक सस्कृति का प्रभाव नगरो तक ही सीमित रहा। ग्रीकों और यहूदियो को अपने विधानो और संस्कृतियों के अनुकूल रहने की स्वतन्त्रता थी। बाहर के लोग अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। आने-जाने की असुविधाएँ तथा खर्च के कारण नगरो से उनका अधिक सम्पर्क न हुआ।

टोलेमी युग मे राजकीय समाजवाद का उल्लेखनीय प्रयोग बड़े पैमाने पर हुआ। अलेक्जेण्ड्रिया, नाक्रेटिस तथा टोलेमेइस नगरो मे स्वायत्त शासन-का-सा विधान था। मिस्र के पुरोहितो और धर्मध्वजो का राजनीतिक तथा आर्थिक महत्त्व क्षीण हो चुका था उनकी सम्पत्ति का प्रबन्ध भी राजा ने अपने हाथ मे ले लिया। उनको छोड़कर राजा का जमीन पर पूरा अधिकार हो गया। अपने कर्मचारियो द्वारा वह कृषि का नियन्त्रण करवाता था। कृषक उन्ही के आदेशो के अनुसार खेती-बाड़ी करते थे। भूमि की उपज राज्य की खत्तियो मे भेज दी जाती थी। विशेष स्थिति और सैनिक वर्ग के लिए उपर्युक्त विधान को व्यवहार मे ढीला कर दिया जाता था किन्तु कानून मे इसके लिए कोई विशेष रियायत नही रखी गयी थी। धीरे-धीरे राज्य द्वारा कृषि का नियन्त्रण बन्द-सा हो गया, किन्तु उस परिवर्तन मे डेढ़-दो सौ वर्ष लगे। उसी प्रकार राज्य की खानो का भी नियन्त्रण

शासन द्वारा होता और जो कुछ उनमें से निकलता वह राजकीय कोप में चला जाता था। उद्योग-धन्धे भी राज्य द्वारा सचालित और नियन्त्रित होते थे। व्यापार पर भी राज्य का नियन्त्रण था। सरकारी दूकानों मे माल या तो सरकारी नौकर बेचते थे या ठेकेदार। मिस्र का वना माल ब्रिटेन से चीन और रूस से मध्य अफ्रीका तक पहुँचाने का प्रवन्ध किया गया ग्या था तथा व्यापारियो के सुभीते के लिये बैंक स्थापित कर दिये गये थे। फिर भी विनिमय की प्रथा वहाँ चलती रही। यद्यपि अनाज से लेन-देन चलता रहा तथा परचियो से लिखपढ़कर, न कि वस्तुत: पदार्थ ढोकर काम चलाया जाता था। केन्द्रीय बैंक अलेक्ज़ेण्ड्रिया में तथा उसकी शाखाएँ अनेक स्थानो पर थी। सारे बैंक राजा के थे जिनका संचालन उसके नौकरां द्वारा होता था। व्यापार तथा यातायात का नियन्त्रण शासन करता था। आय के मुख्य साधन लगान, अनेकानेक टैक्स, चुंगी, व्यक्तियों, पशुओ और पैदावार पर कर आदि थे जिन पर दो से पचास प्रतिशत तक कर लिया जाता था। समय-समय पर प्रजा से श्रमसेवा भी ली जाती थी।

टोलेमी यद्यपि ग्रीक वश का था तथापि उसकी नीति ऐसी थी कि मिस्र वाले उसको अपना ही प्रशासक समझते और मिस्र का सर्वथा हितैपी मानते थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मिस्र वाले ग्रीकों को सदैव विदेशी और स्वार्थपरायण समझते रहे। कालान्तर मे जब ग्रीकों की सख्या घट गयी और टोलेमी को मिस्री सैनिको का आश्रय लेना पडा तबसे मिस्रियो की भावना वदलती गयी। यद्यपि मिस्र वालो को ग्रीस के राज्यो मे प्रचलित स्वतन्त्रता प्राप्त न थी तथापि वहाँ का शासन और कानून ग्रीस के राज्यो से हर प्रकार से अच्छा और व्यवस्थित था। अदालतें सावधानी और सुव्यवस्थित ढग से न्याय करती थीं। कहा जाता है कि टोलमियो के राज्यकाल में वहाँ का शासन अन्य देशो से सुसंगठित और सुव्यवस्थित था। सम्भवत: उसका कारण यह था कि उन्होने फेरो और फारसी काल के कानूनो और ग्रीस के कानूनो का देश, काल के अनुसार सम्मिश्रण करके उपयुक्त विधान का निर्माण किया था। नागरिक विधान उन्होंने ग्रीस से तथा जातीय विधान प्राचीन मिस्र और फारस से ग्रहण किया था। टोलेमीय शासन को कुछ विद्वान् जातीय समाजवाद का अच्छा-खासा स्वरूप मानते हैं। कहा जाता है कि मिस्र के उत्पादन के साधन इतने सीमित थे कि उनसे पूरा-पूरा लाभ जातीय समाजवाद द्वारा ही सम्भव हो सकता था, न कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्यवाद द्वारा। जातीय समाजवाद के प्रचलन तथा संरक्षण के लिए राजकर्मचारियो की सख्या उत्तरोत्तर

बढ़ती गयी। वहाँ की नौकरशाही अपने युग मे शासनकला में अद्वितीय थी। राजा तथा नौकरशाही पर खर्च बहुत बढ़ गया था। इसलिए नाना प्रकार के कर, लगान आदि लगा दिये गये थे। आमदनी के बढ़ाने के लिए शासक नये-नये ढंग और साधन सोचते रहते थे। मिस्र के जातीय समाजवाद का मुख्य ध्येय अधिकाधिक उत्पादन करना था। पम्पों तथा बड़ी रहटचक्री के उपयोग से सिंचाई का अच्छा प्रबन्ध किया गया और शासन के नियन्त्रण में वैज्ञानिक ढग से खेती की जाने लगी। पैदावार के खूब बढ़ने से राज्य की आमदनी बढ़ी। राजा देवरूप होने के कारण आदरणीय ही नही वरन् पूज्य भी माना जाता था। उसकी आज्ञा का पालन और सेवा करना धार्मिक कर्तव्य था। उसके लिए बेगारी करना श्रम द्वारा उसकी सेवा करना था। जिनके विचार उतने ऊँचे न थे उनसे अन्य प्रकार के दबाव डालकर बेगार करवायी जाती थी। कृषि से खूब फायदा होने के अलावा खानो, वनस्पति तैलो, उद्योग-धन्धो और व्यापार पर एक प्रकार का पूर्ण एवं अबाध अधिकार होने से राज्य की आमदनी बहुत बढ़ गयी। उस आमदनी तथा बेगार के संयोग और उपयोग से मिस्र मे बडे पैमाने पर राजकीय योजनाएँ चलायी गयीं जिनमे बाढ़ के पानी का नियन्त्रण, सड़कें, सिंचाई के प्रबन्ध, विशाल इमारतें आदि उल्लेखनीय हैं। छोटे-मोटे रोजगार व्यापारियो के लिए छोड़ दिये गये। उस युग में पूर्वकाल से अधिक आविष्कार हुए। सब व्यापार और बैंकिग शासन द्वारा नियन्त्रित होता था। यातायात के साधनों पर भी उसका पूरा अधिकार था। उपर्युक्त प्रबन्ध से जो लाभ होता वह प्राय: ग्रीकों को प्राप्त होता था। मिस्र के निवासियों को वह सगठन कैसे रुचिकर हो सकता था। जैसा कि ऊपर लिखा गया है टोलेमी प्रबन्ध का ध्येय अधिकाधिक उत्पादन था, न कि न्याययुक्त वितरण। फलत: मिस्रियो में असन्तोष बढ़ता गया, हड़तालें होने लगीं। उधर ग्रीकों का समाज क्षीण होकर मिस्रियो में विलीन होता रहा। निकम्मे और बेईमान भ्रष्टाचारी कर्मचारियो के कारण जातीय सामाजिक विधान अस्त-व्यस्त हो गया और टोलेमी राज्य की महिमा नष्ट हो गयी।

सैल्यूकस (३०५ से २८१ ई० पू०)

अलेक्जेण्डर के सेनापतियो मे सैल्यूकस नाइकेटर (विजयी) ने एशिया मे अपना प्रभुत्व स्थापित किया। एशियाई कोचक पर पुन: अधिकार जमाने के लिए जब एण्टीगोनस ने आक्रमण किया, सैल्यूकस और टोलेमी ने मिलकर इपसस मे

उसे परास्त कर दिया (३०१ ई० पू०)। वेवीलोन नगर के समीप उसने अपनी राजधानी सैल्यूसिया स्थापित की जो आगे चलकर वगदाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस नगर की जनसख्या लगभग छ लाख थी। वहाँ से उस विशाल साम्राज्य का, जो डारडेनेल्स (दरे दानियाल) से पजाव तक फैला हुआ था, सैल्यूकस ने शासन किया। उतने वड़े साम्राज्य मे अनेक धर्मो, जातियो, संस्कृतियो के लोग वसते थे जिनके रहन-सहन मे विभिन्नता थी। उनके अलावा वहुत-से ऐसे नगर और वस्तियाँ भी स्थापित हो गयी थी जिनमे ग्रीक लोग वस गये थे। सैल्यूकस ने अपनी वहुरगी प्रजा को जहाँ तक हो सकता था, अपने-अपने ढंग के विचार-आचार, रहन-सहन, सामाजिक और नैतिक सगठन के अनुसार रहने की स्वतन्त्रता दे दी थी। कही-कही सामन्तशाही ही प्रचलित थी और कही छोटे-वड़े राज्य भी थे। सैल्यूकस ने उनके संगठन और विधि-विधानो मे भी हस्तक्षेप न किया। ग्रीक अपने नगरो मे अपने नागरिक विधानों के अनुसार रहते थे। सैल्यूकस की नीति का ही उसके वंशजो ने कमोवेश प्रतिपान किया। साम्राज्य का केन्द्रीय शासन अधिकतर ग्रीको के हाथ मे था। सम्राट् को देवत्व का स्थान प्राप्त था। वह मुख्य मन्त्री, उपमन्त्री, मित्र-मण्डली तथा समिति के द्वारा प्रशासन करता था। सैल्यूकस की साम्राज्य नीति मिस्र के टोलेमियो से मूलतः भिन्न थी। उसने जातीय समाजवाद का अनुकरण नही किया अतएव न तो वहुसख्यक राजकर्मचारियो और न व्यवहार, व्यापार, व्यवसाय, कृषि आदि मे हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता थी। ईरानी ढग से साम्राज्य पचीस क्षेत्रो में विभक्त था, प्रत्येक क्षेत्र पर एक क्षत्रप सम्राट् की ओर से शासन करता था। क्षत्रप ही वहाँ का सेनानायक था। आर्थिक और वित्त सम्वन्धी प्रवन्ध के लिए एक स्वतन्त्र अर्थसचिव नियुक्त किया जाता था। राजा की भूमि का प्रवन्ध तो उसके कर्मचारी करते थे, किन्तु नगरो, मन्दिरो तथा सामन्तो की भूमि के प्रवन्ध की जिम्मेदारी उनकी अपनी थी। राजकर्मचारियो से उसका सम्वन्ध न था।

सैल्यूकस की हत्या (२८१ ई० पू०) के वाद साम्राज्य मे पतन के लक्षण दिखाई देने लगे। वर्वर जाति के गालो ने भी उत्तर की ओर से आक्रमण आरम्भ कर दिये। गिरती दशा को एण्टिओकस तृतीय (२२३—१८७ ई० पू०) ने वहुत कुछ सँभाला। खोये हुए प्रदेशो को उसने फिर से जीत लिया। किन्तु मिस्र के टोलेमी चतुर्थ ने राफिया के युद्ध (२१७ ई० पू०) मे उसे परास्त कर फोनेशिया, सीरिया और पेलेस्टाइन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। उधर असफल होकर

एण्टिओकस ने वैक्ट्रिया और भारत पर चढाई की जिसमें उसको विशेष वाधा का सामना नही करना पड़ा। वहाँ से लौटकर उसने रोम के विरुद्ध हेनीवाल की सहायता के लिए प्रयाण किया। किन्तु एक युवती के प्रेम में वह ऐसा फँसा कि उसने:सव वातों मे लापरवाही दिखायी। फलतः युद्ध मे परास्त होकर उसे लौटना पडा। छत्तीस वर्ष राज्य करने के वाद उसकी मृत्यु हो गयी (१८७ ई० पू०)।

एण्टिओकस चतुर्थ १७५ ई० पू० राजसिंहासन पर वैठा। उसका स्वभाव विलक्षण और विरुद्ध गतिमति का निकला। शासनिक योग्यता के साथ ही साथ उसमे पागलपन के लक्षण भी पाये जाते थे। कला के सवर्द्धन के साथ उसमें भड़ैती और क्रूरता भी विद्यमान थी। मदिरा-प्रमदा-सेवी ऐसे दर्जे का था कि उसने एक प्रेयसी को तीन नगरो का अधिकार दे दिया। यद्यपि एण्टिआक नगर को उसने श्री और शोभा-सम्पन्न तथा तत्कालीन कला का केन्द्र वना दिया तथापि अपने रहन-सहन मे उसे सादगी ही पसन्द थी। राजसी टीमटाम का उसे शौक न था। साधारण जनता में अज्ञात रूप से मिलजुलकर उनके सुख-दुख, विचारो और व्यवहारो को समझने का प्रयत्न करता था। कारीगरो की दुकानो और कारखानो में जाकर वह उनके कौशल और व्यवसाय को देखा-भाला करता था। सन् १६९ ई० पू० में उसने मिस्र पर चढ़ाई की, किन्तु रोम राज्य ने उसको वापस आने का आग्रह किया। वह रोम राज्य से संघर्ष करना अहितकर समझ कर लौट आया। फारस मे मिर्गी से उसकी मृत्यु हो गयी (१६३ ई० पू०)

वैक्ट्रिया

सैल्यूकस वंश के सम्राट् एण्टिओकस द्वितीय के समय से वैक्ट्रिया के गवर्नर ने स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करना आरम्भ किया (२५० ई० पू०)। उसके दमन के लिए एण्टिओकस तृतीय ने वल्ख पर चढ़ाई की। (२०८ ई० पू०)। उस समय वैक्ट्रिया मे यूथीदिमस राज्य कर रहा था। ढाई वर्ष तक नगर का घेरा चलता रहा। अन्त में यूथीदिमस के पुत्र देमेट्रिअस ने एण्टीओकस को समझाया कि यदि वल्ख का शासन निर्वल हो गया तो उत्तर के शक आदि वर्वर ग्रीको का नाश कर साम्राज्य और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर देगे। उसके उक्त कथन मे सत्यता थी। एण्टिओक को अपने साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर सघर्ष वढने की भी आशका थी। परिणाम यह हुआ कि एक सन्धि हुई जिसके अनुसार एण्टि-ओकस ने यूथादिमस का राज्याभिषेक ही नहीं किया वलिक अपनी एक पुत्री का

विवाह भी उससे कर दिया (२०६ ई० पू०)। यूथीदिमस ने धीरे-धीरे मौर्य-वंशीय राजाओ के प्रभुत्व को हटाकर अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान और पंजाब की उत्तर पश्चिमी सीमा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसका पुत्र देमेट्रिअस उससे भी उत्साही निकला। उसने आरिआ और अराकोशिआ प्रान्तो को अपने राज्य मे मिलाकर भारत से पश्चिम के व्यापार मार्ग को अपने अधिकार मे कर लिये। उसके बाद वह भारत की ओर घूमा। टेक्सिला मे राजधानी स्थापित कर उसने मिनाण्डर नामक सेनापति को भारत पर आक्रमण करने भेजा ओर वह स्वय सिन्धु नदी की घाटी से सिन्धु और सम्भवतः सौराष्ट्र तक पहुँच गया। मिनाण्डर बढ़ते-बढते पाटलिपुत्र तक पहुँच गया (१८७ ई० पू०)। किन्तु थोडे ही समय के बाद उसको पीछे हटकर मथुरा में पैर जमाने पड़े। उसके पीछे हटने के दो कारण थे। एक तो शुग वंश के सम्राट् पुष्यमित्र का उत्थान और दूसरा पश्चिम की ओर से एण्टिओकस चतुर्थ द्वारा रोम की साम्राज्य-विस्तार की नीति से घबराकर अपने भाई यूक्रेतिदस का वैक्ट्रिया जीत लेने के लिए भेजा जाना। सम्भवतः उस सघर्ष मे दिमेत्रिअस मारा गया और यूक्रेतिदस ने फिर सैल्यूकस वंश का प्रभुत्व स्थापित करना शुरू कर दिया (१६७ से ६६ ई० पू०)। यह सफलता क्षणिक सिद्ध हुई। देमेत्रिअन के पुत्र ने यूक्रेतिदस को परास्त कर परलोक भेज दिया। मिनाण्डर की चिन्ता दूर हुई और वह बौद्धों से मिल-जुलकर अपने देहावसान (१५० ई० पू०) तक शासन करता रहा। वैक्ट्रिया को यूहची कबीले के चीनियो ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। ईसा की प्रथम शती के मध्य तक भारत मे ग्रीकों का भी पतन हो गया।

संस्कृति

होमर का युग (८०० ई० पू०)

होमर के युग मे पुरुप लम्बे-चौड़े, सुडौल और बलिष्ठ थे। वे शिर पर लम्बे बाल और दाढी रखते, तहमत की तरह कमर मे कपड़ा लपेट लेते और शरीर के ऊपरी भाग को चादर से, जो घुटने तक लटकती थी, ढँक कर कन्धे के पास पिन से अटका देते थे। घर मे वे नगे पैर घूमते थे, किन्तु बाहर जाते समय चप्पल की तरह का पदत्राण पहन लेते थे।

स्त्रियाँ भी लम्बी, सुडौल, स्वस्थ और सुन्दरी होती थी। वे भी पुरुपो जैसे ही कुछ कपडे पहनती थी, लेकिन कमरबन्द बाँधती और दुपट्टा-सा ऊपर से ओढ़ लेती

थी। स्त्री-पुरुषों के दोनों हाथ खुले होते थे। पुरुषों के पैर खुले किन्तु स्त्रियों के ढँके रहते थे। दोनों को आभूषण पहनने का शौक था। अमीरों और गरीबों का एक-सा पहनावा था, किन्तु अमीरों के कपड़े कीमती होते थे।

अमीर लोगों की सम्पत्ति प्रायः गायों, बैलों, घोड़ों, भेड़ों, बकरियों, सुअरों आदि पशुओं के रूप में होती। किन्तु साधारण लोग कृषि द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। अमीर अच्छा मांस, मक्खन, और शक्कर खाते, किन्तु साधारण व्यक्ति मछली, चरबी और शहद पर गुजारा करते थे। जमीन कबीलों या कुटुम्ब की होती थी न कि व्यक्तियों की। उसका प्रबन्ध एकैकशः कुलपति किया करते थे। पशुओं के चरने के लिए बड़े-बड़े मैदान थे जिन पर आरम्भ में सबको चराई का अधिकार था। धीरे-धीरे इन चरागाहों पर अमीरों और सबल लोगों ने अपना-अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया।

अमीर, गरीब, मर्द, औरत सभी अपनी आवश्यकताओं की अधिकांश चीजें अपने हाथ से बनाते थे। किन्तु जो उनसे न बन सकती उन्हें वे कारीगरों को बुला कर अपने घर में बनवा लेते थे। कारीगर इस युग में स्वतन्त्र व्यक्ति थे। गुलामों के द्वारा चीजें बनवाने का रिवाज बहुत बाद को चला। मालिक और मजदूर का पारस्परिक व्यवहार सहानुभूतिमूलक था। यहाँ न केवल लड़ाई में पकड़े गये बन्दियों के ही साथ अपितु गुलामों के प्रति भी उदार व्यवहार किया जाता था। तत्कालीन जीवन ग्रामीण था। उस समय सिक्के न थे। अधिकतर व्यापार विनिमय से होता था, किन्तु काँसा, लोहा, सोना आदि धातुओं के टुकड़े अथवा गाय, बैल आदि पशुओं के रूप में लेन-देन होता था। यात्रा, परिवहन अथवा व्यापार हेतु गाड़ियों तथा खच्चर आदि पशुओं से काम लिया जाता था।

होमर के युग में लोग अक्खड़, उजड्ड और झगड़ालू थे और मरने-मारने के लिए तैयार रहते थे। यदि युद्ध में वे विजय पाते तो अपने शत्रु बन्दियों में से पुरुषों को मार डालते और स्त्रियों को उनके रूप रंग के अनुसार या तो अपने घर बैठा लेते या गुलाम बना देते थे। जल अथवा स्थल-मार्ग से डाके डालना और लूटमार करना उनका व्यवसाय था। उस युग में अस्त्रजीवी होना व्यापार से अधिक महत्व और सम्मान का व्यवसाय माना जाता था। झूठ बोलना और दगाबाजी साधारण बात गिनी जाती थी। कायरता भयंकर और अक्षम्य दोष माना जाता था।

कुटुम्ब का शासक पिता माना जाता था। उसके असीमित अधिकार थे। वह चाहता तो अपनी सन्तति को बलि चढ़ा देता, चाहे जितनी स्त्रियों से व्याह कर

लेता अथवा उनको जिसे चाहे दे डालता था। साधारणत. अपनी शक्ति का वह अतिशय दुरुपयोग न करता होगा क्योकि ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमे पिता के सन्तति के प्रति स्नेह और स्त्री के प्रति आदर-सम्मान के भाव स्पष्ट दिखाई देते है। उस युग मे स्त्री का स्थान पेरिक्लीज के सास्कृतिक युग से श्रेष्ठ था। यद्यपि कन्या का वरण क्रय द्वारा होता था तथापि उसका पिता अच्छा-खासा दहेज भी कन्या के निमित्त देता था। विवाह के अनन्तर प्रेम का प्रसग उठता था, न कि उसके पूर्व। प्रायः स्त्रियाँ अपने पति की अनुरक्त रहती थी। किन्तु पुरुष प्रायः इधर-उधर भटक जाते थे। स्त्रियाँ घर के सारे काम—अनाज पीसना, सूत कातना, कपड़े बुनना, कशीदा काढना और भोजन पकाना आदि—कर्तव्य समझ कर सहर्ष करती थी। उनको पढ़ने-लिखने का न तो समय था, न उसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती थी। पुरुष की भी पढ़ने-लिखने मे कोई रुचि न थी। वह व्यायाम, अस्त्र-शस्त्र-सचालन, सवारी करने, शिकार, तैरने, मछली पकड़ने और पशुपालन को ही पर्याप्त समझता था। लिखना-पढना एक प्रकार का रोजगार था। आवश्यकता पडने पर उन्ही रोजगारियो से काम चला लिया जाता था। भाटो और गवैयो की सेवाएँ उसी प्रकार समय-समय पर ली जाती थी।

उन युग मे स्थापत्य अथवा ललित कलाओ का कोई उल्लेखनीय प्रदर्शन नही मिलता। कारीगरी धातुओ को ठोकपीट कर आवश्यक चीजे बनाने और सजाने तक ही सीमित थी। लोग कच्चे छप्परदार घरो मे रहते थे। कभी भीतर की दीवारो को रंगते और सजाते थे। घरो मे न तो रसोई घर होता था न शौचादि के लिए कोई प्रबन्ध ही। घरा मे प्रमुख दरवाजा तो रहता था, किन्तु खिड़कियो अथवा गवाक्षो का अभाव था। बैठने और लेटने के लिए लकडी की नक्काशीदार कुर्सियाँ और पलग बनते थे। कबीले के प्रमुख नेताओ और राजो के रहने के लिए गढी अथवा गट का निर्माण होता था। उस युग मे देवालयो के निर्माण का शायद आरम्भ भी न हुआ था।

राजा का मुख्य कार्य सेनापतित्व था। यद्यपि साधारणतया राजा वशानुगत होता था तथापि अयोग्य राजा को स्थानच्युत करने का अधिकार जनसभा को था। यदि सेना राजा से सन्तुष्ट और उसकी आज्ञानुवर्तिनी होती तो उसको कोई हानि नही पहुँचा सकता था। उसकी आज्ञा तथा निर्णय मे मीन-मेख निकालने की कोई गुजाइश न थी। प्रचलित परम्परा को ही अधिकतर कानून का महत्त्व दिया

जाता था। राजा की आमदनी लूट के अंश से अथवा प्रजा की भेंटों से होती थी। उस युग में सम्भवतः लगान, टैक्स आदि का अस्तित्व न था।

यूनान की बहुमुखी संस्कृति

होमर के युग की संस्कृति और सभ्यता ग्रीस की संस्कृति और सभ्यता का पहला अध्याय थी। उसके पश्चात् सामन्तो और कुलीनो के युग का आरम्भ हुआ। उस युग मे ओलम्पिया आदि देवस्थानों के खेलों का ग्रीस के सामूहिक जातीय जीवन में महत्त्व बढ़ गया। धार्मिक सभाओं का भी प्रत्येक राज्य मे संस्थापन हुआ जिससे एकता की एक नयी संयोजन शक्ति उत्पन्न हो गयी। आपस के सम्पर्क से यूनानियो में एक ऐसी भाषा प्रचलित हो गयी जिसके द्वारा विभिन्न राज्यो के निवासी विचारों का आदान-प्रदान कर सकते थे। धार्मिक, सामाजिक एव भाषा के अनुबन्धन से ग्रीस वालों में एकात्मकता का इतना अभिमान बढ़ा कि वे अपने सिवा इतर लोगों को बर्बर और असभ्य समझने लगे। यद्यपि उनमे अपनी-अपनी राष्ट्रीय विभिन्नताएँ थी तथापि वे अपने को हेलन देवी ही की सन्तति मानते थे। फिर भी ग्रीस के राज्यों मे स्वार्थ-साधन तथा उत्कर्ष की इतनी लालसा धधकती थी जिससे ऐक्य भाव में भयंकर विघ्न पडता रहा।

सामन्त-कुलीन युग में ग्रीक जनता का रहन-सहन दीन-हीनो का-सा था। उनके नगर गन्दे, मकान, मन्दिर छोटे और भद्दे थे। उनकी देव मूर्तियाँ तक भोंड़ी थी। पढ़ने-लिखने वालो की संख्या बहुत कम थी। आचार-विचार की कल्पना अपनी प्रारम्भिक दशा मे थी। किन्तु प्रगति के लक्षण कुछ-कुछ दिखाई पड़ने लगे थे। उन लक्षणो मे साहित्य की उत्पत्ति विशेषतः उल्लेखनीय है। वीरो की गाथाओ के सिवा उस युग में साधारण जनता के कष्टमय जीवन की चर्चा साहित्य में आने लगी थी, जिसका प्रभाव आगे चलकर ग्रीस के राजनीतिक जीवन और सगठन पर विशेष रूप से दिखाई पड़ा। लोगो मे मनुष्य के नैतिक कर्तव्यो और व्यवहारो का विचार आरम्भ हुआ। उस युग का सबसे प्रसिद्ध कवि हेसिअड बोई-शिया नगर का एक साधारण किसान था।

आर्थिक विकास

कुलीनो के युग के उपरान्त ग्रीस मे अनाचारियो के युग का आरम्भ हुआ। ग्रीस के लोग प्रायः खेती करते और जैतून के बाग लगाते थे। जैतून का तेल वे देश-

विदेशो मे भेजते और उसके वदले मछली, अनाज, अम्वर, धातु की तथा अन्य शौक की चीज़े जैसे कालीन आदि वाहर से मँगवाते थे। कुछ काल के उपरान्त वाहर से आने वाली चीज़ो की वे स्वयं नकल करने लगे। सौन्दर्य-प्रिय होने के कारण कुछ चीजे तो वे ऐसी सुन्दर वनाते थे कि उनकी माँग वाहर से भी आने लगी। उनके वनाये मिट्टी के वरतन जिन पर रंगीन दृश्य अथवा चित्र होते, इतने सुन्दर थे कि आज तक उनका सम्मान होता है। इस युग मे ग्रीस के लोगो में उद्योग-धन्धे वढे, व्यापार की उन्नति और विस्तार की चेतना जाग्रत हुई जिसका उनके जीवन और इतिहास पर वहुत वडा प्रभाव पड़ा। उनके उपनिवेश इटली, सिसली, एशियाई कोचक तथा मिस्र में स्थापित हो गये। उनके जहाज मध्य सागर के तटो पर व्यापार करते थे। व्यापार और समुद्रयात्रा के कारण यूनानियों का अन्य देशो से सम्पर्क वढ़ता गया। अन्य देशो की सस्कृतियों, कला-कौशलो, सभ्यताओ का ग्रीस के सास्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनमे नये जीवन का सचार हुआ जिससे उनकी सुप्त प्रतिभा और अविकसित शक्तियाँ चमत्कृत हो उठीं। कला-कौशल की वृद्धि और उन्नति के साथ व्यापारिक समृद्धि वढी। नये प्रश्न और नवीन समस्याएँ उत्तरोत्तर उत्पन्न होती गयी। उद्योग-धन्धो के वढने से गुलामो की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ी जिससे उनकी संख्या वढ़ती गयी। वढ़े हुए व्यापार की रक्षा के लिए यह आवश्यक हुआ कि ग्रीस का जहाजी वेड़ा कम-से-कम फोनीशिया की नौ-शक्ति का तो सामना कर सके। यो तो सारे ग्रीस को जल-सेना की आवश्यकता थी किन्तु समुद्र तट पर अवस्थित नगरो के लिए सवसे अधिक थी। उनका उत्तरदायित्व भी अधिक था। सम्भवतः इसी कारण एथेन्स को अग्रसर होना पड़ा। वह यहाँ तक आगे वढ़ा कि उसको ही ग्रीस का नेतृत्व प्राप्त हो गया। ग्रीस मे जहाज वनाने का अच्छा काम होने लगा।

व्यापार की वृद्धि के साथ सिक्को का वनना वढ़ता गया। लीडिया के सिक्कों का उन्होने अनुकरण शुरू किया किन्तु आगे चलकर वे उनसे भी वढिया सिक्के वनाने लगे। सिक्के सूद पर चलने लगे जिसकी दर साधारणत. अठारह प्रतिशत वार्षिक होती थी। व्यापार तथा सूद पर सिक्के चलाने के कारण ग्रीस मे वनिकों और मध्य श्रेणी के लोगो का उदय और विकास होने लगा। अलेक्ज़ेण्डर के युग मे अलेक्जेण्ड्रिया नगर व्यापार का वडा प्रसिद्ध केन्द्र हो गया। स्पेन से चीन तक का माल यूरोप, अफ्रीका और एशिया से उसके वन्दरगाहो से आता जाता था। व्यापार की वृद्धि के साथ वहाँ वैंको की स्थापना हो गयी। चार हजार टन के

जहाज वहाँ चलते थे। जहाज़ो के सुभीते के लिए वहाँ एक विशाल मीनार में आकाश-दीप आरोपित किया गया।

सामाजिक जीवन

इस युग का गार्हस्थ्य जीवन साधारणतया वैसा ही रहा जैसा कि होमर के युग मे था। इतना अवश्य हुआ कि व्यापार द्वारा अमीर होने के कारण वैश्य-वृत्तिवालो की एक महत्त्वपूर्ण श्रेणी बन गयी। फलत: समाज में कुलीनो, पूँजी-पतियो, मध्य वर्गीयो तथा गुलामो की चार श्रेणियाँ स्थापित हो गयी। यदि गुलामों की श्रेणी को पृथक् कर दिया जाय तो तीन ही श्रेणियाँ मुख्य मानी जा सकती है। जातीय जीवन में स्फूर्ति बढने के कारण सोलन के ही युग में आलस्य एक भारी दोष माना जाने लगा। व्यसनो मे फँसकर जो आलसी हो जाते थे उनका समाज में निरादर होता। उनको सभा में बोलने का अधिकार न दिया जाता।

समाज मे स्त्रियो की दो श्रेणियाँ थी। प्रथम श्रेणी उनकी थी जो विधिपूर्वक विवाहित होकर गृहिणी अथवा पुरन्ध्री का स्थान प्राप्त करता। कन्या का पिता उपयुक्त कुल, आर्थिक स्थिति तथा स्वास्थ्य का विचार कर लड़का ढूँढ़ता और उनका विवाह करा देता था। विवाह का मुख्य उद्देश्य हृष्ट-पुष्ट, योग्य सन्तान उत्पन्न करना था। विवाह से पहले कन्या के कुमारित्व की रक्षा आवश्यक समझी जाती थी। विवाह के लिए १५ वर्ष की उम्र ठीक मानी जाती थी। कन्या को आदर्श जननी और गृहिणी बनाने के लिए तदनुकूल शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी। स्पार्टा मे तो स्त्रियो को पुरुषो के बीच मे आने-जाने, मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता-सी थी जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, किन्तु एथेन्स में विवाहिता स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर के भीतर ही सीमित था। बाहर की दुनिया से उनका मानो कोई सरोकार ही न था। अत. उनके इधर-उधर जाने की कोई आवश्यकता न समझी जाती थी। हाँ, जातीय एव धार्मिक उत्सवों मे जाने पर तो उतना कठोर प्रतिबन्ध न था। साधारणत. वे मकान के जनानखाने मे रहती और मरदानखाने में न आती-जाती थी। जनानखाने का सारा प्रबन्ध उन्ही के अधिकार मे रहता था। उनका स्थान पुरन्ध्री का था। पति अथवा अन्य लोग उनके क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं करते थे, अपितु उनकी मान-मर्यादा का आदर करते थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्रीस के निवासी शारीरिक सम्बन्ध को ही प्रेम समझते थे। मानसिक समवेदना या भावुकता का उनकी कल्पना में कोई महत्त्व

न था। रोमांस के लिए बहुत कम स्थान था। इसीलिए विवाहिता स्त्री के प्रति उनका मन भावुक न था। सम्भव है कि भावुकता को वे लोग सन्तान के लिए अनिष्ट और अहितकर मानते हो। उससे सन्तति में कोमलता, विचार तथा विवेचन शक्ति की दुर्बलता तथा भावुकता की अनावश्यक अधिकता आदि दोषों के आ जाने का काल्पनिक अथवा वास्तविक भय उन्हे हो। विवाहिता स्त्री से रमण करना पति का कर्तव्य माना जाता था, जिसका प्रतिपालन गम्भीरता के साथ समय-समय पर किया जाता था। जननी या गृहिणी होने के नाते विवाहिता स्त्रियो का स्थान समाज मे अग्रगण्य था। कहा जाता है कि ग्रीस वाले गार्हस्थ्य जीवन के सुख से अनभिज्ञ थे। ग्रीस के प्रमुख दार्शनिक प्लेटो की राय मे गृहस्थ जीवन से न तो कोई लाभ होता है और न उसकी आवश्यकता है। यदि पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध केवल गर्भाधान तक ही सीमित कर दिया जाय और विवाह की प्रथा उठा दी जाय तो सर्वथा उचित और लाभदायक होगा।

उन्मुक्त प्रेम की वासना की पूर्ति के लिए अथवा रोमास की पूर्ति के लिए ग्रीक लोग उपपत्नियो, गणिकाओ, वेश्याओ आदि स्वैरिणियो से सम्बन्ध स्थापित करते थे। न तो विवाहिता स्त्रियाँ स्वय और न समाज ही उस प्रकार के सम्बन्धो मे भयकर अनौचित्य अथवा निन्दनीय दुराचार समझता था। सोलन ने वेश्यावृत्ति को वैध बनाकर वेश्यालयो का निरीक्षण और उनसे कर वसूल करना शुरू कर दिया। उसकी आय से 'एफरोडाइट' (पेण्डिमास) नाम की नग्न, किन्तु सुन्दरी देवी के मन्दिर का निर्माण कराया गया। वारागनाओ की तीन श्रेणियाँ थी। सबसे निम्न श्रेणी की वेश्या 'पोरनई' कहलाती थी जिनकी एकमात्र जीविका दाम लेकर थोड़े अथवा अधिक समय के लिए एक या अनेक व्यक्तियो को अपना शरीर अर्पित कर देना थी। मध्य श्रेणी की वेश्याएँ 'आलेट्राइडस' कहलाती थीं। वे नाच-गाने के पेशे के साथ पुरुषो का मनोविनोद और वेश्यावृत्ति भी करती थी। स्वैरिणियो की सबसे उच्च श्रेणी 'हेनेरी नाम से प्रख्यात थीं। वे प्राय. सुन्दरी, शिक्षित, कलाविद, सभाचतुर और व्यवहारकुशल होती थी। गान, नृत्य के सिवा वे काव्य दर्शन का अध्ययन ही नही, वरन् शास्त्र-चर्चा भी करती थी। वे प्रायः अपने ही घर मे रहती थी। जिनको उनसे मिलना होता वे उनके घर जाते थे। उनकी गोष्ठी मे चित्रकार, शिल्पकार, साहित्य तथा पौराणिक विषयो के प्रेमी, दार्शनिक, इतिहास-प्रेमी आदि विचार-विमर्श तथा विवाद के लिए खुल्लमखुल्ला आते-जाते थे। यद्यपि वेश्याओ को नागरिक अधिकार प्राप्त न थे और न वे अपने देवी-

देवताओं के सिवा दूसरे देव-मन्दिरो में जाने पाती थीं, तथापि उनके प्रति लोगों में दया अथवा घृणा के भाव न थे।

ग्रीस के साधारण लोगो का ही नहीं, वरन् प्रसिद्ध दार्शनिकों और शिक्षित जनों की यह धारणा थी कि मैत्री का भाव प्रेम से बढकर है। यद्यपि कभी-कभी किसी स्त्री-पुरुष में प्रेम का परिपाक मैत्री के लक्षण उत्पन्न कर देता था तथापि साधारणतया स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शारीरिक प्रेम तक ही सीमित रहता था। ग्रीकों की धारणा थी कि मैत्री वस्तुतः पुरुषों में ही हो सकती है, क्योंकि उनमें ही जीवन के जितने अग है पूर्ण रूप से विकास प्राप्त कर सकते हैं। सख्य भाव का प्राणपण से निर्वाह करना मनुष्य का श्रेष्ठतम कर्तव्य माना जाता था। उसम उसको अलौकिक सुख की अनुभूति होती थी। प्रायः लोग किसी नवयुवक को अपना संगी या चेला बना लेते थे और उसकी शिक्षा-दीक्षा में यथाशक्ति कोई कोरकसर न छोड रखते थे। वे एक दूसरे के सुख-दुख के साथी हो जाते थे। कभी-कभी मैत्री का सम्बन्ध प्रेमवासना अथवा कामुकता का अस्वाभाविक दोष ग्रहण कर लेता था। स्पार्टा और क्रीट में ऐसे सम्बन्धो में कोई अनौचित्य नही माना जाता था। एथेन्स में जिन पर यह आरोप लगाया जाता उनके नागरिक अधिकार छीन लिये जाते थे, किन्तु समाज में उस दोष को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।

शिक्षा-दीक्षा

ग्रीस मे स्कूलो के लिए इमारतें न थी। विद्यार्थी अध्यापक के घर मे एकत्रित होते थे। बालकों की पुस्तकें लेकर दास उसके साथ जाता और बेत लेकर बैठा रहता। अध्यापक प्राय. गरीब होता और समाज में अनादर की दृष्टि से देखा जाता था। बालको के पिताओ से जो कुछ मिलता उससे उसका निर्वाह होता। उसके पढाने का ढग पुरानी पद्धति के अनुसार था। लिखना-पढना और पुराने काव्यों के अंशों को कण्ठाग्र कराना बालक की शिक्षा के लिए पर्याप्त समझा जाता था। बालिकाओ की शिक्षा के लिए कोई प्रबन्ध न था। शिक्षा मे राज्य को केवल इतनी ही दिलचस्पी थी कि उसके लिए अनिष्ट करनेवाली कोई बात उसे न पढाई जाय। इसलिए राज्य की ओर से कुछ लोग जाँच करने के लिए नियुक्त कर दिये जाते थे। अठारह वर्ष की अवस्था से तीन वर्ष तक सैनिक शिक्षा युवको को दी जाती थी। प्रत्येक व्यक्ति को हृदयंगम करा दिया जाता था कि उसका परम कर्तव्य

शासन की आज्ञा पर चलना, देश, देवस्थानो का समादर और उनकी रक्षा आखिरी दम तक करना है। युवक प्राय: अपना समय मैदान के खेलो और क्रीड़ाओ में व्यतीत करते थे। कुश्ती, मुष्टियुद्ध, दौड़, अश्व और रथ-सचालन, शेल फेकना, कूदना-फाँदना उनके मुख्य खेल थे। वाकी समय वे गप्पे लडाने, हलका जुआ खेलने मे, हज्जामों की दूकानो अथवा सुरालयो मे, गाने-वजाने मे, दावते खाने और आपस में धक्का-मुक्की करने मे खर्च करते थे।

पेरिक्लीज के युग में एक नवीन परिपाटी चल पड़ी। खाने-पीने के समय लोग साहित्य, कलाओ, आचार-विचार और संगीत के विषय मे विचार-विनिमय करने लगे। उस समय तार्किको अथवा हेत्वाभासियों का एक नया समुदाय पैदा हो गया जो प्रत्येक विषय पर निर्वाध शंकाएँ और आलोचनाएँ किया करता था। वे लोग भाषण कला, गणित, ज्योतिष, प्रकृति-विज्ञान तथा साहित्य एवं अलंकार कला की भी शिक्षा देते थे। हेत्वाभासी सज्जनों के ही परिश्रम से ग्रीस मे उच्च शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ। उनकी शिक्षा से ग्रीस में गद्य शैली का विकास शीघ्रता से होने लगा। लोगो मे एक नयी चेतना, विद्याविलास की रुचि तथा तार्किक चिन्तन की पद्धति पर विचार करने की परिपाटी चल पड़ी। पुराने लोग इन नयी प्रवृत्तियो से घवराते और शंकित होते थे, किन्तु युवको का उनमे अनुराग वढ़ता ही गया। व्यक्तिगत विभिन्न विचारो के संवर्द्धन और सघर्ष से वौद्धिक उन्नति होती चली गयी, जिसके फलस्वरूप ग्रीस मे दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारो और सम्प्रदायो की विलक्षण सृष्टि हो गयी। हेत्वाभासियो की धारणा थी कि वास्तव मे किसी चीज का अस्तित्व नही, यदि हो भी तो वह जानी नही जा सकती और यदि अनुभूति हुई भी तो वह वर्णनातीत है। मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है चाहे वे अस्ति अथवा नास्ति जगत की हो। अतः काल्पनिक जगत् मे व्यर्थ भटकना छोड़कर मनुष्य के लिए व्यावहारिक गुणों की साधना करना ही समीचीन है।

ग्रीस के दार्शनिक विचारो के विकास मे सवसे पहला प्रश्न सृष्टि अथवा विश्व की उत्पत्ति के रहस्य का उठा। ईसा से छ. सौ वर्ष पूर्व मेरिटस पूगर का थेल्स नामक दार्शनिक इस परिणाम पर पहुँचा कि सृष्टि का विकास जल तत्त्व से हुआ और अन्त मे उसी मे उसका अवसान भी होगा। कुछ काल के वाद उसी नगर के एनिक्समेण्डर ने यह स्थापना की कि सृष्टि की उत्पत्ति 'अनन्तत्व' से हुई। वह गतिशील था और ऊपर-नीचे, आगे-पीछे की ओर घूमता था। उसके टुकडे धीरे-धीरे फैलकर विश्व रूप मे परिणत हो गये। उन दोनों मतो को असन्तोपजनक समझकर उसी

नगर के तीसरे विचारक एनेक्सिमिनस ने यह कहा कि विश्व का मूल तत्त्व वायु है।

विचारको का दूसरा दल इस ऊहापोह में लगा कि विश्व के विभिन्न अगो और सत्ताओं का पारस्परिक सम्वन्ध क्या है। उन विचारको में मेलिटस के निवासी पाइथागोरस का नाम प्रसिद्ध है। थेल्स की तरह वह भी मिस्र तथा वेवीलोन की विद्याओ से वहुत प्रभावित था। पाइथागोरस और उसके मतानुयायियो का विश्वास था कि इस सम्वन्ध का रहस्य 'अंक' है। अक ही की विन्दु के रूप मे एक मात्र सत्ता थी। उसी की वृद्धि से रेखा, लम्वाई, चौड़ाई, ऊँचाई, निचाई, गोलाई और अनेक प्रकार के पहलुओ का विकास पदार्थों के रूप में हुआ। उनके मत मे ९५९ तथा ७२९ रहस्यपूर्ण हैं। पाइथागोरस के विचारों का प्रभाव सावारण ग्रीको में ही नही, वरन् प्लेटो तक मे कुछ-न-कुछ पाया जाता है। सभव है कि इसी मत को अरवी-फारसी वाले 'हुरुफी' मत कहने लगे। आठ स्वरो के संयोजन या मैत्री से राग अथवा लय उत्पन्न हो जाता है, अत. वह मैत्री का प्रतीक है। उपर्युक्त अंकों के उलटफेर मे ही सृष्टि के पदार्थों का अन्योन्य सम्वन्ध स्थापित हुआ।

दोनो श्रेणी के विचारको का मत था कि संसार परिवर्तनशील हे अर्थात् परिवर्तनशीलता उसका विशिप्ट लक्षण हे। अव प्रश्न यह उठा कि परिवर्तन क्या है। एफिसस नगर के विचारक हेरेक्लिटस ने यह कहा कि अग्नि का स्वभाव अस्थिरता और परिवर्तनशीलता है, अत. अग्नि ही सृष्टि का मूल पदार्थ ह और परिवर्तन उसका मूल गुण है। अतः कोई चीज़ स्थायी नही है। हेरेक्लिटस के विचारो पर पारसी धर्म का प्रभाव पड़ा था। एलिआ के विचारको ने, जिनमे जेनोफेनीज प्रमुख था, उपर्युक्त मत को भ्रमात्मक वताकर यह कहा कि 'सृप्टि की समस्त सत्ता शाश्वत है उसमे घटना-वढ़ना नही हो सकता। हाँ, उसके उपागो मे फेरफार होता रहता है। इसलिए परिवर्तनशीलता न तो सत्ता ही मानी जा सकती है न मूल गुण। यह सरासर असम्भव है'। उस मत की पुप्टि परमेनीडीज और जीनो ने की।

एम्पिडाक्लीज सव प्रचलित मतो पर विचार करके इस निश्चय पर पहुँचा कि विश्वसत्ता तो मूलतः शाश्वत है, किन्तु सयोजक और वियोजक व्यापार उसमे होते रहते हैं। सृष्टि के मूल मे मिट्टी, वायु, जल और अग्नि चार तत्व हैं। प्रत्येक के अगणित परमाणु हैं। अनेकानेक ढंग से उनका संयोजन और वियोजन होता रहता है जिससे विभिन्न रूप वनते-विगड़ते रहते हैं। भावना के जगत् मे उनको अनुकूल और प्रतिकूल अथवा मैत्री और पार्थक्य कहा जा सकता है।

विश्व की भौतिक सत्ता के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विचारधाराओं का महत्त्वपूर्ण विकास 'आणविक' सिद्धान्त मे हुआ। उसके संस्थापकों में ल्युकिप्स और डिमाक्रिटस प्रमुख हैं। उनका सिद्धान्त यह था कि परमाणु अगणित तो अवश्य हैं पर उनके गुणो मे कोई मौलिक विभिन्नता नही, उनके आकारो और रूपो में अवश्य वहुलता है। प्रत्येक परमाणु मे स्वाभाविक गतिशक्ति निहित है जो उसको सक्रिय करती है। परमाणु स्वयं एक-से और अनश्वर है, किन्तु उनके संयोजन और वियोजन के आकारों, सख्याओं और प्रकारो मे परिवर्तन होता रहता है।

भौतिक सत्ता के विचारको के मत जिन विचारको को असतोपजनक प्रतीत हुए उनमे प्लेटो (अफलातून) का महत्त्व सवसे अधिक है। उसकी धारणा यह थी कि परिवर्तनशील पदार्थ शाश्वत सत्य नही हो सकते। वास्तविक सत्य सत्ता उस विचार-लोक की है जिसके प्रतिविम्व मात्र हमारी अनुभूतियाँ हैं। उसी शाश्वत सत्य की प्रतिच्छाया हमको पदार्थों और अनुभूतियों के रूप में मूर्तिमान जान पड़ती है। वह सत्य सत्ता अनादि और अनन्त है। परिवर्तनशील पदार्थ-जगत् से उसका कोई विशेप सम्वन्ध नही क्योकि वह अनश्वर और आदर्श वास्तविक सत्ता है। भौतिक पदार्थ पर शाश्वत सत्य के विविध रूपों का आरोप होता रहता है। भौतिक जगत् का, जो इन्द्रिय ग्राह्य है, सर्जन हुआ है। वह उस सृष्टि-कर्त्ता की रचना है जो स्वयं दोप-रहित, सम्पूर्ण और सवका प्रेरक है। प्लेटो ने यह नही वताया कि उस प्रेरक का स्वरूप क्या है। जगत् मे जो अपूर्णता और दोप दिखाई देते हैं वे इस कारण है कि पूर्ण सत्य के पूरे प्रतिविम्व को भौतिक पदार्थ ग्रहण करने की क्षमता नही रखते।

परमाणुवादियो और लोकोत्तर सत्य सत्तावादियो के विचारो की विपमता को दूर करने का प्रयत्न प्लेटो के शिप्य सुप्रसिद्ध अरस्तू ने किया। उसने वास्तविक पूर्ण सत्य की सत्ता तथा भौतिक जगत् की अपनी निजी सत्ता, दोनो का अस्तित्व माना। अद्वैत सत्य सत्ता के स्थान पर उसने द्वैत सत्ता के सिद्धान्त की प्रतिप्ठा की। उसकी यह धारणा थी कि दोनो सत्ताएँ पृथक् नही, वरन् संयुक्त हैं। संकल्प और उसकी मूर्ति में पार्थक्य करना भ्रमात्मक है। उसका पारस्परिक सम्वन्ध सदैव रहता है। अतः दृश्य जगत् असत्य नहीं, वरन् सत्य का ही एक प्रकार है। दोनो सत्यो का अस्तित्व मानना आवश्यक है। सकल्प (विचार) के अनुकल भौतिक पदार्थो की रूप-रेखाएँ वदलती रहती है। उसी को परिवर्तनशीलता कहते हैं। जब भौतिक पदार्थ संकल्प को पूरी तरह ग्रहण नही कर पाता तव उसमे कुरूपता

तथा अन्य विकारी दोप आ जाते है। भौतिक पदार्थ का एक मात्र उद्देश्य सत्य संकल्प को मूर्तिमान करना है। उसकी प्रगति उसी दिशा में चलती रही है और चलती रहेगी। उत्तरोत्तर पूर्णता को व्यक्त करना पदार्थ का ध्येय है। दोनों सत्ताओ के संयुक्त रहते हुए भी दोनो के पार्थक्य की मानसिक कल्पना की जा सकती है।

इसी कारण प्लेटो को यूरोप में श्रद्धा तथा विश्वास का प्रथम प्रतिष्ठापक कहा जाता है। उपर्युक्त विपयों के अतिरिक्त अमरत्व, श्रम, और नीतिशास्त्र की भी उसने मर्मभेदी विवेचना की हे। जनसत्ता के आदर्शतत्व का महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रतिपादन उसने सवसे पहले किया। प्लेटो संसार के प्रतिभाशाली दार्शनिकों की प्रमुख श्रेणी में प्रतिष्ठित है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू (अरिस्टाटिल ३८४ से ३२२ ई० पू०) ने भी अपनी अद्‌भुत प्रतिमा का प्रमाण दिया। प्लेटो की तरह वह कल्पना और वाद-सवाद के आकाश मे उड़ानें न भरकर यथार्थ और ज्ञातव्य तथ्य की गवेपणा में दत्तचित्त हुआ। उसका दृष्टिकोण उतना दार्शनिक न था जितना कि वैज्ञानिक। व्यावहारिक गवेपणा और अन्वीक्षण द्वारा घटनाओं को सग्रह करके उनसे परिणाम तथा सिद्धान्त निकालने का वैज्ञानिक ढंग उसको प्रिय था। जन्तु-जगत् का उसका इतिहास उस पद्धति का देदीप्यमान प्रमाण है। विद्याओं का वर्गीकरण जिस योग्यता और कुशलता से उसने किया वह सर्वथा स्तुत्य है। उसको अमरत्व या दैविक विधान मे इतनी दिलचस्पी न थी जितनी कि व्यावहारिक विपयो मे। अतएव उसने राजनीति-विज्ञान, काव्यालंकार और आचार पर ग्रन्थ रचे। बौद्धिक क्षेत्र में अरस्तू का आज तक सम्मान होता है। ग्रीस के इतिहास की ईसा से पूर्व की पाँचवीं और चौथी शतियाँ दार्शनिक विकास का स्वर्णयुग मानी जाती है। प्लेटो और अरिस्टाटल के मत मे दर्शन जीवन की कल्लोल लहरी है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण विपय जिसपर हेत्वाभासियो और विचारकों ने अपना विचार प्रकट किया, विश्व में मनुष्य की स्थिति का था। भौतिक सिद्धान्तवादियो के अनुसार मनुष्य भी उन्ही तत्त्वों से वना है जिनसे अन्य चीजों की रचना हुई। अत. उस पर भी वही नियम लागू है जो अन्य वस्तुओ पर लगते है। इसलिए मनुष्य को भौतिक जगत के नियमो के अनुसार आचरण करना चाहिए। इस मत के प्रतिकूल प्रोटागोरस ने कहा कि मनुष्य तो विश्व का केन्द्र-विन्दु है एवं विश्व की सव स्थितियों और वस्तुओं का मापदड है। उसमे वह शक्ति और स्वतंत्रता है कि वह अपने जीवन का अपने मन के अनुकूल निर्माण कर सकता है।

अपने ध्येय की पूर्ति के लिए वह प्रकृति की शक्तियों एवं सत्ताओं का अपने मन के अनुकूल नियोजन कर सकता है। एथेन्स के प्रसिद्ध दार्शनिक सात्रेटीज (सुकरात) ने उस विचारधारा को पुष्ट करते हुए यहाँ तक कह दिया कि विश्व की रचना के सम्बन्ध मे ऊहापोह करना समय व्यर्थ नष्ट करना है। जानने का मुख्य विपय तो मनुष्य है। उसके लिए क्या अच्छा एव हितकर और क्या बुरा या अहितकर है यह जानना आवश्यक है और उसी मे दार्शनिक विचार की सार्थकता है। प्लेटो ने भी उस मत का समर्थन करते हुए कहा कि मनुष्य मे ही वह योग्यता है जिससे वह विविध विषयो के गुण एवं वास्तविक सत्ता एवं सत्य को समझ-बूझ सकता है। अन्य दर्शन ही नही, वह आत्मदर्शन भी करने की क्षमता रखता है। अतः विश्व में उसका अपना विशिष्ट और अद्वितीय स्थान है। उसकी आत्मा मे अलौकिक एवं दैविक ज्ञान तत्त्व का संचार पाया जाता है। पार्थिव शरीर के बन्धनो से ऊपर उठकर मनुष्य मनस् लोक मे स्थित होकर शाश्वत सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अरिस्टाटल (अरस्तू) का भी यह मत था कि मनुष्य मे अन्य जीवों की विशेपताओ के साथ अपनी अनुपम विशिष्टता उसकी विचारशक्ति है जिसमे रचनात्मक गुण है। उसकी यह दिव्य शक्ति दैविक है। साराश यह है कि मनुष्य मे आधिभौतिक और आधिदैविक सत्ताओ का विलक्षण सम्मिलन हुआ है। यदि वह प्रयत्न करे तो देवत्व प्राप्त कर सकता है, देवता वन सकता है, किन्तु यह स्पष्ट नही होता कि वह ईश्वर तत्त्व मे मिल सकता है या नही।

ग्रीक लोग देवताओं को मानते और उनका सम्मान करते थे। परम्परागत विश्वास के कारण देवताओं मे उनकी आस्था थी। फिर भी विचारकों और दार्शनिकों ने उनपर भी कुछ विचार किया। ज़िनोफेनीज (छठी शती ई० पू०) ने तत्कालीन देवता सम्वन्धी विचारो का उपहास करते हुए कहा था कि देवाधिदेव केवल एक ही है जो अचल और शाश्वत है। वह सत्ता मनुष्य रूप तो हो नहीं सकती। वह देवाधिदेव ही अचल और अद्वितीय, अनश्वर, अविच्छिन्न तथा सृष्टि का विधाता परम तत्त्व है। सृष्टि के यावत् व्यापारो मे शक्ति रूप से वह अन्तर्हित रहता है। सम्भवतः वह वर्णनातीत है। ऐसा प्रतीत होता है कि जेनोफनीज का मत अद्वैत और द्वैत की सन्धि-रेखा तक पहुँच गया था।

एकेश्वरवाद और अनेक-देवतावाद पर विचार-विमर्श होता रहा। सात्रेटीज (सुकरात) ने उस पर सागोपांग विवाद उठाया जिसका परिणाम यह हुआ कि उस पर जातीय देवताओ का विरोधी होने का अक्षम्य दोप लगाकर उसे प्राणदड

की सजा दी गयी। अपने विचारों को त्यागने के पहले उसने विष पीकर प्राण दे दिये। नगर छोड़कर चले जाने का प्रस्ताव उसने कायरता तथा देशभक्ति के विरुद्ध समझकर पहले ही अस्वीकृत कर दिया था। उसके शिष्य प्लेटो (अफलातून) ने विवाद जारी रखा, किन्तु अपने मत का इस ढग से निरूपण किया कि उसपर देव-द्रोही होने का दोष न लगाया जा सके। उसकी आलोचना से यह प्रतीत होता है कि वह केवल एक ही सत्ता को ईश्वर मानता था। वही सत्ता सृष्टि की रचना और उसका नियत्रण करती है। जीवात्मा उसी का अश है जो शरीर के बंधनों से मुक्त हो परमात्मा मे मिलने के लिए व्याकुल और प्रयत्नशील रहता है। उसके मत को गूढ़ रहस्यवाद कहा जा सकता है।

अरिस्टाटल (अरस्तू) की यह धारणा थी कि संसार के व्यापार का रहस्य ईश्वरीय ज्ञान को पदार्थ (मैटर) पर आरोपित कर उसे मूर्त करना है। ईश्वर नियंत्रक, पदार्थ उपादान और प्रतिमान निमित्त कारण कहे जा सकते हैं। प्रकृति अथवा पदार्थ मे निहित ईश्वरीय ज्ञान अनेकानेक रूपों में प्रस्फुटित और मूर्तिमान् होता है। यही सृष्टि का ईश्वराभिमुख संस्करण है। इसका कोई अन्त नही क्योकि ईश्वर और उसका ज्ञान अनन्त है। स्वयं अचल एवं सनातन होते हुए भी विशुद्ध ईश्वरीय सत्ता सब पदार्थों को अनुप्राणित और ससरणशील करती रहती है। सारी सृष्टि उसी की ओर वढने का प्रयत्न करती रहती है।

ग्रीस वालो ने जड प्रकृति और चैतन्य के सम्बन्ध मे भी विवेचन किया। जड प्रकृति और चैतन्य के भेद की ओर स्पष्ट रूप से हिरेक्लीटस ने सभवतः सबसे पहले ध्यान आकर्षित किया था। उसके बाद परमेनाइडीज ने यह सुझाया कि चैतन्य मनस्तत्व जड़ प्रकृति से भिन्न है और वही उसे अनुप्राणित करके अनेक प्रकार की रचना रचाता है। उसी के प्रेरणा से जगत् का सारा व्यापार चलता है। पाँचवीं शती ई० पू० मे अनेक्सागोरस ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि मनस्तत्व ने ही जड़ प्रकृति को सत्ता प्रदान की है और इस संसार का प्रसार किया है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य का पूर्ण ज्ञाता है। धीरे-धीरे विश्व के मनस्तत्व के सिद्धान्त को विचारको ने मनुष्य के चैतन्य मनस्तत्व पर लागू किया। प्लेटो ने मनुष्य के चैतन्य मनस्तत्व को ही जीव की संज्ञा दे दी। उसके मत से वह तत्त्व जब शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है तब उसका ज्ञान रुद्ध सा हो जाता है और उसे एक प्रकार की विस्मृति हो जाती है। फिर चिन्तन, मनन और विचार से

उसकी पूर्व स्मृति जाग्रत होती है, पूर्व जन्म मे प्राप्त ज्ञान का विकास होने लगता है। मनस्तत्त्व ही अपने सचित ज्ञान से पदार्थों मे अपना ससार वनाता रहता है। वस्तुत. मन ही सच्ची सत्ता है। ससार उसी की कल्पना और विचार की प्रति-मूर्ति है। प्लेटो ने स्पष्ट रूप से यह नही वताया कि शुद्ध चैतन्यमनस् का प्रकृति तत्त्व से कैसे गठबन्धन हुआ। इस प्रसंग को वह केवल यह कहकर छोड़ देता है कि चैतन्यमनस् मे इन्द्रियो के जगत् मे विचरण की इच्छा ही उसको प्रकृति के ससर्ग मे ले आयी और वह उसमे वॅध गया। अरिस्टाटल (अरस्तू) वह समस्या तो हल न कर सका, किन्तु उसने यह सुझाव दिया कि चैतन्यमनस् और प्रकृति मे सभवतः कोई न कोई घनिष्ठ सम्वन्ध रहा होगा। उसकी समझ मे चेतन और अचेतन सत्ताओ को मूलत. दो पृथक् सत्ताएँ मानना भ्रमात्मक है। वे दोनो एक दूसरे मे गुँथी हुई और अभिन्न है। प्रकृति मे अन्तर्यामी हैसियत से वे उसको अनुप्राणित और नियोजित करती है।

जीवात्मा

ग्रीसवालो मे वहुत पहले से यह विचार फैला हुआ था कि शरीर मृत हो जाने पर जीवात्मा का नाश नही होता। वह प्रकाशहीन लोक मे अनन्त काल तक पड़ी मानव-लोक पर विसूरती रहती है। ग्रीक विचारको की राय मे जीव की रचना अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओ से हुई है। किसीने उसमे वायुतत्त्व की और किसी ने अग्नितत्त्व की प्रधानता वतलायी। दार्शनिक पाइथागोरस के अनुसार जीव की उसके कर्मो के अनुसार गति होती है। अच्छे कर्म करने से मरणोपरान्त उसे सुख और वुरे कर्मो से दुख मिलता है। शुभ और अशुभ कर्मो की उन्होने सूचियाँ वना दी जिसके अनुसार चलने से मरणोपरान्त अच्छी या वुरी गति प्राप्त होती है। एम्पिडाक्लीज के मत से जीव अपने कर्मो के अनुसार एक शरीर छोडकर दूसरे मे चला जाता है। आरम्भिक सम्प्रदाय के लोगो का तो पुनर्जन्म मे पूर्ण विश्वास था। हेरेक्लिटस की राय मे जीवो मे विभिन्नताएँ होती है जो सूखी और उष्ण होती हैं। वे उच्च वर्ग की है और विश्वात्मा के गुणो से कुछ मिलती-जुलती हैं। परमाणुवादियो की राय मे जीव अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओ से वनता है। दो साधा-रण परमाणुओ के बीच मे एक जीव का सूक्ष्मतर परमाणु प्रतिष्ठित रहता है। जीव के सूक्ष्मतर परमाणु शरीर भर मे फैले रहते है, श्वास-निश्वास के साथ आते-जाते रहते हैं। मरने पर वे विखर जाते है, किन्तु उनका अभाव नही होता।

वे किसी अन्य शरीर में मिल जाया करते हैं। इसी जीव तत्त्व मे चिन्तन और विवेक के गुण होते हैं।

प्लेटो ने विश्वात्मा और जीवात्मा मे यह भेद बताया कि विश्वात्मा अथवा परमात्मा से ही गति, संसृति, प्राण, मन, ज्ञान, सौन्दर्य-व्यवस्थित और समरसता अथवा संगति की सृष्टि होती है। विचार-जगत् और सासारिक स्थिति के बीच की वह कड़ी है। ईश्वर ने ही प्रत्येक लोक तथा व्यक्ति को आत्मा प्रदान की है। ये आत्माएँ अविनाशी और शुद्ध ज्ञान से सम्पन्न होती हैं। किन्तु शरीर होने की इच्छा से शरीर के बन्धनो मे पड़कर वे वद्ध और मूढ स्मृति हो जाती हैं। अतः जीव का परम ध्येय शरीर के बन्धनो से मुक्त हो जाता है। जीवात्मा विश्वात्मा का ही एक अंश है अतः शाश्वत है। न तो वह छिन्न-भिन्न या क्षत-विक्षत हो सकता है न नष्ट ही हो सकता हे। वह चैतन्य सत्ता है और अपने सच्चे अपनत्व को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। मुक्त होने पर वह अपनी शुद्ध गति को प्राप्त कर लेता है। अरिस्टाटल की धारणा थी कि जहाँ कहीं जीवन दिखाई पड़ता है वहाँ जीव की सत्ता होती है। मन्थर गति से वह वनस्पति तथा जलचर, थलचर और नभचर प्राणियो मे भी विकसित पायी जाती है। मनुष्य मे उसका सबसे अधिक विकास तथा प्रकाश होता है। उसी मे विचार और विवेक और ज्ञान का रचनात्मक गुण प्रकाश पाता है। शरीर उसकी आत्मस्थिति को कोई क्षति नहीं पहुँचाता, अतः शारीरिक चेतना के शून्य हो जाने पर भी उसकी कोई हानि नही होती। वह अजर और अमर है।

सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के साधनो पर भी ग्रीस के विचारको और दार्शनिकों ने काफी ध्यान दिया। ऐन्द्रिक ज्ञान तो साधारण श्रेणी का ज्ञान है क्योंकि वह सीमित, अपर्याप्त और कभी-कभी भ्रमात्मक होता है। तर्क और बुद्धि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अधिक विश्वसनीय और परिष्कृत होता है क्योंकि बुद्धि में और ईश्वरीय ज्ञान मे कुछ तादात्मक सम्बन्ध है। बुद्धि पार्थिव सीमाओ का भी उल्लंघन कर ऊपर उठने की क्षमता रखती है। सात्रेटीज की धारणा थी कि बुद्धि और तर्क के द्वारा आशिक सत्य अथवा भ्रामक विचारो का खडन और शुद्ध व्यापक सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। प्लेटो का विश्वास था कि जीव मे स्वयं सत्य का ज्ञान होता है जो शरीर मे वँधने से धूमिल अथवा विस्मृत हो जाता है। उसके आवरणो को बेधकर जीव अपने सुपुप्त ज्ञान की स्मृति जगा ही नही देता, वरन् उसे प्राप्त कर सकता है। अरिस्टाटल की यह मान्यता है कि मनुष्य की

सासारिक अनुभूतियाँ सत्य हैं, किन्तु उनका रहस्य और पूरा ज्ञान व्यवस्थित तर्क और विचार से ही प्राप्त हो सकता है। तार्किक अनुसंधान के लिए उसने न्याय-शास्त्र को अपनी सूझ के अनुसार व्यवस्थित किया।

अलेक्जैंडर की विजयो से ग्रीस का अफ्रीका और एशिया से संबंध अधिक घनिष्ठ हो गया। उसके गुरु अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् ग्रीस के दार्शनिको का दृष्टिकोण बदलने लगा। धन और सम्पत्ति के बढ़ने से काल्पनिक अथवा सैद्धान्तिक व्याख्याओ में लोगो की रुचि घट गयी। वे मानसिक विचारो अथवा भव्य विचारो से सुख-प्राप्ति के भाव से सतुष्ट न होकर सुख-प्राप्ति के लिए सुखद पदार्थो और विविध भौतिक वस्तुओ के सग्रह और भोगोपभोग को मुख्य साधन समझने लगे। आदर्श-वाद के शून्य लोक से हटकर यथार्थवाद के सरल, सुग्राह्य विषयो और प्रत्यक्षानुभति की ओर आकर्पित होने लगे। इस नवीन युग के विचारको मे एपिक्यूरस (३४२ से २७० ई० पू०), जीनो (३५० से २६०) और एण्टिस्थेनीज थे। पहले का मत एपिक्युरिअन सिद्धान्त कहलाता है। उसके अनुसार ईश्वर तथा जीव भी सूक्ष्म परमाणुओ से निर्मित है। देवताओ की दुनिया दूसरी है, उसका मनुष्यों के जीवन पर कोई प्रभाव नही पडता। धर्म की अवहेलना करना अच्छा है क्योंकि उससे जीवन के नैसर्गिक प्रवाह मे अनावश्यक बाधा पड़ती है। राज्य मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य राज्य के लिए। मनुष्य के लिए दुख और पीडा से बचना और परिमित आहार-विहार का सुख उठाना स्वाभाविक तथा श्रेयस्कर है। अतिशयता से कष्ट और दुख ही होता है। जीवन मे मैत्री की भावना तथा सबसे मैत्री का व्यवहार सबसे श्रेष्ठ और सेवनीय है। जीनो भी, जो सेमेटिक जाति का साइप्रस निवासी था (३५० से २६० ई० पू०), भौतिकवादी था तथापि वह मानता था कि मनुष्य को शुद्ध भाव से कष्ट झेलने का अभ्यासी होना चाहिए। सहनशीलता मनुष्य का कवच है। उसकी सम्मति मे भी धीमान के लिए राज-शासन के बन्धनों का प्रतिपालन आवश्यक है। शासन का केवल मात्र उद्देश्य सामाजिक सुविधा की स्थापना है। मनुष्य को आत्मवान् होकर बुद्धि-विवेक के साथ प्राकृतिक जीवन का उपभोग करना चाहिए। जो ऐसा नही करता वह मूर्ख दुख उठाता है। मनुष्य का मुख्य ध्येय शान्तिपूर्वक जीवन का व्यतीत करना है। सब मनुष्यों में भ्रातृ भाव होना श्रेयस्कर हैं क्योकि बन्धुत्व तथा मैत्री श्रेष्ठतम गुण है। समझदार लोगो को या तो बुराई से दूर रहना चाहिए अथवा उसको अपने लिए हितकर बना लेना चाहिए। एथेन्स के बाजार के पुराने रगीन द्वार-प्रकोष्ठ मे जिसे 'स्टोआ' कहते

थे वह उपदेश करता दिया हुआ था। इसीलिए उसके मत को 'स्टोइज्म' कहते हैं। यह मत ग्रीसवालो को अधिक ग्राह्य प्रतीत हुआ।

एण्टेस्थिनीज का मत 'सिनिसिज्म' कहलाता है। वह शासकों की उपेक्षा और उनका उपहास तथा सामाजिक मर्यादाओ की अवहेलना करता था। धनिकों तथा आर्थिक विपमता के प्रति उसे घृणा थी। उसके मत के अनुमार जीवन गुणात्मक है, किन्तु उसका सदुपयोग ज्ञान, विशेपत. आत्मज्ञान, द्वारा ही हो सकता है। जो कुछ है अथवा होता है वह ठीक है इसलिए किसी भी स्थिति से विमुख होना न चाहिए, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

ग्रीस तथा हेलेनिक जगत् के दार्शनिको का ध्येय था मनुष्य, सृप्टि की उत्पत्ति, उसके उद्देश्य और साफल्य पर तर्क-वितर्क पूर्वक विचार करना। उन्होंने ईश्वर की सत्ता तथा सर्वव्यापकता का मत स्थिर किया। जीव के भूत, वर्तमान एवं भविप्य की व्याख्या की। सत्य और सुन्दर का अनुसधान किया और आत्मज्ञ बनने का आदर्श उपस्थित किया। यह स्मरण रखना उचित होगा कि उनके दार्शनिक विचारों पर एशिया का विशेप प्रभाव पड़ा जिसकी गति अलेक्जाडर के बाद बहुत बढ़ गयी थी।

दार्शनिको के अध्ययन-अध्यापन के लिए एथेन्स में एक केन्द्रीय महाविद्यालय स्थापित हो गया जिसमे चार विभाग थे—एकेडमी, लाइसिअम, स्टोआ, एपिक्यूरस का उद्यान। एक ही स्थान पर विभिन्न मतो तथा सिद्धान्तो का अबाध पठन-पाठन होता था। दर्शन और ज्ञान-विज्ञान मे हेलनिज्म का युग पेरिक्लीज के युग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उच्च शिक्षा के साधनो के अभाव की उस युग मे यशस्कर पूर्ति हो गयी थी। पढने-लिखने का शौक दिनो-दिन बढता गया। हस्तलिखित पुस्तको के संग्रह किये जाने लगे। कहते हैं कि अलेक्जैड्रिया के पुस्तकालय मे सत्तर हजार हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत थे। उसके बाद परगेमम के पुस्तकालय की गणना बड़े पुस्तकालयो मे होती है। बहुत सभव है कि एशिया और मिस्र के अन्य ग्रीक नगरो मे भी छोटे-बड़े पुस्तकालयो का निर्माण हुआ हो।

विज्ञान

यूनानियो ने विज्ञान के क्षेत्र मे भी प्रारम्भिक किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण गवेपणाएँ की। उनके वैज्ञानिको मे पहला नाम मेलिटस नगर के निवासी थेल्स का है (६२४ से ५४८ ई० पू०) जिसने गणना करके सूर्यग्रहण की पूर्व-घोपणा की थी। उसके

मत मे जल ही प्रारम्भिक तत्त्व है जिससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। उसी के समकालीन अनेक्सिमेण्डर ने वायु को प्रारम्भिक तत्त्व घोपित किया और यह भी कहा कि जानवरो का विकास मछलियो से हुआ है। पाइथागोरस ने यह मत प्रकट किया कि सब तत्त्वो के मूल मे अंक है और जीवन के यावत् व्यापार गणित तथा नाद स्वर से नियन्त्रित होते हैं। चतुर्थ शती ई० पू० मे एम्पिडाक्लीज इस निर्णय पर पहुँचा कि पार्थिव जगत् की रचना एक तत्त्व से नही वरन् चार तत्त्वो, मिट्टी, पानी, अग्नि तथा वायु से हुई। प्रारम्भ से ही इन चारो की अपनी-अपनी स्वतत्र सत्ता होती है। वे अनादि और अनन्त हैं। उन्ही के संयोग से सृष्टि होती और वियुक्त हो जाने से नष्ट हो जाती है। अरिस्टाटल ने जन्तु एवं वनस्पति जगत् का गंभीर अध्ययन करके यह सिद्धान्त निकाला कि केचुओ तथा कीट-पतग की सृष्टि पक से सहज ही आप ही आप हो जाती है। इसके अलावा विकास-क्रम सरलता से जटिलता की ओर प्रवाहित होता है। मेलिटस नगर मे थेल्स के शिष्यो और प्रशिष्यो ने भी कुछ इसी प्रकार के क्रम का अनुमान लगाया था। उन्होने यह भी कहा था कि पृथ्वी पहले जल मे मग्न थी और इस समय भी जलराशि से परिवेष्टित है। तदनुसार उन्होने सबसे पहले पृथ्वी का मानचित्र बनाया। हेक्टिअस ने मिस्र और बेबीलोनिया का भ्रमण कर वर्णनात्मक भूगोल की रचना की। उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि सूर्य जलता हुआ पथरीला गोला है और उसी से चन्द्रमा को प्रकाश मिलता है। यही नही, चन्द्रमा मे वे पहाड़ियो तथा घाटियो का होना मानते थे। उन्होने यह भी कहा कि पृथ्वी अपनी नैसर्गिक शक्ति से स्वय घूमती है। आयुर्वेद के क्षेत्र मे डायोजेनीज ने मनुष्य की शरीर-रचना का विश्लेपणात्मक वर्णन प्रकाशित किया। हिपोक्रेटस ने रोग का भौतिक कारणो से निदान किया और घोपणा कर दी कि रोग अथवा आरोग्य के देवी-देवता, भूत-प्रेतादि कारण नही हो सकते। स्वच्छता, आहार-विवेक, रक्त, नियन्त्रण, स्वेदन आदि उपायो से रोग शान्त किये जा सकते है। हिरोफिलस ने तृतीय शती ई० पू० मे स्नायु जाल तथा पेशियो आदि के कार्यों और नाडी की गति जाँचने के उपकरणो की रचना की। ग्रीस मे पुरुप ही नही, वरन् स्त्रियाँ भी चिकित्सा करती थी। कहा जाता है कि मेलिटस नगर मे ही यूनानी दर्शन की उत्पत्ति हुई थी। यद्यपि आजकल ये बाते अत्यन्त साधारण-सी प्रतीत होती हैं तथापि ये बडे महत्त्व की, और उस युग के लिए तो महान् वैज्ञानिक उपलब्धि गिनी जानी चाहिए। उपर्युक्त वैज्ञानिक अनुसधानो का यह भी परिणाम हुआ कि कुछ लोगो मे देवताओ

की अलौकिक शक्तियों में श्रद्धा घट गयी और अन्य नैसर्गिक शक्तियों में अधिक होने लगी। इस नये दृष्टिकोण का वहाँ के दार्शनिकों पर भी कमोबेश प्रभाव पाया जाता है।

इतिहास

प्रथम पश्चिमी इतिहासकार यूनान निवासी हेरोडोटस (४८४ से ४२५ ई० पू०) को इतिहास-साहित्य का पितामह कहा जाता है। मिस्र और कई एशियाई देशों का भ्रमण कर उसने कुछ ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित की तथा साहित्यिक महत्त्व का एक ग्रन्थ इस ढग से लिखा जिससे एथेन्स वालो की कीर्ति स्थापित हो सके। उसके इतिहास का मुख्य विषय ग्रीस वालो का ईरान के साथ सफल सघर्ष है। वह एशिया कोचक का निवासी था। उसका विश्वास था कि सासारिक महत्त्व क्षणिक है और ससार का सारा प्रवाह दैनिक विधान से चलता है। वह प्रतिकारवादी था। उसकी शैली, उसका ज्ञान घटनाओ का विवरण मात्र है। उसका ध्येय ग्रीस के वीरों का गुणगान तथा एथेन्सवालो की फारस वालो पर श्रेष्ठता स्थापित करना था। यद्यपि हेरोडोटस के इतिहास में प्राचीन लोगो के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी सामग्री है तथापि उसमें काफी गप्पें भी है। दूसरा प्रसिद्ध इतिहासकार थ्यूसिडाइडीज़ (४६० से ४०० ई० पू०) था, जो मानुषीय इतिहास की घटनाओ को दैवयोग से प्रेरित न मानकर उनको ऐतिहासिक कारणो पर अवलम्बित मानता था। उनके अन्योन्य सम्बन्ध पर अपनी आलोचना भी करता था। उससे पूर्व इतिहासकार लौकिक अथवा अलौकिक घटनाओ का सग्रह तो कर लेते थे, किन्तु उनके यथातथ्य कीआलोच ना और उस पर निजी अनुसन्धान द्वारा सम्मति वे नही दे पाये थे। उसके इतिहास का मुख्य विषय एथेन्स के पतन के कारणो का विवेचनात्मक वर्णन है। ग्रीस का वह सबसे श्रेष्ठ इतिहासकार है जिसका आज भी आदर होता है। उसका इतिहास उस स्थान से आरम्भ होता है जहाँ हेरोडोटस का इतिहास समाप्त होता है। उसने पेलेपोनेशियन युद्धों का सजीव और विवेचनात्मक इतिहास लिखकर ग्रीस की तत्कालीन स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला। हेरोडोटस ने स्त्रियों को स्थान नही दिया था, किन्तु थ्यूसिडाइडीज ने उनका भी वर्णन किया है। तीसरा उल्लेखनीय इतिहासकार जेनोफन हुआ (४३४ से ३५४ ई० पू०)। उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हेलेनिका' है जिसमें उसने थ्यूसीडाइडीज़ के इतिहास के पश्चात् की घटनाओ का

वर्णन किया है। उसने ग्रीस के अनेक राज्यो का विवरण देकर यह प्रयत्न किया है कि पूरे ग्रीस के ऐतिहासिक इतिवृत्त का चित्र पाठक को मिल जाय। इसके सिवा उसने ऐतिहासिक व्यक्तियो के महत्त्व और कार्यो पर विशेप वल दिया जिसका आने वाले इतिहासकार तथा जीवनचरित्र के लेखको पर यथेप्ट प्रभाव पड़ा। उसका दूसरा ग्रन्थ 'एनाबेसिस' काफी मनोरजक है। ग्रीस के सिपाही पेशावरो की पश्चिमी एशिया की यात्रा और उनके अनुभवो की उसमे कहानी है।

राजनीति शास्त्र

प्राचीन ग्रीस वालों की धारणा थी कि मनुष्य के संरक्षण तथा निर्वाह के लिए सामाजिक व्यवस्था आवश्यक और अनिवार्य है। सम्भव है कि इसी कारण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सामाजिक अथवा सामूहिक जीवन की ओर रही हो। सामाजिक व्यवस्था के विना मनुष्य का जीवन निरर्थक है, अतः उसको सुव्यवस्थित ढंग से स्थापित करना परम कर्तव्य है। विचारक पाइथागोरस का विश्वास था कि समाज का स्थान व्यक्ति से वहुत ऊँचा है। समाज की रक्षा व्यक्ति की रक्षा से वहुत अधिक महत्त्व रखती है। अतएव मनुष्य का श्रेय इसी मे है कि वह सामाजिक व्यवस्था को सहर्प स्वीकार करे। उसकी रक्षा के लिए कप्ट झेलने की कौन कहे, सर्वस्व ही नही, प्राण तक त्याग करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। उसके शासन, कानूनो, नियमो, मान-मर्यादाओ का सम्मान और प्रतिष्ठाओं की रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है। राज्य की भलाई के लिए व्यक्ति को सदा प्रयत्न करना चाहिए। ईरान से सफल सघर्प होने के कारण विचारको मे राजनीतिक विधानो के प्रति सक्रिय रुचि वढी। वे भी उनके तार्किक अनुसन्धान का विपय हो गये। राज्य के नागरिको के कर्तव्याकर्तव्य की आलोचना होने लगी।

साक्रेटीज (सुकरात) ने मौलिक प्रश्न यह उठाया कि राज्य के क्या लक्षण है नीतिज्ञ की क्या परिभापा है। उसकी सम्मति मे ज्ञान वढ़ाना नागरिक का मुख्य ध्येय होना चाहिए। उसी के द्वारा वह कर्तव्याकर्तव्य समझ सकता और व्यवहार-कुशल हो सकता है। राप्ट्र के प्रति विद्रोह की भावना किसी भी दशा मे न होना चाहिए। मातृभूमि या राप्ट्र का जननी के समान सम्मान करना श्रेयस्कर है, किन्तु उसके दोपो की आलोचना और उसके सुधार करने का प्रयत्न करना उचित है। प्लेटो का मत है कि राज्य की आवश्यकता इसीलिए है कि उसके द्वारा मनुष्य का उचित एव पूर्ण विकास हो सके। राज्य का विधान ऐसे ढग का होना चाहिए

जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति हो। प्लेटो अच्छा नागरिक उसी को मानता है जो अच्छा मनुष्य हो। शासन का काम बुद्धिमान्, विचारवान्, और चरित्रवान् तथा विवेकी व्यक्तियों के द्वारा होना चाहिए। उनके निर्देश का प्रतिपालन सर्वदा मंगलमय होगा। उनके द्वारा ही अधिकार-पथ प्रदर्शन होना चाहिए तथा नागरिक लोग तद-नुकूल आचरण करें। नागरिको को उनकी योग्यता तथा प्रवृत्ति के अनुसार श्रेणियों मे संगठित कर उनको उपयुक्त कार्य में लगाना चाहिए। इस प्रकार राज्य के शासको, योद्धाओं, व्यापारियो की तीन मुख्य श्रेणियाँ हो सकती ह। मजदूरी आदि कामो को दासो से कराना चाहिए। यदि अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक श्रेणी और प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कर्तव्य करे तो राज्य तथा समाज का सर्वथा हित होगा। प्रत्येक नागरिक को अपने विचारो के व्यक्त करने और शासन मे हाथ वटाने का अधिकार होना चाहिए। प्लेटो ने अपने सिद्धान्त और विचार अपने दो ग्रन्थो 'रिपब्लिक' तथा 'लाज' में विशद रूप से लिखे हैं। 'रिपब्लिक' आज भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। प्लेटो आदर्शवादी था। उसके विधान मे वर्गसत्ता तथा दासों के प्रति उदासीनता का दोष माना जा सकता है। इसके सिवा उसके विचार समाजवाद और कुछ अंशों में साम्यवाद की ओर भी झुकते हैं। वह नागरिक के सभी विचारों, कामों और व्यवहारों पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करने के पक्ष मे है। इन आदर्श विचारों के अनुकूल सिसली के शासकों और शासन को सुधारने का निमन्त्रण उसने स्वीकार कर लिया था। तीन वार प्रयत्न करने पर भी उसे सफलता न मिल सकी। कुछ लोगों की धारणा है कि अपने दार्शनिक विचारो को राजनीतिक क्षेत्रों में प्रचलित करने में हुई उसकी विफलता ही प्लेटो की असफलता का एक प्रमाण है।

प्लेटो के शिष्य अरिस्टाटल (अरस्तू) का विश्वास था कि सामाजिक जीव होने के कारण मनुष्य अपना पूर्ण विकास समाज के ही द्वारा प्राप्त कर सकता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य सभ्य तथा आदर्श नागरिक पैदा करना है। यदि उसमे वह असफल हुआ तो वह विधान वुरा है। राज्य में अनेक सघ और संघों में योग्य तथा अयोग्य, अच्छे और बुरे व्यक्ति होते हैं। अतएव राजनीतिज्ञ को मनुष्यों की अस-मानताओं और विभिन्नताओ के अस्तित्व को मानते हुए उनकी योग्यता, आचरण और क्षमता के अनुकूल उनको अधिकार प्रदान करना चाहिए। सब · धान वाईस पसेरी नही तोला जा सकता। विभिन्नताओं का मुख्य कारण स्वाभाविक गुण-अवगुण, सम्पत्ति, वंश और स्वतन्त्रता की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। स्वतन्त्र नाग-

रिको और गुलामों को समान अधिकार नहीं दिये जा सकते। राजा, शिष्ट समूह और पालिटी, तीनो ही अपने-अपने परिष्कृत रूपों मे अच्छे हो सकते हैं। विकृत रूप मे वे ही भयकर, हानिकारक और अन्यायी हो जाते हैं। किसी प्रकार के शासन को अरस्तू ऐसा न समझते थे कि जिसका स्वार्थी अथवा मूर्ख लोग दुरुपयोग न कर सके और जो अत्याचारी न बन जा सके। अरस्तू की राय मे दासो तथा मजदूर पेशा-वालों को राजनीतिक अधिकार देना अनुचित है। विविध विधानो मे वे एक सुयोग्य व्यक्ति के शासन को ही सबसे कम अहितकर अनुमान करते थे। यदि वैसा व्यक्ति न मिल सके तो मध्य श्रेणी का शासन सम्भवतः सबसे कम हानिकारक सिद्ध होगा।

ग्रीको का सारा जीवन राजनीतिमय था। राजनीति से उनका तात्पर्य उन मूल तत्त्वों और सिद्धान्तो से था जिनके व्यवहार से मनुष्य का जीवन सार्थक और सदाचारपूर्ण हो सकता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य सुख और संस्कृति का रक्षण तथा संवर्द्धन माना जाता था। अतएव कोई आश्चर्य नही कि राजनीति शास्त्र पर दार्शनिक तथा वैज्ञानिक ग्रन्थ बड़े चिन्तन के साथ वहाँ लिखे गये। उनकी विचारधारा मे दुर्भाग्य से तीन बड़े दोष थे। पहला यह कि यूनानी अपने सिवा सब जातियो को असभ्य समझते थे। दूसरा यह कि उनका ध्यान नगर-राज्यो मे ही प्रायः उलझा रहा। यद्यपि विशेष स्थिति मे छोटे राज्यो के संगठित होने की चर्चा मिलती है तथापि बड़े साम्राज्य उनकी कल्पना के बाहर थे। उनकी राय मे जनसत्ता सीमित छोटे राज्यो मे ही सम्भव हो सकती थी। तीसरा यह कि नगरवासियो को या यो कहिए कि मनुष्यो को ही वे दो भागो मे विभक्त कर बैठे थे, एक वे जो स्वतन्त्र है और दूसरे जो स्वभाव से ही दासता और सेवा के लिए जन्मे हैं। इन धारणाओं ने उनकी राजनीतिक दृष्टि और विचारो को कुछ सकुचित कर दिया जिससे उनकी रचनाएँ सकीर्ण और दूषित रह गयी। यद्यपि वे समाज अथवा राज्य का व्यक्ति के साथ ठीक सम्बन्ध स्थापित न कर सके तथापि अपनी कल्पित परिधि तथा अनुभव क्षेत्र की सीमाओ के भीतर उन्होने राजनीति के प्रमुख मूलतत्त्वो, विभिन्न प्रकार के सगठनों के गुणो ओर अवगुणो पर सारगर्भित तथा मार्मिक विचार किया है। उन्होंने राजनीति के आदर्श तथा उसकी प्राप्ति के साधनो पर अच्छा तर्क-वितर्क किया है। प्लेटो का रिपब्लिक और अरस्तू का 'पोलिटिक्स' उनके ही युग की नही, वरन् आज के सभ्य ससार की भी आदरणीय रचनाएँ है। जनसत्तात्मक राज्य मे रहते हुए भी उसके दोषो का निर्भीक वर्णन उन्होने किया है।

धर्म

यूनानी अपने देवताओं को अपनी ही तरह काम, क्रोध, मोहादि गुण दोषों से युक्त समझते थे। किन्तु वे अमर माने जाते थे। वे अपने-अपने क्षेत्रों में इतने व्यस्त रहते थे कि मृत्यु लोक के निवासियों के कार्यों मे उन्हे हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता न थी। मनुष्यों के लिए वे आश्चर्य के विषय थे। उनको सबसे भयभीत होने का कोई कारण न था। यूनानी मनुष्य की उत्पत्ति देवताओं से मानता था और मृत्यु के पश्चात् सम्भवत: देवता हो जाने की आशा कर सकता था। देवताओं की सख्या गणनातीत थी। देवताओ का अधिपति प्रकाशस्वरूप ज्योस (इन्द्र), आकाश का देवता था। उसका अस्त्र वज्र था। पूरे एक दर्जन पुत्रो और अपनी स्त्री तथा साथियो के साथ ओलिम्पस पर्वत की हिमाच्छादित चोटी पर वह निवास करता था। उसने अपनी पत्नी देमेतर (धरती) को जल-वर्षा द्वारा अभिसिंचित कर 'कोरी' नाम की पुत्री को जन्म दिया। ज्योज़ के दो भाई थे एक का नाम 'पोपिदन' (वरुण) था जिसका आधिपत्य समुद्र पर था और जो भूकम्प उत्पन्न करता था। ज्योस का दूसरा भाई हेड्ज था जिसको पाताल का आधिपत्य मिला। भूत-प्रेतादिपूर्ण, मुर्दों के अन्धकार-ग्रस्त लोक का वह स्वामी माना जाता था। उसका विशेष सम्बन्ध गुह्य रहस्यात्मक एल्यूसीनियन सस्या से माना जाता था। ज्योस का पुत्र धनुर्वर 'एपोलो' देवताओ मे बड़ा ही प्रतिष्ठित माना जाता था। उसका विशेष कार्य था पशुपालन, एवं कृपको का संरक्षण। अति रूपवान, सगीत-पारंगत युवक के रूप में उसकी कल्पना की गयी थी और ई० पू० पाँचवी शती मे उसको फीवस (सूर्य) का स्थान प्राप्त हुआ था। वह ऐसा दयावान् देवता माना गया जिससे लोग अपनी मनोकामना पूर्ण करने की प्रार्थनाएँ करते थे। 'दिओनिसस' स्त्रियो का मुख्य उपास्य देवता था जिसको वे, अरिस्टोफेनीज के अनुसार, बैकस (मदिरा के देवता) के उत्सवों मे शिश्न के रूप मे स्वाभाविक एव अस्वाभाविक मैथुनात्मक व्यापार द्वारा तथा नाच-गाकर प्रसन्न करती थी। उसका चिह्न और प्रतीक लिंग, विशेपतया शिर आरोपित लिंग था। जगह-जगह रास्तो और चौराहो पर इन लिंगो की स्थापना ग्रीस मे की गयी थी। लोकप्रिय देवताओ मे 'हरमीज' का विशेष स्थान माना जाता था। ज्योस उसका पिता और मइया उसकी माता थी। पथप्रदर्शन, रोजगार, व्यापार तथा आदान-प्रदान का वह नियन्त्रक एवं सरक्षक माना जाता था। वह चोरों का सरक्षक ही नही, वरन् स्वय चोर-शिखामणि था। अखाड़ो, व्यायाम तथा खेलकूद का सरक्षक होने के अलावा वह वक्ताओ को

भी सिद्धि प्रदान करता था। दयावान और आशुतोष होने के कारण लोग उससे वडी आशाएँ रखते थे। ग्रीस वाले अनेक देवियो की भी पूजा करते थे। देवियो मे अस्त्र-शस्त्र-धारिणी समरभयकरी, किन्तु शान्तिदायिनी, जन-रंजिनी और ज्ञानेश्वरी देवी 'एथेना' थी। अपने पिता ज्योस के मस्तक से उसने अस्त्रादि सहित जन्म पाया। सवमे पहले उसने वायुमण्डल के तूफानो का दमन किया, पश्चात् जैतून (जित वृक्ष) लाकर ग्रीस मे प्रतिष्ठित किया। वह निरन्तर ग्रीस की रक्षा और समृद्धि का विधान तथा उसका सन्मार्ग प्रदर्शन करती रही यद्यपि स्वयं छिपकर वह 'मार्स' आदि अन्य देवताओ तथा मनुष्यो से प्रणय करती रही। दूसरी देवी 'एफ्रोदिती' थी जो प्रेम तथा काम का सचार और दाम्पत्य तथा प्रसव का नियन्त्रण करती थी। उसके दो रूप थे। एक रूप से वह पवित्र प्रेम और दूसरे से भोग-विलास और कोरी कामुकता का प्रोत्साहन करती थी। विवाहिता स्त्रियो के अलावा कही-कही वह वेश्याओ की भी आराध्या देवी थी। रोम वाले उसे वीनस कहते थे। वही क्यूपिड की माता थी। वह समुद्र से पूर्ण युवती के रूप मे प्रकट हुई थी। उसके अलौकिक सौन्दर्य ने देवताओ मे वड़ी वेचैनी फैलायी और उनकी वासनाओ को जगा दिया। ज्योम ने उसे वलकन को दे दिया। वह स्वय एक शिशु पर मुग्ध हो गयी और उसके युवा होने पर उसके प्रेम मे लिप्त हो गयी। उसी ने आगे चलकर 'इरोस' नामक रूपवान पुत्र को जन्म दिया जो कामवासना का प्रेरक और सवर्द्धक है। स्त्रियो की दूसरी किन्तु अत्यन्त प्रभावशालिनी, अरगस नगर की प्रमुख देवी, ज्योस की पत्नी 'हेरा' नाम की थी। स्त्रियो के जन्म से मृत्यु तक जितने व्यापार थे उसी के निर्देश से होते थे। ग्रीस वाले धरती माता की, जिसका नाम 'देमीतर' था, उपासना करते थे। वह ज्योस की श्रेष्ठ पत्नी थी। उसी से शस्यरूपिणी कुमारी 'कोरी' का जन्म हुआ। चन्द्रमा को वे लोग विपुल-स्तनी 'अरटेमिस' देवी के नाम से पूजते और उसी से वर्ष का आरम्भ मानते थे। 'हेफासटोस' नाम की देवी ज्वालामुखी पर्वतो की उन्मुखज्वाल अग्नि की अधिष्ठात्री थी।

उपर्युक्त देवो और देवियो के सिवा यूनान मे अगणित देवी-देवता माने जाते थे। जातीय सर्वमान्य देवी-देवताओ के अलावा नगरो, ग्रामो, कुलो, घरो के तथा कला, इतिहास, काव्य, नाटक, गान, नृत्य, निद्रा, मृत्यु आदि के अनेकानेक उपास्य देवी-देवता थे। ऋतु-परिवर्तनो पर प्राय. उनके लिए विविध विधानो से उत्सव और पूजन किये जाते थे। पूजा मे लोग अन्न, फल-फूल, पशु, सुरा, वस्त्र, सोना-चाँदी आदि चढाते तथा वाजे-गाजे, खेल-कूद, नाच-गाने के साथ पूजन करते

और उत्सव मनाते। वे तरह-तरह की मानताएँ मानते और नाना प्रकार के सस्कार जन्म से मृत्यु पर्यन्त करते थे। देवताओ के नाम से वे शपथ लेते थे। ग्रीस मे पुजारियो का काम प्राय: घर या जाति के बडे-बूढे ही करते थे। पुजारियो की कोई विशेष श्रेणी न थी। धर्म के नेता दार्शनिक थे। जब देवताओं की प्रवृत्तियाँ उनके गुण, कर्म, स्वभाव और उनकी सुख-दु ख की अनुभूतियाँ, उनके अनुयायियो के ही समान थी तब उनका प्रभाव मनुष्यो पर विशेष हितकारक होने की सम्भावना क्या हो सकती थी, यह कहना कठिन है। उनके पूजने का एकमात्र ध्येय आनुकूल्य का स्थापन और प्रातिकूल्य का वर्जन प्रतीत होता है। ससार के विभिन्न देशो और जातियो मे पुरातन युग से अन्न, फल-फूल, वनस्पति तथा मानुषी जगत् मे स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रियाँ उत्पत्ति अथवा सर्जन की प्रतीक मानी जाती हैं। पैदाइश से सम्बन्ध रखनेवाले तरह-तरह के रिवाजो और उत्सवो का प्रचलन पुराने युग से चला आता है। ग्रीस मे भी उस प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे। देमेतर (भू देवी), दायोनेशिआ, हर्मीज तथा अर्तमिस देवी या देवताओ के पूजनों और उत्सवो में लोग सजनन के मानवी प्रतीकों का उपयोग करते और कभी-कभी तो उत्सवों के अवसरो पर साधारण सामाजिक मर्यादाओ और आचार को ताक मे रखकर स्वच्छन्द कामकला मे प्रवृत्त हो जाते थे। ऐसे उत्सव कमोवेश सभी स्थानो पर होते थे किन्तु एथेन्स, एफिसस, एल्यूसिस, आरगस और आर्केडिया मे वे बड़े पैमाने पर उत्साह और धूमधाम से मनाये जाते थे। शिश्न देव (प्रिएपस) की पूजा और उत्सव मे स्वैरिता तथा उच्छृखलता का मुक्त प्रदर्शन होता था। अरिस्टोफेनीज के अनुसार दियोनिअस और बैकस के उत्सवो मे शिश्न का पूजन स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक मैथुनात्मक व्यापार होता था। 'पोरनाई' श्रेणी की वेश्याएँ अपनी शालाओ के बाहर प्रिएपस के शिश्न का चिह्न प्रदर्शित करती थीं।

ग्रीस के धार्मिक विचारो मे तीन विशेषताएँ थी। पहली यह कि धार्मिक विश्वासो तथा अर्चाओ का नैतिकता से कोई अनिवार्य सम्बन्ध न था, न उनका कोई आवश्यक बन्धन ही था। दूसरी यह कि यद्यपि देवताओ का अपना लोक था, किन्तु उनमे अमरत्व के सिवा कोई अलौकिकता का आरोप नही किया गया। उनके व्यवहार और व्यापार मनुष्यो के समान अच्छे-बुरे सभी प्रकार के होते थे। यद्यपि ग्रीस के मूर्तिकारो ने देवताओ और देवियो की भव्य मूर्तियाँ स्थापित की हैं तथापि वस्तुत: वे देवताओ का शरीर मनुष्य के आकार-प्रकार का नही मानते थे। देवी-देवताओ की कल्पना वे रूह, हवा अथवा आकाश के से सूक्ष्म तत्त्वो के समान करते

थे। इसीलिए स्वास्थ्य, यौवन, सम्मान, भाग्य, आशा, भय, सद्गुण, विजय, कौमार्य आदि के भावात्मक प्रतीक कल्पित करके वे उनमें श्रद्धा तथा विश्वास रखते थे। भूत-प्रेतादि अनिष्टकारी सत्ताओ मे भी उसका विश्वास था। देवी-देवताओ का सम्बन्ध किसी आध्यात्मिक जगत् या विषय से न था, बल्कि व्यावहारिक विषयो से था। लोग अपनी आकाक्षाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए देवताओ की सहायता मांगते थे। उनको प्रसन्न करने के लिए विविध विधान, कर्मकाण्ड तथा प्रार्थना आदि करते थे। इस विषय मे जो दृष्टिकोण व्यक्तियों, कुटुम्बों, वशो का था वही राज्यो का भी था। बात यह कि ज्योस को छोड़कर प्राय. सब ही देवी-देवता किसी विशेष जन-समूह अथवा जाति के थे। उन सबको ग्रीक लोगो ने अपना लिया। जो देवलोक के देवता थे उनको हलके रग के और पृथ्वी के देवताओ को गहरे रंग के पशुओ की बलि चढायी जाती थी।

रहस्यात्मक सस्था

ग्रीस में एल्युसियन गुह्य समाज नाम की सस्था अपनी विशेषता रखती है। उस समाज का मान शासक भी करता था, किन्तु उसके अलावा स्वतन्त्र छोटे-छोटे समाज विभिन्न स्थानो मे थे। अद्यावधि एल्युसियन का पूरा हाल कोई नही जानता, क्योकि उस समाज में जो कुछ होता था उसके गुप्त रखने की सदस्यो को शपथ लेनी पड़ती थी। अनुमान किया जाता है कि उनके कोई निश्चित सिद्धान्त न थे किन्तु उनका विश्वास था कि मनुष्य भावना, विश्वास, तदात्मता तथा आध्यात्मिक प्रयत्न से देवत्व एवं अमरत्व प्राप्त कर कसता है। समाज में ऊँचे-नीचे का कोई भेदभाव न था, समानता का भाव रखा जाता था। उस सिद्धि के लिए साधन तथा सहानुभूति की आवश्यकता होती थी। उनके समाज अथवा चक्र मे जो क्रियाएँ होती थी वे प्रतीकात्मक होने के अलावा साधनात्मक महत्त्व भी रखती थी। नृत्य, अभिनय तथा लीलाओ द्वारा वे आध्यात्मिक वातावरण और रसानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न करते थे। उनके दो सम्प्रदाय थे। एक को 'बेकेनाल' कहते थे। वह मद्यादि उपचारो द्वारा मस्ती पैदाकर ईश्वर से ऐक्य स्थापित करने का साधन करते थे। दूसरे का नाम था 'आरफिज्म' जिसकी साधना त्यागात्मक थी। इसी प्रकार का भेद एपिक्यूरिअन और स्टाइकों के सिद्धान्तो मे पाया जाता है।

ग्रीस के धार्मिक विचारो पर एशिया, मिस्र, क्रीट का प्रभाव आरम्भ से ही पडता रहा, किन्तु अलेक्जेण्डर के समय से वह वैसा ही बढ़ गया जैसा कि दार्शनिक

क्षेत्र मे वढा था। धीरे-धीरे बौद्धिक, भौतिक तथा नास्तिकवादों की वृद्धि के साथ देवी-देवताओ मे उनके विश्वास का ह्रास होता गया। शासकवृन्द राजनीतिक लाभ के लिए देवताओ तथा पुराने उपयोगी धार्मिक भावो का रक्षण और पोषण करते रहे। स्वयं अलेक्जेण्डर इस प्रवृत्ति का उदाहरण है। साहित्य भी इसकी पुष्टि करता है। आस्तिकवादी दार्शनिक स्पष्टतया कहने लगे कि यद्यपि परमेश्वर एक ही है किन्तु अनेकत्व भी उसी के अन्तर्गत है। त्रैलोक्य को अतिक्रमण करके वह सर्वातिशायी है। ग्रीस मे धार्मिक और दार्शनिक विचारो का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध कमोवेश हमेशा रहा। उनका ईसाई धर्म के विकास पर भी वडा प्रभाव पड़ा। प्लेटो के और ईसा के मत मे वहुत कुछ सामंजस्य पाया जाता है। दोनो मर्त जगत् की अस्थिरता को उरलघन करके अप्रत्यक्ष, किन्तु स्थायी तत्त्वो को आदर्श मानते हैं।

साहित्य

अनुमान किया गया है कि ईसा से हजार या वारह सौ वर्ष पहले यूनानियो ने फोनीशिया वालो से अक्षरो का ज्ञान प्राप्त कर उनको कुछ हेरफेर के साथ अपना लिया। अक्षर व्यंजन थे क्योंकि स्वरो के लिए कोई चिह्न निर्धारित न हुए थे। अक्षरो की सख्या वाईस थी। ग्रीस वालो ने स्वरो के चिह्न निश्चित किये जिससे लिखने-पढ़ने की सुविधा हो गयी। मिस्र देश से कागज, कलम तथा रोशनाई वे मँगवा लेते थे। ईसा पूर्व चौथी शती तक लिखने-पढने की पूरी सुविधाएँ ग्रीस वालो को प्राप्त हो गयी थी।

ग्रीक भाषा मे सवसे पुराना साहित्य वीर-गाथा काव्यो का है। कहा जाता है कि उन गाथाओ को एकत्रित, परिष्कृत तथा सगठित करके इलियड की रचना की गयी। उसका श्रेय होमर नामक किसी काल्पनिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्ति को दिया गया। ग्रन्थ की भाषा प्रधानत. आयोनिक है किन्तु उसमे एपोलिक भाषा का भी कुछ सम्मिश्रण हुआ। होमर सम्भवत: एशियाई कोचक के स्मरना नाम के नगर के आसपास का निवासी था। ग्रन्थ का विषय है ग्रीस वालो का ट्राय (इलियम) नामक राज्य से सघर्ष और युद्ध। कथा का युद्धवीर नायक एचिलीज है। गाथा के अनुसार ट्राय के राजा का पुत्र परीस स्पार्टा के राजा की परम सुन्दरी रानी हेलन को छल अथवा वल से उठा ले गया। उस दुष्कृति तथा अपमान का वदला लेने के लिए, ग्रीस के राज्यो ने मिलकर ट्राय पर आक्रमण किया। आक्र-

मणकारियो का नेता आरगस का राजा एगामेमनान था। ट्राय की दीवारें बडी मजबूत थीं। दस वर्ष तक घेरा डाले रहने और भयकर मार-काट के पश्चात् नगर लूटकर विध्वस कर दिया गया। विजय प्राप्त कर राजा लोग अपने अपने राज्य मे जब पहुँचे तव उनको ज्ञात हुआ कि राज्यो पर अन्य लोगो ने अपना प्रभुत्व जमा लिया था। अनेक राजा हताश होकर लौटे और जहाजो पर दूसरे स्थानो मे भाग्य परीक्षा के लिए चले गये। इलियड मे वीरो और योद्धाओ के चरित्रो का जोरदार वर्णन हे। नीलोपी, आन्द्रमकी आदि स्त्रियो का चित्रण अत्यन्त मधुर, कोमल और आदर्शपूर्ण है। इलियड का उपसहार होमर ने ओडेसे काव्य मे किया है। दोनो ग्रन्थ ग्रीस की प्राचीन सभ्यता के ज्ञान के लिए मुख्य साधन होने के अलावा श्री वाल्मीकि रामायण की तरह विश्व साहित्य मे अमरत्व का स्थान पा चुके है।

होमर के अलावा दूसरा प्रसिद्ध कवि हीसिअड है जो एक किसान था (७५० से ७०० ई० पू०)। यूरोप का वह पहला कवि था जिसने गरीबो के पक्ष और हित मे अपनी आवाज उठायी। पूजीपतियो तथा भूमिपतियो के अत्याचार का उसने विरोध किया तथा कृपक जीवन की प्रशसा की। अत्याचारी को देवकोप की चेतावनी दी। ऐतिहासिक दृष्टि से हीसिअड का काव्य अपना विशेष महत्त्व रखता है। उसके समय तक गीतिकाव्य का, जो वाँसुरी और तन्त्री के साथ गाये जाते थे, खासा प्रचलन हो गया था। पौराणिक ढग के काव्यों या वीरगाथाओं के स्थान पर भावुकता प्रधान काव्य मे लोगो की रुचि और प्रवृत्ति वढती गयी। प्रेम तथा करुणा के भाव अधिक लोकप्रिय होने लगे। इस नयी प्रवृत्ति का हृदयस्पर्शी प्रस्फुटन लेस्वोस सेफो नाम की सुप्रसिद्ध कवियित्री के गीतो मे हुआ (छठी शती ई० पू०)। उसका सम्मान आज तक यूरोप मे होता है। ग्रीस वाले तो उसे कविता देवी का दशम अवतार मानते थे। इस प्रसग मे थेवीज के किसान कवि पिंडर का नाम इसलिए आवश्यक है कि वह ग्रीस की औद्योगिक क्रान्ति के युग की भावनाओ को प्रकट करता है। उसने वडी मधुर तथा ओजमयी भाषा मे ओलिम्पिया के खेलो के यशस्वी विजेताओ का गुणानुवाद किया। इसके सिवा धनपतियो के सुखमय जीवन का चित्रण करते हुए उनके उत्तरदायित्व का सकेत भी किया। वहाँ के लोग तो उसे सगीत का देवता मानते थे। उस समय तन्त्री तथा वशी का काफी प्रचलन हो गया था जिससे कविताओ को स्वर एव लय सहित गाने का शौक उत्पन्न हो गया था। अमीरिया मे प्रचलित गानो को लिखने की साकेतिक लिपि

को काट-छाँट कर यूनानियो ने अपना लिया जिससे रागो के स्थिर करने तथा सिखाने का सुभीता हो गया।

ग्रीस, विशेषतया एथेन्स, के साहित्य तथा कला का स्वर्ण युग (ई० पू० पाँचवीं शती) पेरिक्लीज़ का समय है। यद्यपि काव्य के जितने मुख्य अंग है सभी बीज रूप से होमर के काव्यो मे पाये जाते है तथापि उनका विशेष विकास इसी युग में हुआ। कालिदास ने लिखा है कि विनोद के अतिरिक्त नाट्य देवताओ का प्रिय चाक्षुप यज्ञ है। ग्रीस वालो की भी वैसी ही धारणा थी। अतएव देवताओं के उत्सवो पर उनका पठन और श्रवण श्रद्धा के साथ होता था। ग्रीस साहित्य के प्रमुख और साहित्य संसार मे सम्मानित नाटककार एस्फाइलस (५२५—४५६ ई० पू०), सोफोक्लीज, युरीपिडीज और अरिस्टाफनीज इसी युग मे फले-फूले। पहले दो नाटककारो ने सात-सात चौथे ने ग्यारह और तीसरे ने सौ नाटक लिखे जिनमे से अठारह नाटक मिलते हैं। नाटको का विपय किसी-न-किसी भाँति धर्म तथा देवताओ से सम्बन्ध रखता था। एस्फाइलस ने देवताओ के न्याय तथा मनुष्य के आचरण की शुद्धता को अपने नाटको मे प्राधान्य दिया है। उसकी मनोवृत्ति भौतिक तथा बुद्धिवाद के विरुद्ध थी। विपम स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी उसकी श्रद्धा और विश्वास देवताओ के प्रति अटल थे। यूरोपिडीज ने उनसे विपरीत मानुपिक जीवन तथा उसकी प्रवृत्तियो, भावनाओ तथा समस्याओ को देवताओ की कृतियों से अधिक महत्त्व दिया है। देवताओ की कथाओ की उसने कटु आलोचना की। दीनो और दलितो के दुख-सुख को उसने उपस्थित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। यद्यपि तत्कालीन दर्शको ने उसका उतना सम्मान नही किया जितना कि दूसरो का तथापि उसका महत्त्व तो सभी को स्वीकृत करना ही पड़ा। उपर्युक्त तीनो दु:खान्त नाटककार थे। नाटको की सख्या तथा उनके गुणो के उत्कर्ष का मुख्य कारण यह था कि ओलम्पिया की प्रतियोगिता के लिए प्रत्येक कलाकार को चार नाटक प्रस्तुत करने पडते थे। प्रहसनो तथा संगीतात्मक नाटको के लिखने मे अरिस्टोफनीज सिद्धहस्त था। दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा कौटुम्बिक विपयो पर उसने सुन्दर भापा मे बड़ी चुनती हुई आलोचनाएँ की। नेताओ और दार्शनिको पर भी उसने चुटीले व्यग किये। प्रहसन लिखने की परिपाटी इतनी जोरदार हुई कि शासन ने प्रस्तुत राजनीतिक विपयो पर प्रहसन लिखना मना कर दिया। ग्रीस की जनता को नाटको का संग्रह करने तथा उन्हे पढ़ने और अभिनीत करने और देखने का बड़ा शौक था। कभी-कभी तो तीस हजार तक दर्शक अभिनय

देखने के लिए एकत्रित हो जाते थे। नये नाटको मे केवल कथोपकथन न था। गान, नाच, भाव-प्रदर्शन, चित्रपट आदि का उनमे मिश्रण रहता था। प्राचीन युग में नाटक ने ग्रीस के बराबर सम्भवत. कही भी उन्नति न की। उसके उत्थान काल में वियोगान्त नाटको का प्राधान्य रहा, किन्तु पतन काल मे सुखान्त नाटको का अधिक सम्मान हुआ।

यूनानी लोग सौन्दर्य तथा सगीत के प्रेमी थे। वे जिस काम को हाथ मे लेते उसमे सुन्दरता लाने का प्रयत्न करते। इसीलिए उनकी कलाओ और साहित्य में असाधारण सुन्दरता मिलती है। पद्य मे रचना करने की परिपाटी तो पहले से चली आती है। होमर के काव्य मे ही भाषा, पद-विन्यास, व्यजना शक्ति, छन्द तथा अलकार आदि के बहुत-से गुण विद्यमान थे। उनकी वृद्धि उत्तरोत्तर होती गयी। किन्तु जब ऐतिहासिक, तार्किक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक विषयो की रुचि और आवश्यकता पड़ी तब गद्य मे भी पुष्टता, व्यापकता, प्रौढ़ता, ओज, सूक्ष्म तथा जटिल भावो को सरलता से प्रकट करने की विलक्षण क्षमता विकसित हो गयी। सस्कृत और अरबी की तरह ग्रीक भाषा भी सुस्थिर और समृद्धिशाली मानी जाती है। वक्तृत्व कला मे भाषा का बडी सफलता से उपयोग होता गया। एथेन्स के सुप्रसिद्ध व्याख्याता डेमास्थनीज के ओजपूर्ण और प्रभावशाली भाषण आज तक जोश से पढ़े जाते है।

कलाएँ

ग्रीस की स्थापत्य कला प्रारम्भ में तो भोडी थी और लकडी का उपयोग इमारतो के बनाने मे बहुतायत से होता था। किन्तु सुन्दर सफेद पत्थर के सुगमता से मिल जाने के साथ ही मिस्र और क्रीट की कलाओ का ज्ञान भी उन्हे प्राप्त हो गया। उन साधनो को प्राप्त कर ग्रीस वालो ने अपनी प्रतिभा से उसको अधिक परिष्कृत, भव्य तथा सुन्दर ही नही बनाया, वरन् उस पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी छाप लगायी कि आगे चलकर यूरोप वालो के लिए उनकी कला आदर्श मापदण्ड का काम करने लगी। उस कला के ध्वसावशेषो से यह प्रतीत होता है कि अच्छी इमारते प्राय. देव-मन्दिर अथवा देवताओ की स्मृति मे निर्मित की जाती थी। उनमे देवमूर्तियाँ प्रतिष्ठित नही की जाती थी क्योकि उनके निर्माण का एक मात्र उद्देश्य देवी-देवताओ के प्रति सम्मान प्रकट करना और उनकी स्मृति को देदीप्यमान रखना था। उनकी इमारतो की भव्यता मे सागोपाग सगति के अलावा विशाल

स्तम्भों की विशेष छटा और महत्त्व रहता था। इमारतों में स्तम्भों के हिसाव से तीन शैलियाँ थी—डोरिक, आयोनिक और कोरिन्थियन। डोरिक कला का सवसे सुन्दर प्रदर्शन सक्रोपोलीस पहाडी पर स्थित श्वेत संगमरमर के पार्थेनान मन्दिर मे है। उसके खम्भे ३४ फुट ऊँचे, नीचे की ओर अधिक, किन्तु ऊपर कम मोटे वने हुए है, स्तम्भों पर नालियाँ खचित हैं। मन्दिर की फ्रीज पर सु-प्रसिद्ध मूर्ति कलाकार फीडियस द्वारा उकेरे ट्राय के युद्ध के दृश्य तथा खेलो के जुलूस हैं। पीड-मोट पर ज्योज के उद्भव से एथेना देवी के जन्म तक की मूर्तियाँ है। सवका सामूहिक प्रभाव इतना सुन्दर पड़ता है कि उसको स्थापत्य तथा तक्षण कला का श्रेप्ठतम नमूना माना जाता है। आयोनिक शैली की विशेपता उसके स्तम्भो मे है। वे उतने मोटे नही होते न उनके नीचे तथा ऊपर के भाग अलकृत होते है। इमारतों के दरवाजो, कार्निस, धन्नी और छत के वीच के भाग पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ अथवा जजीरेदार लडियाँ वनी होती है। उस कला का अच्छा नमूना एरेक्थियम है जो पार्थेनान के समीप वना हुआ है। कारिन्थियन शैली के खम्भो पर प्राय. वडी सजावट और कारीगरी का प्रदर्शन है। अलेक्जेण्डर के समय से धार्मिक इमारतो का वनना कम हो गया और लोगो की प्रवृत्ति प्रासाद, सग्रहालय, नाचघर, मकान, स्नानागार, क्रीड़ाभवन, नाट्य मन्दिर, पुस्तकालय आदि वनाने की ओर हो गयी, एशियाई कोचक के उत्तर-पश्चिमी कोण पर ग्रीस के पास परगेमम नगर के ध्वसावशेषो से जान पड़ता है कि ग्रीक नगर निर्माण कला ने सम्भवत. मिस्र तथा फारस से प्रभावित होकर वड़ी उन्नति की। भव्य विशाल नगर मे सार्वजनिक सुन्दर इमारतें जैसे, संग्रहालय, पुस्तकालय, वाचनालयादि तथा रहने के मकान जिनकी दीवारों पर वढिया पलस्तर चढ़े और चित्रादि वने थे—वहुतायत से थे। शहर मे वड़े-वडे पार्क, वाग-वगीचे, चलने के लिए पटरियाँ, पक्की सीधी सडके, पानी के निकास के लिए खुली और वन्द नालियाँ, पानी लाने के पाइप आदि का सुविधाजनक प्रवन्ध था। इमारते महरावदार वनायी जाने लगी थी। छोटे-छोटे नगर प्राय: एक ही ढंग पर वसाये जाते थे। अलेक्जेण्ड्रिया सवसे वडा, समृद्धिशाली नगर था। वहाँ के महल वड़े और सफेद पत्थर के वने थे। इन उत्तरकालीन इमारतों के फर्श सुन्दर, सफेद या काले पत्थरो के होते थे। स्तम्भो पर अधिक अलकृत कारीगरी और दीवारो पर विविध भाँति के चित्र उनकी शोभा वढाते थे। नये ढग के नगरो मे अलेक्जेण्ड्रिया सवसे प्रधान और सम्पन्न था।

स्थापत्य कला के अतिरिक्त ग्रीस मे मूर्तिकला की भी वड़ी उन्नति हुई। ग्रीस

वाले मनुष्य के शरीर को प्रकृति की कला का उच्चतम प्रतीक समझते थे, अतएव वे उसको सुन्दर और सुडौल बनाने के लिए अधिकाधिक चेष्टा करते थे। उनका यह भी विश्वास था कि देवी-देवताओ और मनुष्यो के शरीर की रचना मे केवल सुन्दरता और मनोहरता का भेद है। ग्रीसवासियों का आदर्श मनुष्यत्व से देवत्व प्राप्त करने का था। तदनुसार मनुष्य की प्रतिकृति को वे देवी-देवताओ की कल्पना के जितना निकट ले जा सकते थे, उतना ही अधिक साम्य लाने का वे प्रयत्न करते थे। देवी-देवताओ, वीरो और नेताओ की मूर्तियाँ अधिकतर बनायी जाती थी। परिणाम यह हुआ कि उनकी बनायी मूर्तियाँ ऐसी भव्य और मुग्धकारी हुईं कि उनका अनुकरण कमोवेश आज तक होता आ रहा है। शरीर का जितना अधिक उनको ज्ञान होता गया उतना ही आदर्श-मिश्रित यथार्थता, भावभगिमा और गति उनकी मूर्तियो मे प्रतिभासित होती गयी। पहले वे मूर्तियो पर रग चढ़ाते थे, किन्तु बाद मे उस पद्धति को उन्होने छोड़ दिया और शुद्ध संगमरमर का उपयोग करने लगे। शारीरिक पूर्णता एव गौरव के अक्षुण्ण प्रदर्शन के निमित्त वे नग्नमूर्ति के भी बनाने मे सकोच न करते थे। पत्थर के अलावा वे ताँबे की मूर्तियाँ भी निर्माण करते थे। पशुओ की मूर्तियाँ भी वे चतुरता से गढ़ते थे। अकेली मूर्ति के अलावा मूर्ति समूह द्वारा भी वे किसी विशेष प्रसग का प्रदर्शन करते थे। वहाँ के कलाकारो मे फिडिअस, माइरन, प्रालीक्लीटस आदि प्रसिद्ध हैं। अलेक्ज़ेण्डर के युग मे स्वाभाविकता तथा साधारण प्राकृतिक प्रदर्शन की ओर कलाकारो की रुचि बढी जिससे उनके सुख-दु:ख, साधारण जीवन की आशाओ और निराशाओ का प्रदर्शन कलाकृतियों मे होने लगा। परगेमम की सगमरमर की मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर और कला की श्रेष्ठतम निदर्शन हैं। उनकी समता करना आज भी कठिन कार्य है। अलेक्जेण्डर के युग मे मूर्तिकला तथा चित्रकला मे विशेप उन्नति यह हुई कि विशिप्ट व्यक्तियो की प्रतिकृतियाँ बनायी जाने लगी जिनसे हम उनका साक्षात्कार आज भी कर सकते हैं।

चित्रकला की उन्नति उस पैमाने पर तो नही हुई जितनी कि मूर्तिकला की, तथापि यह नही कहा जा सकता कि उसने विशिष्टता नही प्राप्त की। पहले चित्र कलसो, सुराहियो, शरावो, हाँडियो आदि पर बनाये गये। दीवारो पर भी अनेक प्रकार के दृश्यो का चित्रण किया जाता था। चित्र रचना मे सम्भवत. क्रीट तथा मिस्र आदि का प्रभाव पड़ा होगा। चित्रो मे सरलता, रेखाओं की कोमलता, निग्रह एव प्रसाद के गुण पाये जाते हैं। एथेन्स के एक पार्श्व अलिंद पर मेराथान विजय का दृश्य चित्रित है। मूर्तिकला की तरह चित्रकला भी ग्रीस वालो के जीवन और

आदर्शों को प्रतिबिम्बित करती है। उनका ध्येय सुन्दर और शिव के सयोजन से भावनात्मक सत्य की प्रतिष्ठा करना था। धर्म और जातीय जीवन ही उनमें उन्मेष और प्रेरणा उत्पन्न करते थे।

संगीत

ग्रीस वालों को संगीत का इतना प्रेम था कि बिना उसके मनुष्य अशिक्षित समझा जाता था। इसीलिए शिक्षा के क्रम में संगीत को अनिवार्य विषय निर्धारित किया गया था। अकेले अथवा संगत या सामूहिक गानों का प्रचलन था। मिस्र से बाँसुरी, एशिया से तन्त्री और असीरिया से संगीत-लेखन की कला को अपनाकर उन्होंने उन्हें अपने व्यक्तित्व से अनुप्राणित कर दिया था। खेलो, तमाशों, जुलूसों, मन्दिरों, उत्सवों आदि में वाद्य, गान, नृत्य को सदा स्थान दिया जाता था। ग्रीस में पहले तीन तारों की फिर सात तारों की तन्त्री का प्रयोग होने लगा।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह अनुमान करना कठिन न होगा कि इतिहास तथा संस्कृति के क्षेत्रों में ग्रीस वालो का स्थान आदरणीय तथा ऊँचा था। उनकी प्रतिभा विलक्षण और विशिष्ट रूप से रचनात्मक थी। जिस विषय या प्रसंग को उन्होंने हाथ में लिया उसको बहुत विकसित एवं परिमार्जित करके छोड़ा। सौन्दर्य-भावना, कुशाग्र बुद्धित्व, प्रगतिशीलता, स्वातन्त्र्यप्रियता, प्रतिभा, आदिका ग्रीस वालों ने अच्छा प्रदर्शन किया और मनुष्य के इतिहास में अपनी अमर कीर्ति स्थापित कर गये। उनके दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों का ईसा के मत के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा। रोम की सभ्यता और पुनर्जागरण युगीन नवीन यूरोपीय सभ्यता पर उनकी गहरी छाप लगी हुई है। आधुनिक यूरोप के निर्माण में उनका विशेष प्रभाव माना जाता है। उनकी संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव यूरोप वालो पर आज तक पड़ रहा है।

अध्याय ९

ईरान

ईरान का इतिहास और उसकी संस्कृति चार युगों मे विभाजित की जा सकती है। पहला युग हखमनो का था। उस युग मे ईरान ने ऐसी उन्नति की कि उसका ऐतिहासिक क्षेत्र सिन्ध नदी से ग्रीस तथा वहाँ से मिस्र देश तक फैल गया। सास्कृतिक क्षेत्र मे वह ग्रीको से यदि अधिक नही तो उनकी बराबरी का दावा कर सकता है। उसका दूसरा युग अलेक्जेण्डर की विजयो से आरम्भ हुआ। यद्यपि ग्रीक विजेता थे तथापि अनेक अशो मे वे ईरानी जीवन से इतना मिल-जुल गये थे कि ईरान में एक मिश्रित सस्कृति का विकास हुआ। जब रोम के साम्राज्य ने ग्रीको की शक्ति नष्ट कर दी तब ईरान मे पार्थियनों का अभ्युदय हुआ, जिन्होने रोम से सफलतापूर्वक लोहा लिया और उन्हे दो बार भूमध्यसागर के तट तक खदेड दिया। किन्तु द्वन्द्व चलता रहा जिससे पार्थियनो और रोमनो का पतन होता रहा। ईसा की तृतीय शती के आरम्भ मे सासानी वंश के नेतृत्व में फिर ईरानी उत्तरोत्तर शक्तिशाली हो गये। सासानियो ने ईरान के उत्तर-पूर्व प्रान्तो मे कुषाणों का मूलोच्छेद कर दिया और पश्चिमी एशिया में रोम वालो का प्रभुत्व इतना शिथिल कर दिया कि वे ईरान से डरने लगे। सासानियो के युग मे ईरान की जातीयता, प्राचीन संस्कृति और सभ्यता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी।

ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व आर्यो की वह शाखा जो इण्डो-ईरानियन नाम से प्रसिद्ध है कई समूहो मे ईरान की ओर बढने लगी। उनमे से मित्तनी काकेशिया पार कर फरात नदी के उत्तरी मोड़ के आसपास रहने वाले हुर्रिअनो के प्रान्तो मे आ बसे। १४५० ई० पू० तक उन्होने अपनी शक्ति काफी बढा ली, किन्तु आर्यो की हित्तियो की शाखा ने उन्हे पनपने न दिया। इण्डोआर्यनो की दूसरी शाखाएँ जगरोस पर्वत की घाटियो मे आकर बसने लगी। असीरिया वालो ने जहाँ तक बन पडा उनका दमन करने में कोई प्रयत्न उठा न रखा। किन्तु ईसा की नवी शती (८४४ ई० पू०) तक परसूआ तथा मीड (मडई) अच्छी तरह जम ही गये। मीडो

की शक्ति का क्षेत्र हमदान के आसपास और परसूआओं का उनमिआ झील के पश्चिमी भाग मे था। मीडों ने हमदान तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। केस्पिअन के पूर्व मे हिरात और खुरासान तक पार्थव आ जमे। वे ही आगे चलकर पार्थियन कहलाए। यो तो इण्डोआर्यनों के और भी कबीले थे किन्तु उनमें से सगरत (ज़िकितुँ) जो तबरीज़ तक बढ आये थे, उल्लेखनीय हैं। परसुआ धीरे-धीरे बढ़ कर शुस्तर के पूर्व की पहाड़ियो के प्रान्त मे आकर बस गये। उसी प्रान्त को असीरिया वाले 'परसुमश' कहते थे।

मीडिया

यद्यपि हिट्टी, मिट्टनी और कुछ अश तक लीडियन लोग भी आर्य जाति की उस शाखा के थे जो काले समुद्र के पास से एशिया माइनर होती हुई ईरान तथा हिन्दुस्तान तक फैल गयी थी किन्तु उनका इतिहास तथा उनकी सभ्यता न तो उतनी दीर्घकालीन अथवा महत्त्व की रही जितनी कि ईरान के आर्य लोगों की। ईरान के उत्थान के पूर्व महत्त्वशालिनी सभ्यताएँ सिन्धु, नील तथा दजला फरात की तलहटियो में फैली थी। उनकी निर्मात्री सम्भवत: द्रविड हेमेटिक तथा सेमेटिक मानव शाखाएँ रही होगी। किन्तु असीरिया के पतन के अनन्तर खाल्दिया, अरब के उत्तरी ओर मेसोपटामिया मे और पूर्वीय प्रदेशों मे उनके उत्तराधिकारी हुए। मीड आर्य शाखा से थे। उनके युग मे मानव सभ्यता के निर्माण मे आर्य लोगो ने उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण भाग लिया। व्यापकता, महत्त्व तथा स्थायी प्रभाव की दृष्टियो से आर्य सभ्यता उन सब पूर्व सभ्यताओ से बढ़ गयी और अपनी विशेषताओं की छाप ससार पर डालती रही। प्रस्तुत प्रसंग मे ईरान की सभ्यता का दिग्दर्शन आवश्यक है। इसका मुख्य कारण यह है कि यूरोप तथा भारत के बीच मे उसने कड़ी का ही काम न किया वरन् दोनों पर कुछ-न-कुछ अपना प्रभाव भी डाला। इसके सिवा अनेक शताब्दियो तक उन्होंने चीन की बर्बर जातियो से प्राचीन सभ्यताओं की रक्षा की।

केस्पिअन सागर और फारस की खाडी के बीच मे जो त्रिभुज भू-भाग है वह ईरान के नाम से प्रसिद्ध है। वह पठार पहाडियो से घिरा है जिनकी लम्बाई तीन सौ साठ और चौडाई एक सौ बीस मील है। उस पर्वतमाला में अनेक घाटियाँ हैं जिनकी लम्बाई तीस से साठ मील तक और चौड़ाई छ. से बारह मील तक है। उनमें सुन्दर चरागाहो के सिवा बादाम, पिस्ता, अनार, अंगूर और अंजीर आदि

के पेड़ वहुतायत से पाये जाते हैं। गेहूँ, जौ, रुई की अच्छी पैदावार होती है। त्रिभुज के उत्तर में अलवुर्ज नामक विशाल पर्वत है जिसकी चोटी उन्नीस हजार फुट ऊँची है। दजला के वायी ओर उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व को जगरोश नाम की पर्वतमाला के पीछे समुद्र के सूख जाने से वहुत वड़ा रेगिस्तान वन गया है। इस प्रकार ईरान के कुछ भू-भाग पथरीले, कुछ हरे-भरे, कुछ जंगली और कुछ रेगिस्तानी हैं। साधारणत. वहाँ की आवहवा खुश्क है। गरमी मे भयकर गरमी तथा जाड़े मे कड़ाके का जाड़ा पडता है। किन्तु वहाँ की वायु शुद्ध तथा स्फूर्तिदायक और स्वास्थ्यवर्द्धक है। वहाँ नदियो के सिवा नहरो से भी भलीभाँति काम लिया जाता है। फारस मे फल-फूलों की तो वहुतायत है किन्तु अन्न की कुछ कमी है। अनेक प्रकार के पशु भी वहाँ हैं किन्तु दुवा भेड़ तथा घोड़े विशेषतया उल्लेखनीय हैं। वहाँ के निवासी मास और फलो का अधिक तथा अन्न का कम उपयोग करते रहे हैं। अच्छे घोड़ो के कारण वहाँ घुड़सवारी का शौक लोगो मे वहुत पहले से ही पैदा हो चुका है। उनके हृदय मे स्फूर्ति तथा विचारो और भावो मे काव्य और कल्पना का उद्रेक हुआ जिससे उनमे अहम्मन्यता की वृद्धि होती रही है। ईरान मे पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यताओं की लहरे आती रही जिनसे उसकी उन्नति मे अच्छी सहायता मिली।

दजला नदी के पूर्वी तथा उत्तरी प्रान्तो में अनेक आर्य कवीले या तो वस गये थे अथवा इधर-उधर घूमते-फिरते थे। नवी शती ई०पू० के एक लेख से पता चलता है कि कुर्दिस्तान की पहाड़ियो के परसुआ प्रान्त मे सत्ताईस विभिन्न शासक थे किन्तु मैदान मे अरदई या मीड लोग थे, जिनके छ कवीले थे। अर्द्ध घुमक्कड़ होने के कारण वे न दे के तम्वुओ मे रहते थे। जव कहीं वस जाते तव वस्ती के चारो ओर मिट्टी की दीवाल वना लेते थे। वे पशुपालन करते, घोडो, वैलो, वकरो, भेडो और कुत्तो के गिरोह रखते, गाड़ियो से भी काम लेते थे। जहाँ सम्भव हुआ वे जमकर खेती करने लगते थे। वे वीर, शिकार के वड़े शौकीन और प्रसिद्ध धनुषधारी थे। उनका समाज पैतृक था और उनमे वहुविवाह की प्रथा थी। प्रत्येक कवीला या गिरोह स्वतन्त्र था किन्तु आपत्काल मे वे सव मिल जाते थे। वे लोग आर्य भाषा वोलते थे। कहा जाता है कि वे समरकन्द, वुखारा, मर्व, वल्ख और खुरासान होते हुए ईरान मे फैल गये थे। उनको सोना-चाँदी, सीसा, ताँवा, लोहा तथा मणियो का भी ज्ञान था।

मीडो का दमन करने के लिए असीरिया के सम्राटो ने अनेक प्रयत्न किये।

हजारों मार डाले गये और गुलाम की तरह पकड़ कर निर्वासित किये गये। तथापि वे संघर्ष करते ही रहे और संघर्ष जारी रहा। इस परिस्थिति से व्याकुल होकर मीडो ने पोओक (दिओकस) नामक एक नेता या राजा चुन लिया। वह वीर और न्याया-प्रिय था। उसने उनको संगठित करके अपनी राजधानी एकवताना में जो हमदान के समीप है स्थापित की। तभी से वहाँ एकसत्तात्मक राज्य का आरम्भ हुआ (७०८ से ६५५ ई० पू०)। असीरिया के वल को विचारकर उसके उत्तराधिकारियो ने कुछ समय तक शान्तिपूर्वक कर देने की नीति का अनुसरण किया। दो पीढ़ी तक शान्ति रखकर उनके राजाओ ने अपने सगठन को दृढ़ कर लिया और युद्ध करके अन्य कवीलो को भी अपने अधीन वना लिया। केमेरियन वश भी उनके साथ था।

कायक्षत्रस (६३५—५८४ ई० पू०) ने शासन को तथा वरछे वालों, धनुर्धरों और सवार सेना को विशेषत: ऐसा संगठित किया कि उसका आतक चारों ओर फैलने लगा। फिर उसने असीरिया पर भयंकर आक्रमण किया और निनेवह को घेर लिया। यदि स्काइथियन लोग मीडिया पर भयकर आक्रमण न करते तो संभवत: वह निनेवह को फतह कर लेता। फिर भी उसने स्काइथियन आक्रमणकारियों के मुख्य नेता को छल से मारकर और उसकी सेना को हराकर निनेवह पर पुनर्वार चढ़ाई कर उसे नष्ट-भ्रष्ट किया और जला दिया। (६१२ ई० पू०) असीरिया के छत्र-भग से मीडो का मार्ग प्रशस्त हो गया। मीड राजा पश्चिम की ओर आरमीनिया तथा केपेडोशिआ जीतकर आगे वढ़ा किन्तु लीडिया वालो ने उसको रोका। सात वर्ष तक युद्ध होने के पश्चात् दोनो मे सन्धि हो गयी (५८५ ई० पू०)। हालिस नदी (किजिलहरमक) दोनो राज्यो की सीमा निश्चित हुई। मीडो का राज्य हालिस नदी से भारत की सीमा तक माना गया। कायक्षत्रस का उत्तराधिकारी इष्टवेग वैभव से मदान्ध होकर सैर-शिकार मे फँस गया। शासन में ढील पडने से असन्तोष वढ़ा। उस परिस्थिति से लाभ उठाकर परशु प्रदेश के हखमनिश कुल के नेता कायरस ने, जिसका प्रभुत्व एलाम तक हो गया था, मीडों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मीडिया राज्य के स्थान पर परशिया राज्य कायम हो गया (५५० ई० पू०)।

यद्यपि मीडों ी सभ्यता ने कोई भारी उन्नति तो न की तथापि उन्हे ३६ अक्षरों की वर्णमाला तथा पार्चमेण्ट कागज पर कलम से लिखने का ज्ञान था। उनमे एक वंश 'मग' लोगों का था जो सम्भवत: कर्मकाण्डी रहे होंगे। वे मांस न

खाते, एक पत्नी-व्रती होते और सादा एवं शुद्ध जीवन व्यतीत करते थे। उनमें एक प्रकार की संस्कार विधि प्रचलित थी। प्रकृति के चार तत्त्वों क्षिति, जल, पावक ौर समीर का पूजन वे फल-फूलो अथवा पशुवलि द्वारा करते थे।

फारस (५३५–३३१ ई० पू०)

परसुआ की कुर्दिस्तानी पहाडियो पर अनेक छोटे-मोटे रजवाड़े थे। इन रजवाड़ो मे इण्डोआर्यन भापा वोली जाती थी, सम्भवत: वहाँ के निवासी दक्षिण रूस की ओर से वुखारा, समरकन्द तथा मर्व होते हुए ईरान मे आकर वस गये थे। मीडों की तरह ये भी मानव की आर्य शाखा के लोग थे। अनुमान किया जाता है कि जव मीडों का साम्राज्य वढ़ा तव उन लोगो के सवसे प्रमुख वंश पसरगदी के हखमनिश नामक कुल के लोग परसुआ से हटकर एलाम की तराई मे आकर वस गये और वहाँ के शासक वंश से उन्होने राज्य छीनकर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया। उनके कम्विसस प्रथम नामक राजा का विवाह मीडिया के राजा अस्त्यगस की पुत्री से हुआ जिससे उसका महत्त्व और भी वढ़ गया।

हखमनिश (एकेमेनी) वंश का पहला प्रतापी राजा करण का पुत्र कायरस हुआ (५५३ वर्प ई० पू०)। उसने मीडिया के सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह का झडा उठाया। सम्राट् की सेना ने भी कायरस का साथ दिया और उसे अपना नेता स्वीकार कर लिया।(५५० ई० पू०)। वह मीडिया का सम्राट् तो था ही किन्तु उसने अपने को फारस का सम्राट् भी घोपित किया। मीडों के प्रति उसका वर्ताव शिप्ट तथा सहानुभूतिपूर्ण रहा। अपनी सेना मे उन्हें भरती करके उसने उन्हे आत्मसात कर लिया।

कायरस की पहली टक्कर लीडिया के राजा क्रीसस से हुई, क्योंकि उसने फारस के नये सम्राट् की वढती हुई शक्ति का शीघ्र ही दमन करना आवश्यक समझ कर उस पर आक्रमण करने की योजना वनायी थी। क्रीसस को आशा थी कि वेवीलान, यूनान तथा मिस्र की राजशक्तियाँ उसकी सहायता करेगी। यह समाचार पाते ही कायरस ने उस पर चढाई कर दी। युद्ध के पूर्व उसने क्रीसस को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित किया, किन्तु उसने इंकार कर दिया। युद्ध मे कायरस की विजय हुई (५४६ ई० पू०)। क्रीसस पकडकर नजरवन्द कर लिया गया। लीडिया की राजधानी मे कायरस की पताका फहराने लगी। तदनन्तर एक के वाद दूसरा नगर जीतकर फारस वालो ने ईजियन सागर के पूर्वी

तट तक अपना साम्राज्य वढ़ा लिया। उसी प्रकार पूर्व तथा उत्तर में भी उन्होंने समरकन्द, मर्व आदि स्थानो को जीतकर सर दरिया तक अपना साम्राज्य वढ़ाया। पूर्व मे शकस्तान (सिजिस्तान) तथा मकरान तक उन्होंने अपनी राज्य सीमा वढ़ा ली। कायरस की प्रवल शक्ति के सामने बेवीलोन ने भी शिर झुका दिया। बेबी-लोनिया का राजा नबूनेद अपने देवताओं को लेकर भाग गया (५३९ ई०)। उसकी प्रजा ने कायरस का स्वागत किया। कायरस ने इस प्रकार तीन साम्राज्यों को मिलाकर एक वहुत वड़े अधि-साम्राज्य की स्थापना की। उसकी विजयो का रहस्य उसके श्रेष्ठ धनुर्धारियो की वीरता ही नही वरन् उसकी उदारनीति भी थी। वह न तो किसी के देवी-देवताओ या देवालयो का अपमान करता था, न व्यर्थ के लिए नगरो का विध्वस करता, न पराजित लोगों के साथ कड़ा, अनावश्यक क्रूरता का व्यवहार करता था अपितु वह उनका उचित सम्मान करता था। मर्दुक को तो वह देवादिदेव उपाधि के साथ सम्मानित करता रहा। जिस देश में वह जाता वहाँ के शासक वंश का अपने को उत्तराधिकारी मानता था और वैसा ही व्यवहार करता था। इसके अतिरिक्त विजित प्रान्तो में वह यथाशीघ्र शान्ति की स्थापना तथा शासन की व्यवस्था कर देता था। सेमेटिक लोगो की-सी निर्दयता, फारस वालो मे न थी। इन्ही कारणों से कायरस का विरोध सफलता न प्राप्त कर सका। ५२८ ई० पू० मे किसी उत्तरी शक जाति के साथ युद्ध में कायरस का निधन हो गया। कहा जाता है कि शक वंश की उसकी एक रानी तोमाश्रिस ने वदला लेने के लिए उसे धोखा देकर फँसवा दिया जिससे उसकी पराजय और मृत्यु हो गयी।

कायरस के उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र कम्बिसस ने वद्दुओ की सहायता से मिस्र पर चढ़ाई की। मेम्फ़िसनगर को अड्डा बना कर न्यूबिया तक के मिस्र देश पर उसने अधिकार कर लिया (५२५—२४ ई० पू०)। यद्यपि कार्थेज और न्यूबिया जीतने का उसने प्रयत्न किया, किन्तु मरुभूमि में उसकी सेना नष्ट हो गयी और वह विफल रहा। फोनीशिया के जलसैनिको ने कार्थेज पर आक्रमण करने से साफ इन्कार कर दिया।

मिस्र से जब कम्बिसस लौट रहा था तब उसे समाचार मिला कि वरदिया नामक उसके भाई ने राज-सिहासन पर अपना अधिकार जमा लिया है। इस समाचार से बौखला कर वह पागलो की तरह अत्याचार करने लगा। कहा जाता है कि उसी पागलपन मे उसने आत्महत्या कर ली। तदुपरान्त बरदिया ने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया। प्रजा को स्वानुकूल करने के लिए उसने तीन वर्ष के लिए कर

माफ कर दिये और युद्ध के लिए बलात् सैनिक भरती करना बन्द कर दिया। किन्तु केन्द्रीकरण की उसकी नीति तथा कुल देवताओ की उपेक्षा के कारण सामन्तों मे असन्तोष फैला। फलतः दरयावोश (दारा) के नेतृत्व मे उसका वध कर दिया गया (३२२ ई० पू०)। वरदिया के वध की घटना कुछ समय तक गुप्त रखी गयी जिससे लाभ उठाकर मगश वशी (मीडी) गोमत नामक व्यक्ति ने अपने को वरदिया होने की घोषणा कर दी। कम्विसस के अत्याचारो से दुखी होकर लोगो ने गोमत को अपना राजा मान लिया। जव पार्थिया के प्रशासक के पुत्र दरयावोश ने उसके पाखण्ड का भण्डाफोड़ कर दिया, तव लोगो ने उसको मार डाला और दरयावोश को अपना सम्राट् मान लिया। दरयावोश का जन्म हखमनी वश में हुआ था, अतः उसके वशज हखमनी के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध हुए। दारा ने ज़रथुष्ट्र के मत को अपना लिया और मीडो के मत का विरोध किया।

दारा प्रतापी, योग्य, चतुर और उत्साही सम्राट् सिद्ध हुआ। दो वर्ष में ही उसने शान्ति स्थापित कर दी जो बीस वर्ष तक निर्विघ्न रही। मिस्र वालों को भी उसकी उदारता और सहानुभूति से अपूर्व सन्तोष हुआ। उसका साम्राज्य पूर्व में सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उस विशाल साम्राज्य की राजधानी सूसा नगर मे स्थापित की गयी। पश्चिमी प्रदेश सिक्को और पूर्वी देश पदार्थों के रूप में वार्षिक कर देते थे। उससे इतनी आय थी कि उसे फारस पर कोई कर लगाने की आवश्यकता न रही। मीडिया और परसिया केवल सैनिक भेजते थे। साम्राज्य की आय अन्य वस्तुओ को छोड़कर चालीस करोड़ नकद थी। उतना बड़ा और उतना समृद्धिशाली साम्राज्य उस समय तक पृथ्वी पर कही न बना था। इतने बड़े साम्राज्य का शासन करना, जिसमे विभिन्न जातियो एवं संस्कृतियो के लोग रहते थे, मानव-संगठन की क्षमता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

दारा के सामने एक मुख्य प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि भूमध्य तथा काले सागर के तट पर स्थित ग्रीक रियासतो के प्रति उसकी क्या नीति होनी चाहिए। ग्रीक लोग शिक्षित, नाविक, युद्धप्रिय, उद्यमी एवं व्यवसाय-कुशल थे। उनका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध स्पार्टा और एथेन्स के राज्यो से रहता था। प्रत्येक नगर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना तथा अन्य नगर-राज्यो से प्रतियोगिता मे आगे रहना चाहता था। अपने साम्राज्य को काले सागर के तट तक बढ़ाकर ग्रीको की रियासतो को उसके अन्दर लाने की कामना दारा के लिए अस्वाभाविक न थी। चिन्ता केवल इस बात की थी कि उनसे युद्ध करते समय सेना बहुत दूर तक फैल जायगी जिससे स्काइथियन

जाति के संचरणशील समूह उस पर आक्रमण अथवा लूट-मार करने का अच्छा अवसर पा सकते थे। अतएव उसने सबसे पहले स्काइथियनों पर आक्रमण करना निश्चित किया क्योंकि इस अभियान में सफलता प्राप्त होने से स्काइथिया की सोने की खानों पर भी उसका अधिकार हो जाने की सम्भावना थी।

कई लक्ष सेना सहित ईरानियो ने वासफोरस पार कर यूरोप पर चढाई की (५१२ ई० पू०)। एशियाई शक्ति का यूरोप पर सबसे प्रथम आक्रमण होने के कारण इतिहास मे इस अभियान का विशेष महत्त्व माना जाता है। थ्रेस विजय कर दारा ने वहाँ एक प्रबल सेना नियुक्त कर दी।

ग्रीको की अधिकाश सुसम्पन्न, सुशिक्षित जनसंख्या दारा के आधिपत्य के अन्तर्गत पहले ही आ चुकी थी। शेष ग्रीको को भी मिला लेने की अभिलाषा दारा के लिए स्वाभाविक थी। इसके सिवा एथेन्स को स्पार्टा की ओर से भयंकर शका रहती थी। स्पार्टा फारस का घोर विरोधी था। एथेन्स मे एक ऐसा दल पैदा हो गया था जो फारस से मैत्री स्थापित करना चाहता था। उस उद्देश्य से क्लीस्थिनीज के नेतृत्व मे एथेन्स ने फारस से मेल करने के प्रस्ताव भेजे जिनके स्वीकृत होने के पहले ही एथेन्स की जनता क्लीस्थिनीज के विरुद्ध हो गयी और वह देश से निष्कासित कर दिया गया। दो वर्ष वाद इस आन्दोलन का हिपिअस नामक नेता भी अत्याचारी होने के दोप पर देश से वहिष्कृत कर दिया गया। हिपिअस को पुनः अधिकार वापस करने के लिए दारा के भाई अर्तफेनीज़ ने जो सारडिस का गवर्नर था, एथेन्स को मजबूर करना चाहा। धमकी से एथेन्स वाले उत्तेजित होकर लडने के लिए तैयार हो गये। ऐसे अवसर पर आयोनिया के यूनानियो ने भी फारस के विरोध का झण्डा उठाया। एथेन्स ने उनकी सहायता के लिए बीस जहाज भेज दिये। विरोधियो ने सारडिस पर आक्रमण कर उसमे आग लगा दी। ईरानियो ने लीडिया के लोगो की सहायता से आक्रमण को निष्फल कर दिया। विद्रोहियो को पीछे हटना पडा, किन्तु ईरानियों ने उनको बुरी तरह हरा दिया। उधर ग्रीक राज्यो मे आपसी झगडे आरम्भ हो गये जिससे जो नौ-सेना आदि आयी थी, वापस चली गयी। किन्तु धीरे-धीरे झगड़ा वढ़ता ही गया। ईरान का विरोध और विरोधियों का दमन वढ़ते-वढ़ते घोर युद्ध की नौवत आ गयी। इस प्रसंग मे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एशियाई तट के यूनानी राज्यों तथा ग्रीस मे भी प्रायः निरंकुश अनाचारी शासन-विधान प्रचलित थे। दारा का दामाद मर्दोनिअस जब प्रमुख सेनापति नियुक्त हुआ तब उसने यह घोपणा की कि ईरान का मुख्य उद्देश्य निरकुश अनाचारी शासन

के स्थान पर जनसत्तात्मक शासन, जैसा कि ग्रीस राज्यो मे प्रचलित है, स्थापित करना है। इस कार्य मे ईरानियो को इतनी सफलता हुई कि यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने भी उनकी प्रशंसा की। दारा को यह आशा थी कि ग्रीस के राज्यों मे जनसत्तात्मक पक्ष के लोगो को उसकी नीति से वल प्राप्त होगा और वे उसका स्वागत करेगे। किन्तु ईरानियो को आशाओ के निष्फल होने के कारणो मे सबसे मुख्य तो दैविक घटना थी। समुद्र मे एकाएक भयकर तूफान ने ईरानियो के तीन सौ जहाज डुवा दिये। जिससे वीस हजार सैनिक डूब गये (४९२ ई० पू०)। उस दुर्घटना के जमाने मे मर्दोनिअस को जो अवाध सफलता प्राप्त हो रही थी, उसमे विघ्न पड गया। मेसीडोनिआ के एक युद्ध मे उसकी सेना हार गयी और घायल होने के कारण उसको ईरान लौटना पड़ा। उसके स्थान पर मीड वशी दत्तीस सेनापति नियुक्त हुआ (४९० ई० पू०)। सबसे वडी भूल तो यह हुई कि स्थल मार्ग से चढकर ग्रीस पर आक्रमण करने की नीति को त्याग कर जहाजी वेडे से एथेन्स जीतने का प्रयत्न किया गया। दूसरी भूल यह हुई कि शक्ति-प्रदर्शन के लिए सेना ने एवीट्रिआ के देवस्थानो को जला दिया जिससे ग्रीस मे रोप और अविश्वास वढ गया। फलत· ईरानी सेना को सहयोग के वदले प्रचण्ड विरोध का सामना करना पडा। मेराथान के मैदान मे दत्तीस को एथेन्स की सेना ने परास्त कर दिया। इस पराजय का प्रभाव ग्रीस के इतिहास और सास्कृतिक विकास पर अभूतपूर्व सिद्ध हुआ, किन्तु उसके कारण मिस्र देश मे फारस के खिलाफ विद्रोह की आग भडक उठी। यदि दारा का सकल्प सफल होता तो शायद ससार के इतिहास और सभ्यता का रूप ही कुछ और हो जाता। किन्तु यह यश प्राप्त होने के पहले ही मृत्यु ने उसे ग्रस लिया (४८५—८६ ई० पू०)। प्राचीन काल के इतिहास मे दारा प्रथम फारस का सबसे वड़ा सम्राट् हुआ जिसका नाम आज तक इतिहास और साहित्य मे जीवित है।

उसके उपरान्त उसका पुत्र जेरेक्सीज सम्राट् हुआ। यद्यपि उसमे उत्साह था, किन्तु तदनुकूल पराक्रम न था। उसने अपने पिता के सकल्प को पूर्ण करने और सैनिक समारोह का लाभ उठाने के लिए पहले तो वेवीलोन राज्य को निरस्त कर दिया। तदनन्तर मिस्र के उपद्रवो को शान्त किया। उनसे निश्चिन्त होकर उसने यूनान पर जल तथा स्थल मार्ग से चढाई कर दी। यूनान की रियासतो ने सम्मिलित होकर फारस की सेना का सामूहिक विरोध किया। प्लाटी के मैदान मे युद्ध ठना (४७९ ई० पू०)। दुर्भाग्यवश फारसी सेना के सेनापति मर्दोनिअस का निधन हो गया जिससे उसे मैदान से हटना पड़ा। यही नही, ईरान का जहाजी वेड़ा भयंकर तूफान

के कारण अस्त-व्यस्त हो गया। उसी क्षीण दशा में यूनानियो ने उसपर सेलमिस में आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त कर ली। ग्रीकों का उत्साह, पराक्रम और साहस ही फारसी सेना की पराजय का एकमात्र कारण न था। फारसी सेना में कई आन्तरिक कमजोरियाँ थी। सबसे पहली कमजोरी यह थी कि फारसी सेना विभिन्न प्रान्तो के ऐसे सैनिक दलो को मिलाकर बनी थी जिनका अपना-अपना स्वतन्त्र संगठन था। उन दलो ने न तो किसी व्यापक सिद्धान्त या विधान पर, न साम्राज्यीय स्तर पर सगठन और संचालन का कोई सन्तोपजनक प्रबन्ध किया था। फलत: उसकी क्षमता और आघात शक्ति सेना की विशालता के अनुकूल न थी। दूसरी यह कि उतनी विशाल सेना के लिए खाने-पीने और रसद पहुँचाने का यथेष्ट प्रबन्ध न था। बिजित प्रान्तो में जो साधन प्राप्त हो सकते थे उन पर ही उनको अधिकतर भरोसा करना पडता था। सैनिक जबरदस्ती लूट, छीन-झपट कर येन केन प्रकारेण अपना काम चलाने का प्रयत्न करते थे, किन्तु उससे उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति न हो पाती थी। इससे उनको जो कष्ट और असुविधा होती उससे बहुत अधिक कष्ट विजित प्रदेशो की प्रजा को भोगना पड़ता था। तीसरी यह कि फारस की नौ-सेना के नाविको मे आयोनिआ तथा समुद्रतट के निवासी ग्रीक बड़ी संख्या मे थे। उनकी सहानुभूति विरोधी ग्रीको के साथ थी, अत: फारस की विजय के प्रति वे उदासीन थे। इन सब त्रुटियो के सिवा सबसे बड़ी कमजोरी सेना-संचालको की अक्षमता और रण-कौशल की कमी थी। जेरेक्सीज मे कायरस और दारा की-सी योग्यता का अभाव था। मर्दोनिअस का निधन हो गया था और उसके स्थान की पूर्ति करने वाला कोई अन्य सेनानायक ईरानियो के यहाँ न था। ईरान की असफलता से यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि ग्रीस वाले अधिक शक्ति-शाली थे और ईरान उन पर विजय प्राप्त करने की क्षमता सदा के लिए खो बैठा था। ईरानियो के पास इतने साधन थे कि यदि वे चाहते तो बारम्बार आक्रमण कर सकते थे। किन्तु उधर ध्यान न देकर वे अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यो मे लग गये। ग्रीको की ओर से उन्हे कोई भी आशका न थी।

प्लाटी और सेलमिस की दुर्घटनाओ से ईरान का आतक क्षीण हो गया तथा यूनानियो का आत्मविश्वास, उत्साह और साहस बहुत बढ़ गया। उनका प्रभाव दोनो महाद्वीपो के इतिहास और सभ्यता पर ऐसा पडा कि जिसका मूल्य अभी तक आँका नही जा सका। इतना अवश्य है कि कई शतियो तक सभ्यता का प्रवाह पूर्व से न जाकर पश्चिम की ओर से आता रहा। जेरेक्सीज क्रोधी, आलसी, दुर्बल तथा

विलासी था। उपर्युक्त दुर्घटनाओ से उसका आतंक नष्ट हो गया। षड्यन्त्र करके उसका वध कर दिया गया।

ईरान की शक्ति एवं प्रताप का उत्तरोत्तर क्षय होता चला गया, यद्यपि कई सम्राट् साधारण योग्यता के हुए तथापि ईरान की अवनति होती ही चली गयी। यूनान के राज्यो मे पारस्परिक झगडे बनाये रखने तथा किसी को भी बहुत प्रबल न होने देने की नीति ईरान ने ग्रहण की। इसी युक्ति के कारण यूनान की ओर से उसको कम चिन्ता रही। ईरान के सम्राट् का प्रताप क्षीण होने के कारण मिस्र ही मे नही, वरन् ईरान मे भी उपद्रव होने लगे। जेरेक्सीज के पुत्र अर्तजेरेक्सीज़ के भाई ने जो बेक्ट्रिआ (बल्ख) का प्रशासक था, विद्रोह कर दिया। विद्रोह का दमन कर अर्तजेरेक्सीज़ ने अपने सब भाइयो का वध करवा दिया। फिर उसने मिस्र पर चढ़ाई की। नील नदी के मुहाने से ग्रीको को भगाकर उसने पुनः फारस पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अर्तजेरेक्सीज़ की मृत्यु के पश्चात् फारसी 'साम्राज्य का आतंक घटता रहा। गृहयुद्ध, राजकुल मे रक्तपात, प्रान्तो मे विद्रोह और स्वच्छन्द होने के आन्दोलन आदि उपद्रव होते रहे। पश्चिमी एशिया और मिस्र फारस के अधिकार से निकलते चले गये। फारस के सम्राट् अर्तजेरेक्सीज़ ने विशृंखलता रोकन का प्रयत्न किया। अपने भाइयो और बहनो का वध करवा डालने के बाद उसने मिस्र पर आक्रमण किया और फेरो को भगाकर फिर फारस का आधिपत्य स्थापित कर लिया। एशियाई कोचक को भी उसका आधिपत्य स्वीकार करना पडा। विद्रोहियो का बडी क्रूरता से दमन किया गया। फारस का साम्राज्य एक बार फिर अनुप्राणित हो गया। मेसीडोनिया (मकदूनिया) के राजा फिलिप के भय से एथेन्स को भी फारस के सम्राट् से मित्रता स्थापित करने का प्रस्ताव करना पडा। किन्तु जिस वर्ष एथेन्स पर फिलिप ने विजय प्राप्त की उसी वर्ष अर्तजेरेक्सीज को उसके चिकित्सक ने विष देकर मार डाला (३३८ ई० पू०)। षड्यन्त्रकारियो ने राजकुल मे खून-खच्चर मचाने के बाद पैंतालीस वर्ष के दारा तृतीय को राजसिंहासन पर बैठा दिया (३३६ ई० पू०)।

दारा योग्य, अनुभवी और वीर शासक था। अपने गुणो के कारण ही उसको आरमीनिया जैसे प्रान्त के प्रशासन का भार दिया गया था। सिंहासनारूढ होने के लगभग एक ही वर्ष मे उसने मिस्र के विद्रोहियो का दमन कर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। अलेक्जेण्डर (सिकन्दर) जैसे प्रतिभाशाली, अदम्य परा-

क्रमी और रणकुशल सेनानायक से उसकी यदि टक्कर न होती तो सम्भवतः ईरान की शक्ति का यथेष्ठ सगठन वह कर लेता।

अलेक्जेण्डर ने अपने पिता के वध का कारण दारा का षड्यन्त्र बताया, जिसका बदला लेना आवश्यक था। इसके सिवा ग्रीस की कारेन्थियन लीग के प्रधान नायक होने के नाते, उसके पुराने शत्रु फारस को दण्ड देने का भार उसे सुपुर्द किया गया। सिकन्दर से युद्ध करने के लिए एथेन्स ने दारा से सहायता माँगी, किन्तु दारा ने अपनी क्षमता और शक्ति को देखते हुए इन्कार कर दिया। सम्भवत. दारा को सिकन्दर की प्रतिभा और योग्यता का ठीक अन्दाजा न हो सका हो। दारा ने शायद यह भी सोचा हो कि ग्रीस के राज्य आपसी झगडों तथा मेसिडोनिया के आक्रमणो से अव्यवस्थित हो गये, अतः वे अलेक्जेण्डर को यदि सहायता देना चाहे तो न दे सकेंगे। एशिया के ग्रीक राज्यों की अधिकाश सहानुभूति फारस के साथ थी, न कि अलेक्जेण्डर के साथ। इसीलिए दारा ने अलेक्जेण्डर के विरुद्ध बहुत बड़ी सेना नही भेजी। फारस की तथा आक्रामक सेनाएँ करीब-करीब बराबर थी। ग्रानिकस मे पहली टक्कर हुई। पहले ऐसा प्रतीत हुआ कि आक्रमणकारी परास्त हो जायेंगे। एक बार अलेक्जेण्डर मरते-मरते भी बचा। पर अन्ततोगत्वा उसी की विजय हुई। फारसी सैनिको को तो उसने भाग जाने दिया, किन्तु उनके ग्रीक सहयोगियो का कत्लेआम करवा दिया। ईरान पर सीधा आक्रमण न करके अलेक्जेण्डर ने असहयोगी ग्रीक नगरो का विध्वस कर डाला। लूट-मार करके समुद्र के किनारे तक एशियाई कोचक पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके बाद ईसस के मैदान मे ईरानी सेना पर उसकी विजय प्राप्त हुई। दारा तो अपनी सेना को डगमगाता देखकर भाग निकला, किन्तु दमिश्क में उसकी माता, शाहरानी और बच्चे पकड लिये गये। यद्यपि उनका सिकन्दर ने यथोचित सम्मान किया तथापि उन्हे वापस करने से इन्कार कर दिया। दारा ने जब सन्धि का प्रस्ताव भेजा तब उसने उत्तर दिया कि वह इसी शर्त पर हो सकेगी कि अलेक्जेण्डर का वह आधिपत्य स्वीकार कर ले। दारा ने उसे हालस नदी के पश्चिम के प्रदेश तथा बहुत-सा धन देने का प्रलोभन दिया, किन्तु वह प्रयत्न भी विफल रहा।

मिस्र विजय कर अलेक्जेण्डर ईरान की ओर बढ़ा। अरबला के समीप गोग-मेला में ईरानी सेना ने उससे लोहा लिया, किन्तु वह पराजित हुई (३३१ ई० पू०)। दारा युद्ध-क्षेत्र से भाग गया, किन्तु अलेक्जेण्डर ने उसका पीछा न छोडा।

अन्त मे बल्ख के प्रशासक बेसस ने दमगान के समीप दारा का वध कर डाला। दारा तृतीय की मृत्यु के साथ ही ईरान के इतिहास के सम्भवत. सबसे महत्त्वपूर्ण युग का अन्त हो गया। किन्तु ईरान के प्राचीन इतिहास का वह पूर्वार्द्ध मात्र था।

हख़मनी युग की सभ्यता—ईरानी समाज

ईरान के निवासी सुन्दर, सुडौल, पुष्ट, सत्यवादी, वीर और उदार-हृदय थे। उनका साधारण भोजन जौ तथा गेहूँ से बने पदार्थ और विशेष मास थे। उनमे शरीर ढके रहने का ऐसा रिवाज था कि चेहरे को छोडकर शायद ही उनका कोई अग खुला रहता हो। इसका कारण सम्भवत· वहाँ की भयकर सर्दी और सूखी गर्मी थी। वे शिर पर टोपी और पैरो मे कसी चट्टी या जूते पहनते थे। उनकी पोशाक कमीज़ के ऊपर ढीला लबादा थी जिसको वे कमरबन्द से कस लेते थे। उनका अधोवस्त्र पैजामा था। वे श्वेत तथा रगीन और तडक-भड़क या जर्क बर्कदार कपड़ो तथा सुगन्धित पदार्थों के शौकीन थे। स्त्रियो तथा पुरुषो के कपड़ो मे नगण्य-सा भेद था। पुरुष जुल्फ और दाढ़ी रखते थे जिसे वे तेल और कघी से सँवारा करते थे। स्त्रियाँ अंगराग तथा सौन्दर्यवर्धक वस्तुओं का प्रयोग करती थी। सम्पन्न लोग सुन्दर भवनो मे रहते, बागो मे सैर करते, कीमती कालीन, तख्त, मेजे और गद्दी-मसनद लगाते थे। सुसम्पन्न लोग कपड़ो मे ही नही, वरन जूतो तक मे रत्न जडवाते थे। गरीब धक्के खाते थे।

ईरानी लोगो मे सेमेटिक लोगो की तरह निर्दयता न थी। वे पराजित शत्रुओं के साथ क्रूर व्यवहार प्राय. न करते थे। यथासाध्य उन्हे स्वानुकूल करने की चेष्टा करते थे। देश समाज तथा राजद्रोहियो को सकुटुम्ब नष्ट करने मे वे हिचकते न थे। वे लोग बात के धनी थे। उनके वादो पर विश्वास किया जा सकता था। यूनानी भी मानते थे कि ईरानी लोग स्पष्ट तथा सत्यवादी थे। वे शिष्टाचार का बडा विचार रखते, बडो का आदर सम्मान तथा छोटो के प्रति स्नेह का व्यावहारिक प्रदर्शन करते थे। शारीरिक और मानसिक सफाई का उनको बडा ध्यान रहता था। रास्तो पर खाना-पीना, थूकना, नाक साफ करना, वे बुरा समझते थे। कायरस के समय तक वे खाने-पीने मे समय का पालन करते रहे। प्राय. एक बार भोजन करते तथा सुरापान से बचते थे। कुरुश के समय से सुरापान का रिवाज़ बढा। कर्म-काण्ड के अवसर पर वे हौम (सोम) पीते थे जिसमें सुरा के अवगुण के बदले शुभ गण माने जाते थे। व्यभिचारी तथा दुराचारी को कठोर दण्ड दिया जाता था।

ये गुण साम्राज्य तथा सम्पत्ति की वृद्धि के साथ कम होते गये। स्त्रैणता, मद्यपान, चटोरापन और व्यभिचार बढ़ गया। वे लोग विवाहित और गृहस्थ जीवन को अविवाहित जीवन से बहुत श्रेष्ठ मानते थे। यद्यपि वहाँ बहु-विवाह दण्डय न था तथापि उसे वे अच्छा न समझते थे। भाई बहिन, पिता पुत्री, माता और पुत्र के विवाह का रिवाज, कम से कम, मग लोगो मे तो अवश्य था। धनी और सम्पन्न, लोग उपपत्नियाँ रख लेते थे। दारा के पहले स्त्रियो मे पर्दा न था, किन्तु उसके बाद उसका रिवाज अमीरो मे शुरु हो गया। विवाहित स्त्री का अपने पिता, भ्राता, और बन्धुओं से मिलना कठिन हो गया। पुत्रियो का जन्म लेना लोग पसन्द न करते थे, किन्तु भ्रूण हत्या को वे घोर पातक मानते और उसके लिए प्राणदण्ड देते थे। विवाह की उम्र वहाँ पन्द्रह वर्ष की ठीक समझी जाती थी।

आर्थिक स्थिति

ईरान का सामाजिक और आर्थिक जीवन चार श्रेणियो मे विभक्त था। सम्राट् और उसके कुटुम्ब का स्थान सबसे ऊँचा था। उसके बाद वंशानुगत जमीदारो और उसके पदाधिकारियों का स्थान था। धर्माधिकारियो का भी विशिष्ट स्थान था और उनका सम्मान होता था। सबसे नीचा स्थान था साधारण जनता का जिसमे किसान और मजदूर थे। जमीदारों के कठोर पंजे मे वे कसे रहते थे। सारांश यह कि शक्ति और सम्पत्ति राजवंश और जमीदारो की बपौती थी। ईरानी लोग कृषि तथा बागवानी को श्रेष्ठतम व्यवसाय मानते थे। खेती अलाहदा अलाहदा अथवा मिलकर भी की जाती थी। जिनके पास जमीन न होती वे ज़मीनदारो से उपज का एक भाग देने की शर्त पर जोतने के लिए उसे ले लेते थे। ज़मीन की सिचाई ज्यादातर वर्षा पर या नदियो के जल पर निर्भर थी। ईरानी लोग नहरे भी बनाना जानते थे। जहाँ पानी की कमी होती वहाँ नहरो द्वारा, पहाड़ियो या नदियो से नालियो द्वारा पानी लाया जाता था। जहाँ दलदल था वहाँ से पानी निकालकर भूमि को कृषि योग्य बना लिया जाता था। ईरान की इस कला का अनुकरण अनेक देशो ने किया। राज्य की ओर से प्रेरणा दी जाती थी कि अन्य देशो मे वृक्षो और फलो के पेडों को लाकर ईरान मे लगाये। लोगो को बाग लगवाने का शौक था। ईरान मे नदियाँ तथा उपजाऊ भूमि अनुपातत: कम थी, इसलिए, अन्न कम होता था। अतएव उसकी कमी फलो तथा मांस से पूरी की जाती थी। शिकार और मछली पकड़ने का लोगो को शौक था।

ईरान मे व्यापार तथा तत्सम्बन्धी व्यवसायो की चिन्ता कम थी। बाहरी साम्राज्य से धन प्राप्त कर ईरान के लोग तैयार माल खरीदना काफी समझते थे। व्यापार एव सेना सचालन के लिए उन्होने अच्छी और बहुत-सी सडके बनवा दी थी। एक सड़क तो १५०० मील लम्बी थी। सडको के पास अच्छी-खासी सराएँ, शाही डाक बँगले थे। सड़को पर पथिको की रक्षा का प्रबन्ध रहता था। ईरान का व्यापार क्षेत्र एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप तक फैला हुआ था। नदियो के मार्ग से भी लाभ उठाया जाता था। आवश्यकता पडने पर उन पर पुल बना दिये जाते थे। दारा ने मिस्र की नील नदी से लाल समुद्र को जोडनेवाली नहर की सफाई करवा कर उसे पूरा भी करा दिया जिससे जहाज आने-जाने लगे। वहाँ का व्यापार विदेशियो के हाथ मे था क्योकि ईरानी उसे नीची नजर से देखते थे। साम्राज्य के प्रान्तो के टैक्सो से राजकोप मे इतना धन और सम्पत्ति आती थी कि उससे शासको की सभी आवश्यकताएँ अच्छी तरह पूरी हो जाती थी। लीडिया के सिक्को की देखादेखी वैसे ही सोने और चाँदी के निश्चित वजन के सिक्के दारा के समय से प्रचलित हो गये थे। बैको की स्थापना से व्यापार बड़े पैमाने पर हो सकता था। चेको द्वारा लेन-देन होता था। नाप और तौल के नियम और साधन भी निश्चित कर दिये गये थे। ईरान साम्राज्य मे लोहा, सोना, चाँदी, ताँबा तथा लकडी आदि सभी आवश्यक धातुएँ काफी मात्रा मे पायी जाती थी। जेरेक्सीज़ के समय मे मजदूरो को मजदूरी का तीसरा भाग सिक्कों मे और बाकी खाद्य या पेय वस्तुओ के रूप मे दिया जाता था। कुछ समय के बाद ही दो-तिहाई मजदूरी सिक्को मे दी जाने लगी। पुरुपो, स्त्रियो और बालको की मजदूरी की दर पेशों तथा योग्यता के अनुसार निश्चित की जाती थी। पुरोहितो की दक्षिणा भी बाँध दी गयी थी। साम्राज्य के कामो मे नियुक्त मजदूरो और उनके वेतन आदि का प्रबन्ध करने के लिए एक विभाग बना हुआ था।

शिक्षा-दीक्षा

जिस प्रकार ईरान वालो को व्यापारादि का शौक न था, उसी प्रकार विद्याभ्यास से भी उन्हे अनुराग न था। सात वर्ष की उम्र होने पर अच्छे घर का बालक पाठशाला जाता था जिसका सचालन पुरोहितो के हाथ मे था। पाठशालाएँ मन्दिरो अथवा पुरोहितो के घर मे लगती थी। धर्म, कर्तव्याकर्तव्य, चिकित्सा तथा कानून की शिक्षा बीस या चौबीस वर्ष की आयु तक दी जाती थी। बालक

प्राय· पाठ कण्ठस्थ कर लेते थे। विनय तथा आचार की शिक्षा को महत्त्व दिया जाता था। कुछ लोगों को शासन कला की भी शिक्षा दी जाती थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे वह अमीर हो अथवा साधारण श्रेणी का, सैनिक शिक्षा, तैरना, अश्वारोहण, अस्त्रशस्त्र सचालन तथा वाण विद्या सीखना अनिवार्य था। शिक्षार्थियों की सहनशीलता की कठोर परीक्षा ली जाती थी। साधारण श्रेणी के लोग पढना-लिखना अनावश्यक समझते थे। सैनिक शिक्षा को ही वे उचित तथा काफी समझते थे। ईरान की शिक्षा का ध्येय व्यक्ति में विनय, शिष्टाचार, व्यवहार-कुशलता तथा वीरता, स्वाभिमान और पौरुष के गुण पैदा करना था। विद्वान् और वुरन्धर पण्डित वनना उनका आदर्श न था।

प्राचीन ईरान मे कई भाषाएँ वोली जाती थी, किन्तु राजभाषा तथा धर्म-भाषा सस्कृत से वहुत कुछ मिलती-जुलती थी। फारसी, एलामी तथा वेविलोनी भाषाओं को राष्ट्रभाषा का स्थान दिया गया था। वेवीलोन के अक्षरो से ईरानियों ने ३६ अक्षर वना लिये थे जो उनके व्यवहार के लिए काफी समझे गये थे। लोगों मे लिखने-पढने का शौक न था। वहाँ लेखक थोड़े वेतन पर नौकर रख लिये जाते और उनसे सव काम लिया जाता था। कविता, गान तथा कहानियों में उनको कुछ रुचि अवश्य थी अन्यथा साहित्य से सम्भवतः उनको कोई सरोकार न था। उनकी राय मे वह व्यर्थ ही था। हाँ, गाने-वजाने, नाच रग से उनका चित्त न उचटता था। यह मनोवृत्ति भी साम्राज्यीय सम्पदा का परिणाम थी। यद्यपि पुरानी फारसी के लेख क्यूनीफार्म लिपि मे ईसा पूर्व सातवीं शती के मिले है तथापि उस लिपि का विकास अत्यन्त शिथिल और नगण्य-सा रहा। इसका एक यह भी कारण हो सकता है कि हखमनी युग मे मिस्र से भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तो तक 'आरमइक' मे प्राय· लिखा-पढ़ी होती थी। फिर भी फारसी के शिलालेख क्यूनीफार्म लिपि मे खचित किये जाते थे। पेपाइरस पर कलम और रोशनाई से लिखने का रिवाज था। ईरान मे मूर्तिकला का विकास वहुत कम हुआ क्योंकि उसके पीछे धार्मिक अथवा कलात्मक प्रेरणा का अभाव था। फिर भी पशुओ के वास्तविक अथवा काल्पनिक भित्ति-चित्र तथा काँसे की वनी मूर्तियाँ सुन्दर, सजीव तथा गति-प्रदर्शक है।

कला

ईरान मे केवल गृह-निर्माण कला का तो यथेष्ट विकास हुआ, किन्तु अन्य

कलाओ का संवर्द्धन न हुआ। ईरानी सभ्यता की यह एक वड़ी कमी रह गयी। गृह-निर्माण के विधान में उनकी कला की अपनी विशेपता थी। उनके यहाँ देवालयों की अविक आवश्यकता न थी, अतएव वहाँ गृह-निर्माण विवान की ही विशेप उन्नति हुई। वहाँ के ध्वसावशेपो से ज्ञात होता हे कि ईरानियों को वडे आँगनो, चवूतरों, वारहदरियों, पतले सुन्दर खम्भो, चौडी सीढियों, खुले वड़े कमरो, दीवारो पर चमकीले पालिशदार रगीन टाइलो को विविध भाँति सजाने तथा वागो का शौक था। कही-कही उन टाइलो पर मेसोपटेमिया के फैशन के चित्र भी वने रहते थे। किन्तु ये सव विशेपताएँ अन्य विदेशी कलाकारों से ली गयी थी। ईरानियो को उनका विशेप श्रेय न था। ईरानी सम्राटो को नगर निर्माण करने का शौक था। सियाक, सूसा, पर्सिपोलिस, विशपुर, फीरोजावाद आदि नगर वड़े शानदार और कलापूर्ण थे। वहाँ के खम्भों, चवूतरों, टाइलों आदि पर वने पशुओ और मनुष्यों के चित्र तथा महलो की वनावट से यह स्पप्ट है कि स्थापत्य कला ने वहाँ अच्छी उन्नति की।

धर्म

आर्यों के आगमन के पूर्व ईरान वाले भूलोक और आकाश के देवता वरुण को प्रमुख देव मानते थे। उसके बाद अहुर मजदा तथा मित्र आदि थे। प्रत्येक आविव्याधि और ज्वर आदि रोगों का मूल कारण कोई-न-कोई दैवी शक्ति समझी जाती थी। सवसे भयकरी शक्ति सुरापान से उन्मत्त 'एपमा' नाम की थी। पिशाचो में भयंकर 'नसुद्रज' प्रवान गिने जाते थे। अनिप्टकारी कष्टदायिनी तथा आपत्ति विपत्ति की फैलाने वाली यावत् शक्तियो का प्रवान, पापात्मा 'अग्रमैन्यु' था। इन सव अनिष्टकर शक्तियों और पिशाचो को शान्त रखने के लिए सुगन्वित द्रव्यों के साथ झाड-फूँक आदि का उपचार किया जाता था। देवताओ को पशु वलि देकर प्रसन्न किया जाता था। मग (मीड) वंश के लोग इन पूजाओ मे पुरोहित और याज्ञिक का काम करते थे। मग पुरोहित युद्ध मे भी सेनाओ के साथ जाते और देवताओं की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे।

कहा जाता है कि आर्य लोग शुभ गुण सम्पन्न देवताओ की कल्पना अपने साथ लेकर आये। उनके सवसे प्रमुख देवता थे आहुर (देवाधिपति) और मजदा (ज्ञान स्वरूप)। आहुर की अनेक पत्नियाँ थी जो प्राय. नदियो की देवियाँ थी। अनाहिता आहुर मजदा की प्रतिरूप मानी जाती थी। प्राचीन हखमनी वंश के

आरम्भ काल में अनाहिता, किरिरिश एवं ननैया आदि नामों से देवी की पूजा खूब प्रचलित थी। उसके बाद मित्र या मिथ्र का स्थान था जो कभी सूर्य, कभी आकाश, कभी 'ऊपा' के रूप में प्रकट होता था। न्याय करना उसका एक विशेप कर्तव्य था। इसीलिए उसके दस हजार नेत्र और हजार कान थे। जिस पर वह प्रसन्न हो जाता उसको हरी-भरी भूमि, गोधन, पुत्र तथा रूपवती स्त्रियाँ प्रदान कर देता। उसे प्रसन्न करने के लिए किसी पुरोहित, पुजारी की आवश्यकता न थी। केवल हाथ उठाकर उसका गुणगान और अपना मनोरथ कहकर सविनय याचना करने ही से काम सिद्ध हो जाता था। यदि कोई अधिक कठिन समस्या आ जाती थी तो होम (सोम) रस के साथ बैल की बलि चढा दी जाती थी। नौरोज के वार्पिक जातीय उत्सव के अवसर पर राजा सोमरस पीकर मस्ती के साथ नाचता और श्वेत घोडे की बलि चढ़ाता था। उसका विशेप कारण यह था कि युद्धो का नेतृत्व भी मिथ्र का ही कर्तव्य समझा जाता था। उसी मे दुष्ट शक्तियो को परास्त करने की क्षमता थी। सग्राम में उसके बायी ओर 'रष्णु' और दाहिनी ओर स्रोप और आगे विजयी धर्म और बल-वीरता प्रदायिनी देवी रहती थी। वेरेत्रघ्न अथवा वृत्रघ्न मायावी देवता था। था तो वह वायु देवता किन्तु इच्छा करने पर पशु-पक्षी अथवा मनुप्य का वेश धारण कर लेता था। राजशक्ति, स्वास्थ्य और वीर्य ओज प्रदान करना प्रायः उसके अधिकार मे था। उपर्युक्त प्रमुख देवताओं के सिवा 'तिप्ट्रपृट्र्य (नक्षत्रो के देवता), माह (चन्द्रमा), जम (पृथ्वी), वाह्य (वायु), अपन नतर (जल), अतर (अग्नि) आदि देवता भी थे। अनाहिता नाम की पर्वत-निवासिनी पवित्र देवी की कृपा से पृथ्वी पर पवित्र जल का प्रवाह बहा। गाय को वे सेवनीय मानते थे। यज्ञ मे होम (सोम) पान को वे धार्मिक कृत्य का अंग समझते थे। यज्ञ के अवसर पर पशुबलि देने की प्रथा भी प्रचलित थी।

उपर्युक्त धारणाओ और विधानो मे प्रख्यात धर्म-प्रवर्तक जरथुष्ट्र ने कुछ विचारणीय सशोधन किये। ईसा की छठी शती मे आरमीनिया या मीडिया प्रान्त में उनका जन्म (६३० अथवा ५३०) हुआ माना जाता है। उनके स्पितम वंशज पिता का नाम पौरुपस्य और जननी का नाम गुग्धोव था। उन्होंने सम्भवतः दो देवताओ 'आहुर' और 'मजदा' को मिलाकर एक 'आहुर मजदा' की कल्पना की और उन्हे देवाधिदेव मानकर उनकी अनन्य भक्ति का प्रचार किया। उनके सिद्धान्त के अनुसार वस्तुत. वही एक मात्र देवता प्रकाशस्वरूप है। उसे किसी अन्य देवी-देवता की आवश्यकता नही, क्योकि वह सर्वशक्तिमान और अद्वितीय है।

उसी ने विश्व की रचना की है और वही सबके भरण-पोषण का प्रबन्ध करता है। इस दृष्टि से जरथुष्ट्र को एकेश्वरवादी मानना चाहिए। प्रचलित देवताओ को वे देवता नही, वरन् दैत्य अथवा मिथ्या कहते थे। किन्तु उनके मतानुसार आहुर मज़दा की विविध शक्तियो की कल्पना की जा सकती है और तदनुसार उन्हे विभिन्न नाम दिये जा सकते हैं। उस दृष्टि से स्पन्त मैन्यु (पवित्रात्मा), आश (धर्मतत्त्व), वोहमन (सद्विचार) आदि सात मुख्य और आशिर (भाग्य), विधि (लोप), सेवा और अतर (अग्नि) गौण शक्तियाँ मानी जा सकती हैं। आहुर मज़दा का विशिष्ट निवासस्थान क्षथ्र लोक है।

शुभ गुण सम्पन्न आहुर मजदा का पापात्मा अहेरिमन से निरन्तर सघर्ष होता रहता है। इस धारणा के मूल मे यह विचार है कि विश्व मे प्रकाश तथा अन्धकार, धर्म तथा अधर्म, पुण्य तथा पाप, ज्ञान तथा अज्ञान का पारस्परिक द्वन्द्व स्वभावतः अनन्त काल से चला आ रहा है। अन्ततोगत्वा शुभ गुणो की अशुभ पर विजय होती रहेगी। पापात्मा के ही कारण ससार मे अनेक प्रकार के कष्ट, वेदनाएँ और पाप फैले हुए हैं। जरथुष्ट्र के मत से 'जीव' ही मुख्य तत्त्व है। शरीर उसका वाहन मात्र है। मनुष्य को स्वतन्त्रता है कि उन दो प्रवृत्तियो मे से वह जिसका चाहे अनुसरण करे। इतना निश्चित है कि अन्ततोगत्वा शुभ की विजय और अशुभ की पराजय होगी। यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्तिम निर्णय न्यायमूलक ही होगा, न कि दयामूलक। सब हिसाब-किताब व्यक्ति के मरने पर किया जायगा। शुभ-गुण-विभूषित मन, वचन एव कर्म से ही सुख, शान्ति और निस्तार की सम्भावना है, अन्यथा नही। शुभ मार्ग वाले स्वर्ग जायेंगे और कुकर्मी अग्नि मे जलते-सुलगते रहेंगे। मन, वचन एव कर्म से जो शुद्ध होते हैं वे ही स्वर्ग प्राप्त करने के अधिकारी होगे। साराश यह कि कर्म ही जाँच की एकमात्र कसौटी थी। कुछ लोगो का विचार है कि ईरानी विचारधारा से ही यहूदियो, ईसाइयो और मुसलमानो ने शैतान की कल्पना ली है।

जरथुष्ट्र ने होम (सोम) आदि सभी मादक द्रव्यो के सेवन का घोर विरोध किया। पशुबलि और पर-पीड़ा का विरोध तो किया ही, सबके साथ दया के व्यवहार का उपदेश भी उन्होंने दिया। इस विषय मे उनका मत भारत के उनके समसामयिक गौतम बुद्ध के मत से मिलता-जुलता है। हेरोडोटस लिखता है कि ईरान मे न तो मन्दिर थे और न मूर्ति-पूजा होती थी। यह ठीक है कि ईरान मे ग्रीको के से प्रतिमा-प्रतिष्ठित मन्दिर न थे। उनके धार्मिक कृत्य भी खुले स्थानो मे होते थे किन्तु पवित्र

अग्नि की रक्षा के लिए विशिष्ट ढंग के गृह बनाये जाते थे। वे देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी बनाते थे। ईरानी लोगों में मूर्ति-पूजार्थ अनाहिता देवी के मन्दिर एकबताना, सूसा आदि अनेक नगरों में स्थापित किये गये। इनमें पक्ष-सहित सूर्य बिम्ब के ऊपर अहुर मज़दा का कमर से ऊपर का भाग निर्मित किया जाता था। सम्भवतः वह कल्पना ईरानियों ने मिस्र देश से ग्रहण की होगी। पक्षों को आकाश का और उस पर बनी मूर्ति को अहुर मजदा का प्रतीक माना जाता है। जरथुष्ट्र ने मनुष्य के मृतक शरीर को जलमग्न करने, अग्निदाह देने तथा पृथ्वी में गाड़ने को इसलिए बुरा कहा कि उससे जल, अग्नि तथा पृथ्वी तत्व अपवित्र हो जाते हैं। इसलिए उन्होंने शव को पशु पक्षियों को खाने के लिए छोड़ देना ही सबसे अच्छा ढग बताया। मगवंशी पुरोहितों की वैयक्तिक जीवनचर्या, उनके आचार और संगठन को सुधारने का उसने प्रयत्न किया। सरल और सुनियन्त्रित जीवन-यापन की ओर उनको आकृष्ट कर उसने उनकी पूर्व सम्मानित तीन श्रेणियाँ निर्धारित कर दी। पहली श्रेणी के लोग 'मोबेद' (अनुयायी), दूसरी के मोबेद' (श्रेष्ठ) और तीसरी के दुस्तूर मोबेद' (उत्कृष्ट) कहलाये। उन्होंने 'गाथा' नामक धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की।

जरथुष्ट्र और उनके मत का मीडियो ने घोर विरोध किया और जरथुष्ट्र को मार डालने का प्रयत्न भी किया गया। लाचार होकर उनको अपनी जन्मभूमि से पार्थिया के हखमनी सरदार विशतास्पक के पास चला आना पड़ा। स्वागतपूर्वक उसने उनके मत को ग्रहण किया। उसी सरदार का पुत्र सुप्रसिद्ध सम्राट् दारा उस मत का अनुयायी ही नहीं, वरन उत्साही प्रचारक भी हुआ।

शासन

साम्राज्य का मुख्य अधिपति सम्राट् था जो शासन, सेना तथा न्याय व्यवस्था का एकमात्र अधिकारी था। उसकी आज्ञाएँ तथा निर्णय अन्तिम एवं अबाध मानी जाती थीं। दारा ने यह घोषणा की थी कि अहुर मजदा ने ही उसको सम्राट् बनाया है और न्यायाधीश देवता शम्स की आज्ञाओं का पालन करना उसका परम कर्तव्य है। फारस में छः य सात वंश प्रमुख माने जाते थे। उनके कुल-पतियों को महत्त्व-पूर्ण विषयों पर अपनी सम्मति देने का अधिकार था। उनकी एक समिति थी जिसे सम्राट् की परामर्शदात्री संस्था कहा जा सकता है। उनकी सम्मति का सम्राट् यथासाध्य आदर करता था। समिति को सम्राट् का उत्तराधिकारी चुनने का अधि-

कार था, किन्तु प्राय: वह राजकुमारों मे से ही चुना जाता था। केन्द्रीय शासन में कई विभाग होते थे। प्रत्येक का एक अध्यक्ष होता जिसके नीचे अनेक कर्मचारी कार्य करते थे। जमीन, खेतो, वगीचों, पशुओं. खानों, व्यापार तथा व्यापारी माल, घाटो और वन्दरगाहों पर कर लगाया जाता था।

प्रान्तीय शासन

ईरानी साम्राज्य का विस्तार अफ्रीकी मरुभूमि से भारत की सिन्धु नदी तक और अरमीनिया तथा मध्य एशिया से अरव सागर तक था, उसमे तीस जातियो के लोग वसते थे जिनमे असभ्य, अर्धसभ्य तथा सुसभ्य संस्कृतियाँ प्रचलित थी। साम्राज्य की जनसंख्या अनुमानत: पाँच करोड़ थी जो प्राचीन युग की गणना में वहुत वडी समझना चाहिए। उसकी ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं राजनीतिक विभिन्नताओ और विशेपताओ की कल्पना की जा सकती है। उस वड़ी समस्या की पूर्ति करने मे ईरान ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। सव तात्कालिक समस्याओं, व्यावहारिकताओ तथा ईरान से पूर्व के साम्राज्यों के पुराने अनुभवो पर विचार कर साम्राज्य शासन के कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये गये। यही उचित समझा गया कि जहाँ तक सम्भव हो प्रान्तों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, संस्थाओ, भापाओ, रीतिरिवाजो, आदि मे हस्तक्षेप न किया जाय और न उन पर अनावश्यक आरोप की चेष्टा ही की जाय। जहाँ तक हो सके उनका सम्मान, पोषण एवं प्रोत्साहन किया जाय। यहूदियों को सम्राट् ने जेरुसलेम वापस करके अपना धार्मिक सगठन वनाने की स्वतन्त्रता दे दी। उस साम्राज्य में तीन भापाएँ...फारसी, एलामी तथा वेविलोनी...प्रचलित थी। नीति की मूलगत उदारता के कारण प्रान्तो मे सन्तोप तथा शान्ति रहने की अधिक सम्भावना थी।

कायरस ने प्रान्तीय शासको को वहुत अधिक स्वतन्त्रता दे रखी थी, जिसका फल साम्राज्य के लिए अहितकर-सा रहा। इसलिए दारा ने शासन मे कुछ परिवर्तन कर दिया। साम्राज्य वीस या तेईस प्रान्तो मे विभक्त था। तदनुसार प्रत्येक प्रान्त मे एक प्रशासक नियुक्त किया जाता था। कुछ प्रान्त ऐसे भी थे जो विजित होने के पहले स्वतन्त्र राज्य थे। उनके क्षत्रपों के अधिकार कमोवेश वैसे ही थे जैसे कि वहाँ के राजाओ के थे। प्रान्त के क्षत्रप की मर्यादा ऊँची और अधिकार वड़े थे। शान्ति वनाये रखना, न्याय करना, समीपस्थ राज्यो से राजनयिक सम्वन्ध कायम रखना और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करना, अपने सैनिक एकत्रित

करना, ठाठबाटदार शासन बनाये रखकर केन्द्रीय शासन को पेशकश या खिराज देने के लिए प्रान्त की आर्थिक स्थिति के अनुसार द्रव्य, साजो-सामान तथा अन्य पदार्थ जुटाने की व्यवस्था करना आदि क्षत्रप के मुख्य कर्त्तव्य थे। प्रशासन के सिवा प्रत्येक प्रान्त मे एक सेनाध्यक्ष, एक अर्थ (वित्त) मन्त्री सम्राट् स्वयं नियुक्त करता था। वे भी एकमात्र सम्राट् के प्रति ही उत्तरदायी थे। उनके कार्यों तथा गतिविधि की जाँच करने के लिए प्रत्यक्ष अथवा गुप्त निरीक्षक रहते थे। वे निरीक्षक अपनी रिपोर्ट सम्राट् को सीधे भेजते थे। प्रान्त के तीनो मन्त्री अपने-अपने क्षेत्र मे पूर्ण अधिकार रखते थे। प्राय: उनका चुनाव फारस के कुलीनो मे से किया जाता था। सम्राट् के वंशज भी प्रशासक नियुक्त किये जाते थे। प्रशासको के साथ एक सेक्रेटरी (सचिव) होता था जो उनके विभागों के कार्य सम्पन्न करता और केन्द्रीय शासन को समाचार भेजता रहता था।

शासन, सेना तथा व्यापार की सुविधा के लिए साम्राज्य में बडी-छोटी सडकों के जाल बिछे हुए थे जिनको यथासम्भव ठीक-ठाक रखने का प्रबन्ध था। सबसे बड़ी सडक जो सूसा से एफिसस तक जाती थी, सोलह सौ सत्तर मील लम्बी थी। दूसरी बडी सडक सिन्ध नदी के किनारे से काबुल, हमदान, बेबिलोन, होती हुई करीब-करीब मिस्र तक जाती थी। सड़कों पर चौदह या पन्द्रह मील के फासले पर चौकियाँ बनायी गयी थी, जहाँ डाक ले जाने के लिए तेज घोड़े मौजूद रहते थे। ईसा से पूर्व चतुर्थ शती मे घोडो तथा अन्य भारवाही खुरदार पशुओ के खुरो में ताँबे, चमडे अथवा घोडो के बालो से बने नाल बाँधने का रिवाज चल पड़ा था। दो-तीन शती बाद लोहे की नालबन्दी भी प्रचलित हो गयी। जिससे पशुओ का उपयोग अधिक सन्तोषजनक हो गया। जिस रास्ते को कारवाँ नब्बे दिनों मे तै करते उसे राजकीय डाक चौकी वाले सात दिन मे ही तै कर डालते थे। उसी सुविधा के कारण सम्राट् को अपने सुविस्तृत साम्राज्य के समाचार बराबर मिलते रहते थे। सब प्रान्त एक से न थे। कोई अधिक और कोई कम सम्पन्न था। इसी कारण कर वसूल करने के लिए समान नियम नही रखे गये। प्रान्त की आर्थिक एवं शासनिक स्थिति के अनुकूल कर लगाया जाता था। खर्च काटकर जो बचता वह केन्द्रीय शासन के पास भेज दिया जाता था। बहुत सम्भव है कि प्रत्येक प्रान्त से प्राप्य कर का पूर्व अनुमान केन्द्रीय शासन द्वारा कर लिया जाता हो। फारस और मीडिया प्रान्तो से कर के बदले केवल सैनिक लिये जाते थे। हिन्द प्रान्त से प्रचुर परिमाण में स्वर्णधूलि ली जाती थी और बेबीलोनिया से एक सहस्र टैलेण्ट चाँदी ली जाती

थी। कर द्रव्य तथा पदार्थों के रूप में लिया जाता था। प्रान्त के शासन पर प्रान्तीय सम्राट् ने जो कानून प्रचलित किये वे सरल और सहानुभूतिमूलक थे। इसी कारण लोगो मे वैसा असन्तोष नहीं फैला जैसा पुराने साम्राज्यो के युग में होता था। ईरान की साम्राज्य-नीति तथा आदर्शो का प्राचीन इतिहास एवं सभ्यता में अपना विशिष्ट स्थान है।

सेना

ईरान की सेना अठारह लाख तक कही जाती है। पन्द्रह से पचास वर्ष तक के पुरुष आवश्यकता पडने पर सेना में अनिवार्य रूप से बुलाये जा सकते थे। आना-कानी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। यह विशाल सेना दस, सौ, हजार, दस हजार के दलो मे संगठित और साम्राज्य के उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त रहती थी। दो सहस्र चुने हुए अश्वारोही तथा दो सहस्र पदाति सम्राट् की सेवा में निरन्तर रहते थे। उनके सिवा दस हजार ऐसे चुने हुए सैनिको का एक दल था जो सम्राट् के लिए मृत्यु का भी सामना करने के लिए तैयार रहता था। यह दल 'अमरदी' के नाम से प्रसिद्ध था। ईरानी सेना चतुरंगिणी थी अर्थात् उसमे हाथी, घोड़े, रथ और पैदल थे। उसके सिवा बारह सौ जहाजो का बेडा भी साम्राज्य की सेवा में नियुक्त था। सैनिक विभाग तथा शासन विभाग पृथक-पृथक संगठित थे। प्रान्तो के शासक सैट्रप (क्षत्रप) कहे जाते थे। स्थिति विशेष में उन्हें सीमित सैनिक अधिकार दे दिये गये थे।

न्याय

धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से ईरान का सम्राट् न्याय करना राज्य का परम कर्तव्य मानता था। साम्राज्य के न्यायालय मे सात न्यायाधीश रखे जाते थे। उसके अतिरिक्त अनेक स्थानिक न्यायालय भी स्थापित थे। कभी-कभी न्याय करने के लिए स्त्रियाँ भी नियुक्त कर दी जाती थी। साधारणत. न्यायाधीश आमरण नियुक्त किये जाते थे। यदि उन पर अन्याय करने अथवा रिश्वत लेने का दोष साबित होता था तो उनको पद-च्युत ही नही, वरन् कठोर दण्ड भी दिया जाता था। यदि न्यायकर्ता अन्याय करता अथवा रिश्वत लेता तो शारीरिक दण्ड ही नही, कभी-कभी उसे प्राण-दण्ड भी दिया जाता था। मुकद्दमो का फैसला जहाँ तक हो सकता, शीघ्र कर दिया जाता था। अभियोक्ता तथा अभियुक्त को अपने पंचो को

चुनने का अवसर दिया जाता था। विप-पान, रक्त-शोपण, अंग-भग, कोड़ों, जुर्माने, कैद, आदि की सजा दी जाती। राजद्रोह, बलात्कार अदि कुछ अपराधों को छोड़कर ईरान में प्राणदण्ड देने का नियम न था।

पतन के कारण

प्राचीन ईरानियों के पतन का कारण उनके साम्राज्य की विशालता और आचरणो की भ्रष्टता थी। साम्राज्य में अनेक मत-मतान्तर, आचार-विचार, और विविध भापाभापी जातियाँ सम्मिलित थी जिनकी अपनी-अपनी विशेपताएँ तथा व्यक्तित्व थे। यद्यपि उन विभिन्न तत्त्वों को एक सा रखने की कला में ईरानियों ने अपूर्व कुशलता का परिचय दिया तथापि उन्हें अनिश्चित काल तक एक सूत्र में बाँधे रखना दुःसाध्य ही नही, वरन असाध्य-सा था। इतने बड़े साम्राज्य से जो समृद्धि और अपार सम्पत्ति ईरानियो को मिली उसने उन्हें प्रमत्त, ऐयाश तथा व्यभिचारी बना दिया। नाच-रंग, शराब-कबाब, ऐश-आराम का बाजार गर्म हो गया। गुलछर्रे उड़ाने में सम्राट् और उनके बन्दे लग गये। राज्यसिंहासन के लिए हत्याकाड खूब बढ़ा। शासन और सेना के सुधार एवं समयानुसार विकास का ध्यान छोड़कर वे ऐन्द्रिक सुखों के साधन में फँस गये। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य इतना निर्बल हो गया कि यूनानी विजेता के दो धक्को में ही वह छिन्न भिन्न हो गया। चूंकि जनता ने स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन की दीक्षा न पायी थी और सदा सम्राट् तथा शासको की मुखापेक्षी रही थी, अतएव उनका विनाश होते ही प्राचीन ईरान की प्रजा का बल एव वैभव भी विलीन हो गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि व्यापार, कला, विज्ञान तथा साहित्य के क्षेत्रो में प्राचीन ईरान ने कोई स्मरणीय कार्य नही किया। उनकी मुख्य कृतियाँ शासन-कौशल, शासितो के प्रति उदार नीति एव सदाचार-पोपक एकेश्वरवाद-मूलक धर्म के क्षेत्रो में मानी जाती है। वृहत्तर साम्राज्य के शासन की कला में सम्भवतः रोम साम्राज्य के सिवा कोई भी देश ईरान का अतिक्रमण नही कर पाया। इस ओर उसने जो पथ-प्रदर्शन किया उससे रोम ने भी लाभ उठाया। उसके संगठन का अनुकरण शतियो तक वहाँ होता रहा। ईरान के लिए यह कम गौरव की बात नही है।

ईरान—पार्थिया

आधुनिक खुरासान और उसके आस-पास के उत्तरी मरु भूभाग का प्राचीन

नाम पारतक्क अथवा पार्थव था। उसके तथा केस्पियन सागर के बीच में हेरकेनिया प्रान्त था। वह प्रान्त हखमनी वश के साम्राज्य मे था। ३३० ई० पू० अलेक्जेण्डर ने उसे भी जीत लिया। वहाँ अर्धवर्बर सचरणशील कबीले केस्पियन सागर के पूर्वीय ओर से आकर बसे। पार्थव प्रदेश मे बसने के कारण वे लोग पार्थियन नाम से प्रसिद्ध हुए। पार्थियनो का सामाजिक सगठन बहुत कुछ यूरोप के मध्ययुग की सामन्तशाही से मिलता-जुलता है। उनके सात प्रमुख वश थे और उनसे लगी बडे और छोटे सरदारो की सम्बद्ध शृखला भी काफी फैली हुई थी। सिपाही अपने सरदारो और सामन्तो से जितना अनुरक्त थे उतना राजा से नही। आवश्यकता पडने पर वे अपने नेताओ के आज्ञानुसार सैनिक सेवा करने को तैयार हो जाते थे। पार्थियनो की सेना घुडसवारो की थी। हाथियो का उसमे कोई स्थान न था किन्तु उनकी जगह ऊँटो के दल होते थे। घुडसवार लोहे का झिलम बख्तर पहनकर भालो और तलवारो से लड़ते थे।

ग्रीस के सैल्यूकस वंश के शिथिल होने पर स्काइथियन जाति की दाही शाखा के परनी कबीले ने जोर पकडना शुरु किया। वे लोग बड़े प्रसिद्ध घुडसवार और युद्धप्रिय थे। सग्राम मे वीरगति प्राप्त करना अपने जीवन की वे पूर्ण सफलता मानते थे। बिस्तर पर मरना उनकी दृष्टि मे दुर्भाग्यमय एव निन्दनीय समझा जाता था। ईसा की तृतीय शती के मध्यकाल मे उन्होने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया, किन्तु वहाँ के राजा दिओदस ने उनको भगा दिया। तब रूस और ईरान की सीमा पर स्थित पार्थिया प्रान्त मे वे घुस पडे। उनके नेता तिरिदतस ने अस्सक (अरसक) नगर मे सिंहासनारूढ़ होकर अपने स्वतन्त्र राज्य की घोषणा कर दी। कुछ वर्षो के बाद उसने अस्सक से हटकर राजधानी हेकेटामपाइलस मे स्थापित की। व्यापारिक दृष्टि से वह स्थान अच्छा था क्योकि पूर्व और पश्चिम के प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग पर उसकी स्थिति थी।

सेल्यूकस द्वितीय ने उन पर चढाई की, किन्तु एण्टिओक मे उपद्रव होने के कारण उसे वापस लौटना पड़ा। उस अवसर से लाभ उठाकर पार्थियनो ने हेरियाना प्रान्त पर भी अधिकार जमा लिया। तब से वे अपनी शक्ति सगठित करते और राज्य का धीरे-धीरे विस्तार करते रहे। यद्यपि थोड़े समय के लिए एण्टिओकस तृतीय ने उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, किन्तु द्वितीय शती (ई० पू०) के प्रथम दशक के समाप्त होने के पहले एण्टिआकस को रोमनो ने परास्त किया। जिससे पार्थिया ही नही, बल्कि मीडिया आदि अन्य प्रान्त भी स्वतन्त्र हो गये

पार्थिया के राजा मिथ्रदेतस प्रथम (१७१–१३८ ई० पू०) के नेतृत्व में पार्थियनों ने मीडिया, पर्सिस, वेबिलोन, असीरिया, सीस्तान, अफगानिस्तान, हेरात, बिलूचिस्तान ('गेड्रोशिया') आदि प्रान्तो पर प्रभुत्व स्थापित कर एक नवीन साम्राज्य की स्थापना कर दी। (१६०–१४० ई० पू०)। टाइग्रिस (दजला) नदी के बायें तट पर प्रसिद्ध व्यापारिक नगर सेल्यूकिया के सामने केसिफान मे पहले उन्होंने अपना एक सैनिक केन्द्र (स्कन्धावार) और आगे चल कर अपने नये साम्राज्य की राजधानी ही स्थापित कर दी। मिथ्रदेतस प्रथम को ही पार्थियन साम्राज्य का असली सस्थापक कहना अनुचित न होगा। हखमनी साम्राज्य का नवीन ग्रीकों के हाथ से उद्धार करने और प्राचीन ईरान की प्रतिष्ठा की स्थापना करने के कारण उसने सम्राट् की उपाधि ग्रहण कर ली। यद्यपि उसने ग्रीको पर विजय प्राप्त की थी तथापि उनके प्रति उसका व्यवहार अच्छा एवं सहानुभूतिपूर्ण था। इतने पर भी जब देमेत्रिअस द्वितीय ने विद्रोह का झण्डा उठाया तब उसके साथ बहुत-से ईरानी तथा ग्रीक तथा सेल्यूकिया और बैक्ट्रिया के लोग भी सम्मिलित हो गये। पार्थिया के सम्राट् ने उसको परास्त कर पकड लिया, किन्तु उसको दण्ड देने अथवा अपमानित करने के बदले उसका सम्मान कर अपनी पुत्री से विवाह कर दिया और हेरेकेनिया प्रान्त का उसे अधिपति बना दिया। यही नही, ग्रीको के प्रति अपनी उदार नीति का वह यथापूर्व पालन करता रहा। मिथ्रदेतस की मृत्यु १३७ ई० पू० में हुई।

मिथ्रदेतस का पुत्र फस्तस द्वितीय सम्राट् हुआ। ग्रीक राजा एण्टिआकस सप्तम ने बड़ी सेना के साथ पार्थिया पर आक्रमण किया। विजय करता हुआ वह एकबताना तक आ पहुँचा। फ्रस्तस ने सन्धि का प्रताव छेड़ा, किन्तु ग्रीक नरेश ने पार्थिया को छोड़कर सब जीते हुए प्रान्तो को लौटा देने का आग्रह किया। क्रुद्ध होकर फ्रस्तस ने ऐसा आकस्मिक आक्रमण किया कि ग्रीक सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और एण्टिआकस का निधन हो गया। (१२९ ई० पू०)। मेसोपटेमिया पर पार्थियनो का प्रभुत्व स्थापित हो गया। बहुत सम्भव था कि पार्थियन विजेता सीरिया पर आक्रमण कर देता यदि चीनी तुर्किस्तान की स्काइथियन जाति की एक शाखा ने मर्व की ओर से एक ही साथ एकबताना और हेरात एवं सीस्तान पर धावा न किया होता। उस भयकर बाढ को रोकने के लिए फ्रस्तस को लौटना अनिवार्य हो गया। उसे सकट मे फँसा देखकर उसके ग्रीक सैनिक दगाबाजी से भाग निकले जिसका परिणाम यह हुआ कि फ्रस्तस मारा गया (१२८ ई० पू०)। बगावतो के

कारण साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। ऐसी विषम परिस्थिति मे मिथ्रदेतस द्वितीय, पार्थिया के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। (१२३ ई० पू०) पश्चिमी प्रान्तो में शान्ति करके उसने पूर्व में मर्व, हिरात और सीस्तान एव कन्धार पर पुनः आधिपत्य जमा लिया। शको के आक्रमण का विशेष परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया और पूर्वी ईरान के ग्रीक राज्य सदा के लिए नष्ट हो गये। फलतः ऑक्सस नदी के उत्तरी और दक्षिणी प्रान्तों में नवीन आक्रमण करने वाली शाखाएँ जम गयी। पश्चिमी दिशा मे बसने वाले लोग शक और पूर्वी दिशा में यूची अथवा तुखारी थे। यूचियों ने बेक्ट्रिया राज्य को हड़प लिया। उनके कुछ कबीले (प्रथम शती ई० पू०) पंजाब और सिन्ध में घुस आये और वहाँ के ग्रीक और बैक्ट्रियन राज्यो को नष्ट करके स्वय स्वतन्त्र राज्य करने लगे। किन्तु सीस्तान और अराकोशिया के प्रान्तो के निवासियो को पार्थियन वंश के गोण्डोफरस नाम के राजकुमार ने एकता के सूत्र में बाँध कर एक नया राज्य स्थापित किया जो सीस्तान से सिन्ध नदी की सीमा के इस पार तक फैल गया।

मिथ्रदेतस द्वितीय जितना पराक्रमी था उतना ही नीति एवं सगठन कुशल भी। उसके पास चीन के सम्राट् ने अपना दूत भेजकर व्यापारिक सन्धि का प्रस्ताव किया जिसको स्वीकार करके उसने ईरान और चीन के व्यापार को प्रोत्साहित किया (११५ ई० पू०)।

पार्थिया के उत्तर-पश्चिम में आरमीनिया राज्य था। वहाँ की राजनीतिक उलट-पुलट से उसे यह आशंका रहती थी कि रोम वाले वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित न कर बैठें। अतएव अवसर पाकर उसने अपने अनुकूल तिग्रनेस नामक व्यक्ति को राज्य-सिंहासन प्राप्त करने मे सहायता दी। एशियाई कोचक के निवासी रोम राज्य की नीति-रीति से असन्तुष्ट और त्रस्त थे। तिग्रनेस ने पाण्टस के मिथ्रदेतस (१२०—६५ ई० पू०) की सहायता से एशियाई कोचक को एक प्रबल सगठित राज्य बना दिया। रोम वाले अफ्रीका के जुगार्था युद्ध मे फँसे होने के कारण उस सगठन को रोक न सके (११२—९४ ई० पू०)। उस युद्ध से फ़ुरसत मिलने पर रोम ने पूर्वी समस्या पर ध्यान दिया। रोमन सेनापति सेला पश्चिमी एशिया के ग्रीको को हराकर यूफ्रेटीज़ नदी तक पहुँचा तब मिथ्रदेतस ने उसके पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा। सेला को पार्थियन शक्ति का यथेष्ट ज्ञान न था। उसको असभ्य और बर्बर समझकर सेला ने उसके सन्धि प्रस्ताव को ठुकरा दिया (९२ ई० पू०)। मिथ्रदेतस ने एशियाई कोचक के निवासियो को स्वानुकूल समझकर रोम से युद्ध

छोड दिया। निश्चित तिथि को इटालियनो का कत्लेआम शुरू हुआ। कहा जाता है कि अस्सी हजार स्त्री-पुरुष और बच्चे तलवार के घाट उतार दिये गये। रोम के विरुद्ध विद्रोह इतना बढा कि ग्रीस और उसके दक्षिणी और पश्चिमी तटो पर बसे इटेलियनों का वहाँ रहना असम्भव-सा हो गया (८९ ई० पू०)। ऐसी विषम परि-स्थिति के कारण सेला फिर पूर्व की ओर भेजा गया। ग्रीस की रियासतो को रौंदता और लूटता हुआ वह एशियाई कोचक जलमार्गसे पहुँचा। सम्भव था कि युद्ध अधिक भयंकर होता, किन्तु अपने विरोधियो का जोर रोम मे बढ़ता देखकर सेला ने मिथ्र-देतस से इस शर्त पर सन्धि कर ली कि रोमनो से छीने स्थानो को वापस कर दिया जाय और हरजाना या जुर्माना भी अदा किया जाय (८५ ई० पू०)।

मिथ्रदेतस द्वितीय की मृत्यु के बाद पार्थिया राज्य कमजोर हो गया। तीस वर्ष तक वहाँ की आन्तरिक स्थिति डगमगाती रही और राज बदलते रहे। इस अवधि मे आरमीनिया के तिग्रेनम ने अपनी शक्ति यहाँ तक बढा ली कि उसका अधिकार पार्थिया के कई प्रान्तों पर स्थापित हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि पार्थिया का राज्य पूर्णत नष्ट हो जायगा। सयोग से एशियाई कोचक मे पाण्टस राज्य के हेलेनिक मिथ्रदेतस और उसके सहयोगी तिग्रेनस का रोम से युद्ध छिड गया। रोम ने पार्थिया के राजा फ्रस्तस द्वितीय से सन्धि का प्रस्ताव किया जो उसने स्वीकार कर लिया। रोम की सेना जब भयकर संकट मे फॅस कर डगमगा उठी तब भी पार्थिया ने उसका साथ न छोडा। फिर भी रोम के अभिमानी सेनानायक पाम्पे ने पार्थियन लोगो की कदर न की, वरन् उनको नीचा ही समझता रहा। यही नही, पाम्पे ने पार्थिया मे फूट डालने तथा उसके कुछ पश्चिमी प्रान्तो को छीन लेने मे कोई सकोच न किया। रोमनो की कुटिल नीति से क्षुब्ध और अपमानित होकर पार्थिया के राजा ने उनका साथ छोड़ दिया और रोम के सेनानायक क्रेसस से ईरान की रक्षा करने के लिए उसे युद्ध करना पडा। पार्थिया के 'सुरेन' नामक सेनापति ने कर्रही के युद्ध मे रोम की सेना को छिन्न-भिन्न ही नही वरन्, नष्ट तक कर दिया। क्रेसस तथा उसके पुत्र को प्राणत्याग करना पडा (५३ ई० पू०)। रोम वालो को अब पार्थिया की शक्ति का ठीक अनुमान हुआ। उनकी आँखे खुल गयी। यह युद्ध महत्त्वपूर्ण इसलिए भी समझा जाता है कि यह अलेक्जेण्डर द्वारा ईरान की पराजय के प्रतिशोध और ईरान के पुनरुत्थान का प्रतीक है। इसके सिवा रोम को यह सबक भी मिला कि घुडसवार सेना का यदि सुचारु रुप से संचालन किया जाय तो पैदल सेना उसका मुकाबिला नही कर सकती। उस पाठ को हृदयंगम कर रोम ने भी

घुडसवार सेना का संगठन आरम्भ कर दिया। उस विजय से ईरान की प्रतिष्ठा इतनी वढ गयी कि अरव के छोटे-वड़े राज्य उसका फिर सम्मान करने लगे। विजय से उत्साहित होकर तथा रोम वालो को गृहयुद्ध में फँसा देखकर पार्थिया वालो ने भूमध्यसागर के तट तक अपना आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्न किये। मम्भव था कि उनको यथेष्ट मफलता भी प्राप्त होती, किन्तु पार्थिया के सम्राट् ओरोदस की ईर्ष्या के कारण सुरेन के वध तथा राजकुमार पकोरस के अपमान ने वीरों का दिल तोड़ दिया और असन्तोप वढा दिया। दस वर्प तक अकर्मण्यता चलती रही। उसके वाद एक वार फिर आगे वढ़ने का प्रयत्न किया गया। एशियाई कोचक, सीरिया, पेलेस्टाइन तक ईरान (पार्थियन) सेना वढ़ती चली गयी। किन्तु रोमनो ने उनकी वाढ को छल-वल से रोक दिया। ईरानी सेना को पराजित होकर पीछे लौटना पडा। वूढे ओरोदस से ऊव कर पुत्रो ने उसे मार डाला (३७ ई० पू०) और राजसिहासन के लिए आपस मे लडाई होने लगी। उनमे से फ्रस्तस चतुर्थ को विजय-श्री प्राप्त हुई, किन्तु सरदारो और सैनिको में आपसी लडाई-झगड़े और दलवन्दियाँ चलती रही। उस अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाने की इच्छा से रोमन सेनानायक एण्टनी एक प्रवल सेना लेकर आया। किन्तु पूर्वीय राज्यो और प्रजा को रोमनो की निष्ठुरता, कुटिलता और क्रूरता का इतना कटु अनुभव था कि किसी ने दिल खोल कर उनका साथ न दिया। यद्यपि आरमीनिया जीत कर मीडिया पर उन्होने आक्रमण किया, किन्तु फ्रस्तस चतुर्थ ने उनका साज-सामान लूटकर उनकी किला तोड़ने की मशीनों को जला दिया। एण्टनी को लाचार होकर पीछे लौटना पड़ा। रास्ते मे पार्थियनो ने उसकी सेना को वड़ी क्षति पहुँचायी। एक अन्तिम किन्तु निष्फल प्रयत्न करने के वाद एण्टनी की हिम्मत टूट गयी। उधर आगस्टस के विरोध के कारण रोम से किसी प्रकार की सहायता प्राप्त करना तो दूर रहा, विरोधियो के आक्रमण का प्रतिकार मात्र करने के लिए उसे लौटना पड़ा। विजय आगस्टस की हुई। आगस्टस ने पार्थियनो के साथ मैत्री की नीति का निर्वाह श्रेयस्कर समझा। उधर पार्थिया वालो ने भी रोम से उलझना अनुचित समझा। फलत. वैमनस्य कम हो गया जिससे रोम को व्यापार आदि मे सुविधा प्राप्त हुई। अव रोम के सामने मुख्य प्रश्न यह रह गया कि पूर्व मे कहाँ पर वह अपनी सीमा निर्धारित करे और किस प्रकार उसको दृढ वनावे। अन्त मे यह निर्णय हुआ कि आरमीनिया दोनो साम्राज्यो की सीमा रहे। यह निर्णय भी आगे चलकर असन्तोपजनक सिद्ध हुआ क्योंकि आरमीनिया राज्य मे रोम वाले स्वानुकूल व्यक्ति को और पार्थिया वाले

अपने अनुकूल व्यक्ति को राजा बनाने के लिए उत्सुक रहते थे। पार्थिया के राज-सिंहासन के लिए वहाँ के राजकुमारो में इतने झगड़े बढ़े कि मिथ्रदेतस के वंश के हाथ से राज्य निकल कर अर्तबनस के वंश के अधिकार में चला गया।

ईसा की द्वितीय शताब्दी के आरम्भ मे, (११४ ई०) रोम के सम्राट् ट्रेजन ने लड़-भिड़कर काले समुद्र के तटस्थ प्रदेशों पर अधिकार स्थापित कर लिया। वहाँ से दजला नदी तक रोम का आधिपत्य जम जाने से उसके मन में भारत पहुँचने की लालसा जाग्रत हुई और अलेक्जेण्डर महान् की समता प्राप्त करना उसका लक्ष्य बन गया। किन्तु पश्चिमी एशिया एवं मिस्र में उपद्रव होने के कारण उसकी आशाओ पर पानी पड़ गया। उसके उत्तराधिकारी सम्राट् हेड्रियन ने दजला से आगे बढ़ने का विचार अव्यावहारिक समझकर छोड दिया। रोम के इस नीति-परिवर्तन का एक कारण यह भी हुआ कि पश्चिमी एशिया से मिस्र और ग्रीस इटली तक प्लेग का प्रचंड प्रकोप हुआ। देश में गृह-कलह और सम्राट् पद के लिए भयकर संघर्ष मचे रहने के कारण दूरस्थ देशो मे साम्राज्य-स्थापना की आशा व्यर्थ प्रतीत हुई। इन परिस्थितियो मे भी सन् १९७ ई० मे सेप्टिमस सेवरस ने एक बार फिर प्रयत्न किया, किन्तु वह निष्फल सिद्ध हुआ। रोम को अन्तिम झटका तब लगा जब रोम का सम्राट् मेक्रिनस (२१७—१८) निसिबिस में बुरी तरह से परास्त हुआ। आखिर द्वितीय शती की समाप्ति के साथ रोम के ईरान में बढने का प्रश्न समाप्त हो गया। रोमनो की बाढ़ क्षीण होते देखकर सासानी वंश ने रोम को एशिया से बहिष्कृत करने के अनुष्ठान का आरम्भ कर दिया।

रोम से सघर्ष होते रहने के कारण पार्थियनो का बल पूर्वी प्रदेशों मे भी कम होता गया। प्रथम शती से यूची जाति की कुषाण नामक शाखा ने बल संचय करना आरम्भ कर दिया था। उनके राजा कुजुल केडफाइसिस ने कैस्पियन सागर से सिन्धु नद तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया जिससे भारत एवं चीन के यूरोप से व्यापार करने के एक विशाल मार्ग पर उसका अधिकार हो गया, इससे उसको अच्छा आर्थिक लाभ हुआ। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी वेम केडफाइसिस ने अपने पिता की नीति का अनुसरण कर हिरात, सीस्तान तथा अराकोशिया, पश्चिमी पजाब तथा सिन्ध प्रदेश तक अपना राज्य बढ़ा लिया। फलत लाल सागर से सिन्धसागर के सगम तक का व्यापार-मार्ग उसके अधिकार मे आ गया। पश्चिम की ओर से रोमनों तथा पूर्व से कुषाणो के दबाव मे फँसकर पार्थिया की शक्ति उत्तरोत्तर कम होती चली गयी। रोमनो ने कुषाणो से मित्रता कर ली। कुषाणों

ने पश्चिमी रेगिस्तानो की ओर बढ़ना उतना लाभदायक न समझा जितना कि धन-धान्य पूर्ण समृद्ध भारतवर्ष की ओर। अतएव फारस मे न फँसकर उन्होंने भारत मे राज्य-विस्तार करना ही श्रेयस्कर समझा।

ईरानी सभ्यता और समाजिक तथा शासनिक विधानों के मूल स्रोत हखमनीय युग की रीति-नीति मे विकसित हुए थे। उसी रीति-नीति का कमोवेश अनुसरण सासानियों के काल तक ही नही, वल्कि आगे तक भी होता रहा तथापि परिस्थितियो के उलट-फेर से समय-समय पर कुछ परिवर्तन भी होते रहे जो विशेषत. युद्धकला और धार्मिक क्षेत्र मे दिखाई पडते है।

पार्थिया का राजवंश संचरणशील जाति का था अत: उनमें उस जाति की विशेषताओ का किसी अश तक रहना स्वाभाविक था। राजा प्राय: एक ही कुटुम्ब से चुना जाता था, किन्तु यह रिवाज अनिवार्य न था। राजकुमारो मे से कोई भी राजा वनाया जा सकता था। उदाहरणत. पार्थिया के राजसिंहासन पर एक राजमहिषी, जो पहले दासी थी, बैठायी गयी। राजा की शक्ति उसके मुख्य सरदारो पर अवलम्वित थी, जो प्राय: सात प्रमुख कुल के थे। प्राचीन ईरानी समाज विचरणशील न था, वह अधिकतर 'स्थिर था।

पार्थिया के सगठन मे दो प्रकार के प्रदेश थे। एक तो वे राज्य थे जो अनेक अशो मे स्वतन्त्र होते हुए भी पार्थिया के सम्राट् के नेतृत्व मे रहते थे। दूसरे वे थे जिनके शासन के लिए समय-समय पर प्रशासक नियुक्त किये जाते थे। अनुयायी राज्यो की संख्या अठारह थी जिनमे ग्यारह उच्च श्रेणी मे और सात निम्न में गिने जाते थे। उनके अतिरिक्त साम्राज्य प्रान्तो मे विभक्त था जिन पर अधिकतर वशानुगत शासक शासन करते थे। उनके अतिरिक्त अनेक नगर थे जो स्वयं अपना प्रवन्ध करते थे। उनके विधानो और स्थानीय शासन मे सम्राट् यथासम्भव हस्तक्षेप न करता था। ये नगर व्यापार तथा सस्कृति के केन्द्र थे और उनका प्रभाव साम्राज्य के आचार-विचारो को परिवर्तित करता रहता था। जिस प्रकार सम्राट् के अनुयायी प्रमुख सरदार थे उसी प्रकार सरदारो के अनुयायी उनके क्षेत्र के छोटे सरदार होते थे। ये छोटे सरदार ही कृषक समुदाय पर शासन करते थे। इस सक्षिप्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि पार्थिया के साम्राज्य मे सामन्तशाही और जमीदारी प्रथा प्रचलित थी। प्रमुख सामन्तो के सहयोग और सहायता से ही राजकुमार साम्राज्य के सिंहासन को प्राप्त कर सकता था क्योंकि पार्थिया का सम्राट राजकुमारो मे से ही कोई चुना जा सकता था। यह आवश्यक न था कि

सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी हो। इस प्रथा के कारण राजकुमारो को प्रमुख सामन्तो का मुखापेक्षी होना पड़ता था। उनमे आपस मे दॉव-पेच चलते रहते थे जिसके कारण साम्राज्य मे खीचातानी रहती और उसके अग अच्छी प्रकार से दृढ नही होने पाते थे। फिर भी साधारणतया चतुर और बलशाली सम्राट् सगठन को यथाशक्ति अव्यवस्थित नही होने देते थे। ईरान मे उपर्युक्त विधान कुछ हेर-फेर से बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था।

सैनिक व्यवस्था

पार्थिया के सरदारो की अपनी-अपनी सेनाएँ होती थी। आवश्यकता पडने पर अथवा सम्राट् के आमन्त्रण पर वे ससैन्य एकत्रित हो जाते थे। उनकी सेना की शक्ति अधिकाश सुसन्नद्ध घुडसवारो पर निर्भर थी। ऊपर लिखा जा चुका है कि संचरणशील जातियो के अश्वारोही सैनिक सामने अथवा मुडकर पीछे से वाण-वर्षा करने मे सिद्धहस्त थे। जिस वेग से वे आक्रमण करते उतनी ही शीघ्रता से वे पीछे भी हट सकते और आवश्यकता पडने पर पुन. एकत्रित भी हो सकते थे। उसी कला और लाघव के कारण वे ग्रीको और रोमनो का सामना सफलता के साथ कर सके थे। घुडसवारो के सिवा पैदल सेना भी नगण्य न थी। पदाति तलवारो और बरछो से लडने के अभ्यस्त थे। पदाति प्राय. कृपक अथवा गुलाम होते थे।

समाज

पार्थिया के युग का ईरान हखमनी युग से कुछ महत्त्वपूर्ण अशो मे भिन्न था। ग्रीको और रोमनो के आकर वस जाने से ईरानी समाज मे नये रक्त, नयी सस्कृति नये कौटुम्बिक विधान तथा नये दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। आपस मे विवाह और निरन्तर सम्पर्क होते रहने से उपर्युक्त प्रवृत्तियॉ तीव्र गति से चलने लगी। ग्रीको और रोमनो के आचार-विचार, सामाजिक आदर्श, कला-कौशल, दर्शन-विज्ञान के ईरानियो की सभ्यता और सस्कृति के साथ सम्मिश्रण होते रहने के कारण ईरान में नयी स्फूर्ति उत्पन्न हुई। दूध और चीनी के समान वे ऐसे घुल-मिल गये कि कालान्तर में उनके भेद-विभेद विलीन हो गये और समाज मे नया व्यक्तित्व आ गया। सासानियो के युग में ईरानी समाज चार वर्गो मे विभक्त था अर्थात् सामन्तो तथा सैनिको के, पुरोहितो, लेखको तथा राजकर्मचारियो के और मजदूर तथा उद्योग-धन्धे वालों के वर्गों में। शिक्षा तथा व्यापार की वृद्धि से जमीदारो और किसानो

या मजदूरो के बीच नवीन कड़ियाँ अथवा स्तर प्रकट हो गये। नागरिक और व्यापारिक जीवन की वृद्धि से नये प्रश्नो और विधि-विधानो की सृष्टि होती रही यद्यपि पुराने ढंग मे पले हुए ईरानी उस प्रवृत्ती से असन्तुष्ट रहे, किन्तु उनके लिए उसका प्रवाह रोकना असम्भव-सा था।

व्यापार

पार्थियनो के समय मे चीन तथा भारत का यूरोप से व्यापारिक सम्बन्ध सम्भवत. पहले से अधिक बढ़ा। सिन्धु देश से फारस की खाड़ी तक का समुद्री व्यापार शीघ्रता से बढता रहा। पंजाब से हिन्दूकुश पार करता हुआ महत्त्वपूर्ण व्यापार मार्ग काबुल से मिल जाता था और दोनो देशो मे यातायात होता था। व्यापार के करो से साम्राज्य को बहुत आमदनी होती थी। ईरान पूर्व से सामान मँगाकर पश्चिम को और पश्चिम से लेकर पूर्व की ओर भेजा करता था। पूर्वी देशो की वस्तुओ का विशेषत. भारतीय फौलाद और ताँबा आदि अन्य धातुओ का तथा कपडो, तेलो, मसालो, औषधियो, रत्नो, रगो, शीशे की चीजो, चमडो आदि का बाजार अच्छा था। सडके भी पहले से अच्छी थी। डाक चौकी का अच्छा प्रबन्ध था जिससे पौने दो सौ मील की यात्रा आवश्यकता पडने पर एक ही दिन मे सम्भव थी।

उस युग में कृषि की उन्नति हुई। छोटे-छोटे खेतो के बजाय बडे-बडे खेतो मे बडे पैमाने पर खेती की जाने लगी क्योंकि अमीर और सरदार लोगो को उसमे लाभ की गुंजाइश दिखाई पड़ी। इसका यह परिणाम हुआ कि छोटे पैमाने पर स्वतंत्र खेती करने वाले उत्तरोत्तर कम होते गये और उन्हें स्वावलम्बन के बदले मजदूरी करनी पडी। फलत उनकी मर्यादा और स्थिति कमज़ोर होती चली गयी। चीन से आये हुए फलो के बाग लगाने तथा गन्ने की खेती करने का शौक लोगो मे बढता गया।

धर्म

पार्थियनो मे बलि ही नही नर-बलि का भी रिवाज प्रचलित था। जरथुष्ट्र के सिद्धान्त के अनुसार पशुबलि त्याज्य थी। इस सिद्धान्त का प्रभाव बर्बर कबीलो पर बहुत कम पड़ा, किन्तु ईरानियो की सलिल देवी अनाहिता का पूजन पार्थिया में अधिक लोकप्रिय हुआ। सूसानगर मे वह देवी 'नानिया' नाम से पूजी

जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी न किसी नाम से कम से कम पश्चिमी एशिया से ईरान की पूर्वी सीमा तक और सभवत उससे आगे भी उस देवी का पूजन होता था। कही-कही जलदेवी से उसका परिवर्तन अग्नि देवी के रूप मे पाया जाता है। यद्यपि अधिकतर उसकी प्रतिमाएँ सवस्त्रा थी तथापि निर्वसना रूप मे भी उसका पूजन होता था।

अन्य धर्मो के प्रति पार्थियन राज्य की नीति उदार थी। यही नही वे जिस प्रान्त मे बस जाते थे वहाँ के धर्म ग्रहण कर लेते थे। वे लोग शव को धरती के अन्दर कोठरी खोदकर दफनाते थे, किन्तु कही-कही उनमे मगो की मृतक क्रिया का भी अनुकरण होने लगा था।

सासान वश

पार्थियनो के ह्रास के साथ सॉसान वश का उदय और प्रभुत्व बढा। अनुश्रुति के अनुसार उस वश का प्रारभ अनाहिता देवी के स्तख के मन्दिर के अध्यक्षो मे से सस्सन नामक एक व्यक्ति से बताया जाता है। उसके पुत्र पपक ने, जिसका विवाह उस प्रान्त के एक सरदार की बेटी के साथ हुआ था अपने ससुर की जमीदारी हडप कर अपने वश की उन्नति का बीजारोपण किया (२०८ ई०)। जब पार्थियनो के राजा ने पपक के पुत्र शापुर को उसका उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव अस्वीकार किया तब से विद्रोह का प्रारम्भ हो गया। शापुर की मृत्यु होने पर उसका छोटा भाई अर्दशीर जो फर्स नामक नगर मे स्थापित सेना का सेनापति था, पर्सिस का राजा बन बैठा। प्रतिरोध होते हुए भी उसने पार्थिया के राजा अर्तबनस पचम को हरा कर मार डाला (२२४ ई०)। तदुपरान्त कैसीफोन (कसीफिआ) नगर मे जाकर उसने सम्राट् की उपाधि धारण कर ली (२२६ ई०)। अर्दशीर के विरुद्ध एक प्रबल सघ तैयार किया गया जिसमे आरमीनिया का राजा खुसरो प्रथम, स्काइथियन जाति के कुछ कबीले, कुषाणो का राजा आदि शामिल हुए। सघ को रोम वालो से भी सहायता का आश्वासन मिला। उस प्रबल सघ को साम, दाम, भेद के द्वारा शिथिल करके अर्दशीर ने अन्ततोगत्वा छिन्न-भिन्न कर दिया। उसका राज्य मर्व. हेरात, सीस्तान से फरात नदी तक बढ गया। उसके समय से ईरान मे नवीन उत्साह बढता गया। लोगो मे यह धारणा उत्पन्न हो गयी कि प्राचीन साढे पॉच सौ वर्षो के दुर्दिन झेल कर पुररुत्थान के राजमार्ग पर अग्रसर हो रहा है। अर्दशीर ने जरथ्रुष्ट्र के धर्म का अभ्युत्थान

करने की बीडा उठाया जिससे फारस में धार्मिक जोश उमड़ा। उस स्फूर्ति से सासानी वंश के प्रभाव और जातीय बल की खूब वृद्धि हुई।

पचास वर्ष तक राज्य करके अर्दशीर ने अपने पुत्र शापुर को साम्राज्य सुपुर्द कर दिया और स्वयं विरक्त होकर अपने जीवन के अन्तिम वर्ष शान्तिपूर्वक व्यतीत करता रहा।

सम्राट् शापुर भी अपने पिता के समान योग्य शासक और सेनानी सिद्ध हुआ। उसके साम्राज्य के पूर्व की ओर कुषाण राज्य और पश्चिम में रोम राज्य था। कुषाणो पर विजय प्राप्त करने से उसको वे व्यापार-मार्ग मिल सकते थे जिससे कुषाण समृद्ध हुए थे। अतएव उसने पहले कुषाणों पर चढ़ाई की। उनको परास्त कर शापुर ने पेशावर से सिन्धु नद की घाटी तक तथा बल्ख, ताशकन्द और समरकन्द तक का समृद्ध भू-भाग अपने साम्राज्य में मिला लिया। कुषाण राज्य सदा के लिए समाप्त तो नहीं हुआ किन्तु वह ईरान का अधीनस्थ हो गया।

उत्तर और पूर्व में विजय प्राप्त कर तथा आर्थिक व्यवस्था सुदृढ और सम्पन्न करके शापुर पश्चिम की ओर झुका। स्वयं को हखमनी सम्राटो का उत्तराधिकारी घोषित कर उसने रोमनो को एशिया से हट जाने के लिए कहा, किन्तु वे क्यो हटने वाले थे। एशिया से उनको व्यापारादि द्वारा अनेक लाभ होते थे। यद्यपि इस ओर उसको अनेक अवसरो पर नैराश्य का सामना करना पडा, किन्तु वह विचलित न हुआ। धीरे-धीरे वह सीरिया और एण्टियाक अर्थात् भूमध्य सागर के तट तक पहुँच गया। अरबों को अपने प्रभाव मे लाकर उसने उन्हे अपना करद अनुगामी बना लिया। अपनी शक्ति को संगठित और मजबूत बनाकर उसने रोमनो से पुनः युद्ध छेडा। इस बार विजयलक्ष्मी उसके हाथ रही। रोम का सम्राट् वेलेरियन एडेसा के युद्ध मे मारा गया और उसके सत्तर हजार सैनिक पकड़े जाकर इधर-उधर निर्वासित कर दिये गये (२६० ई०)। तदनन्तर सीरिया और कैपाडोशिया तक ईरानी सेना ने अपना आतक जमा दिया। केवल पालमाइरा मे उसे सफलता प्राप्त न हो सकी।

शापुर की मृत्यु (२७२ ई०) के बाद ईरान में गृहयुद्ध छिड़ गया और साम्राज्य की दशा अव्यवस्थित होने लगी। इससे रोमनो तथा कुषाणो ने लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढा ली। साम्राज्य के कुछ हिस्सो पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया। ईरान की सेना पर रोमनो ने विजय प्राप्त कर एक बार फिर दजला नदी तक साम्राज्य बढ़ा लिया। किन्तु चतुर्थ शती में जब शापुर द्वितीय सम्राट् हुआ (३०९—७९)

तब भाग्यचक्र फिर ईरान के अनुकूल होने लगा। उसकी पहली शानदार विजय कुषाणो पर हुई जिसने कुषाणो की शक्ति सदा के लिए तोड़ दी और उनका राज्य समाप्त कर दिया। सम्राट् द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक बल्ख से वहाँ का प्रबन्ध करने लगा। चीनी तुर्किस्तान तक ईरान का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

पूर्व से निश्चित होकर शापुर द्वितीय पश्चिम की ओर अग्रसर हुआ। उत्तरी मेसोपटामिया और आरमीनिया पर उसने चढ़ाई की। उधर रोम का कुशल प्रसिद्ध सेनापति सम्राट् जूलियन लड़ने आया, किन्तु वह मारा गया (३६३ ई०)। आरमीनिया भी ईरान साम्राज्य का एक प्रदेश बना लिया गया, किन्तु उसका एक छोटा टुकड़ा रोम के सम्राट् को दे दिया गया। शापुर द्वितीय की मृत्यु (३७९ ई०) के साथ प्राचीन इतिहास को समाप्त करना अनुपयुक्त नही प्रतीत होता। उसके उपरान्त रोम साम्राज्य से ही नही, वरन् बाइज़ेण्टाइन रोम से भी ईरान का सघर्ष और आन्तरिक अव्यवस्था का व्यापार होता रहा। पार्थियन और सासानियन शासकों ने हखमनी सम्राटो की सास्कृतिक तथा शासनिक परिपाटियों का प्रायः प्रतिपालन किया। अतएव परिपाटियो की मज़बूती और कमजोरी भी उनके हिस्से मे आयी। फिर भी पूर्व की ओर से संचरणशील जातियों की सैनिक कला तथा रोम की युद्ध और स्थापत्य कलाओं का ईरान पर बहुत प्रभाव पडा। पूर्वी जातियाँ घोडो पर सवार होकर आक्रमण तथा पलायन करने मे दक्ष थी। दोनो ही दशाओ मे वे समान अविकार से वाण-वर्षा कर सकती थी। इन्हीं कारणो से प्राय उनको सफलता प्राप्त होती थी। ईरान ने उस कला को अपनाकर रोमनो पर इतना आतक स्थापित कर लिया कि उन्हे भी घुड़सवार सेना का सगठन करना आवश्यक हो गया।

शापुर प्रथम के जमाने में फारस मे एक विशेष धार्मिक आन्दोलन हुआ जिसका प्रवर्तक 'मानी' था। यह स्मरण रखना चाहिए कि हखमनी वंश का अन्त होने के पश्चात् ग्रीको ने भारत तक और रोमनो ने पश्चिमी एशिया मे अपनी बस्तियाँ स्थापित की। ग्रीको की सस्कृति भी फारस में प्रचलित हो गयी। बौद्ध धर्म ने भी अपना प्रभाव जमा रखा था। रोमनों के युग में ईसाई धर्म का भी अच्छा प्रचार हुआ। उन सबका प्रभाव ईरान पर पड़ना स्वाभाविक था। पुरानी और नयी मान्यताओं से प्रेरित होकर 'मानी' नामक धर्म-प्रवर्तक ने मनीषी सिद्धान्त का प्रचार किया। मानी का जन्म सन् २१६ के लगभग बेबीलोन मे हुआ। उसकी धारणा थी कि विश्व के यावत् व्यापार के कारण दो मूलगत और तीन प्रवाहिक तत्त्व हैं

पहली श्रेणी के अन्तर्गत ईश्वर तथा पदार्थ और दूसरी मे भूत, वर्तमान एव भविष्य (काल) है। भूतकाल मे प्रकाश तथा अन्धकार पृथक् थे, किन्तु उनमें जब सघर्ष हुआ तब अन्धकार की विजय हुई। यह दशा देख ईश्वर ने अपनी शक्तियो का दो बार प्रयोग करके प्रकाश का उद्धार किया तथापि अन्धकार की सत्ता बनी ही रही। उस परिस्थिति मे पुरुष मूर्छित अवस्था में पडा रहा। तब ईश्वर ने विश्व की रचना की और पुरुष मे प्राणशक्ति का संचार किया। इस अवस्था मे यद्यपि उपर्युक्त दोनो तत्त्व आपस में गुथे रहे फिर भी व्यवस्था इस प्रकार की हुई जिससे प्रकाश के ईश्वरीय तत्त्व सूर्य और चन्द्र की मुक्ति का मार्ग निकल सका। वर्तमान काल मे प्रगति की धारा उसी ढग से चल रही है। अन्धकार की सत्ता के प्रभाव और सृष्टि के कारण मनुष्य मे दोनो लिंग उपस्थित रहे जिससे सजनन का विधान चलता है, उस विधान का फल है कि प्रकाश पूर्ण रूप से मुक्त नही होने पाता। इस गुत्थी को खोलने के लिए ईश्वर ने अपने पवित्र प्रकाश से महात्मा ईसा को पैदा कर मनुष्य को अन्धकार से निकल कर प्रकाश में पहुँचने का मार्ग दिखाने के लिए अवतरित किया। मोक्ष प्राप्त करने के एकमात्र रास्ते, सम्यक् त्याग का उसने सन्देश और उपदेश दिया। सच्चा मनीषी वही हो सकता है जो स्त्री-सहवास, मास-मदिरा तथा सम्पत्ति-सग्रह का पूर्णतया परित्याग कर दे। उसका मुख्य कर्तव्य उपदेश तथा आचरण द्वारा मनुष्य को मोक्ष का मार्ग बताना है। साधारण अनुयायियो को विवाह करके दुनिया में रहने की इजाजत है। ये लोग श्रोत्री की श्रेणी में रखे गये। भविष्य की जो परिस्थिति होगी उसमे दोनो मूल तत्त्व फिर अपनी आरम्भिक अवस्था मे पहुँच जायेंगे। किन्तु अन्धकार कैद कर दिया जायगा और शरीर के बन्धन से मुक्त होकर जीव पूर्ण प्रकाश मे स्थिर हो जायगा।

मानी का ध्येय एक विश्वव्यापक धर्म का निर्माण और प्रचार करना था। इसीलिए शायद उसने उस समय के फारस तथा पश्चिमी एशिया की प्रचलित विचारधाराओ के सम्मिश्रण से अपना सिद्धान्त बनाया। शापुर प्रथम ने मानी का स्वागत कर और अनेक प्रकार से उसका सम्मान कर अपना मत प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी। अन्य धर्म वालो ने उसका घोर विरोध किया। शापुर प्रथम, की मृत्यु के बाद मानी पर अभियोग चलाया गया और उसे मृत्युदण्ड दिया गया। उसके मतानुयायियो को भी निरन्तर कष्ट दिये जाते थे, फिर मनीषी सिद्धान्त का प्रचार अरब, सीरिया, एशियाई कोचक, उत्तरी अफ्रीका, मिस्र, तुर्किस्तान, चीन और उत्तर-पश्चिम भारत में होता चला गया। चीन में तो अब भी चलता है

मनीषी धर्म के शिथिल होने पर फारस में फिर जरथ्रुष्ट्र के धर्म का उत्थान हुआ। प्राचीन सिद्धान्त के इस नवीन संस्करण में कुछ परिवर्तन हुए जिनसे वह फारस वालों के लिए सुगम और सुग्राह्य होकर जातीय धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सका। इस नव सिद्धान्त को लेकर बौद्ध एवं ईसाई धर्मो के प्रचार को फारस ने सफलतापूर्वक रोक दिया। तत्कालीन असहिष्णुता के वातावरण मे पारसी धर्म भी जातीय और असहिष्णु हो गया। अन्य धर्मो तथा धर्मावलम्बियो का भयकर दमन किया गया। पारसियो मे यह धारणा फैली कि उनसे अप्रसन्न होकर अहुर-मजद ने उनके शत्रुओ को विजय प्रदान की है। उनकी भलाई उसके प्रसन्न करने से ही सम्भव है। वह धार्मिक कृत्यों द्वारा सम्भव होगा। परिणाम यह हुआ कि उनमें कर्मकाण्ड, आचार और उपचार की प्रवृत्ति पुनः बढ़ी जिसका प्रमाण 'वेन्दि-दाद एव निरंगिस्तान' नामक ग्रन्थ है।

कला-कौशल

पार्थियनो को नगर आदि निर्माण कराने का शौक न था। किन्तु सासानियो द्वारा स्थापित नगरो के ध्वंसावशेष मिलते हैं। उनसे प्रतीत होता है कि वे गोलाकार होगे। अधिक संचरणशील होने के कारण गृहनिर्माण की ओर भी उन्होने विशेष ध्यान न दिया। सासानियो के समय मे कुछ गृहो मे आँगन रखने की पुरानी परिपाटी चलती रही, किन्तु ऐसे मकान भी बनाये जाते थे जिनमे आँगन के वदले सायबान निर्माण किया जाता था। पक्के गारे से जोडे अनगढ़ पत्थरो के टुकड़ो की अथवा ईंटों की दीवारे बनायी जाती थी। गढ़े पत्थरों की दीवारो पर रगीन चित्र या डिजा-इन भी बनाये जाते थे। समृद्ध लोगो के मकानो मे वडे महरावदार फाटक और दीवारो पर अनेक प्रकार की सुन्दर रेखाएँ तथा सिहद्वार और प्रवेश-द्वार बनाये जाते थे। महलो के पास दबे हुए गुम्वद ओर मन्दिरो के पास मीनार पड़े हुए मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्थियनों तथा पूर्व सासानियो के युगो मे मकानो के वाहरी भाग को विशालता और महत्त्व प्रदान करना अच्छा समझा जाता था। उनके मन्दिर चौकोर होते थे, जिनमे अग्नि निरन्तर जलती रहती थी। धार्मिक कर्मकाण्ड और कृत्य खुले मैदान मे किये जाते थे। उस प्रकार की अग्नि-शाला का अवशेष तक्षशिला मे भी मिला है। स्थापत्य कला ने उस काल वस्तुतः कोई विशेष उन्नति नही की। तत्कालीन कला हखमनीय वास्तुकला के सामने विलकुल फीकी लगती है।

पार्थियन युग में काँसे की बड़ी मूर्तियों की रचना ने विशेष उन्नति की। इन मूर्तियो की पोशाक वहुत स्पष्ट और वास्तविकतापूर्ण है। मिर्जई, लबादे और कई प्रकार के पैजामे और जूते पहने हुए व्यक्ति सफाई के साथ वनाये गये है। खम्भो के ऊपरी भाग मे उत्कीर्ण विविध प्रकार की सजावट भी रोमनो की देखा-देखी विकसित की गयी थी। कम उभरी हुई उकेरी कलाकृतियो की भी अच्छी उन्नति हुई। तकीवुस्तान का मृगया दृश्य सामूहिक चित्रण का सुन्दर नमूना है। वैसे ही चित्रण राजदरवार, भोज-उत्सव आदि के भी मिलते हैं। राजाओं तथा पशुओ के चित्र तो ईरान मे पुराने जमाने से बनते चले आये थे। इस काल उनमे भी कुछ उन्नति हुई। बरतनो और धातु के टुकडो पर भी अनेक प्रकार के चित्र अकित किये गये जिनसे यह अनुभव होता है कि ईरानियो को चित्रित वस्तुओ का बेहद शौक था।

आर्थिक स्थिति

सासानियो के युग के आर्थिक जीवन मे पुराने युग की अपेक्षा कुछ विचारणाय परिवर्तन हुए। इस युग के राष्ट्रीय जीवन मे व्यापार से अधिक कृषि का महत्त्व वढा। फलत. सम्पत्ति का वितरण पहले से अधिक सन्तोषजनक हुआ। पश्चिमी राज्यो मे भी सम्भवत. उतनी अच्छी व्यवस्था उस युग मे न थी। चाँदी और तावे के सिक्को का विस्तृत प्रचलन हुआ। हुडियो और चेको के द्वारा आदान प्रदान का तथा बैको का उपयोग अधिकाधिक पैमाने पर होने लगा। सब हिसावी काम लिखा-पढी के जरिये किया जाने लगा। सम्भवत' चेक शब्द की उत्पत्ति भी पहलवी भापा से हुई। उपर्युक्त व्यवस्था प्राय शहरो मे थी। ग्रामीण जनता मे विनिमय तथा मजदूरो की मजदूरी और लगान का अधिकाश भाग वस्तुओ के रूप मे देने की प्रथा चलती रही। दुर्भिक्ष अथवा आयात की कमी पड़ जाने पर उस विधान से साधारण लोगो.को अधिक कष्ट न उठाना पडता था। व्यापार की वृद्धि के कारण यात्रियो और व्यापारियो की सुविधा के लिए राज्य की ओर से नहरो, सडको, नदियो के आसपास अधिक सरायो जिनमे खाने-पीने की उचित व्यवस्था थी, का निर्माण हुआ। सासानियो के जमाने मे ईरान मे रेशमी वस्तुओ के कारखाने खुले। रेशम के व्यापार का इजारा और नियन्त्रण राज्य ने अपने हाथ मे रखा। शीशे की चीजो के बनाने मे ईरान ने खासी उन्नति की। ईरानी राज्यो ने अपनी आवश्यकताओ के अनुसार राजकीय कारखानो मे अनेक

चीजे बनवाने की व्यवस्था की। सम्भवतः इसीलिए अथवा राज्य के आर्थिक जीवन मे विषमता तथा अव्यवस्था बढने के डर से शासन द्वारा आवश्यक चीजो की कीमतो और भावो पर कड़ा नियंत्रण रखा जाने लगा। राज्य के अलावा ईरान के बडे जमीदार भी अपनी नौकरी मे मजदूर, बढ़ई, लोहार, बुनने वाले, तेली आदि रखते थे। उपयुक्त साधन न होने तथा चीजों के भाव का कठोर नियंत्रण रहने के कारण किसानो की दशा चिन्त्य हो गयी और वे दीन-मलीन हो गये। किसानो को अपनी रक्षा और निर्वाह के लिए बडे जमीदारो और सामन्तो की शरण लेना अनिवार्य-सा होता गया। जमीदारो की भूमि, सम्पत्ति और प्रभाव मे वृद्धि हुई। अपने-अपने दुर्ग बनाकर वे अपनी जमीदारी मे ऐशो-आराम करने तथा आनन्द मे रहने लगे और वहा किसानो के परिश्रम के बने कृषि एव वाणिज्य के अपने साधनो और शक्ति का वे सवर्द्धन करते रहे। साम्राज्य और जमीदारो का खर्च बढता गया जिसकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के कर, चुगी आदि लगाये गये। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि सासानी युग मे राज्य की ओर से शिक्षा को अच्छा प्रोत्साहन मिला। नगरो एवं नागरिको का जीवन-स्तर पहले से कुछ ऊंचा हो गया। जातीयता का विकास अधिक पुष्ट और सक्रिय हुआ और ईरान से रोम साम्राज्य का आतंक जाता रहा। सासानियो के युग मे ईरानी सस्कृति उन्नति के ऊँचे शिखर पर पहुँच गयी थी। सैर, शिकार, युद्धकला, साहित्य, सगीत, रहन-सहन, पोशाक, चाल-ढाल आदि में ईरान ने अच्छी उन्नति की। उनका सामाजिक सगठन सामन्तात्मक था। यद्यपि मध्य श्रेणी के लोगो को भी तत्कालीन विधान से लाभ हुआ, किन्तु राजनीति मे वे सामन्तशाही के आश्रित रहे। उनमे शक्ति का विशेष संचार न हुआ। कृषक तथा मजदूर श्रेणी के लोग समाज में कमजोर रहे जिसका परिणाम आगे चलकर साम्राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हुआ।

अध्याय १०

चीन

भौगोलिक स्थिति

हिन्दुस्तान की तरह चीन देश भी स्वत सम्पन्न और ससार के अन्य देशो से पृथक् है। उसके पूर्व मे प्रशान्त महासागर है जिसका तट बहुत कटा-फटा है। इसी कारण उसके सागर तट पर बहुत से अच्छे बन्दरगाह हैं। चीन के दक्षिणी तथा पश्चिमी भाग पहाडो से घिरे हैं। उत्तर मे भी पहाड एव रेगिस्तान है। उत्तर-पश्चिमी भाग का वह खड जिससे उत्तरी प्रान्त के बर्बर चीन के मैदान मे घुसते थे ससार की प्रसिद्ध चीनी दीवार द्वारा बन्द कर दिया गया। इस प्रकार उत्तर पूर्व का सुविशाल मैदान तथा पूर्वी प्रान्त चारो ओर से रक्षित या यो कहिए कि पृथक् कर दिया गया है। इस कारण चीन के निवासियो मे विजातीय मिश्रण अधिक परिमाण मे नही होने पाया। कुछ विद्वानो का मत है कि आधुनिक 'मगोल जाति एकदम शुद्ध नही है और उसमे मगोलिया तथा दक्षिण रूस की अनेक उपजातियो का मिश्रण पाया जाता है। किन्तु वास्तुस्थिति यह है कि यद्यपि इतने विशाल देश मे प्रान्तीय परिस्थितियो की विभिन्नता से लोगो के रूप, रंग एव आकार आदि मे भिन्नता दिखाई पडती है तथापि मूलत वे सब मगोल जाति के ही अन्तर्गत हैं। देश की पृथकता के कारण वहाँ की सभ्यता भी अपनी अनन्य विशेषता रखती है क्योकि उस पर अन्य लोगो का प्रभाव नही पड सका, न दूसरी सभ्यताओ का उनसे अधिक सम्पर्क ही होने पाया। फलत उनकी सभ्यता मे स्थिर एकरसता रही और इसी कारण उसमे अधिक विभेद या विपर्यय न हो सका। चीन की सभ्यता बहुत पुरानी तथा अप्रगतिशील रह गयी।

चीन के जलवायु मे स्थानीय भिन्नता है। उत्तरी प्रदेशो मे कडाके का जाड़ा पडता है और दक्षिणी भागो मे काफी गर्मी पडती है। साधारणतया वहाँ की आबहवा मानसूनी देशो की सी है। वहाँ वर्षा अच्छी होती है। हिन्दुस्तान की तरह चीन मे भी तीन बडी नदियो के जाल है। वहाँ की नदियाँ प्राय. पश्चिम से

पूर्व की ओर बहती है। सीक्यांग नदी जंगलों तथा पहाड़ों में होती हुई एक सहस्र मील लम्बी जाती है। उस मे कुछ दूर तक जहाज भी आ जा सकते है। इसकी घाटी में चावल, बाँस तथा लकड़ी की अच्छी पैदावार होती है। दूसरी नदी याङ्‌टी सी क्यांङ है। इसकी घाटी विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। इसकी लम्बाई तीन हजार मील है। यह नदी संसार का सबसे बड़ा जलमार्ग मानी जाती है। इस पर सात सौ मील तक बड़े जहाज आ-जा सकते हैं और सहस्र मील तक नावें चल सकती हैं। इसके मार्ग में कई झील पड़ने से इसमें भयंकर बाढ़ें अधिक नहीं आतीं। इसकी घाटी में धान की बड़ी-बड़ी फसलें कटती हैं। और गेहूँ, जौ, रुई आदि भी होती है। इसके ढालों पर शहतूत खूब होता है जिससे रेशम के कीड़ों का अपार पालन-पोषण होता है। स्वभावतः इस नदी के तट पर बहुत-से नगर बसे हैं। तीसरी नदी ह्वाङ्‌हो या पीली नदी है। यह बड़े घुमघुमाव से मंगोलिया के रेगिस्तान में होती हुई उत्तर पूर्वी चीन के सुविशाल मैदान में बहती है। अपने साथ बेहद रेत और पीली मिट्टी लाती है जो खेती के लिए बड़ी ही लाभदायक है। किन्तु उसे मार्ग बदलने की बुरी बान है। रेत और मिट्टी की अधिकता से उसका स्तर ऊपर उठता चला गया है। उसे बाँध से जकड़ने के प्रयत्न किये गये, किन्तु कभी-कभी वह उन्हें तोड़कर तूफान बरपा कर देती है जिससे भयंकर हानि होती है। उसका बहाव भी इतना तेज़ है कि उस पर जहाज़ आदि नहीं आ जा सकते। बार-बार नयी मिट्टी पड़ने से धूल के कारण रास्ते खराब हो जाते हैं। शीतप्रधान प्रान्त होने के कारण इसकी घाटी में चावल तो नहीं हो पाते, किन्तु जौ, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, सन आदि खूब पैदा होते हैं। कृषि की सुविधा के कारण इसकी घाटी में घनी बस्तियाँ हैं। ढालू और मटीली होने के कारण इसकी घाटी में सिंचाई का प्रबन्ध होना कठिन है। किसान को मेघ-वृष्टि का आश्रय रहता है। यदि अनावृष्टि हुई तो भयंकर अकाल पड़ जाता है। इसी की घाटी में विशेष रूप से और साधारणतया इसके और याङ्‌टी-सी-क्याङ के बीच के प्रान्तों में ही चीन के इतिहास का और उसकी सभ्यता का निर्माण हुआ। नदियों के जाल के कारण चीन भारत की तरह कृषिप्रधान देश है और उसकी सभ्यता कृषिमूलक है।

चीन के समुद्री तट पर बहुत-से अच्छे बन्दरगाह हैं और वहाँ यात्राएँ प्रायः जलमार्ग से की जाती हैं। इसी सुगमता के कारण वहाँ की बस्तियाँ नदियों के तटों पर हैं।

यद्यपि चीन में लोहे, कोयले तथा तेलो का अच्छा भडार प्रकृति ने एकत्रित कर रखा है तथापि आधुनिक युग से पूर्व वहाँ के निवासियो को उस भडार का प्राय. कुछ भी ज्ञान न था। चीन का उत्तरी भाग मध्य कृषि के लिए अधिक उपयोगी रहा।

स्थूल रूप से चीन चार खंडो मे बँटा हुआ है। ह्वागहो (पीली नदी) और उससे सलग्न नदियो की घाटी चीन का उत्तरी खड है। यागसी और उससे सम्वन्धित पहाडियो और नदियो की घाटी का ऊपरी भाग दूसरा खंड और उसका निचला भाग तीसरा खड कहा जा सकता है। चौथा खड याङ टी सी क्याङ के दक्षिण का समुद्र तट है। चीन की उत्तर से दक्षिण तक लम्बाई साढे पाँच हजार और चौडाई ५००० किलोमीटर है।

चीन वाले अपने देश को चगकुओ (मध्य राष्ट्र) कहते है। मध्य युग मे चीन के पश्चिमी देशो मे वह खिताई के नाम से प्रख्यात था। रूस मे अव भी वह नाम प्रचलित है। मारकोपोलो ने उसका नाम के थे लिखा है। चीन का इतिहास अपना विशिष्ट स्थान रखता है। पुरातन युगो से आज तक वहाँ एक ही जाति और एक ही चीनी राज्य चला आता है। चीन सम्भवत सवसे पुराना राष्ट्र है। उसकी संस्कृति भी मिस्र, मेसोपटेमिया और सिन्धु घाटी की सभ्यताओ की तरह पाँच हजार वर्ष पुरानी कही जाती है। ससार के अन्य प्राचीन राष्ट्रो और सस्कृतियो के साथ अधिक सपर्क न रहने के कारण चीन वालो की सस्कृति पर वाहर वालो का वहुत कम प्रभाव पडा जिससे उनकी सस्कृति की अपनी विशेष रूप-रेखा और आत्मा है। इसका चीनियो को इतना गर्व है कि वे अपने को औरो से ऊँची जाति का मानते और अन्य जातियो से खिचे रहते है और वहुत कम मिलते जुलते है।

चीन का इतिहास भी अन्य देशो के इतिहास की तरह कई युगो मे विभक्त है। अनुश्रुति के अनुसार सवसे पहला युग जिसे वे सतयुग कहते है ईसा से लगभग २८५२ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ जव कि फूर्मी राजसिहासन पर वैठा। उसके वश ने १७६६ ई० पू० तक शासन किया। उसके वाद अनन्त शाग (यिन) वश का प्रभुत्व वढा जो ११२२ ई० पू० तक चलता रहा। उन दोनो वशो का वर्णन पौराणिक ढग की अनुश्रुतियो का सा है। उस युग की घटनाओ को कालक्रम एव प्रामाणिक और व्यवस्थित ढग से लिखना सभव नही हो सका। किन्तु सास्कृतिक विकास का कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ है। चीन का दूसरा युग चाउवंश की, जिसका

सस्थापक वूवाग था, ई० पू० १२२२ में हुई स्थापना से प्रारम्भ होकर २५३ ई० पू० तक चलता रहा। चीनियो के यह पूर्वज कहाँ से और कब आकर चीन में वसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कोई केस्पियन सागर के समीप से, कोई सुमेरिया से और कोई मध्य एशिया से उनका उद्गम मानते है। चीनियों के आने के पूर्व चीन के मूल निवासी असभ्य और वर्वर थे। उनको हराकर चीनी लोग पीली नदी की घाटी मे वैसे ही जम गये जैसे आर्य लोग पजाव और उत्तर प्रदेश मे वस गये थे। विजेता सभवत: नगे रहते थे क्योंकि अनुश्रुति के अनुसार चेन फोग राजा ने सवसे पहले उनको पशुओं की खाल से शरीर ढाँकना सिखाया। कालान्तर मे उन्हे घर वनाना, अग्नि उत्पन्न करना, भोजन पकाना भी आ गया। साराश यह कि विजयी चीनी उस समय तक सभ्यता मे वहुत नीचे थे। उनके पूर्व चीन के मूल निवासियो की स्थिति सभवत: उनसे और भी खराव रही होगी। पुरातन युग के चीनियो का समाज संभवत: मातृक रहा होगा क्योकि पिता के नाम मे सन्तति का परिचय फहसी के समय से आरम्भ हुआ जिसका राजत्व काल २८५७ से २७३८ ई० पू० तक माना जाता है।

चीन मे पुरातन युगो की कुछ अवशिष्ट सामग्री तो मिली है, किन्तु वह इतनी कम है कि उससे वहाँ की सभ्यता की प्रारम्भिक सीढ़ियो का ठीक-ठीक पता नही लग पाता। चीनियो की अनुश्रुतियो के अनुसार उनकी सभ्यता यदि लाखो वर्ष पुरानी नही तो अठारह या वीस सहस्र वर्ष से भी अधिक पुरानी है। कई राजे तो १०००० वर्ष तक राज्य करते रहे। किन्तु उनके अस्तित्व का कोई प्रमाण नही मिलता। ध्वसावशेषो की कमी की पूर्ति उनके ऐतिहासिक अथवा प्राचीन स्मृतियो के सग्रह करते है। सवसे प्राचीन संग्रह चीन के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता कन्फ्यूसिअस का (५५१–४९ ई० पू०) मिलता है। उसके अनुसार ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व चीन मे सामाजिक और राजनीतिक संगठन हो चुका था। चीनी अनुश्रुति के अनुसार सवसे पहले तीन महापुरुषो और उनके पश्चात् पाँच प्रतिष्ठित राजाओ ने २६९७ से २२३५ ई० पू० तक राज्य किया। वे सभी पौराणिक ढग के आदर्श राजा थे। उनके राज्यकाल मे सभी सुखी और सव प्रकार से सम्पन्न थे। राजाओ मे दैविक गुण थे। वह चीन का सतयुग था।

उन आदर्श राजाओ के युग मे शेननुग (२७३७ ई० पू०) ने चीनियो को खेती करना गाँवो मे वसना और कुछ साधारण औषधियो का ज्ञान सिखाया। उसी युग का एक प्रसिद्ध राजा ह्वागती था। (२६९७ से २५९८ ई० पू०) जिसके

पराक्रम और सगठन की योग्यता के कारण चीनी लोग उमको अपने वश का सस्थापक मानते हैं। उसने कम्पास, नौका, गाडी, धनुप-वाण तथा वॉस के बने वाद्ययत्रो का आविष्कार किया। कहा जाता है कि उसी ने मन्त्रियो और निरीक्षको की सबसे पहले नियुक्ति की। उसकी रानी ने रेशम के कीडो से कपडे बनाने का आविष्कार किया। उसके वशजो ने लेखन-कला को व्यवस्थित रूप दिया। राज्य को नौ प्रदेशो मे विभक्त कर प्रत्येक के शासन की व्यवस्था की।

पुरातन चीन की अनुश्रुति के अनुसार प्रतिष्ठित अन्य राजाओ मे याओ और शाआन विशेष रूप से ख्याति-प्राप्त हुए। शासन विधान मे उन्होने कई सुधार किये। उनके समय से राजसिंहासन का उत्तराधिकारी राजा का पुत्र ही होने लगा। फलत. आगे चलकर राजे शानशौकत से रहने और भोग-विलास मे कालयापन करने लगे। मन्त्रियो की सख्या दस और प्रान्तो की बारह कर दी गयी। प्रत्येक प्रान्त मे एक राजकुमार नियुक्त किया गया जो वहाँ के शासन का निरीक्षण और गठन करे। राज्य की भूमि पर राजा का अधिकार स्थापित हुआ। किसान को उस पर खेती करने की आज्ञा वही देता था। उसके लिए कृपक को कर देना पडता था। राजो, सरदारो, सैनिको, विद्यालयो एव शिक्षको के खर्च और निर्वाह के लिए जमीन लगा दी गयी। राज्य के जमीदारो की सख्या दस सहस्र थी। दड-विधान कठोर, किन्तु निश्चित था। उपर्युक्त दोनो राजाओ के शासनकाल मे शिक्षा, सगीत, साहित्य और शासनिक प्रवन्ध मे अच्छी खासी उन्नति हुई। लोहे को गला और ढालकर चीजे बनाना भी उसी युग की देन मानी जाती है।

उस युग के समाप्त होने पर ताम्रयुग का प्रारम्भ हुआ जिसका प्रवर्तक य नाम का राजा हुआ जो ह्यइया वश का था। उसके वश ने २२०५ से १८१८ ई० पू० तक राज्य किया। इन दोनो वशो के राजत्व काल मे चीन मे विवाह, पितृ पैतामहिक दाय तथा अन्यान्य सामाजिक सस्थाओ का निर्माण हुआ। उन्ही के सत्व से दिशा एव काल की व्यवस्थित जत्री, अग्नि प्रकट करने की विधि, गृह-निर्माण कला, कृपि, औपधियो के गुण, वाद्ययत्रो की रचना, नौका-निर्माण, नापजोख के विधानो, लेखन-कला, रेशम, शिक्षा आदि अनेकानेक विषयो का ज्ञान लोगो को प्राप्त हो गया। पीली नदी की अदम्य बाढ का नियन्त्रण करने के लिए कई नहरे कटवा दी गयी जिससे अनेक प्रदेशो को लाभ हुआ।

चीन के पुरातत्व का इतिहास क्रमबद्ध नही मिलता। इसीलिए उसका

अध्ययन सास्कृतिक युगो के अनुसार किया जाना अनिवार्य-सा है। वहाँ सयुक्त कौटुम्बिक प्रथा प्रचलित थी। व्यक्ति का जीवन कुटुम्व के हित के लिए माना जाता था। अतः वैयक्तिक कर्त्तव्यो और आचरणो पर ज़ोर दिया जाता था।

प्रागैतिहासिक काल मे चीन मे आठ मुख्य जनसमूह थे जिनका रहन-सहन एक-सा न था। उत्तर-पूर्व प्रान्त मे, जिसके अन्तर्गत आजकल होपी, शन्तुंग और दक्षिणी मचूरिया है, तुगुस लोग रहते थे जो शिकार तथा कुछ कृपि के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे। उनके मिट्टी के बरतन मोटे और भद्दे थे। आगे चलकर सुअरो का पालना उनका विशेष व्यवसाय हो गया। दूसरे थे वे लोग जिनका निवास-स्थान आधुनिक शाआन्सी प्रान्त तथा मगोलिया का भीतरी भाग था। वे शिकारी और पशु पालने वाले भ्रमणशील (घुमक्कड़) लोग थे। वे सब मगोल जाति के अन्तर्मत थे। तीसरे लोग उत्तर-पचिमी प्रान्त के निवासी थे। सभवतः उसी भूभाग मे शाआन्सी और कान्सू के मैदान है। आरम्भ मे वे मृगयाजीवी थे, किन्तु बाद को गेहूँ और जुआर की खेती भी करने लगे। वे ही लोग तुर्की के पूर्वज थे। चौथा समुदाय कान्सू और शाआन्सी के पहाड़ी भाग तथा जेचवान मे था। वे ही लोग तिब्बत वालो के पूर्वज माने जाते है। भेड़ो के झुडो को वे पहाड़ो पर चराते फिरते थे। चीन के दक्षिणी भूभाग मे भी चार जातियाँ थी जिनमे आस्ट्रो एशियाई रक्त का मिश्रण हुआ। एक थे लिअओ लोग जो सभ्यता की बहुत नीची श्रेणी मे फँसे रहे और शिकारियो की दशा से ऊपर न उठ सके। उनके पूर्व मे याओ लोग थे जो शिकार के सिवा कुछ खेती भी करते और पहाड़ियो मे रहते थे। कालान्तर मे उनका मिश्रण दक्षिण के ताई सभ्यता वालो से हो गया जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। वे ही लोग स्याम वालो के पूर्वज माने जाते है। उसी प्रकार याओ और ताईयो जातियो के मिश्रण से एक समूह यूचियो का उत्पन्न हो गया जो इण्डोनेशिया मे फैल गया। उपर्युक्त जातियो मे आदिम तुर्को तथा ताइयो की सभ्यता औरों के मुकाबिले मे कुछ अच्छी थी।

उपर्युक्त समूहो के लोगो मे सम्पर्क तथा सम्मिश्रण होने से सस्कृति का स्तर ऊँचा हो चला। उदाहरण के लिए पश्चिम मे यांगशाओ सभ्यता के युग के सफेद, लाल और काली मिट्टी के बने बडे सुन्दर पात्र मिले है जिनको शायद गाँवों मे रहने वालो ने बनाया होगा। वे लोग पत्थरो के औजार बनाते थे क्योंकि उनको लोहे का ज्ञान न था। सभवतः ईसा के सात सौ वर्ष पहले उनको काँसे का भी ज्ञान न था। यागशाओ सभ्यता में तिव्वतियो का अधिक प्रभाव दिखाई

पड़ता है किन्तु तुर्कों का भी उसमे हाथ था। ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व वह सभ्यता चीन की उत्तरी और पश्चिमी पहाड़ियो मे प्रचलित थी।

सम्मिश्रण से उत्पन्न दूसरी उल्लेखनीय सभ्यता लुगशान के नाम से प्रसिद्ध है। उसका प्रचार गॉवो मे वसकर खेती करने वाले लोगो मे था जो आधुनिक शान्तुग, कियागसू, चेकिआॅग आदि प्रदेशो मे निवास करते थे। वे मुख्यतः ताई और याओ कुटुम्व के लोग थे। उपर्युक्त दोनो प्रमुख सभ्यताओं का संगम शाआन्सी और पूर्वी होनान मे हुआ। कुछ लोगो का अनुमान है कि याओ और शुन सभ्यताओ को ही आगे चलकर राज्यो की सज्ञा दे दी गयी, वस्तुतः वे राज्य नही, वरन् सभ्यताएँ थी।

ईसा के पूर्व १८०० से १४०० वर्ष के बीच दक्षिण चीन से उत्तरी चीन तक तुर्कों द्वारा कॉसे का अच्छा प्रचलन हुआ। ईसा पूर्व १८०० से १५०० के बीच में ही अनुश्रुति के अनुसार, हासिआ के राजवंश का उत्थान हुआ था।

पुरातत्त्व के अनुसन्धान ही उपर्युक्त धारणाओ के आधार हैं। कन्फ्यूसिअस के युग से माचू काल तक प्रचलित अनुश्रुतियो के अनुसार पुरातन चीन का जो चित्रण किया गया है वह भी कुतूहलवर्धक है। सभव है उसका भी कुछ आधार हो। चीन वाले साधारणतया उन अनुश्रुतियो मे विश्वास रखते हैं इसीलिए तदनुसार संक्षिप्त इतिहास यहाॅ देना अनुचित न होगा।

पुरातत्त्वज्ञों के अनुसार प्रस्तर ताम्रयुग मे चीनी लोग मिट्टी के सुन्दर वरतन वनाते, और उनको कलापूर्ण रगीन चित्रकारी से सजाते थे। वरतनो पर कई प्रकार के रग चढाये जाते थे यद्यपि लाल रंग की प्रधानता रहती थी। वे लोग कृषि करते, कपड़े बुनते, चटाइयॉ वनाते थे। उन्हे सुअर पालने का शौक था क्योकि उनका मास वे खाते थे। यद्यपि उनको चक्र का ज्ञान था तथापि पहियो के विविध प्रयोग का कोई सतोषजनक प्रमाण नही मिलता। उस युग मे मृतक सस्कार का खासा विधान वन गया था। मृतक प्रायः किसी ऊँचे स्थान पर दफना दिये जाते थे। अनुमान किया जाता है कि प्रस्तर ताम्रयुग की सभ्यता २५०० से २००० ई० पू० तक प्रचलित रही। कुछ पुरातत्त्वज्ञो का विचार है कि उसी युग अथवा उसके आस-पास वहाँ लेखनकला का भी सूत्रपात हो गया था। यह कहना अनावश्यक-सा है कि यह लेखनकला स्वतत्र थी। उसकी उन्नति शाग युग मे अच्छी हुई।

कुछ आधुनिक अन्वेषको का विचार है कि ९०० ई० पू० तक का चीनी सभ्यता का इतिहास आनुश्रुतिक, कल्पनात्मक और अत्यन्त सदिग्ध है। प्रागै-

तिहासिक युगो की चर्चा ४०० ई० पू० से आरम्भ हुई और तब से धीरे-धीरे उसका अतिरंजित विवरण बढ़ता गया। चर्चाओ का सम्बद्ध संकलन पहले पहल माचू युग (सत्रहवी शती ई० पू०) मे किया गया। वस्तुत: १०० ई० पू० तक चीन मे कोई व्यवस्थित सभ्यता न थी। उस युग मे चीन में विभिन्न जातियो और संस्कृतियो का दौर-दौरा रहा। हाँ, १००० ई० पू० से उन सबका सम्मिश्रण और समाहार आरम्भ हुआ जो उत्तरोत्तर उन्नति करता चला गया।

शागवंश

शागवश का युग ईसा के पूर्व १७६६ से ११५४ अथवा १४५० से १०५० तक माना गया है। वस्तुत. उसी युग से चीन के पुराने इतिहास की धुंधली रेखा दिखाई पडने लगती है। तत्कालीन ज्ञान का मुख्याधार प्राय' वह सामग्री है जिसे चीन के सुविख्यात तत्त्ववेत्ता कन्फ्यूसियस ने एकत्रित किया था। पुरातत्त्व की खोजो ने भी उस पर कुछ प्रकाश डाला है। शाग सभ्यता उपर्युक्त सभ्यता की ही एक शाखा-सी थी। उत्तर-पश्चिम होनान और शाआन्सी पहाडियो की तराई से मैदान तक उसका क्रमिक विकास हुआ।

शाग युग मे नगरो की स्थापना होती रही। नगरो की रक्षा उनकी चहार-दीवारी करती थी। नगर के मध्य मे राजा का भवन होता था जिसके आस-पास कारीगरो की बस्ती बनायी जाती थी। सरदारो के बाद नगर मे कारीगरो को स्थान दिया जाता था। हथियार, बरतन, तथा काँसे का काम, वहाँ अच्छी उन्नति पर था, किन्तु उसका प्रयोग अधिकतर धार्मिक कामो मे होता था। साधारण जीवन में चीनी मिट्टी के बरतनो से काम लिया जाता था। यद्यपि उस समय ताँबा, टिन, जस्ता, चाँदी और लोहा से अथवा कई धातुओ को मिलाकर चीजे बनाना लोग जानते थे तो भी महँगी होने के कारण धातुओ का चीन मे अधिक प्रचलन न हो सका था। धातु के सिक्को का मूल्य उसके वजन के अनुसार निर्धारित होता था। रेशम पैदा करने का ज्ञान पहले से उत्तरी चीन मे चला आता था। शाग युग मे रेशमी बुनाई के काम ने अच्छी उन्नति की। रेशम के सिवा सन और छालो के तन्तुओ से भी कपडा बनाया जाता था। ऊन के होने का वहाँ कोई प्रमाण नही मिलता।

शांग युग मे लेखन-कला का प्रचलन हुआ। लेखन-कला चित्रात्मक थी, किन्तु उनके उच्चारण का कुछ विधान किया गया। दो हजार से भी अधिक चित्रित

चिह्न बन गये थे जिनसे साधारणतः लोगों का काम चल जाता था। लेख या तो हड्डी पर अथवा कछुओ की पीठ की पपड़ी पर लिखे जाते थे। हजारों की संख्या मे वैसे लेख आज तक पाये जाते है।

अनुमान किया जाता है कि उस युग मे वहाँ का समाज कुछ अंशो मे मातृक प्रथा के अनुसार रहा होगा। वे लोग अनेक देवी-देवता मानते थे, जिनके रूपगुण स्थान-स्थान पर विभिन्न थे। सबसे प्रमुख देवता का नाम शागती है जिसका रूप मनुष्यो का सा कल्पित किया गया था। वही सर्जनहार है, उसी ने वनस्पतियों, पशुओ तथा मनुष्यो को उत्पन्न किया और उनका सरक्षण किया। शागती ने ही धरती माता मे उन सब का आधान किया। कालान्तर मे वह धरती से जुदा होकर आकाश में चला गया। किन्तु वर्षा करके वह पृथ्वी को सदा गर्भित करता रहता है। कुछ प्रान्तो मे यह भी विश्वास प्रचलित था कि प्रारम्भ मे एक विश्वाड (ब्रह्माण्ड) था जिसमें प्रथम देवता का जन्म हुआ। उसका शरीर पृथ्वी, अवयव पर्वत और घाटियाँ, केश वनस्पति है। उसके सिवा पर्वतो, नदियो, बादलो, कृषि, बिजली वायु आदि के देवता है जिनका पूजन करना चाहिए। देवी-देवताओ को सन्तुष्ट और स्वानुकूल बनाने के लिए बलि चढाना आवश्यक है। कभी-कभी आवश्यकता के अनुसार मनुष्यो की भी बलि दी जाती थी जिसके लिए युद्ध के बन्दी लोग और जबरन पकडे भूले-भटके परदेशी मनुष्य काम आते थे। मद्य चढाकर नाचना-गाना भी पूजन का अग था। देवताओ के सिवा उस युग मे पूर्वजो की भी पूजा की जाती थी। लोगो का विश्वास था कि मृत्यु के बाद वे परलोक मे रहते है। सतुष्ट अथवा असतुष्ट होने से वे लाभ या हानि पहुचाते है। उनको प्रसन्न करने का भी लगभग वही ढग था जिससे देवता प्रसन्न किये जाते थे। कभी-कभी तो सौ पशुओ की बलि चढाने पर ही पुरखे प्रसन्न हो सकते थे।

शाग युग मे हाथी, घोडे, बैल, भेड, मुर्गी, सुअर और कुत्ते पाले जाते थ। हाथी और घोडे शायद रथ मे जोते जाते थे। पशुपालन के अलावा कृषि का भी अच्छा विस्तार हुआ जिसका एक कारण अच्छे हलो का प्रचार हो सकता है। मक्का, बाजरा, चावल की खेती अधिक होती थी। बाजरे से बनी शराब की माँग नागरिको मे बढती जाती थी।

शाग राज्य के राजा की उपाधि 'ती' थी, जिसका प्रयोग देवाधिदेव के लिए भी होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ राजत्व और देवत्व का सम्बन्ध मान सा लिया गया था। फलत. राजा ही राज्य का मुख्य धर्माध्यक्ष

भी था जिसकी सहायता अथवा सेवा करने के लिए कई पुरोहित नियुक्त किये जाते थे। राज्य के मुख्य प्रान्त का वही शासन करता था, किन्तु अन्य प्रान्तों में सामन्त लोग राजा को अपना अधिपति और धर्माध्यक्ष मानते हुए भी एक प्रकार से स्वतन्त्र शासन करते थे। पुरातन चीन की सामन्तशाही की यह पहली झलक कही जा सकती है।

शाग युग के मध्य काल में तुर्कों और मंगोलों ने राज्य पर अधिकाधिक दबाव और प्रभाव डाला। वे लोग अपने साथ सितारो की पूजा और घोड़ो से खीचे जाने वाले दो पहियो के रथ लाये जिससे वहाँ की युद्धकला मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगा। राजा तथा उनके सामन्त, जो रथ और घोड़े रख सके, साधारण नेताओ से प्रबल हो गये। उन लोगों ने अपने नये साधनो द्वारा अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाना शुरू कर दिया जिससे राज्य-क्षेत्र का अच्छा विस्तार हुआ। कालान्तर में प्रवल सामन्त लोग तथा जीते हुए प्रदेशो के लोगो मे स्वतत्र हो जाने की प्रेरणा बढने लगी। उधर राजा लोग भी ऐशोआराम के शिकार होते गये। राजवश के विरोधियो मे हूण आक्रमणकारी प्रबल होते जाते थे। ऐसी परिस्थिति मे चोऊ वश के एक राजकुमार ने प्रजा का नेतृत्व अपने हाथ में लेकर शाग वंश से राज्य छीन लिया (११२२ या १०५० ई० पू०)।

चोऊ वंश (११२२ ई० पू० से २५५ ई० पू० तक अथवा १०५० ई० पू० से २४७ ई० पू० तक)

कुछ विद्वानो की धारणा है कि चोऊ वश वस्तुत. तुर्को का था। आरम्भ मे उनकी रियासत में तुर्को के सिवा तिव्वती लोग भी रहते थे। उनके राज्य पर तुर्को के अन्य कवीलो ने ऐसा दवाव डाला कि उनको शांग राज्य मे शरण लेनी पड़ी। फलत: उन पर शाग सभ्यता का गहरा रंग चढ गया। उनकी शक्ति उनके संगठन के साथ इतनी वढ गयी कि चोऊ शासक वू-वाग ने पीली नदी पारकर शाग राज्य पर चढाई कर दी। तीन वर्ष तक हूणों के साथ युद्ध करने के कारण शांग राज्य क्षीण हो गया था इसलिए वू-वाग को उस पर आधिपत्य जमा लेने में आसानी हो गयी।

वू-वाग के सामने दो प्रमुख समस्याएँ उपस्थित हुई। पहली थी राज्य के दृढ़ सगठन की जिससे शान्ति स्थापित हो सके। दूसरी समस्या थी राज्य के सैनिक बल को वढ़ाने की जिससे हूणो आदि आक्रमणकारियो का दमन किया जाय।

उन समस्याओ को हल करने के लिए उसने कई सुधार किये। उसका सबसे महत्त्व-पूर्ण कार्य सामन्तो को सगठित करना था। सामन्तो की उसने पाँच श्रेणियाँ बनायी। सबसे ऊँची श्रेणी के सामन्तो को उसने लगभग तीस वर्ग मील के क्षेत्र का शासन सुपुर्द किया और उससे नीची वाले को सोलह या सत्रह वर्ग मील का क्षेत्र दिया गया। सामन्त प्राय चोऊ वश से चुने गये थे किन्तु उनमे स्थानिक तथा उन सरदारो को भी स्थान दिया गया जिसने चोऊ वश का आधिपत्य स्वय स्वीकार कर लिया था। सामन्तो को अपनी अपनी जागीरो के सरक्षण और शासन का भार सुपुर्द कर दिया गया। सामन्त अपनी अपनी गढी में रहते थे। गढ़ी के आस-पास सेना का पडाव होता था, जो वहाँ से कुछ दूरी पर रहती थी। सामन्त राजा को कर, भेट तथा सैनिक सेवा देता और उसको अपना अधिपति मानता था। राजा ने करीब ३३५ वर्ग मील का प्रदेश स्वय अपने लिये रख छोड़ा था। कहा जाता है कि राज्य की दो सौ दस रियासते, नौ प्रदेशो मे विभक्त थी। प्रत्येक प्रदेश करीब ३३५ वर्ग मील का था। स्वरक्षित प्रदेश का शासन राजा अपने कर्मचारियो द्वारा करवाता था।

आरम्भ मे साम्राज्य के छोटे-बडे सामन्तो की सख्या एक सहस्र सात सौ तीन थी। इनके अलावा देश के अन्य भागो में पदाधिकारियो की नियुक्ति की गयी थी जिनका काम पाँच, दस, तीस या दो सौ दस बस्तियो तक के समूहो का निरीक्षण करना था। सामन्त-विधान से एक तो यह लाभ हुआ कि सामन्तो को अपनी-अपनी जमीदारियो की रक्षा करने की स्वाभाविक उत्तेजना मिली जिसमे साम्राज्य की रक्षा का भार सम्राट् के सर से कुछ उतर गया। दूसरी यह कि सामन्तो और उनके क्षेत्रो के निवासियो मे घनिष्ठ एव स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो गया जिससे शान्ति तथा रक्षा के कामो में पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति और श्रद्धा-विश्वास की वृद्धि हुई। इससे सामाजिक सगठन अधिक दृढ हो गया और राष्ट्र की शक्ति बढ़ गयी। सामन्तो में परस्पर तथा बर्बरो से निरन्तर युद्ध होते रहने के कारण छठी शती (ई० पू०) तक चीन में व्यवस्थित सेना-संचालन, कवायद, अनुशासन विधान, व्यूह-रचना तथा युद्ध-कौशल की अच्छी उन्नति हो गयी।

सामन्त शासन का प्राय: सबसे बड़ा दोष यह होता है कि सामन्तो में स्वच्छन्दता, स्पर्धा तथा उच्छृंखलता बढ जाती है जिससे वे कभी-कभी अत्याचारी और उपद्रवी हो जाते हैं। इस दोष का निराकरण करने के लिए चीनी सम्राटो ने दो प्रबन्ध किये। पहला यह कि सामन्तों के शासन का निरीक्षण करने के लिए उसने अपनी ओर से

निरीक्षक नियुक्त किये। ये दो मत्रियों की अध्यक्षता में काम करते थे। दूसरा यह कि सामन्तो को समय-समय पर सम्राट् के सम्मुख उपस्थित होकर अपना लेखा-जोखा देना पडता था। यही नही, प्रति पाँच वर्ष पर सम्राट् स्वयं रियासतो का दौरा करके निरीक्षण करता और प्रजा की कठिनाइयो को दूर करने का प्रयत्न करता था। उसकी सामरिक शक्ति के प्रवल होने का एक वडा कारण यह हुआ कि उसने लोहे के वने अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग चलाया।

चोऊ युग का शासन एक प्रकार का सघ शासन था। सम्राट् के आधिपत्य मे सामन्त स्वतंत्र शासन करते थे। जव तक सम्राटो में शक्ति और उनका व्यक्तित्व आदरणीय रहा तव तक निर्वाह होता गया, किन्तु उनके आचरण भ्रष्ट होने पर तथा क्षीण होने पर सामन्तो मे अधिकाधिक स्वच्छन्दता और पारस्परिक कलह वढता गया। इसके सिवा वर्वर आक्रमणकारियो के निरन्तर उपद्रवो के कारण देश तथा राज्य की आर्थिक दशा भी विगडती गयी। (पाँचवी शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० तक के) मध्यकाल मे चीन मे पारस्परिक युद्धों, विद्रोह और उपद्रवो का वाजार गर्म रहा। प्रजा व्याकुल होती रही और नैतिक पतन होता गया। अन्ततोगत्वा चि-इन लोगो ने साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

राज्य की राजधानी जो आधुनिक सिअन के करीव थी शेनसी नगर मे स्थापित की गयी। शाग के पुराने निवासी तथा वे लोग जिन्होने चोऊवंश का असफल विरोध किया था, लोयांग में वसा दिये गये। उस नगर को राज्य की दूसरी राजधानी का स्थान प्राप्त हुआ। वू वाग के राजत्व काल मे ही उसके भाई ने जो चाऊ कुङ्यूक के नाम से प्रसिद्ध है, अपनी योग्यता का परिचय दे दिया था। वू-वाग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र वाल्यावस्था मे सिंहासनारूढ हुआ और शासन के संगठन का काम चोऊ कुङ्यूक ने अपने हाथ मे लिया।

चोऊ राजा वाग (व्यौम, आसमान) का पुत्र माना जाता और उसी को महाज्ञय करने का अधिकार था। तत्कालीन विचार के अनुसार पुरखो की इच्छा, अपने गुणो तथा दैव की इच्छा से ही किसी व्यक्ति को राजत्व प्राप्त होता था। जिस प्रकार धरती और आकाश का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध माना जाता था उसी प्रकार आकाश (दैव) का राजा से सम्वन्ध कल्पित किया गया था। राज्य-संगठन भी प्रकृति के ही नमूने पर होना श्रेयस्कर समझा गया था। छ ऋतुओ के प्रतिमूर्ति छ मंत्रियो की नियुक्ति की गयी जो केन्द्रीय शासन का संचलन करते थे। व्योममत्री को वित्त और अर्थ विभाग, पार्थिव मत्री को शिक्षा एवं स्थानीय शासन, वसन्त मंत्री को धर्म और याग, ग्रीष्म

मत्री को युद्ध विभाग, शरद मत्री को दड विभाग और शिशिर मंत्री को साधारण शासनकार्य सुपुर्द किया गया। उस युग की धारणा के अनुसार आकाश में तीन सौ साठ नक्षत्र माने जाते थे। तदनुसार प्रत्येक मत्री के विभाग मे साठ-साठ कर्मचारी नियुक्त कर दिये गये जिनका जोड तीन सौ साठ हुआ। इस प्रकार आकाश और नक्षत्रो के अनुरूप राजा और उसका केन्द्रीय शासन बन गया। पहले राजा का भारी दबदबा था किन्तु आगे चलकर सामन्तो ने इतनी शक्ति बढ़ा ली कि वे उसकी बराबरी करने लगे। फिर भी राष्ट्रीय याग का अधिकार राजा के ही हाथ मे रहा, वही प्रमुख धर्माध्यक्ष रहा।

चोऊ शासन मे कृषि का भी व्यवस्थित प्रबन्ध किया गया। एक वर्ग ली (१/३ मील) को नौ भागो मे बाँट कर आठ भाग प्रजा को दिये जाते थे और नवाँ भाग जो प्राय. बीच का क्षेत्र होता था, राज्य के लिए रक्षित रहता था। इस प्रथा को 'चिग ति एन' विधान कहते थे। चीनी चिह्न के अनुसार क्षेत्र विभक्त किये गये। कृषक लोग बारी-बारी से पहले राजा की भमि की जोताई-सिचाई करते, फिर अपने खेतो मे काम करते थे। खेतो मे हेरफेर कर विभिन्न फसलें पैदा करने को उत्तेजना दी गयी जिससे पैदावार बढ गयी। कृषि का यह रहस्य यूरोप को आधुनिक युग के आरम्भ तक ज्ञात न हो सका था। क्षेत्र का अधिकार, पचीस वर्ष की उम्र वाले कृषक को दिया जाता था जो पैंतीस वर्ष तक उस पर खेती करता। साठ वर्ष की उम्र पूरी हो जाने पर क्षेत्र उससे लेकर दूसरे युवक को दे दिया जाता था। वृद्धो के भरण-पोषण की जिम्मेदारी सम्भवत. राज्य की होती थी। यतीमो, अशक्तो, गूंगो, बहरो और पागलो का भी उसी प्रकार पालन-पोषण किया जाता था। भूमि पर किसान का पूर्ण अधिकार सम्भवत चोऊ राज्य के अन्तिम दिनो मे स्थापित न हुआ होगा। उपर्युक्त व्यवस्था के सिवा चोऊ राजाओ ने दलदलो को सुखाकर, नहरे खुदवाकर और बेकार जमीन को कृषि के योग्य बनाकर कृषि का अच्छा विस्तार किया। उसी युग मे, (सम्भवत. पाँचवी शती ई० पू०) धातु के सिक्को के प्रचलन से व्यापार ने भी अच्छी उन्नति की जिससे नये-नये नगर स्थापित होते गये। फलत ग्राम्य जीवन के स्थान पर नागरिक जीवन सम्बन्धी व्यवसाय, व्यापार और आचार-विचार के नये दृष्टिकोणो तथा सस्थाओ का विकास होने लगा।

चोऊ काल मे व्यवसाय ने भी अच्छी उन्नति की। लकडी, धातु, चमडे, रगसाजी, लोहारी, स्थापत्य आदि के कामो मे अधिक सफाई तथा उन्नति हुई।

व्यवसायों की वृद्धि से नगरों की सख्या बढ़ने लगी। उद्योग-धन्धे उस समय वशानुगत थे। नागरिक जीवनचर्या के कारण शिष्टाचार और सभ्यता का अधिक विकास होने लगा। क्रय-विक्रय में ताँबे के सिक्कों, रेशम के कपड़ों, सोने के टुकड़ों, मोती एवं रत्नों से काम लिया जाता था।

चोऊ युग से उत्तराधिकार की नयी परिपाटी चली। उसके पहले भाई उत्तराधिकारी होता था, किन्तु सम्राट् 'वेन' ने पुत्र को उत्तराधिकारी निश्चित कर दिया और सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रो मे उस प्रथा को लागू कर दिया। भारतीय परम्परा की तरह चीन में भी कुटुम्ब का संगठन असविभक्त अथवा सयुक्त था। चीनी जीवन मे कुटुम्ब का बडा महत्त्व और सम्मान था। फलत. गृहपति तथा वृहत्तर कुटुम्ब अर्थात् राष्ट्र के पति सम्राट् का भी बहुत आदर और सम्मान होता था। कुलपति का कर्तव्य था कि सब आश्रितो का भरण-पोषण स्नेह एव न्यायपूर्वक करे। कौटुम्बिक जीवन को पुष्ट तथा मधुर बनाने के लिए विनय एवं शिष्टाचार के नियम बडे सोच-विचार और बारीकी के साथ निर्धारित किये गये। इनका संग्रह चाऊ ली नामक ग्रन्थ मे है।

चोऊ राज्य का दण्ड विधान कठोर था। जुर्माना, अग-विच्छेद जैसे नाक, पैर, अण्डकोष आदि कटवा देना, चेहरा विकृत करना और मृत्यु दण्ड देना प्रचलित था। कभी-कभी दण्ड के बदले जुर्माना ले लिया जाता था।

अनुश्रुतियों के अनुसार चोऊ युग में शिक्षा के प्रचार के लिए अच्छा प्रयत्न किया गया। पचीस ग्रामीण कुटम्बो के लिए एक प्रारम्भिक पाठशाला थी। माध्यमिक शिक्षा के लिए एक पाठशाला प्रति पाँच सौ कुटुम्ब के लिए स्थापित की गयी थी। उच्च शिक्षा के लिए उत्तरोत्तर महत्त्व की तीन प्रकार की पाठशालाएँ स्थापित थी। ढाई हजार कुटुम्बियो के नगरो मे एक शिक्षालय था। बडे नगरो में उससे भी उच्च शिक्षा के और राजधानी मे सर्वोच्च विद्यालय प्रतिष्ठित थे। छः से आठ वर्ष तक की उम्र से बालक की शिक्षा का आरम्भ होता था और बीस वर्ष की उम्र तक वह चलती रहती थी। सबसे पहले विनय, आचरण. शिष्टाचार तथा नैतिकता की शिक्षा दी जाती थी। तदनन्तर बाण-विद्या, सगीत, रथ-सचालन, गणित एवं साहित्य का स्थान था। बालिकाओं की शिक्षा दस वर्ष से बीस वर्ष तक होती थी, किन्तु वह घरो में ही दी जाती थी, क्योकि बाहर जाना अनुचित माना जाता था। उनकी शिक्षा मे मधुर वाणी, विनीत व्यवहार, अंग-संचालन, शिष्टाचार आदि की शिक्षा के साथ ही साथ खाने-पीने की चीजें बनाने और उन्हे

रखने का ढंग सिखाया जाता था। रेशम तथा छालो के तन्तुओ के धागे बनाकर उनसे वस्त्र बुनना भी सिखाया जाता था। सारांश यह कि स्त्री-शिक्षा का ध्येय पुरुषों की शिक्षा से सिद्धान्त एवं व्यवहार में भिन्न था।

चोऊ युग मे पद्य और गद्य मे साहित्य की सृष्टि हुई। उसकी कविता मे व्यंग,प्रेम-प्रसग,उत्सवो और विशेष अवसरो पर गाने योग्य गीत आदि का शाङ्चिग नामक एक सग्रह अब तक विद्यमान है। गद्य मे अनुश्रुतियाँ, गाथाएँ, राजकीय कारनामे, कानूनी फैसले,भूमिदान के पट्टे आदि मिलते हैं। शासन सम्बन्धी समाचार, आज्ञाएँ, वित्त सम्बन्धी, भौगोलिक विवरण एवं राजनीति सिद्धान्त भी गद्य में लिखे जाते थे। उनका आंशिक संग्रह शूचिंग नामक ग्रन्थ मे अब भी विद्यमान है। लेखक सामयिक घटनाओ को कालक्रम, तिथि तथा तत्सम्बन्धी व्यक्तियो के नाम-सहित लिपिबद्ध करते थे। उनमे हमे तत्कालीन इतिहास का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त होता है। चोऊ युग की अन्तिम शतियो मे, चीन का ईरान तथा यूनान से राज्य की सीमाओ के विषय मे सम्पर्क हुआ जिससे गणित तथा ज्योतिष की ओर चीनीयों की उत्सुकता बढ़ने लगी।

ससार के दार्शनिक इतिहास मे छठी शती अपूर्व महत्त्व की मानी जाती है। इस शती मे भारत, ईरान, यूनान की तरह चीन मे भी दार्शनिक विचारधारा प्रवाहित हो उठी थी। शाग युग मे उसका सूत्रपात हुआ और चोउ युग मे उसका संवर्द्धन होता रहा। चीनियो का विश्वास था कि जगत् दैवी शक्तियो से भरा हुआ है। अनेकानेक प्रचार के देवता और देवियाँ विश्व मे विद्यमान हैं। गृह, खेत, नदी, नाले, जल-थल-नभ, जहाँ देखो उनकी सत्ता दिखाई पडती है। उनके अलावा पुरखों की भी अलक्ष्य रूप मे सत्ता है। सारे देश के विश्वास और धारणाएँ मूलत. एक-सी होते हुए भी कल्पनात्मक एव व्यावहारिक दृष्टि से परस्पर भिन्न और विविध प्रकार की थी। देवी-देवताओ की शक्तियाँ और क्षेत्रो के विषय मे भी भिन्नता थी। कोई देवता बहुत बडे और कोई छोटे गिने जाते थे। यद्यपि बडी महत्त्वशाली दैवो शक्तियो मे पृथ्वी और आकाश की गिनती थी तथापि सर्वोपरि शक्तिमान् तीतिएन अथवा शागर्ता माना जाता था। लोगो का विश्वास था कि बिना दैविक शक्तियो की सहायता के मनुष्य को सफलता और सुख नही प्राप्त हो सकता। इसलिए उनको तुष्ट करने के लिए योग एव कर्मकाण्ड प्रचलित हुए। पूजा में अन्न, मांस और नर की भी बलि दी जाती थी। चीनियो में लिंग पूजा भी प्रचलित थी। चोऊ युग मे ही उपर्युक्त विधानो मे सुधार होने लगे थे। यज्ञो की

वीभत्सता वहुत कुछ दूर होगयी और लिंग शब्द की साधारण परिभाषा का लोप होकर उसे नवीन और दोषरहित रूप दिया गया । पूर्वजो का पूजन प्रायः मन्दिरो अथवा घर के पूजा-गृह मे होता था । देवी-देवताओ और शक्तियो का पूजन नगरो के समीप मैदानो मे वेदी बनाकर किया जाता था जिससे अधिक जनता समारोह मे एकत्रित हो । चीन मे पुरोहित न थे । गृहपति अथवा राज्याधिपति ही पूजा करवाता था । उसकी सहायता के लिए उच्च कुल के व्यक्ति जो विधि विधानों सें अच्छी तरह परिचित होते थे बुला लिये जाते थे । कभी-कभी देवी या देवता किसी व्यक्ति पर, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, चढ़ आता था जिससे उसको भावी का आभास हो जाता और उसे वह घोषित कर देता था ।

चोऊ युग के सैनिक सगठन की भी अपनी विशेषता है । राज्य के वीस से साठ वर्ष के प्रत्येक पुरुष को सैनिक शिक्षा एक या दो वर्ष के लिए अनिवार्य थी । राज्य की जनसख्या अनुमान से करीब इक्यावन लाख थी । प्रति पाँच से बारह घरों तक से चार घोड़ें, एक रथ, तीन सारथी, बहत्तर पदाति, पचीस कार्यवाहक और वारह बैल लिये जाते थे । इस हिसाब से चालीस सहस्र घोडे, दस हजार रथ, सात लाख वीस हजार पैदल तक सेना एकत्रित हो सकती थी । राज्य की सन्नद्ध सेना लगभग पचहत्तर हजार थी जो साढ़े वारह-वारह हजार के छः भागो मे विभक्त थी । प्रत्येक भाग का एक बडा सेनाध्यक्ष नियुक्त किया जाता था इसके आधिपत्य मे २५००, २५०० सैनिको के छ सेनाध्यक्ष होते थे । उनसे उतर कर पाँच सौ के छः सरदार होते थे जिनके नीचे १०० के सरदार होते थे । उनके नेतृत्व मे पचीस-पचीस सैनिको के नायक होते थे । अन्तिम इकाई पाँच की थी । पाँच सौ और उससे नीचे के पद प्रायः विद्वानो को प्रदान किये जाते थे ।

वडी सेना रखने की आवश्यकता प्राय इसलिए थी कि राज्य पर तुर्की और मंगोलो के आक्रमण प्राय. हुआ करते थे । उनके चरागाहो पर चोऊ राजाओ ने अधिकार जमा लिया और रक्षा के लिए वहाँ गढियाँ बनाकर सेनाएँ स्थापित कर दी तथा अच्छी-खासी बस्तियाँ कायम कर दी । फलतः चोऊ राज्य का उनसे सघर्ष रहने लगा । भ्रमणशील तुर्क और मगोलो के लिए लूट-खसोट के अलावा कोई और रास्ता न रह गया ।

चि इन वंश (२५५–२०६ ई० पू०)

इस वश का सवसे प्रसिद्ध पहला ह्वागती और उसका मुख्य मन्त्री

लीस्सू हुआ। ह्वागती का मुख्य ध्येय था कि वह सारे चीन पर, जो ससार का एक मात्र सभ्य महाप्रदेश समझा जाता था, अपना प्रभुत्व जमा दे और पुराने युग की संस्कृति का मूलोच्छेद करके नयी सस्कृति और सभ्यता के प्रवर्तक होने का श्रेय प्राप्त करे। ऐसा करने से वह देवत्व प्राप्त कर अपने नाम को सार्थक करेगा। प्रथम उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सामन्तो का वलपूर्वक अन्त करके सामन्तशाही को समाप्त कर दिया। उसने साम्राज्य को पचपन या छत्तीस (वाद को ४१ या ५५) प्रान्तो मे विभक्त कर सवमे एक-सा शासन-प्रवन्ध स्थापित कर दिया। प्रत्येक प्रान्त मे तीन् प्रमुख अधिकारी नियुक्त कर दिये गये। उसी भॉति स्थानिक व्यवहारो, रिवाजो. आचारो और विभिन्न प्रकार के नापने-जोखने के तरीको को वदल कर उसने सर्वत्र एक से आचार-विचार तथा विधान चालू कर दिये। राज्य के सभी किसानों को उसने अपनी जमीन पर अधिकार प्रदान कर एक क्रान्तिकारी सुधार किया जिसका महत्त्व सामन्तशाही को समाप्त करने से कम नही कहा जा सकता। लिपि-शैली मे सुधार करके साम्राज्य भर मे एक लिपि को प्रचलित कर दिया। शान्ति स्थापित करने के लिए प्रजा से हथियार छीन लिये। देश की रक्षा के लिए चोऊ राजा ने चीन के उत्तरी पूर्व भाग मे जिधर से हूणो के आक्रमण प्राय हुआ करते थे, जो दीवार वनवाना आरम्भ कर दिया था उसे ह्वागती ने पूरा करवा दिया। दीवार १५०० मील लम्वी है जो मिस्र के पिरामिडो की तरह ससार की महा आश्चर्यजनक कृतियो मे गिनी जाती है। यदि उसमे सभी पहाडियॉ भी जोड दी जायँ तो दीवार तीन हजार मील लम्वी ठहरेगी। उसके वनाने के लिए तीन लाख सिपाही, लाखो कैदी और अपराधी दस वर्ष तक लगे रहे। उस दीवार की रक्षा के लिए इतस्तत. किले, बुर्जियॉ आदि भी वनवा दी गयी। इस दीवार के तथा अन्य प्रासादो के बनवाने के लिए सम्राट् को कई प्रकार के कर लगाने पडे। दीवार के कारण हूणो के आक्रमण यद्यपि एकदम वन्द तो न हो सके तथापि वहुत कुछ कम हो गये। उसी के कारण हूणो ने पश्चिम की ओर बढना शुरू किया, जिसका अन्त मे परिणाम रोम राज्य के लिए ही नही, वरन् भारत के गुप्त राज्य के लिए भी विनाशकारक सिद्ध हुआ।

साम्राज्य की व्यवस्था ठीक रखने के लिए उसने अनेक सडके बनवायी। अपने लिए उसने एक वहुत चौड़ा राजपथ बनवाया जो ह्वागहो और याङटी सी क्याङ्ग नदियो की घाटियो को मझाता था। उसके दोनो ओर उसने देवदारु के सुन्दर वृक्ष लगवाये। सम्राट् को प्रकट या गुप्त रूप से साम्राज्य मे यात्रा करने

और राज्य की तथा प्रजा की परिस्थियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का शौक था। इसके सिवा इस काम के लिए नियुक्त गुप्तचरो से भी उसको निरन्तर समाचार मिलते रहते थे। जहाँ तक सम्भव होता वह स्थिति सुधारने की चेष्टा भी करता। डाकुओ और उपद्रवियो को पकड-पकड़ कर वह सीमान्त प्रान्तो में लडने के लिए भेज देता था। इससे भी साम्राज्य को कुछ शान्ति मिली। यही नहीं २२५ ई० पू० मे उसने ह्वाङ्ह हो नदी का रुख दक्षिण-पूर्व की ओर घुमा दिया और एक नहर काट कर दो नदियो को मिला दिया जिससे अनाज आदि सफलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सके।

नवीन सभ्यता का युग स्थापित करने के ध्येय की पूर्ति के लिए उसने यह आज्ञा दी कि विज्ञान अर्थात् ज्योतिष, रसायन, वैद्यक, कृषि, वनस्पति आदि की पुस्तको को छोडकर अन्य साहित्य विशेषकर गाथा, इतिहास और नीति आदि के सब ग्रन्थ जला दिये जायँ। इस आज्ञा का उसने बड़ी कड़ाई के साथ प्रचलन किया। वह चाहता था कि वैज्ञानिक विषयो को छोड़कर पुरानी रूढ़िग्रस्त विचारधारा का अन्त कर दिया जाय जिससे नयी सभ्यता अबाधित रूप से चल सके। पुरानी सस्कृति की जो प्रशसा करता अथवा नये विधान में दोष बतलाता उसे सकुटुम्ब मार डालने की सजा घोषित की गयी। यही नही, पुरानी सस्कृति की रक्षा और विचारो की स्वतन्त्रता के सैकड़ो प्रचारक मौत के घाट उतार दिये गये। हाँ, इतना उसने अवश्य प्रबन्ध कर दिया था कि प्रसिद्ध पुस्तको की प्रतियाँ राज्य के सग्रहालय में रख दी जायँ ताकि आज्ञा प्राप्त करके विद्वज्जन उनको देख सके और वे मूर्खों तथा साधारण मनुष्यो के हाथ न लग पायें, क्योंकि वे उनका यथोचित आशय न समझकर या तो लकीर के फकीर बने रहेंगे अथवा उनका दुरुपयोग करेगे।

चि-इन की राजधानी ह्यियनयांग में थी। वहाँ मीलो तक उसने महलों का निर्माण कराया। दूर रह कर उपद्रव करने से उन्हे रोकने तथा राजधानी को सम्पन्न और सबल करने के लिए उसने अमीरो तथा सबल व्यक्तियो को राजधानी मे ही बसने के लिए बाधित किया और अद्भुत वस्तुओ को लाकर वहाँ अजायबघर स्थापित किया। विजित राजधानियो के महलो के नमूनों पर उसने अपनी राजधानी में भी महल खडे कराये। इस प्रकार उसे उसने साम्राज्य का प्रतीक लघुचित्र सा बना दिया।

सम्राट् ह्वागती ने केवल ग्यारह वर्ष तक राज्य किया। पचास वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी। इतने स्वल्प काल में उसने अपनी कर्मठता, दूरदर्शिता

तथा कार्यकुशलता से आश्चर्यजनक काम कर डाले। उसी के प्रयत्नों से चीन देश को चि-इन नाम मिला। उसी ने उसकी वह रूपरेखा बनायी जिस पर भविष्य में चीन की रचना होती गयी। उसका साम्राज्य उत्तर में ह्वागहो, दक्षिण में अनाम, पूर्व मे समुद्रतट एव कोरिया और पश्चिम में उच्च पर्वतमाला तक था। वह प्रजा को एक सभ्यता तथा साम्राज्य को एक शासन के सूत्र में बाँध कर राष्ट्रीय एकता द्वारा सशक्त एव समृद्धशाली बनाना चाहता था। अपनी कृतियो एव अक्षय कीर्ति के बल पर वह देवत्व का सम्मान प्राप्त करना तथा चीन का प्रतीक बनना चाहता था। उसके कामो में विलक्षणता रहते हुए भी उसके ध्येय में महत्ता असदिग्ध रूप से दिखाई देती है। उसकी एकछत्र राज्य की आदर्श कल्पना भी ऐक्य स्थापन के ध्येय से ही प्रेरित-सी प्रतीत होती है। यद्यपि लोग कई पीढियो तक उसकी निन्दा करते रहे तथापि इसमे सन्देह नही कि वह संसार के महाप्रतापी और प्रसिद्ध विजयी सम्राटो मे गिने जाने योग्य है। उसकी मृत्यु २१० ई० पू० में हुई।

ह्वागती का विधान कृत्रिम था, अतएव उसको चलाने के लिए बल का प्रयोग अनिवार्य-सा था। इसके अलावा अनेक करो के लगाये जाने के कारण लोगो मे बड़ा असन्तोष था। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र निकम्मा निकला। साम्राज्य में अशान्ति और विद्रोह की अग्नि भड़क उठी और २०६ ई० पू० में चि-इन वश के हाथ से लिउपग ने, जो मृत्यु के बाद काओत्सू के नाम से प्रसिद्ध हुआ, साम्राज्य छीनकर अपने हानवश की पताका गाड दी। चि-इन वश की स्वर्गतुल्य राजधानी भस्म कर दी गयी।

हानवश (२०६ ई० पू० से० २२० ई० तक)

हानवश के सस्थापक लिउची या लिउपग का जन्म पूर्वी चीन के एक किसान के कुटुम्ब में हुआ था। अपनी योग्यता तथा पराक्रम के कारण वह किसानो का, जो सामन्तशाही मे सम्भवत. असन्तुष्ट रहे होंगे, नेता बन गया। उसको भयकर सघर्ष और युद्ध करने पड़े जिनमें उसको निरन्तर सफलता मिलती रही। विद्रोही इतने प्रबल हो गये कि उसने चि-इन वश और उसकी सामन्तशाही का विध्वस करके उसकी प्रतीक राजधानी को भी भस्मसात् कर दिया।

काओत्सू=काओती

अनुश्रुतियो के अनुसार यद्यपि पुरातन राजाओ और राज्यो ने चीन की सभ्यता

और संस्कृति को कुछ-न-कुछ वृद्धि और स्फूर्ति प्रदान की, किन्तु हान वंश की कृतियों पर उनको विशेष गर्व है। अपने जिले के एक छोटे से सैनिक के पद से बढ़कर लिउचीं ने अपनी योग्यता और पुरुषार्थ के बल पर तत्कालीन सामन्तों को परास्त कर दिया। उसके अनुयायियों ने २०६ ई० पू० आग्रहपूर्वक उसे राजसिंहासन पर बिठा दिया। शासन की डोर हाथ मे आने पर उसने उपद्रवकारियो को क्षमा कर देने की घोषणा कर दी और कडे कानूनो को रद्द कर दिया। कनफ्यूसिअस के इस सिद्धान्त को कि 'शासन प्रजा के हित के लिए है' उसने अपना मूलमन्त्र बनाया। राज्य के पदाधिकारियो के चुनने मे सावधानी बरती और सदाचारी विद्वानो को आमन्त्रित कर उन्हे यथोचित पदो पर नियुक्त किया। यद्यपि उसका शासनतन्त्र चि-इन काल का-सा था तथापि उसने सामन्तो की उद्दण्डता और केन्द्रीय शासन की कठोरता को यथासम्भव कम करने का प्रयत्न किया। उसका ख्याल था कि चि-इन वंश का ह्रास सामन्तो के विरोध के कारण हुआ। अतः उसने पूर्व प्रचलित परिपाटी के अनुसार अपने वंश वालो को सामन्तो के पदो पर नियुक्त किया। किन्तु शासन उनके हाथ मे न देकर अपने नियुक्त पदाधिकारियो के अधिकार बढ़ाकर उनके सुपुर्द कर दिया। इस मध्य मार्ग ने द्विराजकता का रूप ग्रहण किया जिससे यह प्रयोग असन्तोषजनक सिद्ध हुआ। लिउचीं या लिउपग की मृत्यु के बाद उसको काओत्सू की उपाधि दी गयी।

हानवंश के उल्लेखनीय राजाओ मे वेन ती (१७९) ने शासन की आलोचना के लिए आलोचको को दण्ड देना बन्द-सा कर दिया। मृत्यु दण्ड को यथासम्भव कम कर दिया, अनेक कर हटा दिये। प्रान्तीय शासको की जागीरो और अधिकारो को कम कर दिया और यह नियम बना दिया कि शासक की मृत्यु के बाद उसकी जागीर उसके पुत्रो मे बॉट दी जाय अर्थात् एक व्यक्ति के हाथ मे न रहने दी जाय।

हान वू ती (१४० से ८७ ई० पू०)।

हानवंश का चरम उत्कर्ष महाराज हान वू ती के राजत्वकाल मे हुआ। सोलह वर्ष की उम्र मे सिंहासन पर बैठा और तिरपन वर्ष तक राज्य करता रहा। राज्य की सीमाओ को उत्तर और दक्षिण की ओर उसने बढा दिया। यूचियो ने चीन के उत्तरी पश्चिमी प्रान्त को छोडकर बुखारा राज्य की स्थापना कर ली। फलतः उत्तर पश्चिम चीन मे हूणो को रोकने वाला कोई न रहा। यूचियो ने हान राजा की

अपेक्षा तत्कालीन उत्तर भारत के राज्य से नीतिक सम्बन्ध स्थापित करना उचित समझा ।

वू ती की नीति सामन्त-विधान का ऊपरी ढाँचा रखते हुए नियन्त्रण द्वारा सामन्तो की शक्ति तोड देने की थी । प्रत्येक सामन्त के पास उसने अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया जो उसे परामर्श देता, उस पर निगरानी रखता और सम्राट् को सब समाचार भेजता रहता था । इसके सिवा उसने साधारण श्रेणी के तीन पदाधिकारियो को नयिुक्त किया जो घूम-घूम कर सामन्तो के आचरण एवं व्यवहार का निरीक्षण करते और उनके वल को तोडने की तरकीवे सुझाते रहते थे । उन्होने एक युक्ति यह सूझायी कि सामन्त के निधन के वाद उसकी रियासत उसके वडे पुत्र को न देकर सव पुत्रो मे बाँट दी जाया करे । इस तरकीव से रियासतो के खण्ड-खण्ड होते गये । इस युक्ति मे यदि कोई दोप था तो यह कि इसकी प्रगति वहुत मन्द थी और सफलता वहुत दीर्घ काल मे सम्भव हो सकती थी । दूसरा तरीका जो वू ने निकाला वह था नये-नये ढग के अनेक श्रेणियो के अमीर-उमरा उत्पन्न करके उनके और पैतृक अमीरो के वीच ईर्ष्या-द्वेप भडकाये रखने का ।

सम्राट् वू की नीति केन्द्रीय शासन का दवदवा और शक्ति वढ़ाने की थी । उसे वेन की नीति अच्छी न लगी । उसने राजसी ठाट-वाट का सवर्द्धन करना शुरू किया । चडगन राजधानी की शोभा नये-नये महलों, उद्यानो, तडागो, नहरो, पुष्प-वाटिकाओ, अजायवघरो, चिडियाघरो, पशुशालाओ, व्यायामशालाओ एवं नाचघरो से वढायी जाने लगी । विजित प्रदेशो से रेशमी कपडो, मोतियो, रत्नो और सोने-चाँदी का जो प्रवाह चीन मे आ रहा था उससे शौकीनी और ऐश-आराम की अपार सामग्री जुटती चली गयी । सिक्के ढालने तथा नमक, शराव और लोहे पर शासन का एकमात्र स्वत्व स्थापित करने से भी खूव आमदनी वढ गयी । चीन के इतिहास मे इस युग मे यह एक प्रकार के सोशलिज्म का सूत्रपात होना माना जाता है । इसके सिवा व्यापार भी उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा था । तुर्किस्तान जैसे नये-नये देशो तथा नये-नये वाजारो में चीनी व्यापारी क्रय-विक्रय करते दिखाई देने लगे । नयी नहरो, सडको, मार्गो, मेनिंग यानी विश्राम भवनो (सरायो) के खुल जाने से आवागमन की सुविधा, सभी को, विशेपत. व्यापारियो और सेनाओं को हो गयी । अकाल पडने की आशका भी कम हो गयी । वू के राज्य काल मे मध्य एशिया, वैक्ट्रिया तथा वर्मा से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण चीन का रोम साम्राज्य तथा भारत और फारस से व्यापारिक तथा सास्कृतिक आदान-

प्रदान होने लगा। चीन का यूरोप और भारत से सम्पर्क हो जाना इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि उसका प्रभाव संसार के व्यापार, राजनीति तथा सभ्यता पर उत्तरोत्तर बढता गया।

हूणों की समस्या

हियग नू अथवा हूण किसी विशेष जाति का नाम नहीं वरन् यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता था जो बर्बर की तरह समूहों मे चीन की उत्तरी सीमा पर चीनी दीवार के उस ओर मँडराते रहते थे। उनके अन्तर्गत मंगोल, तुर्क, तुंग आदि अनेक उपजातियाँ थीं। वे अवसर पाते ही भीतर घुस पड़ते थे। जिस भूमिभाग में वे रहते थे उसके प्रति प्रकृति उदासीन ही नही, वरन् निष्ठुर रही। वहाँ का विषम जलवायु, अत्यन्त कठोर शीत और भोजन के नगण्य साधन उनको जीवन रक्षा के लिए हरे-भरे प्रदेशो की ओर बढ चलने के लिए बाधित करते रहते थे। वे बैल, ऊँट, भेड़ आदि पालते थे और घोडो पर चढ कर छापा मारते थे। चमड़े की पोशाक पहनने वाले ये लोग बडे सिद्धहस्त धनुर्धर और लडाके थे। प्रागैतिहासिक काल से चीन के ऊपर उनकी अवाञ्छनीय एवं भयावह छाया पड़ती रही जिसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। हान वंश के उदय काल में उनकी शक्ति अपने पूरे जोर पर पहुँच गयी थी। उनका आधिपत्य चीनी दीवार के ऊपरी भाग से कैस्पियन सागर तक स्थापित हो गया था।

हानवश के राजाओ ने आरम्भ मे हूणो को धन-धान्य एवं स्त्रियाँ देकर सन्तुष्ट रखने की चेष्टा की, किन्तु उससे कोई स्थायी लाभ न होता दिखाई पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने यूचियो से मेल-जोल बढाकर हूणो के दमन का यथासाध्य प्रयत्न किया। चीनी सम्राट् वू ने उनको चीनी दीवार के उस पार खदेड़ कर उनके उपनिवेशो में अथवा उनके आसपास अपनी प्रजा को बसा देने की नीति का भी अवलम्बन किया। आठ वर्ष के अन्दर (१२७ से ११९ ई० पू० तक) उसने उन पर तीन बार चढ़ाई की और भयकर युद्ध करके कम-से-कम कुछ काल के लिए उनका बल तोड दिया। इसके सिवा चीनी तुर्किस्तान की वूसुन आदि बर्बर जातियो से, जिनका हूणो के साथ संघर्ष होता रहता था, मेल बढ़ाकर तथा हूणों मे आपसी झगड़े खड़े करके उन्हे दबाये रखने का प्रयत्न किया। बैक्ट्रिया तक अपना नैतिक प्रभुत्व स्थापित करके सम्राट् वू ने हूणो का रुख मध्य एशिया की ओर मोड़ दिया।

सम्राट् ने अपनी विजयों से चीन की सीमाएँ तुर्किस्तान से चीनी समुद्र तक

और मंचूरिया तथा उत्तरी कोरिया से वर्मा, अनाम तथा इण्डोचाइना तक पहुँचा दी। हान सम्राट् की सफलता का कारण उनकी सेना थी जो रथो के प्रयोग को त्याग कर घुडसंवारो और पैदल सिपाहियो पर आश्रित की गयी थी। उस वड़े साम्राज्य की प्रजा सुखी तथा सन्तुप्ट थी क्योकि सम्राट् ने जरूरी चीजो के मूल्य का नियन्त्रण तथा अनाज की सप्राप्ति और वितरण व्यवस्थित कर दिया था। व्यापारियो को अधिक भूमि मोल लेने अथवा निश्चित मात्रा से अधिक सम्पत्ति अथवा धन एकत्रित करने की कडी मनाही सम्राट् ने कर दी थी तथा उनकी आमदनी पर पाँच प्रतिशत आय कर लगा दिया था। नहरे काटकर अन्न-उपजाऊ वडे क्षेत्रो को कृषि के योग्य कर दिया। नयी नहरो और सडको के कारण यातायात भी वढ़ गया। राज्य आवश्यक सामान सस्ती मे खरीद कर मँहगी आने पर वेच देता था। नमक और लोहे का ठेका शासन ने अपने हाथ मे रखा। सम्वद्ध आज्ञाओं का उल्लघन करने वाले व्यक्ति की जायदाद जव्त कर ली जाती और दण्ड भी दिया जाता। वेकारी दूर करने तथा जुआ, घुड़दौड़ आदि व्यसनो को छुडाने के भी प्रयत्न किये गये, यद्यपि उनमे उसे यथेप्ट सफलता प्राप्त न हो सकी। सम्राट् स्वय यात्राएँ करके साम्राज्य तथा प्रजा की परिस्थिति देखता रहता था। उसके समय मे चीन के व्यापार तथा सभ्यता का अच्छा संवर्द्धन और विस्तार हुआ।

तड़क-भड़क, शान-शौकत, सनिक तथा कोप-वल के रहते हुए भी उपर्युक्त विधान मे कोई ऐसा गुण या शक्ति न थी जो उसे अधिक स्थायित्व दे सकती। विलासिता की वृद्धि होने से यह अनुमान किया जा सकता था कि वू ऐसे सुयोग्य, चतुर कर्मठ, शक्तिशाली शासक के अभाव मे साम्राज्य की व्यवस्था का ठीक रहना कठिन होगा। उसके वाद ऐसा ही हुआ भी। वू के पश्चात् अयोग्य व्यक्ति सम्राट् हुए। इस वश के एक सम्राट् वाग माग ने गुलामी तथा जमींदारी का अन्त करने के लिए गुलामो को स्वतन्त्र कर दिया और जमीदारो की जमीन वरावर हिस्से करके किसानो को वाँट दी। तथापि साम्राज्य का नैतिक और आर्थिक पतन वड़ी शीघ्रता से होता चला गया। कौटुम्विक पड्यन्त्रो ने राजवश की शक्ति खोखली कर दी। अमीरो और गरीवो का भेद दिनो-दिन वढ़ता गया। जमीदार और व्यापारी समृद्धशाली वनते गये और किसान उजडते गये। खेती छोडकर किसान शहरो मे नौकरियाँ और धन्धे ढूँढते फिरने लगे। धनिक व्यापारियो को दवाये रखने के भी कुछ प्रयत्न किये गये। रेशमी कपडे पहनने, रथो पर चढने, जमीन खरीदने या ऊँचे पदोपर नियुक्त किये जाने की मनाही समय-समय पर की गयी। अमीरो पर

कर भी बढाये गये तथापि वे फलने-फूलते चले गये। उनके खिलाफ कानून बनाना तो आसान था, किन्तु उन्हे उन पर चलाना कठिन सिद्ध हुआ। उधर गरीबो पर ह्वांगहो के बाँध के टूटने, टीडियो के दलो की उत्पत्ति तथा पुनः-पुन अनावृष्टि से भारी आपत्ति टूट पडी।

आन्तरिक व्यवस्था की गडबडी देख कर हूणो ने फिर उपद्रव करना शुरू कर दिया। हान साम्राज्य ने भी उनको रोकने के प्रयत्न जी तोड कर किये। चीन की रक्षा के लिए राजमहल की एक प्रमुख सुन्दरी ने हूणो के नेता से विवाह करके उसे रोके रखा, किन्तु यह तरीका कब तक चलता। ईसा की प्रथम शती के अन्तिम चरण मे तीन भयकर युद्ध हुए। इन युद्धो मे हूणों की पराजय हुई। उनके दुर्भाग्य से उनकी सेना महाभयकर बर्फ के तूफान मे फँसकर नष्टप्राय हो गयी। इन घट-नाओ का यह परिणाम हुआ कि हूणो का प्रवाह दक्षिण की ओर से पश्चिम की ओर मुड गया।

पन चाओ नामक एक व्यक्ति ने हूणो के साथ युद्ध करने मे अपने सैनिक तथा राजनैतिक कौशल के लिए अच्छी ख्याति प्राप्त की। उसकी नीति-कुशलता तथा धूर्तता से चीन की पश्चिमी सीमा के आसपास के राज्य चीन के प्रभाव में आ गये। उसी ने कुषाणो के सम्राट् कनिष्क से खोतान, काशगर, यारकन्द छीनकर हूणो को गोबी के रेगिस्तान की ओर तथा यूचियो को पामीर से आगे ढकेल दिया। उसकी इन युक्तियो से भारत और चीन के मार्गो पर चीन का प्रभुत्व जम गया और दोनों देशो के परस्पर सम्बन्ध स्थापित होने का रास्ता खुल गया। उसी ने चीन को रोम राज्य से सम्बन्ध स्थापित करने की उत्तेजना दी।

ईसा की दूसरी शती मे हान साम्राज्य का विनाश स्पष्ट रूप से होने लगा। राज्य हिजड़ों के प्रभाव मे फँस गया। यदि कोई शासन की आलोचना मे स्वतन्त्रता दिखाता तो उसको प्राणदण्ड दिया जाता। सेनापतियो मे स्वतन्त्र होने की लालसा प्रकट हुई। परिणाम यह हुआ कि हान साम्राज्य निस्तेज और क्षीण होता गया। हूणो आदि ने फिर सिर उठाया। उन्होंने ह्वांगहो घाटी का जन जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया। इन सब उपद्रवो के कारण यद्यपि हान साम्राज्य बदल गया, किन्तु चीन की सभ्यता उनसे बच कर जीवित रह सकी।

वू ती के शासन से राज्य मे इतनी स्थिरता आ गयी कि एक शती तक कोई भयंकर स्थिति पैदा न हुई यद्यपि उस अवधि में कोई प्रतिभाशाली और तेजस्वी सम्राट् न हुआ। इधर-उधर विद्रोह हुए, किन्तु उससे साम्राज्य की शक्ति को कोई

विशेष आघात न पहुँचा। हूणो ने भी उपद्रव और आक्रमण किये, किन्तु वे भी निष्फल हुए और उनको हान सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार करना पडा। वे साम्राज्य की सेना मे भी भरती होने लगे। यह सब होते हुए भी राजवश मे कुछ-न-कुछ झगड़े होते रहे। सम्राट् आलसी और विलासप्रिय होने लगे जिससे उनका प्रभाव दिन-प्रति दिन अधिक शिथिल होता गया। ईसा पूर्व की प्रथम शती के मध्य मे तत्कालीन सम्राट् की एक पटरानी के वश का साम्राज्य मे अभूतपूर्व अभ्युदय हुआ। पटरानी का भतीजा वाग माग अपनी उदारता, जीवन की सरलता, विद्वत्ता एव दानशीलता के कारण लोकप्रिय हो गया। उसका महत्त्व और प्रभाव इतना बढा कि ईसा की शती के प्रारम्भिक वर्ष मे ही तत्कालीन सम्राट् की शैशवावस्था मे वह राष्ट्र का सर्वेसर्वा हो गया। सयोग से सम्राट् की मृत्यु विष पान से हो गयी। वाग माग स्वय सिंहासन पर आसीन हो गया। फलत. यह प्रवाद बढ़ता गया कि उसी ने राज्य लोलुपता के कारण शिशु सम्राट् को जहर दिलवा दिया। वाग माग को कनफ्यूसिअस मत के विद्वानो का समर्थन मिला। उसने जमींदारो की जमीन जब्त कर ली और किसानो को बाँट दी। प्रजा के लाभ के लिए व्यवहार-की साधारण वस्तुओ का निर्ख सस्ता और निश्चित कर दिया। किसानो को थोडे सूद पर कृषि के लिए और विना सूद के धर्म और अन्त्येष्टि क्रियाओ के लिए कर्ज देना आरम्भ किया गया। प्राचीन साहित्य के उद्धार तथा नवीन के संवर्द्धन का प्रयत्न भी उसने किया। गुलामो का क्रय-विक्रय वन्द करने का वाग मांग ने प्रयत्न किया। उसके सुधारो से जमींदारो, व्यापारियों और कन्फ्यूसिअस से इतर सम्प्रदायवालो मे क्षोभ और विद्रोह की आग भडक उठी। सीमान्तो मे उपद्रव वढ़े और राज्य मे अराजकता। विद्रोह का प्रमुख और सवसे सफल नेता लिउ सिद्ध हुआ। अन्ततोगत्वा वाग माग का वध कर दिया गया और उसका सिर सडक पर ठुकराने के लिए फेक दिया गया। उसका शासन काल (९ से २३ ई० तक) केवल चौदह वर्ष रहा।

उत्तरकालीन अथवा पूर्वी हानवंश (२५ से २२० ई० तक)

लिउवश का प्रथम शासक कुआग वू ती हुआ। उसने राजधानी चगन से हटाकर लायग् मे स्थापित की, जिससे वह शाखा पूर्वी हान के नाम से प्रख्यात हुई। नया सम्राट् कर्मठ, साहसी और जोरदार सिद्ध हुआ। उसने उपद्रवियो का दमन कर राज्य मे शान्ति स्थापित कर दी और अनाम प्रदेश पर भी अपनी सत्ता जमा दी। छत्तीस प्रदेशो के स्थान पर उसने तेरह प्रदेश वना कर वहाँ शासन की व्यवस्था

कर दी। पश्चिमी सीमा की रक्षा भी यथासम्भव उसने कर ली। चीनी सभ्यता को अपना विशिष्ट रूप प्राप्त करने मे कुआग-वू ती ने सक्रिय योग दिया। शिक्षा और तत्कालीन विद्याओ और साहित्य को उसकी नीति से अच्छा वल प्राप्त हुआ।

हान राजवश का जनता पर इतना प्रभाव हो गया था कि प्रवल सेनापति अथवा कुटिल राजनीतिज्ञ का भी इतना साहस न होता कि वह सिहासन पर स्वय बैठ सके। भले ही सम्राट् साधारण योग्यता के हो अथवा शिशु ही क्यो न हो उनको राजच्युत करना व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव न था। यह हो सकता है कि साम्राज्य के सवल व्यक्तियो अथवा दलो की ऐसी स्थिति हो कि किसी एक को सम्राट् वनना दुष्कर-सा हो। सम्राट् की अयोग्यता अथवा शिशुता से लाभ उठाकर उसके कुछ सेवको ने चाहे वे पुरुप हो या स्त्री, समय-समय पर अनुचित प्रभाव और शक्ति प्राप्त कर ली जिसके कारण लोगो मे क्षोभ और दलबन्दियाँ हो गयी। हिजडों और स्त्रियो का दौर-दौरा देखकर ईसा की द्वितीय शती के अन्तिम दशक मे चुग तो नामक सेनापति ने राजधानी में आग लगा दी और चगान् में एक राजकुमार के नामपर शासन करने लगा। दो वर्प भी बीत न पाये थे कि उसके विरोधियो ने उसका वध कर डाला। शासक दल के मुख्य सहायको मे प्रायः कनफ्यूसिअस के सिद्धान्त के अनुयायी थे। अतएव ताओ विचारधारा के लोग उसके विरोधी हो गये। उनके सिवा सेना अथवा शासन मे महत्त्व-प्राप्त व्यक्तियो में भी लाग-डाट रहती थी जिससे शासक धीरे-धीरे निर्वल होता जाता था। किन्तु आश्चर्य की वात है कि ऐसी दशा मे भी हान साम्राज्य का इतना रोव, दवदवा और वल कायम रहा कि चि अंग तथा हूण आदि शत्रु उसको कोई विशेप हानि न पहुँचा सके। जब कभी उन्होने शिर उठाया तब-तब उनका दमन कर दिया गया। यूचियो पर हान साम्राज्य का आधिपत्य-सा चलता रहा। काशगर, यारकन्द, खोदान और तुरफान वाले सम्राट् को कर देते और हूणो का विरोध करते रहे। इस गतिविधि के कारण सम्भवतः हूणो के भय के सिवा चीन द्वारा पश्चिमी व्यापार की रक्षा—जो साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य थी—तथा चीनी लोगो की मूलगत एकता की भावना हो सकते हैं। किन्तु पश्चिम मे चीन की सत्ता और महत्ता का सवसे अधिक श्रेय पन चा ओ (७३ से १०२ ई०) को मिलना चाहिए। विद्वान् और विद्यानुरागी होते हुए भी वह कर्मठ और सवल, कुशल एव साहसी शासक और सेनानायक था। नीति तथा सैन्य वल से साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों में चीन की शक्ति को उसने प्रवल वनाये रखा। तुर्किस्तान पर उसने पूरा अधिकार

कायम रखा। मध्य एशिया, ईरान, भारत और सम्भवत: रोम तक चीन की धाक उसके व्यक्तित्व से जमी रही। वृद्धावस्था मे अपने पुत्र के हाथ में शासन देकर वह विरक्त हो गया।

हान साम्राज्य मे प्रथम शती से ही दलवन्दियाँ हो रही थी। राजमहल मे स्त्रियो और हिजड़ो के षड्यन्त्र निरन्तर चलते रहते थे। दूसरी शती मे वह लीला साम्राज्य भर मे फैल गयी। प्रान्तीय सेनापतियो ने अपना वल वढाना शुरू कर दिया और सम्राट् को अपने वश मे लाने का वे प्रयत्न करने लगे। हान सम्राट् हुए न ती (१९० से २३० ई० तक) कभी एक के और कभी दूसरे सेनापति के चगुल मे फँसा रहता था। इस छीना-झपटी का कारण यह था कि जव तक कोई सम्राट् राज्य त्याग कर अपनी मोहर बाकायदा किसी को न दे दे तव तक कोई सिहासन पर वैठने का अधिकारी नही माना जा सकता था। महत्वाकाक्षी नेताओ के आपसी युद्धो से शासक समुदाय निर्वल होता चला गया। सेनापतियो मे प्रभुत्व के लिए तो सघर्ष था ही, किन्तु उसके तीव्रतर हो जाने का एक यह भी कारण था कि कनफ्यूसिअस मत के लोग साम्राज्य मे अधिक महत्त्व पा गये थे जिससे ताओ मत वाले द्वेष करते थे। किसान और गरीव जनता का नेतृत्व ताओ मतावलम्वियो को इसलिए प्राप्त हो गया कि वे कनफ्यूसिअस मतानुयायियो का, जो प्राय: धनी और जमीदार थे, विरोध करते थे। किसानो और गरीवो के नेताओ ने पीले रग की पगडी पहनने का फैशन निकाला। वही उनके दल का चिन्ह हो गया। इस प्रकार महत्त्वाकाक्षा के साथ धार्मिक तथा आर्थिक समस्याएँ गुथकर जटिल हो गयी। इस सघर्ष-नाटक का पहला अक तव समाप्त हुआ जव हूणो को मिलाकर उत्तरी प्रान्त के सेनापति त्साओ पेई ने सम्राट् फेई ती को राजसिहासन छोडने पर मजबूर किया और वे ई वश ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया (२२० ई०)। लोयाग को पुन राजधानी वना दिया गया। त्साओ पेई की विजय हूणो की वदौलत हुई। उस घटना से प्रेरित होकर दक्षिण पश्चिम प्रान्त मे शू हान वश और दक्षिण पूर्व मे वू वश ने भी स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये (२२१ ई०)। तदनन्तर उन्होंने दक्षिण मचूरिया के येन नामक राज्य को भी जीत लिया (२३० ई०)। शू हान वश के राज्य को वेई वश वालो ने हडप लिया (२६३ ई०)।

चीन की परिस्थिति अव्यवस्थित ही रही। निरन्तर युद्धो से प्रजा की आर्थिक दशा तो बिगड़ ही रही थी, फिर भी सेना तथा शासक के खर्च, ठाट-वाट, भ्रष्टाचार तथा उद्दण्ड कबीलो को घूस देकर शान्त रखने आदि के लिए प्रजा का भयंकर

शोपण जारी रहा। उद्धत सेनापतियो को काबू मे रखना सम्राट् के बूते के बाहर था। राज-परिवार मे वैमनस्य, कलह और हत्याएँ चल रही थी। राज्यो की आपसी कलह तथा साम्राज्य की अव्यवस्थित गति से लाभ उठाकर सीमाप्रान्तो पर हूण, मगोल आदि के कवीले आक्रमण करने लगे। चिन वंश के वू ती (२६५—२८७) के समय मे सम्राट् की स्थिति कुछ सँभली। सामन्तो को अनुशासन मे रखने के लिए केन्द्रीय शासन के कर्मचारी नियुक्त किये गये और सामन्तो को आपस मे लडाते रहने की नीति का भी सहारा लिया गया। इस सवसे राज्य मे इतनी शक्ति तो अवश्य आयी कि उसने दक्षिण के वू राज्य को जीतकर आत्मसात् कर लिया। शू हान पर तो पहले ही प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। वू के आ जाने से चीन साम्राज्य का आकार एक वार फिर लम्वा-चौड़ा हो गया। राज्य में शान्ति रखने के लिए उस समय एक उल्लेखनीय प्रयोग किया गया। यह निश्चय हुआ कि लोगों से हथियार छीन लिये जायँ और सैनिको को कृपि आदि के उत्पादक कार्यो मे लगाया जाय। यद्यपि उपर्युक्त नीति का अक्षरशः पालन न हो सका तथापि निरस्त्रीकरण भारी पैमाने पर हुआ। वहुत से अस्त्रधारी साम्राज्य से भागकर उत्तरी चीन के हूणो, ह्य एन पी आदि कवीलो से मिल गये। वही उनको खेती, हथियारो के व्यापार तथा विभिन्न प्रकार की साधन सम्वन्धी नौकरियाँ मिल गयी जिससे उनको निर्वाह के वहुत कुछ साधन प्राप्त हो गये। किन्तु जो लोग साम्राज्य मे ही रह गये उनको जमीन न मिलने के कारण सामन्तो की नौकरी करनी पड़ी जिससे सामन्तो के वल की वृद्धि होने लगी। उपर्युक्त नीति से शान्ति संस्थापन और कृषि-संवर्द्धन की जो आशाएँ की गयी वे भ्रममूलक सिद्ध हुईं। उससे सम्राट् की शक्ति तो अवश्य क्षीण हुई, परन्तु लाभ कोई भी न हुआ। साम्राज्य की सैनिक शक्ति के कम हो जाने का यह नतीजा निकला कि हूण, मंगोल, तुर्क और तिव्वती आदि जातियों ने चीन साम्राज्य पर आक्रमण करना और उसके भीतर घुसना आरम्भ कर दिया। सन् २८१ ई० मे मंगोलों का मूयुग नामक कवीला दक्षिण चीन तक धँस आया और पेकिंग के आस-पास जम गया। भयकर युद्ध के वाद मूयुग कबीला जिस पर मंचूरिया की ओर से दूसरे कबीले ने आक्रमण आरम्भ किया, चीन की अधीनता स्वीकार करने पर मजबूर हो गया। कुछ समय तक आपत्ति तो टल गयी किन्तु साम्राज्य ने उससे कोई सवक न सीखा। पड्यन्त्र, दलवन्दियाँ और हत्याकाण्ड वदस्तूर चलते रहे। उपद्रवो से घवरा कर चीनी लोग सीमाओं की ओर इधर-उधर भागने लगे। कुछ समूह तो हूणों के प्रान्तो में ही जाकर बस गये क्योंकि हूणो ने उनका स्वागत

किया और उनको अध्यापको तथा राज्य के परामर्शदाताओ तक मे स्थान दिया गया।

हुन हान वश

सन् ३०९ ई० से हूणो ने पाँच सौ वर्ष पहले के हानो से कुछ वैवाहिक सम्बन्ध निकालकर हान वशीय होने का दावा किया और लिउ यु आन नामक हूणो के एक नेता ने चीन पर धावा बोल दिया और उसके पुत्र लियू त्सूअग ने पहले लोयाग और फिर च अंग अन राजधानियो पर अधिकार कर लिया। चीनी सम्राट् हु अइ ती का वध कर दिया गया (३१३ ई०) और साम्राज्य के पश्चिम भाग पर हुन हान वंश का अधिकार हो गया। लियु त्सुअग की मृत्यु के पश्चात् उसके दो सेनापतियो ने राज्य बाँट लिया। लियू याओ ने लोयांग के पश्चिमी ओर का भू-भाग ले लिया। बाद को लोयाग के पूर्व ओर के भाग पर भी प्रभुत्व जमा लिया। दूसरे सेनापति शिहले ने उत्तर चीन मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसके वशज उत्तर चाओ वश के नाम से प्रख्यात हुए (३२९ से ३५२ ई० तक)। केन्सू प्रान्त मे वहाँ के गवर्नर ने ३१३ ई० मे पूर्वी लिअग वश की स्थापना कर दी जो ३७४ ई० तक राज्य करता रहा। इस प्रकार उत्तरी चीन मे एक सौ पैतीस वर्ष मे सोलह राज्य बने बिगड़े। दक्षिणी चीन की परिस्थिति भी अच्छी न थी। वहाँ भी गृहयुद्ध निरन्तर चलते रहे और चीन साम्राज्य टूट-फूट कर अनेक भागो मे बँट गया। चीन के इतिहासकार वहाँ के अन्धकारीय युग का आरम्भ ३१७ ई० से मानते है। यह अव्यवस्था ५८१ ई० तक जारी रही।

चिहवंश (२५६–२०६ ई० पू०)

ईसा पूर्व तीसरी शती के उत्तरार्द्ध में चिन साम्राज्य के संस्थापक चेग ह्याग शी ने सामन्तशाही का अन्त करके राजकर्मचारियो द्वारा प्रान्तो के शासन की व्यवस्था की। प्रत्येक प्रान्त मे तीन मुख्य पदाधिकारी नियुक्त किये गये—एक सेनाध्यक्ष, दूसरा दीवान और तीसरा निरीक्षक। केन्द्रीय शासन के मन्त्रिमण्डल मे सेनाध्यक्ष, प्रान्त शासनाध्यक्ष, जो प्रान्तीय शासन का उत्तरदायी होता था, धनुर्धराध्यक्ष, भवनो के कर्मचारियो का अध्यक्ष, राजप्रासाद के सरक्षको का अध्यक्ष, राजा के सामान का अध्यक्ष, न्यायाध्यक्ष, राजा के कारखानो का अध्यक्ष, राज्य की बर्बर जातियो का अध्यक्ष, राजधानी की पुलिस का अध्यक्ष, इस प्रकार ग्यारह या बारह

मन्त्री मन्त्रिमण्डल में थे। उपर्युक्त सूची से यह स्पष्ट ज्ञात नही होता कि अर्थ, वित्त और कोष की अध्यक्षता किसके पास थी। सम्भव है कि प्राप्त सूची पूरी-पूरी न हो, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि सामन्तशाही के स्थान पर नौकरशाही की स्थापना हो गयी।

शि:ह्गती का मुख्य मन्त्री ली शि: हुआ जो सम्राट् की नीति और आशय को न केवल अच्छी प्रकार समझता ही था बल्कि उसको परिष्कृत करके कार्य रूप मे परिणत भी करता था। उसने यह सुझाया कि प्राचीन युगों के समाप्त ही जाने से तत्कालीन प्रचलित नियम नवीन परिस्थिति मे लागू नही हो सकते। जब चीन अनेक राज्यो और सामन्तशाहियो मे विभक्त था तब विभिन्न नियमो का होना सम्भवत: अनिवार्य रहा होगा। शि: ह्ांगती ने एक महान् साम्राज्य स्थापित करके एक नये युग का आरम्भ कर दिया है। अब एक साम्राज्य, एक सम्राट् हो जाने से एक से ही समान नियमो का प्रचलन आवश्यक था। इस ऐक्यवर्धक शुभ कार्य के प्रति पुराने विचारो, प्रथाओ और नियमो के अनुयायी अनेक प्रकार की शकाएँ और आलोचनाएँ किया करते थे जिससे साधारण प्रजा में क्षोभ और अश्रद्धा पैदा होती थी तथा अशान्ति का वातावरण बना रहता था। इसलिए यह सर्वथा उचित और युगान्तर के लिए उपयुक्त समझा गया कि पुराने दकियानूसी विचारो का मूलोच्छेद कर दिया जाय जिससे आगे का रास्ता साफ-सुथरा हो। उस नीति के अनुसार प्राचीन ऐतिहासिक, राजनीतिक, समाज-नीतिक और दार्शनिक ग्रन्थों को जब्त करके जला दिया गया। उनके सम्बन्ध मे तथा उन विषयो पर जो व्यक्ति वाद-विवाद उठाने का प्रयत्न करे उसको सपरिवार नष्ट कर देने की घोपणा कर दी गयी। इतनी खैरयत हुई कि चिकित्सा, ज्योतिप, कृपि और उद्यान सम्बन्धी ग्रन्थों पर वह नियम नही लगाया गया। कठोरता से उस कानून का प्रतिपालन करने और विविध प्रकार के प्राणदण्ड देने पर भी यथेष्ट सफलता प्राप्त न हो सकी और साहसी पुरुप कुछ-न-कुछ विरोध करते ही रहे।

एकीकरण की नीति से एक लाभ तो अवश्य हुआ। विविध प्रकार की लिपियो और उच्चारणो को हटाकर एक टकसाली लिपि और शब्दों के निश्चित उच्चारण का साम्राज्य मे प्रचार हुआ जिससे चीनियो को एक सास्कृतिक सूत्र मे बाँधने का व्यावहारिक उपाय निकल आया।

इस काल की एक उल्लेखनीय कृति चीन की सुप्रसिद्ध प्राचीर दीवार की पूर्ति है। उत्तरी भ्रमणशील कबीलो के आक्रमणो को रोकने के लिए चोऊ राजाओ ने

उसका बनवाना शुरू किया था। समय-समय पर प्रान्तीय सामन्तों ने भी अपने-अपने क्षेत्रो मे इधर-उधर दीवारे खडी कर ली थी, किन्तु इस युग मे उसको पूर्ण औ" अधिक दृढ़ बना दिया गया।

यद्यपि चि-इन साम्राज्य वहुत थोडे दिन रहा, किन्तु उसकी एकीकरण की नीति के ही कारण उस देश का चीन नाम प्रख्यात हो गया। पश्चिमी चि-इन वश निरस्त्रीकरण की नीति (२८० ई०) से लाभ के वदले केवल हानि ही हुई। उस नीति से पैसा वचने की आशा वैसी ही भ्रममूलक सिद्ध हुई जैसे सैनिको से कृषि करवा-कर राज्य की उपज वढ़ाने की। उपज वढ़ने से राज्य मे कर-वृद्धि की तथा व्यापार-वृद्धि की आशाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई। वर्खास्त हुए सिपाहियो को राज्य जमीन न दे सका इसलिए वे या तो सामन्तो की सेना मे भरती हो गये या सीमान्त-निवासी खानावदोशो मे शस्त्र लेकर शामिल हो गये। सवसे वडी हानि साम्राज्य के सैनिक वल के टूटने से हुई। इस परिवर्तन से सीमान्तवासी कवीलो का उत्साह वढ़ गया और उन्होने आक्रमण शुरू कर दिये।

साम्राज्य की सीमाओ पर मँडराने वाले तुर्क जाति के 'तोवा' और ह्यिअंगनू (हूण) नामक दो कुल तथा मगोल-तुर्क मिश्रित जाति के तगत (तिव्वती) और ह्यि एनपी दो कुल मुख्य थे। जल साम्राज्यीय शासक वश के राजकुमारो का वध करके चिआवंश सिहासनारूढ हुआ तव गृहयुद्ध छिड गया जिसमे सेनापतियो और सामन्तो ने सक्रिय भाग लिया। यही नही, विभिन्न दलो ने सीमान्त की जातियो से भी सहायता माँगी। उस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए वडी तत्परता के साथ वे किसी न किसी दल से जा मिली। फल यह हुआ कि एक के वाद दूसरा व्यक्ति राजसिहासन पर केवल मरने के लिए विठाया गया। क्रान्ति ने जव उत्तरोत्तर भयकर रूप धारण करना शुरू किया तव चीनी लोग प्राणरक्षा और शान्ति की तलाश मे इधर-उधर भागने लगे। उन आक्रमणो मे एक लक्ष चीनियो का निधन हुआ। पश्चिम मे हूणो ने अपना सम्वन्ध हानवश से लगाकर हूणहान उपाधि ग्रहण कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। लो याग (३११ ई०) और च अग अन (३१६ ई०) नाम की दोनों राजधानियाँ उनके अधिकार मे चली आयी।

उत्तर पूर्वी चीन पर हूणो के दूसरे नेता शिह लो ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसकी नीति उस हूण नेता से जिसने लोयाग और चग अन पर अधिकार प्राप्त कर लिया था, भिन्न थी। शिह लो चीनियो के शासन-विधान और स्थिर सामाजिक जीवन को पसन्द न करता था। उसे हूणो की तरह खानावदोश रहना

और कुलो के नेताओ का नेता बने रहना ही अच्छा लगा। हूण दल धीरे-धीरे लि उत्स अग का जिसे चीनी सभ्यता की हवा लग गयी थी, साथ छोडकर शिह् लो के पास जाने लगा जिससे उसकी शक्ति बहुत बढ गयी। शिह् लो ने अपने सम्राट् होने की घोषणा इसलिए नही की कि तुर्कों और हूणो की प्रथा के अनुसार जव तक कोई नेता किसी राजवश से अपना सम्वन्ध सिद्ध न कर दे तव तक वे जातियाँ उसका राजत्व स्वीकार न करती थी। वह वस्तुतः हूण राजा का गुलाम था। यद्यपि वह चीनियो की सभ्यता का विरोधी था और उसकी प्रकृति उजड्ड थी, तो भी कोई दूसरा रास्ता न देखकर उत्तर चाओ वंश के सम्राट् की पदवी ग्रहण कर ली (३२९—३५२ ई०)। हूण और तुर्कों के कवीलो ने शिह लो का साथ अवश्य पकडा था, पर उसको सम्राट् मानने के लिए तैयार न हुए। राजत्व ग्रहण की उसकी इस नीति को देखकर कुछ कवीले इधर-उधर चले गये और कुछ 'तोवा' राज्य मे चले गये। फलतः उसके वंश की शक्ति उत्तरोत्तर घटती गयी यहाँ तक कि मगोलों के एक कवीले हुएन पी ने उत्तर चाओ वश का अन्त कर दिया (३५२ ई०)।

आधुनिक कान्सू प्रान्त का सरदार चिन वश का भक्त था। चिन सम्राट् की हत्या का समाचार पाकर उसने 'लियोग वश' के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। चीनी लोग भागकर उसकी शरण लेने लगे। यद्यपि यह राज्य वडा न था तथापि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी और उसका विस्तार तुर्किस्तान तक वढ गया था। इस राज्य मे व्यापार और बोद्ध सम्प्रदाय ने अच्छी उन्नति की।

चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध मे तिव्वतियो ने अभूतपूर्व उत्कर्ष प्राप्त किया। तिव्वतियो का सैनिक संगठन तुर्कों और मंगोलो से भिन्न था। उनका सगठन कवीलों अथवा उनके नेताओ पर आश्रित न था। तिव्वत मे कवीले न थे। विशेप अवसर उपस्थित होने पर कुछ मुख्य व्यक्ति किसी योग्य और समर्थ व्यक्ति को अपना नेता चुन लेते और उसकी आज्ञाओ का पालन करते थे। जव युद्ध समाप्त हो जाता तव सेनापतित्व का अन्त हो जाता और सैनिक अपने-अपने स्थान को वापस चले जाते थे। तिव्बतियो की दूसरी विशेपता यह थी कि सेना के सैनिक किसी जाति या कुल के लोगो मे से ही भरती न किये जाते थे अपितु स्वतन्त्र रूप से विभिन्न जातियो के लोगो मे से भरती किये जाते थे। उदाहरण के लिए तिव्वतियो की सेना में चीनी भी वड़ी संख्या मे भरती थे। इनकी तीसरी विशेपता यह थी कि उनकी सेना मे तुर्कों या मगोलो की तरह केवल सवार ही न रहते थे, वरन् उनके अलावा बड़ी

सख्या में पैदल सिपाही भी रखे जाते थे। पैदल सेना किलो के अवरोध और विजय मे तथा नदी-नालो से कटे-फटे मैदानो मे सवारो से अधिक उपयोगी सिद्ध होती थी।

तुर्कों और हूणो के सगठन मे एक यह दोष था कि जब कबीला युद्ध मे हार जाता तब उसके सब व्यक्ति गुलाम बना लिये जाते और कबीले का अन्त हो जाता। दूसरा दोष यह था कि सब कबीले बराबर हैसियत के नही गिने जाते थे। इसलिए प्रमुख कबीले के राजत्व का अधिकार तब तक चलता रहता जब तक वह निर्वंश और निर्मूल न हो जाता, चाहे उसमे सैकडो वर्ष क्यों न लगे। उन दोनो दोषो से तिब्बती सगठन मुक्त था किन्तु तिब्बती प्रबन्ध मे उतनी स्थिरता एव गतिशीलता न थी जिससे बहुत काल तक साम्राज्य चल सके।

उत्तर चाओ राज्य के बिगड़ने पर उनकी तिब्बती सेना का एक नेता जो पऊ अथवा फू वश का था, स्वतन्त्र हो गया और भारी सेना सगठित कर उसने पूर्व चि इन राज्य की संस्थापना की। उस वंश का फू चिएन नामक राजा बड़ा प्रतापी निकला (३५७—३८५)। उसने मू युग वश के सिएन पी को परास्त कर कोरिआ और मचूरिया तक में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया (३७० ई०)। तदनन्तर उसने पूर्व लिअंग के चीनी राज्य तथा तोवा के तुर्की राज्यो को भी अपने साम्राज्य मे मिला लिया (३७६ ई०)। उन विजयो से सारे उत्तरी चीन मे उसका आधिपत्य हो गया। चीनी शिक्षा और सभ्यता का तथा बौद्ध धर्म का पोषक होने के कारण चीनियो ने और बौद्धो ने उसका साथ दिया। दक्षिण चीन को जीतने की उसे उत्कट इच्छा थी। दस लक्ष सेना लेकर उसने आक्रमण भी किया, किन्तु उसको इसलिए सफलता न हुई कि उसकी सेना मे सवारो की बहुत बड़ी सख्या थी। सवार शीघ्रता से बढ तो सकते थे, किन्तु उनके लिए रसद का समय पर पहुँचना असम्भव-सा था। इसके सिवा सवारो की छोटी-मोटी टोलियों अथवा रसद वालों पर लोग एकाएक छापा मारकर हानि पहुँचाते थे। उन कठिनाइयो से हताश होकर आक्रमणकारी दल छिन्न-भिन्न होकर भाग जाता था। पराजय के कारण फू चिएन का महत्त्व इतना घट गया कि साम्राज्य ही उसके हाथ जाता रहा। उत्तरी चीन मे फिर अनेक राज्य स्थापित हुए और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। दक्षिणी चीन वालो मे इतनी शक्ति न थी कि शत्रु की हार से लाभ उठाकर उत्तर मे अपनी सत्ता कायम कर सकते।

फू चिएन साम्राज्य के नष्ट होने के पश्चात् शान्सी प्रान्त के उत्तर मे तोवा कुल के राज्य ने उन्नति की। आरम्भ में तोवा तुर्क जाति के थे, किन्तु उनमे हूणो तथा

मगोलों के रक्त का भी अच्छा-खासा सम्मिश्रण हो गया था। वे उत्तरी मंचूरिया और मंगोलिया से दक्षिण की ओर आकर वस गये थे। उन पर मगोलिया की मिश्रित जातियो के कवीले आक्रमण करते रहे जिससे वे अपना विस्तार न कर सके। फिर भी पॉचवी शती के दूसरे चरण मे उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। पॉचवी शती के अन्त होने तक वे कन्सू प्रान्त तक पहुँच गये जिससे उनका दवदवा तुर्किस्तान पर जम गया। इसके सिवा वे पूर्व की ओर भी वढे और दक्षिण के होनान प्रान्त पर भी उन्होंने अधिकार स्थापित किया। इस प्रकार ४४० ई० मे तोवा वश का राज्य चीन का ही नही, वरन् पूर्व एशिया का सवसे शक्तिशाली राज्य गिना जाने लगा। उसके शासन मे फिर चीनियों को सँभलने का अवसर प्राप्त हुआ। विजेता सैनिक सगठन, युद्धो और साम्राज्य वढाने मे दिलचस्पी रखते थे। अतः शासनादि राजकाज उन्होंने चीनियो के हाथ मे सुपुर्द कर दिया था।

सामाजिक व्यवस्था

चीनी एक ही जाति के लोग न थे। दक्षिणी चीन के अथवा यागत्सी नदी की घाटी मे सम्भवतः चीन के मूल-निवासी रहते होंगे, किन्तु उनके विपय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। वहुमत के अनुसार चीनी लोग मध्य एशिया से आकर पीली नदी के शा आन सी प्रान्त मे वस गये थे (३००० ई० पू०)। उनके पश्चात् अनेक जातियो के लोग आते रहे जिनमे ह्यिअंगनू (हूण), तुर्क, मगोल, तंगत, जूचेन, माचू आदि के विपय मे थोडा-वहुत ज्ञान प्राप्त है। अनेक जातियां के सम्मिश्रण से चीनियो का जातीय निर्माण हुआ है। अतः ऐसा कोई विवरण जो सारे आधुनिक चीन और चीनियो पर लागू हो सके, दुष्प्राप्य-सा है।

चीन की सस्कृति के सम्वन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि नदियो की घाटियो और उनके आसपास के प्रदेशो मे कृपि ही मुख्यतः आर्थिक जीवन की आधार-शिला थी। पहाड़ी प्रदेशो और विशेपतः उत्तर की ओर जहॉ गोवी की मरुभूमि है तथा साइवेरिया मे जहॉ भयकर सरदी पड़ती है कृपि के साधन सुलभ न थे। अतः वहाँ का आर्थिक जीवन अनिश्चित-सा रहा। ये कवीले इधर-उधर चरागाहों अथवा लूटमार की तलाश में घूमते फिरते थे।

कृषि-प्रधान प्रान्तो मे लोग गाँवो मे रहते थे जो किसी ऊँची जगह पर वसाये जाते थे। वहॉ अधिक वर्पा या नदियो की भयंकर वाढ कम हानि पहुँचा पाती थी। इसके सिवा ऊँचे स्थान से खेतो की देखभाल मे भी सुविधा होती थी। गाँवों के

चारो ओर या तो कच्ची दीवार या घनी झाडियाँ खडी कर दी जाती थी। पेड़ो की छाल और फूस से मकान छाये-बनाये जाते थे। उनके टट्टरो पर मिट्टी का पलस्तर चढ़ा दिया जाता था। झोपड़ियो मे प्राय. एक ही कोठा होता था जिसके एक ओर पत्थर का चूल्हा और दूसरी ओर पयाल और चटाइयो का विस्तर होता था। दरवाजा दक्षिण की ओर वनाने का रिवाज था। कालान्तर मे मेज-कुरसी भी काम मे आने लगी।

पुरातन चीन के लोग वडे जानवर पालने के शौकीन न थे। उनसे खेती का काम न लेकर वे हाथो से ही काम करना पसन्द करते थे। आगे चलकर जहाँ कही घोडो से खेती होती वहाँ भी यह डर रहता था कि राज्य युद्धादि के लिए कही उन्हें छीन न ले। रखवाली के लिए कुत्ते और खाने के लिए मुर्ग, सुअर आदि पाले जाते थे। मछलियाँ एव चिडियाँ जाल से पकडी जाती थी। वे खाना तश्तरियो मे खाते और शराव भी पीते थे। अमीर और वूढ़े शौकिया अथवा गर्म रहने के लिए रेशमी वस्त्रो का उपयोग करते थे, किन्तु साधारणतः सूती कपडे पहनने का रिवाज था। भीगने से लोग घवराते थे। इसलिए छातों का उपयोग चीन मे प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। जूते कपडे अथवा चमड़े के वनाये जाते थे। किसानो की जमीन का मालिक जमीदार या राजा होता था।

चीन के सामाजिक जीवन मे कुटुम्व तथा गार्हस्थ्य जीवन का वडा महत्त्व था। तीस वर्ष की उम्र तक प्रत्येक व्यक्ति का विवाह हो जाना आवश्यक समझा जाता था। कुटुम्व की प्रधानता वृढे पुरुपो और स्त्रियो के अधिकार मे रहती थी। प्रत्येक पुरुप तथा स्त्री की मर्यादा उसकी उम्र के अनुसार निश्चित होती थी। वड़ो का आदर सम्मान करना परम कर्तव्य समझा जाता था। चीनियो मे माता का स्थान वहुत ऊँचा माना जाता था। इसका कारण कुछ लोगो की राय मे पुरातन काल मे मातृक समाज का प्रचलन था। इसी भावना पर उनके शिष्टाचार की रचना की गयी थी। धीरे-धीरे वह पूरे समाज और जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में किसी-न-किसी ढग से लागू हो गयी। ऐसी परिस्थिति मे गाँव भी एक कुटुम्व-सा हो गया, जिससे सामाजिक नियन्त्रण और शासन मे सरलता हो गयी और सहयोग तथा उदारता का स्वाभाविक प्रचलन सम्भव हो सका। इस व्यवस्था को कनफ्यूसि-अस के आचार के सिद्धान्त से विशिप्ट वल प्राप्त हुआ। चीन की यह कौटुम्विक व्यवस्था ही चीनी सम्यता और उसके स्थायित्व के लिए मुख्य आधारशिला सिद्ध हुई। उपर्युक्त कौटुम्विक दृष्टिकोण ग्रामो तथा प्रान्तो तक ही सीमित न था,

राज्य पर भी लागू हो गया था। कुटम्ब का ही एक सर्वाद्धत रूप प्रान्त तथा राज्य गिना जाता था।

चीनी विश्वास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सन्तान होना आवश्यक माना जाता था। बिना पुत्र के पुरुप का जीवन व्यर्थ ही नही, दुर्भाग्य का द्योतक समझा जाता था। उसके बिना न तो पितृ ऋण ही अदा होता था, न पितरो की तृप्ति और शान्ति सम्भव थी। लड़को-लड़कियो का विवाह उनके माता-पिता अथवा अन्य सम्बन्धी ठहराते थे। भावी पति-पत्नी के स्वय विवह करने का रिवाज न था। वयस्कता के पहले ही विवाह निश्चत कर दिया जाता था। मंगनी हो जाने पर सम्बन्ध विच्छेद अत्यन्त बुरा समझा जाता था। विवाह के अवसर पर लड़की और लड़के के घर से क्या सामान आना या जाना चाहिए यह पहले से ही ठहरा लिया जाता था। यदि लड़की का पिता चाहता तो बिना कुछ लिये ही स्वय सब सामान लड़की को दे सकता था। शर्त केवल इतनी थी कि वह सामान लड़की का ही समझा जाता था और उसके मरने पर उसकी सन्तान का उस पर अधिकार होता था। एक ही पैतृक कुटुम्ब के लड़के-लड़कियों मे विवाह मना था। मातृ-कुल मे विवाह करना अच्छा समझा जाता था। विवाह हो जाने पर लडकी पति के कुटुम्ब मे सम्मिलित हो जाती थी और उसी की रस्मो और मर्यादाओ का पालन करती थी। पति की आज्ञा का प्रतिपालन स्त्री का मुख्य कर्तव्य माना जाता था। उसकी मृत्यु के बाद पति के कुटुम्ब के बडे-बूढो की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। चीन मे कुछ दशाओ मे जिनमे बन्ध्यत्व, दुराचार, कटुभापण आदि शामिल थे स्त्री को तलाक दिया जा सकता था, किन्तु स्त्री के लिए तलाक देना बुरा समझा जाता था। तलाक देने पर स्त्री का दूसरा विवाह करना अत्यन्त अनुचित माना जाता था, किन्तु पुरुप का नही। हाँ, विधवा या कल्याणभार्य होने पर दोनों विवाह कर सकते थे। पत्नी के मरने के बाद उसके मायके की दूसरी लड़की से पति व्याह कर लेता था। साधारणतः मनुष्य को एक ही विवाहित स्त्री रखने का नियम था, किन्तु उप-पत्नियो के विपय में कोई नियम न था। समाज में अच्छा न माने जाने पर भी धनी लोग बहुधा उप-पत्नियाँ रख लेते थे। पुत्र-हीन दम्पत्ति यदि चाहते तो किसी लड़के को गोद बिठा सकते थे। जैसे लडका बनिस्वत लडकी के अच्छा समझा जाता था वैसे ही स्त्रियो के मुकाबले मे पुरुप का स्थान ऊँचा गिना जाता था। स्त्रियों और पुरुपो के मिलने-जुलने का रिवाज चीन मे न था। उनके कार्य क्षेत्र भी भिन्न थे, इसीलिए उनकी शिक्षा-दीक्षा भी भिन्न होती थी। लड़कों

के लिए पाठशालाएँ थी, किन्तु लड़कियो को घर में ही घरेलू शिक्षा दी जाती थी।

चीन में न तो वर्ण-व्यवस्था ही थी, न जातिपाँति का भेदभाव ही। परम्परा के अनुसार सम्मान के मुख्य पात्र क्रमश. विद्वान्, राज्य-पदाधिकारी, योद्धा और अध्यापक थे। साधारण लोगो मे नौ श्रेणियाँ थी। अन्न उत्पन्न करने वाले, माली लकड़ी वाले, पशु-पक्षी पालने वाले, कपड़े बुनने वाले. नौकर-चाकर, कारीगर, व्यापारी और फुटकर काम करने वाले। कुलीनों और साधारण लोगो मे अथवा श्रेणियो और व्यवसायो में ऊँच-नीच का भेद कायम था। पर यह विभेद नगण्य-सा था। अपनी योग्यता के अनुसार मनुष्य का स्थान घटता-बढ़ता था। लोग आपस मे विवाह आदि बिना किसी बाधा के करते थे। चीनियो मे विद्वान् और सेनापति विशेष आदर के पात्र समझे जाते थे। हिजड़े, नाटकी, गुलाम, हरकारे तथा वेश्याएँ नीचे स्तर के लोगो में समझी जाती थी। चीन मे गुलामो की दशा उतनी खराब न थी जितनी रोम और यूरोप के मध्य युग मे। गुलामो से प्राय: घरेलू काम लिये जाते थे। उन की कोई विशेष जाति न थी। यद्यपि उन्हे खरीदा या बेचा जा सकता था तथापि उनसे न तो नीच काम लिये जाते थे, न अनुचित व्यवहार ही किया जाता था।

चीन मे भिखारियों की संख्या अधिक थी। नदियो के अल्हड़पन के कारण कृषि की डाँवाडोल स्थिति, दुर्भिक्षो, भूमि-विहीन जनों की बड़ी संख्या, लुटेरे कबीलो के आक्रमणो तथा ताओ मत के अकर्मण्यता-सिद्धान्त आदि के कारण देश मे, अकर्मण्य भिखारियो का दल बढता चला गया। यद्यपि दान तथा भोज्य पदार्थो का वितरण प्रायश: होता रहता था, किन्तु उससे समस्या की विभीषिका कम होने की सम्भावना न थी।

चीनी समाज में शिष्टाचार तथा विनयपूर्ण व्यवहार को बहुत महत्त्व दिया जाता था। कनफ्यूसिअस ने तो उसे अपने मत का मेरुदण्ड ही बना दिया था जिससे उसकी अधिकाधिक पुष्टि होती गयी। सदा प्रसन्न वदन रहने, विनीत स्वभाव, मृदु भाषण तथा नम्र गतिविधि पर बहुत जोर दिया जाता था। चीनियो की सभ्यता का वह विशिष्ट लक्षण ही बन गया था। इस गुण का चीनी समाज मे प्राधान्य चीनियो मे अन्तर्हित किसी दास भावना या कायरता का परिणाम मानना भूल होगी क्योकि वे साधारणत: स्वाभिमानी थे और उजड्डपन, मार-पीट को अशिष्टता का द्योतक मानते थे।

नागरिक जीवन

नगरो के निवासी गाँववालो को इसलिए घटिया समझते थे कि उनको शिष्टाचार का यथेष्ट ज्ञान न होता था और वे उसका अच्छी तरह से निर्वाह भी न कर पाते थे। गाँव वाले भी अपने क्षेत्र के वाहर सार्वजनिक कामों और खासकर शासन की नौकरी करना वुरा समझते थे। उस प्रकार के काम वे शहर वालो के ही लिए छोड देते थे। साधारण नगरो मे वाजार, माता का चौतरा और पूर्वजो के आदर-सूचक मन्दिर तथा पूज्य पूर्वजो के पूज्य स्थान आदि वनाये जाते थे। पूर्वजो में माता का स्थान सवसे ऊँचा गिना जाता था।

नये नगरो का निर्माण वडी लम्बी-चौडी विधियो तथा उपचारो द्वारा किया जाता था। सवसे पहले नगर की चहारदीवारी खडी की जाती थी, क्योकि उसी की मजवूती, ऊँचाई, लम्वाई और चौडाई पर नगर की हैसियत निश्चित होती थी। नगर की रचना सैनिक पडाव के नक्शे पर चौकोर की जाती थी। नगर मे वड़े-वडे प्रासाद वनाये जाते थे। दीवारो पर चित्र वनाकर उन की शोभा वढ़ायी जाती थी। शहर के वीच में नगर के मुख्य अधिष्ठाता की कोठी ऊँचे स्थान पर वनायी जाती थी जिससे वह सारे नगर का निरीक्षण कर सके। नगर के प्रयेक मुहल्ले का एक मुखिया होता था जिसके कर्तव्य थे शान्ति रक्षा तथा कर वसूल करना। कठपुतलियो और जादूगरों के खेल के अलावा नाटको का भी, जिनमे कभी-कभी सौ पात्र तक भाग लेते थे, प्रदर्शन होता था।

चीन के विविध उत्सवो मे से नये वर्ष का उत्सव हर जगह मनाया जाता था। तीन-चार दिन वड़ी धूमधाम रहती, रग-विरगी कागज की कन्दीले जलायी जाती, कागज के विशाल अजदहो का जुलूस निकाला जाता और आतिशवाजी छुडाई जाती थी। उसके सिवा पुरखो का जातीय स्मृति दिवस, अजदहाई नौकाओ की प्रतियोगिता का समारोह, पशुचारको तथा कपड़े वुनने वालो के मेले, अन्न सचय के दिवस, कनफ्यूसिअस का जन्म दिवस, मकर सक्रान्ति (उत्तरायण) आदि उत्सवो के दिन तीर्थ-यात्राएँ, त्योहार तथा पर्व उत्साह सहित मनाये जाते थे।

आमोद-प्रमोद

चीनियो को कष्ट-साध्य खेलो का ज्यादा शौक न था। तीरन्दाजी, शिकार, मछली पकडना, तैरना, गेद खेलना, पतंग उड़ाना, नाटक करना और नाटक इत्यादि

देखना उनके विनोद के विशेष साधन थे। साधारण ढंग की कुश्ती भी लड़ी जाती थी। गप्प लड़ाना, किस्सा कहानी कहना-सुनना तथा पढ़ना, जुआ खेलना, ताश-शतरंज खेलना, अक्ष आदि अनेक प्रकार की क्रीडाएँ उनके व्यसन थे। यद्यपि चावल की मदिरा दो आतशा से तीन आतशा तक लोग पीते थे किन्तु उस मद्यपान ने वहाँ भयकर जातीय दोष का स्वरूप धारण नही किया। चीन मे मध्य तथा उच्च श्रेणी की स्त्रियो और पुरुषो मे मिल-जुल कर खेलने-कूदने, सैर-सपाटे करने, गप्प लडाने या आमोद-प्रमोद करने का रिवाज न था। स्त्रियो तथा पुरुषो के लिए मकानो मे जनानखाने और मर्दानखाने अलाहदा-अलाहदा बनाये जाते थे। नीचे के लोगो मे अनुपाततः अधिक बन्धन था। नियन्त्रण का अभाव था। चीन में हान युग से नाटको का विकास होता रहा। उत्सवो और बडे बाजारो मे नाटक खेले जाते थे। नाटको मे गाने-बजाने का भी प्रबन्ध रहता था। स्त्रियो और पुरुषो के बैठने के लिए अलाहदा-अलाहदा प्रबन्ध कर दिया जाता था। किस्सा सुनने के शौक के कारण चीन मे किस्सा कहने वाली का एक अच्छा-खासा रोजगार ही पैदा हो गया था। जादूगरों और कठपुतलियों के खेल देखने का भी लोगो को शौक था।

शासन-विधान

चीन के राजनीतिक सगठन मे सम्राट् का महत्त्व अपार माना जाता था। दैवी शक्ति से उसका सृजन होना कहा जाता था। उसके गुणो अथवा अवगुणो पर ही साम्राज्य का दारोमदार था। प्रजा का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य उसी पर आश्रित समझ कर उसे राजोचित आचार पर आरूढ रखने के लिए कुछ विशिष्ट लोकसम्मानित, योग्य, चतुर, सदाचारी विद्वानो की नियुक्ति कर दी जाती थी। राजकुमारो तथा कर्मचारियो के लिए भी सदाचार एव व्यस्थित कार्यपरायणता का ध्यान रखना आवश्यक था। जनता उन सब पर श्रद्धा और विश्वास रखती थी, अत उनकी आज्ञाओ का आदर करना एवं प्रतिपालन वह अपना परम कर्तव्य समझती थी।

चोऊ वश (११२२—२५६ ई० पू०) के पहले से ही चीन मे शासन विधान पर काफी ध्यान दिया जाता था। चोऊ युग मे यद्यपि सामन्तशाही थी तथापि विश्व की रचना तथा नियमो के अनुसार राज शासन विधान का निर्माण होना आवश्यक समझा गया। इसीलिए चोऊ काल मे शासन के छ. अग स्थापित किये

गये। प्रकृति के छः अंगों—दैव (आकाश), पृथ्वी, वसन्त, ग्रीष्म, शरद और शिशर के समान वित्त और व्यक्ति, शिक्षा और व्यवहार, धर्म और यज्ञादिक, सैनिक तथा युद्ध, न्याय और अपराध, साधारण शासन तथा लोक कल्याण आदि शासन के छः विभागो सी व्यवस्था की गयी जो तत्सम्बन्धी कार्य करते थे।

केन्द्रीय

हानयुग मे सम्राट् का एक मुख्यमन्त्री होता था जो सम्पूर्ण शासन के सर्वोपरि पदाधिकारी और कर्मचारी की हैसियत से शासन का संचालन करता था। उसके बाद राजा का सचिव और सेना का अध्यक्ष ये दो पदाधिकारी थे। सेनाध्यक्ष का कर्तव्य सेना का शासन था, न कि सेनापतित्व। मुख्य मन्त्री तथा उपर्युक्त दोनों पदाधिकारी उच्चतम श्रेणी के गिने जाते थे। दूसरी श्रेणी में नौ मन्त्री थे अर्थात् धर्म ओर शिष्टाचार मन्त्री, रथ तथा अश्व मन्त्री, न्याय मन्त्री, आदर-सत्कार मन्त्री, पूर्वज राजकीय मन्दिर व्यवस्था मन्त्री, राजकीय सामान मन्त्री, राजप्रासादीय मन्त्री, राजद्वारपालध्यक्ष तथा राजसभा मन्त्री। राजधानी के प्रबन्ध के लिए तीन मुख्य अधिकारी थे, पहला राजकुमार के महलों का, दूसरा नगर की शान्ति और सरक्षा का और तीसरा शासन के नगर रक्षकों, द्वारपालो और इमारतों का प्रबन्धकर्ता। उनके सिवा प्रान्तीय शासनो के मन्त्री तथा विशेष नीति मन्त्री भी होते थे।

प्रान्तीय शासन

चीन मे किसी समय ग्यारह सौ से अधिक प्रान्तथे किन्तु घटते-घटते उनकी सख्या छत्तीस के लगभग रह गयी। प्रत्येक प्रान्त मे दो या तीन क्षेत्राश होते थे तथा प्रत्येक क्षेत्राश मे दो या तीन जिले। प्रत्येक जिले मे परगने और परगनो में कई गाँव होते थे। प्रान्तो के अध्यक्षों और जिलाधीशो में से प्रत्येक की अधीनता मे लगभग सौ कर्मचारी काम करते थे जिसका चुनाव प्रायः प्रान्त के निवासियो में से किया जाता था। उनकी नियुक्ति जिलाधीश तथा प्रान्त के अध्यक्ष ही करते थे। प्रान्तीय अध्यक्ष के साथ एक प्राइवेट सेक्रेटरी एवं वित्ताधीश और एक मुख्य नियन्ता नियुक्त रहता था। शासनाध्यक्ष को परामर्श देने और सरकारी पत्रव्यवहार करने के लिए एक-एक पदाधिकारी नियुक्त था। शासन मे मुख्य विभाग थे परिवहन, वित्त, शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य, अर्थ, सेना, बाजार प्रबन्ध तथा पेशकश। प्रान्तीय

शासन का संगठन और नियन्त्रण प्रत्येक प्रान्त की आवश्यकता तथा परिस्थितियों के अनकूल होता था। प्रान्तीय विधानो मे केन्द्रीय शासन यथासम्भव हस्तक्षेप न करता था। इसलिए अपने-अपने क्षेत्र मे उनको वहुत-कुछ स्वतन्त्रता थी। उससे एक यह वडा लाभ था कि प्रान्तीय-शासन अधिकतर स्वावलम्वी होता था। यदि केन्द्रीय शासन मे विघ्न उपस्थित होता तो उससे प्रान्तीय शासन मे वाधा पड़ने की सम्भावना वहुत कम होती थी। केन्द्र से नियुक्त किये गये प्रमुख पदाधिकारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर तव्दील किये जाते थे, किन्तु प्रान्तीय शासन विधान चलता रहता था।

चीन के शासन के पदाधिकारी और कर्मचारी परीक्षा द्वारा चुने जाने थे। उच्च राजकर्मचारियो की परीक्षा छ. विद्याओं मे होती थी। न्याय, स्वास्थ्य आदि दो-तीन विभागो मे विशेषज्ञों की नियुक्ति अनिवार्य थी, औरो मे नही। कुछ विशिष्ट विभागो को छोड़कर एक विभाग के पदाधिकारी दूसरे विभाग मे भी नियुक्त किये जा सकते थे। परीक्षा द्वारा पदाधिकारियो के चुनाव की परिपाटी चीन मे प्राचीन काल से प्रचलित थी। यह वहाँ की अपनी महत्त्वपूर्ण विशेपता थी।

चीन मे जनगणना हर तीसरे साल की जाती थी जिसके अनुसार प्रान्तीय शासन-विधान मे हेर-फेर कर दिया जाता था। सामन्तो के अत्याचारो को कम करने के लिए, ग्रामो, वस्तियो एवं वोर्डो को अपने-अपने मुखियो के चुनने, पुलिस प्रवन्ध करने, कर उगाहने तथा जनगणना के नियम वनाने आदि के अधिकार दे दिये गये थे। एक विद्वान् का कथन है कि यदि शासन की महत्ता अनुशासनों की न्यूनता तथा राज्य की व्यवस्थित प्रगति मानी जाय तो चीन से वढकर अच्छे शासन का उदाहरण ससार के इतिहास मे शायद कही न मिलेगा।

सम्भव है कि प्राचीन भारत ही उसकी समकक्षता कर सके। दोनो देशो की सामाजिक व्यवस्था ऐसे ढंग की थी कि वह लोकाचार, सदाचार, कर्तव्याकर्तव्य के नियमो पर चलने और उन पर विश्वास रखने एव जीवन-लक्ष्य तदनुसार वनाये रख कर व्यवस्थित मार्ग पर चलने की प्रेरणा करती रहती थी। इसीलिए ऊपरी दवाव या शासन की उनको उतनी आवश्यकता नही रहती थी जितनी अन्यान्य देशों में अनुभव की जाती थी। यह इन देशो की उच्च सभ्यता का प्रमाण एवं चमत्कार था। इसी मे सम्भवतः उनके दीर्घजीवी होने का रहस्य निहित था। यही शायद उनकी सभ्यता की मन्थर गति का कारण भी था।

आर्थिक व्यवस्था

शाग युग मे ही मुगलो और तुर्को से चीन वालो ने पहिये द्वारा संचालित यान का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि यानो की सख्या के अनुसार ही उनके मालिको की शक्ति का अनुमान और समाज मे उनके स्थान का निर्धारण होने लगा। यान शक्ति के परिणामस्वरूप हान काल मे सामन्तशाही का प्रारम्भ हो गया। सेना मे रथो की प्रधानता से हान साम्राज्य का खूब विस्तार हुआ। साम्राज्य के विस्तार से वहुत-सी भूमि उसमे आ गयी जिस पर नयी बस्तियाँ वसा दी गयी। उनकी रक्षा के लिए सामन्तो के नेतृत्व मे सेनाएँ स्थापित की गयी। उस विधान से सामन्तो के साधनो और बल की वृद्धि होती रही। चोऊ युग मे ताँबे के सिक्को का भी प्रचलन हो गया जिससे भूमि तथा शस्त्रास्त्र और लोहे के बने हुए कृपि के हल आदि साधनो की खरीद-फरोख्त की बड़ी सुविधा हो गयी। सफल व्यापारी धन से जमीन खरीदने लगे, और लगान तथा कर वसूल करने के ठेके राज्य से लेने लगे जिससे राज्य को आमदनी आसानी से होने लगी। किन्तु ठेकेदारो को किसानो पर अनुशासन करने का अच्छा अवसर मिल गया। सेनानायको के अलावा धनिको की भी एक प्रभावशाली श्रेणी वन गयी जिससे सामन्तशाही का एक नया प्रतिद्वन्द्वी प्रकट हो गया। लोहे के हलो को पशुओ द्वारा चलवाने तथा नहरो की सिचाई से गेहूँ, ज्वार, चावल, सोयाबीन, और चाय आदि की उपज वढ गयी। यातायात के लिए नदियो के अलावा सड़को और रास्तो का प्रयोग वढने लगा और व्यापार की उन्नति होने लगी। कृषि तथा व्यापार की वृद्धि के अनुपात के अनुसार सडको की पर्याप्त वृद्धि न होने के कारण नहरो की खुदाई वढती रही। हान युग मे जल नियन्त्रण के लिए छप्पन विधान प्रचलित थे। सिचाई की कला मे चीनियो ने अच्छी उन्नति की। फलत कृषि तथा कृपकों की संख्या शीघ्रता से वढ़ने लगी और व्यापारिक केन्द्रो की स्थापना से कसबो और नगरो की सख्या भी वढ चली।

हान युग से ही हूणो आदि कवीलो के साथ निरन्तर सघर्ष चलते रहने तथा शासन और शासको का खर्च वढने के कारण लगान और करो मे इतनी वृद्धि होती गयी कि किसानो पर उनकी सामर्थ्य से अधिक बोझ पड गया और उन पर कर्ज और शासन का दबाव वढता गया। विद्रोही अपनी भौहे लाल रग मे रगकर वडे किसानो के नेतृत्व मे विरोधी संगठन करने लगे। उनकी सख्या उत्तरोत्तर वढती गयी जिससे

शासकवृन्दो को बड़ी चिन्ता हुई क्योकि विद्रोही लोग साम्राज्य के सेवको की हत्या और लूटमार करते थे तथा आग भी लगाने लगे थे। उनके दमन के लिए जो सैनिक भेजे जाते उनमे से कुछ तो विद्रोहियो से मिल जाते और कुछ स्वयं लुटेरो के दल बना लेते थे। साम्राज्य मे अराजकता बढती रही। यह दुर्दशा ऐसी चली कि लाखो मनुष्य मारे गये और पूर्व हानवंश का आधिपत्य भी समाप्त हो गया। अधिक सख्या मे कृषको के नष्ट हो जाने के कारण बचे हुए किसानो को खेती करने के लिए अधिक भूमि मिल गयी और राजधानी लोयाग मे आकर बस जाने के कारण अन्न के उत्पादको और व्यापारियो का यातायात खर्च कम हो गया। अन्न भी सस्ता हुआ और किसानो को भी लाभ हुआ। बदली परिस्थिति से कुछ शान्ति तो हुई, किन्तु वह अस्थायी थी। सीमान्त प्रान्तो के तुर्कों, मगोलो और हूणो से युद्ध चलते रहने, पश्चिम के व्यापार-मार्गो को खुला रखने तथा सम्राट् और शासन की प्रतिष्ठा बनाये रखने और उनके अनापशनाप खर्चो के कारण आर्थिक समस्या का सुलझना दुस्तर-सा रहा। जब लगान तथा कर के ठेके देने से और ऊंचे पद बेचने से भी काम पूरा न चला तब राज्य ने सिक्के बनाने का पूरा अधिकार अपने हाथ मे ले लिया। भारी वजन, किन्तु घटिया धातु के सिक्को का मूल्य उनके धातुई मूल्य के अनुसार माना जाता था। घटिया धातु के सिक्को से व्यापार मे बाधा और राज्य की साख पर सन्देह होने लगा। राज्य ने हिरन की खाल के सिक्के चलाये, किन्तु उसमे वह असफल रहा। पर उस प्रकार के प्रयोग का आर्थिक इतिहास मे अपना विशेष महत्त्व है।

शासक दल मे, चाहे वह केन्द्रीय था अथवा सामन्ती, विलासप्रियता और गृह-कलह बढती गयी जिससे शासन मे शिथिलता और व्यय की वृद्धि जारी रही। रानियो, पटरानियो तथा उपपत्नियो की सख्या बढने लगी और उनके तथा उनके कुटुम्बियों के आचारो एव व्यवहार के कारण राजघराने मे गम्भीरता, शिष्टता तथा शान्ति का वातावरण बनाये रखना असम्भव-सा हो गया। द्वितीय शती ईसवी मे साम्राज्य का बल सेना-नायको पर निर्भर हो गया। सम्राट् कभी एक और कभी दूसरे सेनानायक के हाथ की कठपुतली हो जाता था। उन लोगो के पारस्परिक सघर्षो और गुलछर्रो का भार जनता को उठाना पडता था। जब परिस्थिति हद से बाहर हो गयी तब विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। विद्रोहियो ने पीली पगडी को अपने दल की सदस्यता का प्रतीक बनाकर युद्ध ठान दिया। उस आन्दोलन का ताओ विचारको ने, जो किसानो के पुरोहित-से थे, समर्थन किया। इन विद्रोह

आन्दोलन का सूत्रपात १८४ ई० में हुआ। चीन की सीमा पर रहने वाले कवीलों की सहायता से किसानों के इस विद्रोह का दमन तो हो गया, किन्तु उसी के साथ राजाधिराज सत्ता हान वंश के हाथ से निकलकर वेई वंश के हाथ में चली गयी (२८४ ई०)।

हानयुग की उल्लेखयोग्य घटनाओं में एक घटना यह भी थी कि राज्य ने कुछ व्यापार सम्वन्धी कार्य स्वतन्त्र व्यक्तियों को न देकर अपने ही हाथ मे ले लिये। पहाड़ी प्रदेशों, समुद्र, झीलो तथा दलदली क्षेत्रों से कर उगाहना तथा यातायात के साधनो का प्रवन्ध करना राज्य के कर्मचारियों को सुपुर्द किया गया। चीन मे अक्सर दुर्भिक्ष पड़ जाते थे जिनका मुकावला करने मे किसान असमर्थ थे। अकाल से लोग वड़ी संख्या मे मरते थे, भीख माँगते फिरते या वेगार करते थे। नये प्रवन्ध का शायद यह ध्येय था कि साधारण आवश्यकताओ की चीजे इस ढंग से नियन्त्रित की जायँ जिससे उनकी कीमतो और दरों मे अनावश्यक अथवा चिन्त्य हेरफेर न हो पाये। अच्छे सस्ते समय में अन्नादि पदार्थ खरीद कर जमा कर लिये जायँ और महँगाई होने पर वाजवी दाम पर वेंच दिये जायँ। कमी पड़ने पर एक स्थान से आवश्यकतानुसार दूसरे स्थान को माल यथासम्भव शीघ्रता से पहुंचाया जाय तथा दुर्भिक्षादि दैवी प्रकोपो के समय राज्य के कोष्ठो और खत्तियो मे संचित पदार्थ वाजिवी दाम पर लोगो को मिल जाया करे। वाजार का भाव नियन्त्रित रखने से जनता का उपकार और आवश्यक चीजो के सग्रह से सैनिक रसद का सुभीता होने की सम्भावना थी। उपर्युक्त नीति साम्राज्य भर में लागू थी।

उद्योग-धंधे

चीन मुख्यतः कृषिप्रधान देश था, किन्तु वहाँ उद्योग-धंधे भी किसी हद तक होते थे। लकड़ी के काम मे चीनी पहले से ही होशियार थे। हान युग मे कोच, कुरसी, मेजे वनायी जाती थी। उनके वनाने मे वाँस से भी काम लिया जाता था। चीन को हिन्दुस्तान से वाँस मिलता था। चीनी मिट्टी के वर्तन भी वहुत वढ़िया और कलात्मक वनाये जाते थे। शीशे की चीजें द्वितीय शती से वनने लगी थी। उसी शती से हिन्दुस्तान से रुई चीन पहुँची जिससे वहाँ सूती कपड़े वनने लगे। उस युग में चीनी लोग अनेक प्रकार के कागज भी वनाते थे। वहाँ के उद्योग-धंधे वंशानुगत और कारीगर श्रेणीवद्ध थे। चीन में अधिकतर रेशम, नमक, लोहा, जेड, लाख की वस्तुओ का व्यापार होता था। पहले तो वस्तु-विनिमय का चलन

था, किन्तु पाँचवी शती ई० पू० से सिक्कों का प्रयोग होने लगा और वैंकों द्वारा लेन-देन भी। पर तृतीय शती ई० पू० से ही विनिमय की प्रथा वन्द कर दी गयी थी। नहरों और सड़को की वृद्धि तथा माल लाने और ले जाने के साधनों का राज्य द्वारा नियन्त्रण होने के कारण व्यापार वढ़ता गया। प्रथम शती ई० पू० मे चीन का यूरोप से व्यापार होने लगा था।

शिक्षा-दीक्षा

चीनी लिपि मे न तो वर्ण है, न वाक्यविन्यास और न संयुक्ताक्षर। विचार प्रकट करने के लिए लगभग चालीस हजार चित्रीय प्रतीक थे जो सात सौ उच्चारणो द्वारा प्रकट किये जाते थे। उनमे दो सौ चौदह नितान्त वुनियादी चित्र थे और छ. सौ व्यावहारिक, जिनसे साधारणतया काम चल जाता था। पढना-लिखना केवल उच्च श्रेणी के लोगों तक ही सीमित था। सुशिक्षित व्यक्ति वह माना जाता था जिसने तर्क शास्त्र, आचार, नीति, इतिहास तथा प्रकृति-विज्ञान का अध्ययन किया हो। किन्तु श्रेष्ठ लोग वे माने जाते थे जिन्हे लिखने-पढने तथा गणित के अलावा सगीत, व्यवहार-कौशल, धनुर्विद्या एव अश्वारोहण भी आता हो। ऐसी जटिल लिपि के होते हुए भी चीन के साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की। प्राचीन साहित्यकारो मे दार्शनिक कनफ्यूसिअस का सवसे ऊँचा स्थान था। उसने शिष्टाचार, व्यवहार, इतिहास, दर्शन, गाथा तथा काव्य सम्वन्धी विशाल साहित्य की रचना की जिसका सम्मान अद्यावधि होता है। यद्यपि गद्य रचना अच्छी-खासी होती थी तथापि चीन के लोगो मे नैसर्गिक कविता की स्वाभाविक प्रवृत्ति-सी थी। वे वर्णनात्मक या प्रवन्ध काव्य के पोषक न थे। उनकी धारणा थी कि क्षणिक अथवा सचारी भाव ही काव्य का विषय है। शव्द तो सकेत मात्र है। इन सकेतो के व्यंजनात्मक भाव ही कविता के प्राण है। चीनी कविता प्राय. अतुकान्त होती थी। हान युग तक काव्य ने खासी उन्नति कर ली थी यद्यपि उसका पूर्ण विकास आगे चलकर हुआ। उनके लोकगीतो से पुरातन चीन के जीवन तथा विचारो का दिग्दर्शन होता है।

द्वितीय शती ई० पू० मे चीन वाले ज्यामिति के सिद्धान्त से परिचित हो गये थे। चीनी कहते हैं कि हानयुग (२०८ ई०पू० से २२० ई० पू० तक) मे ही उन्होंने कम्पास वना लिया था। कन्फ्यूसिअस के समय से गणित द्वारा ग्रहण पड़ने का समय वताया जा सकता था। फलित ज्योतिष का भी प्रचार होने लगा था।

चीन का बैक्ट्रिआ से सम्पर्क हो जाने के कारण यूनानी गणित का प्रभाव चीन पर पड़ा। सम्भव है कि उसी के प्रभाव से चीन में 'कीमिया' (रसायन) तथा अंगूरी शराब का भी प्रचार हुआ हो। चिकित्सा शास्त्र में भी चीन ने अच्छी उन्नति कर ली थी। चीनियों ने रोगों का वर्गीकरण ऋतुओं के अनुसार किया। उस समय के उल्लेखों में ज्वर, शिर-पीड़ा, वायुजनित पीड़ा, चर्मरोग, कण्ठ और फेफड़े के रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा विधि मिलती है। चीनियों को यह ज्ञात हो गया था कि हृदय से ही रक्त शरीर में फेंका जाता है। बहत्तर प्रकार की नब्जों का उल्लेख उन्होंने किया है। औषधियाँ वनस्पतियों, धातुओं, पशुओं तथा अनाजों से बनायी जाती थीं। चीन वाले जल, अग्नि, काष्ठ, स्वर्ण और मिट्टी को मूल पंच-तत्त्व मानते थे। चिकित्सा में वे जादू-टोटके आदि का भी प्रयोग करते थे।

साहित्य

ईसा पूर्व पाँचवीं शती के अन्तिम वर्षों से लगभग दो सौ वर्ष तक चीन में सामन्तों के भयंकर युद्ध होते रहे। उस युग को सामन्ती राज्यों के संघर्ष का युग कहते हैं। इस युग में चीन की वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं कलात्मक प्रतिभा ने अपूर्व चमत्कार का प्रदर्शन किया। राजनीतिक क्षेत्र में अधिक काल तक अव्यवस्था तथा घात-प्रतिघात से संतप्त और उत्तेजित होकर चीनियों के बौद्धिक और काल्पनिक जीवन में विलक्षण स्फूर्ति एवं चेतना उत्पन्न हो गयी जिसका प्रभाव साहित्य, कला तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों पर स्थायी रूप से पड़ा। व्यवस्था तथा शान्ति की खोज के सिलसिले में आधिदैविक और आधि-भौतिक लोकों तथा उनके रहस्यों का चिन्तन उन्होंने स्वतन्त्र रूप से किया। विचार और विमर्श की दृष्टि से चीन का वह युग उस देश के इतिहास में अद्वितीय समझा जाता है।

हान युग की रचनाओं में प्रथम स्थान छः आर्ष ग्रन्थों (षडङ्ग) को दिया जाता है। वस्तुतः उनमें पुरातन संस्कृति और विचारधाराओं का संग्रह है। वे छः आर्ष ग्रन्थ थे काव्य (शि.), इतिहास (शू), संस्कार तथा शिष्टाचार (ली), गान (यूच), परिवर्तन (ई) शिशिर वसन्त वृत्तान्त (चुंअन चिंउन)। उन ग्रन्थों का संग्रहकर्ता अथवा रचयिता कुंग फूत्जे (कनफ्यूसिअस) माना जाता है जो भगवान् गौतम बुद्ध का समसामयिक था। इस षडङ्ग विद्या के विद्वानों में माजुंग (७९–१६६ ई०) मुख्य कहा जाता है। चीन के इतिहासकारों में स्सु मं चिइएन' (मृ० ९० ई० पू०) का स्थान प्रमुख माना जाता है। चीन वाले उसको वही

स्थान देते हैं जो ग्रीस के हेरोडोटस को यूरोप में प्राप्त है। उसका ग्रन्थ 'शि-ची' नाम से प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु के पश्चात् का चीनी इतिहास पन पिआओ और उसकी पुत्री पनचाओ ने लिखा। वह इतिहास सौ भागों में लिखा गया। पनचाओ विदुषी थी। इतिहास के अलावा उसने कविताएँ, निबन्ध आदि भी रचे। भूगोल पर जिसमें वनस्पति और जन्तु जगत् का वर्णन भी शामिल है, 'शन हाई चिंग' नामक ग्रन्थ की रचना हुई। सृष्टि रचना पर 'लिउ आन' ने (मृ० १२२ ई० पू०) 'हाइनन त्ज' नामक ग्रन्थ लिखा। दार्शनिकों में याग ह्यिउग ने 'त अइ ह्यन' नामक प्रतिष्ठित ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने लाओत्जे तथा कनफ्यूसिअस के विचारों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

हानयुगीन साहित्य के प्रतिभाशाली कवियों में स्सु म ह्यि अग, मेई शेग एवं त सई युग गिने जाते हैं। छन्द रचना के विधानों का सस्कार करने के साथ ही उनकी कविता में भावों की सरलता और स्वाभाविक वर्णन की छटा दिखाई देती है। ईसा की तृतीय शती में ह्यिक अग नामक एक प्रसिद्ध कवि हुआ जिसकी कविता में ताओ सिद्धान्त का प्रबल प्रभाव दिखाई देता है। उसने एक सचरणशील कवि-समाज की भी स्थापना की। चतुर्थ शती में लू ची बन्धु और उनके बाद सुप्रसिद्ध त ओचिएन नामक कवि हुए जिनकी रचनाओं की प्रशसा आजतक होती है। ताओ मत की-सी स्वतन्त्रता, विरक्ति और आत्मस्थिति की भावना उनमें झलकती है। चीन में गद्य में भी रचनाएँ होती थीं। तृतीय शती के चतुर्थ लेखकों में को हुग सबसे प्रसिद्ध लेखक हुआ। चीनी भाषा तथा लिपि-विज्ञान पर ह्युशेन ने एक उल्लेखनीय ग्रन्थ की रचना की।

विज्ञान के गणित और ज्योतिष अगों पर इसलिए विशेष ध्यान दिया गया कि उनका चीन के दर्शन तथा धार्मिक विश्वासों से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था। दैवज्ञों तथा शकुन विचारकों की कला, विद्या एवं विचारधारा अधिकतर उन पर ही आश्रित थी। ज्यामिति, बीजगणित और गणित में हानयुग से पूर्व भी कुछ कार्य हो चुका था। किन्तु हानयुग में चॉग हेग नामक प्रतिभाशाली विद्वान ने ज्योतिष के दो ग्रन्थ रचे। उसके विचार से ब्रह्माण्ड एक अण्डे के समान है जिसका छिलका आकाश और अण्डपीत (जरदी) पृथ्वी है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि वह अण्डाकार गोले के समान पृथ्वी की कल्पना करता था। गणित ने इतनी उन्नति कर ली थी कि जिससे व्यास का वृत्त से अनुपात, घनत्व फल, सूर्य की ऊँचाई का करीब-करीब ठीक अनुमान तथा साख्यिकी के प्रयोग सम्भव हो गये थे। इसके

सिवा जल-संचालित तथा भूकम्प-चित्रक यन्त्रों का भी चीन में प्रचलन हो गया था।

वैद्यक और शल्य विद्या पर चाग ची ने दो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे जिनके आधार पर उन विद्याओ का आगे चलकर विस्तार हुआ। ज्वर और उदर रोगो की चिकित्सा के लिए उसने बहुत-से नुसखे लिखे। शल्य विद्या का विशेषज्ञ हान एक नामी वैद्य था।

हान युग के पहले कागज रेशम से बनाया जाता था जिससे वह महंगा पड़ता था। किन्तु हान युग मे वह बाँस से बनाया जाने लगा। इससे कागज सुलभ हुआ और ग्रन्थकारो मे अपनी रचनाएँ लिखने का उत्साह बढ गया। पानी से चलने वाली चक्की से खेतो मे पानी उलीचने और अन्न की पिसाई करने मे कृषकों को बड़ी सुविधा हो गयी। सिचाई के लिए नहरे तथा बाँध बना कर पानी जमा करने और आवश्यकता पड़ने पर सगृहीत जल का वितरण करने का ढग वे लोग जानते थे।

ललित कलाएँ

स्थापत्य कला के पुराने अवशेष चीन मे शायद इसलिए नही मिलते कि वहाँ मृतक को दफनाकर उसके ऊपर मकबरा या समाधि बनाने अथवा गुफाएं खोदकर उसके साथ आवश्यक कामो की वस्तुएँ रखने की प्रथा न थी। उन युगो की स्थापत्य कला की एक मात्र द्योतक 'चीन की दीवार' है जो मनुष्य की आश्चर्यजनक कृतियों मे गिनी जाती है। अनुमान किया जाता है कि शायद प्राचीन युग की इमारते कमीबेश उसी ढग की रही होगी जैसी कि बाद की पायी जाती हैं। इमारते प्राय: एक मन्जिल की बनायी जाती और रगीन खपडो से छायी जाती थी। लकड़ी पर नक्काशी का काम करके इमारतो को सजाते थे।

प्राचीन काल मे ही चीनियो को रगीन और सफेद मिट्टी, ताँबा, काँसा और पत्थर, विशेषकर जेड पत्थर, की चीजे बनाने का शौक रहा है। उनकी बनायी चीजे सुडौल और सुन्दर रगीन रेखाओ से विभूषित होती थी। छोटी चीजो से लेकर बहुत बड़ी-बडी चीजे बनाने मे भी उनकी कुशलता दिखाई पडती है। उदाहरण के लिए कनफ्यूसिअस के मन्दिर का गुम्बद ही ले लीजिए। उसका वजन एक मन तीस सेर है। उस समय के तरह-तरह के छोटे-बडे बरतन, नाँदे, गडुए, सुराहियाँ, जिन पर रगीन अथवा उभरा हुआ काम बनाया जाता था अभी तक प्राप्य है। अजीब-अजीब शक्ल और डिजाइन की चीजे प्राचीन युग की बनी हुई मिलती है। काँसे की चीजें शागयुग मे ही ऐसी बनने लगी थी जिन का मुकाबला बाद के युगो मे भी

होना दुस्तर रहा। काँसे की बनी जानवरो की विविध आसनस्थ मूर्तियाँ विलक्षण एव आश्चर्यजनक है। बडे-बडे घटे और घडियाल चे ऊ युग मे भी बनाये जाते थे। मनुष्यो एव पशुओ की उत्कीर्ण मूर्तियो मे सजीवता और गति का अच्छा प्रदर्शन मिलता है। काँसे पर की गयी पालिश शीशे की तरह चमकदार और प्रतिबिम्बग्राही होती थी। लकडी पर नक्काशी का विचित्र काम बनाकर उस पर रग-बिरगी पालिश की जाती थी जो सम्भवतः विदेशियो से सीखी गयी थी।

हानयुग मे चित्रकला ने भी उन्नति की। बडे पैमाने पर पशुओं, देवी-देवताओं तथा प्राकृतिक दृश्यो के चित्र बनने लगे। मनुष्य के चित्रण में पहले से अधिक कुशलता और कोमलता दिखाई देती है। रेखाओं के प्रयोग मे चीनियो ने इस युग में लाघव और कोमलता की ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। आगे चलकर इसी से उनके चित्रों का महत्त्व बढ गया। मिट्टी, धातु अथवा लकडी की चीजो पर विविध प्रकार की नक्काशी और चित्र बना कर सोने-चादी के गगा-जमुनी काम ने उन्हे सजाने का उनको खास शौक था। कुछ-कुछ पौराणिक ढग की कल्पनाओं तथा अन्तर्हित स्वाभाविक कौतूहल के कारण वे देवी-देवताओ की मूर्तियाँ तथा पशु-पक्षियो के चित्र कुछ ऐसे रूप मे बनाते थे जिसका अस्तित्व वास्तविक जगत् मे नही केवल काल्पनिक जगत् मे ही पाया जा सकता था। उनसे चीनियो के कल्पना लोक के सर्जन पर अच्छा प्रकाश पडता है। सामूहिक चित्रण तथा जुलूसों का प्रदर्शन भी उनकी कला मे मिलता है। यद्यपि चीनियो के चित्रो मे हास्य और भयानक का पुट रहता था तथापि यह माना जाता था कि पशुओ तथा मनुष्यों के मानसिक भावो तथा उनकी शारीरिक गतिविधि का प्रदर्शन करने का भी वे प्रयत्न करते थे। सम्राट् ह्य अन ती स्वय अच्छा चित्रकार था और उसने चित्रकारो को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया। उस युग के चित्रकारो मे माओ एन शू प्रमुख गिना जाता है। हानयुग के अन्तिम काल मे यूनानियो और बौद्धो की मिश्रित कला चीन में प्रविष्ट हुई। उसका प्रभाव हानयुग के बाद के चित्रो तथा चीनी कला पर अधिक मात्रा मे पाया जाता है। हान सम्राटो में वू ती सगीत विद्या का केवल प्रेमी ही न था वरन् उसने दरबार मे एक सगीत सभा की स्थापना भी की थी जिसमे तत्कालीन सगीताचार्यों की नियुक्ति की गयी थी।

दर्शन

दर्शन की ओर चीनियो की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वहाँ बड़े प्रतिभाशाली

और प्रभावशाली दार्शनिक हुए हैं जिनका स्थान किसी देश या सभ्यता के दार्शनिकों से कम नहीं। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि चीन के प्राचीन दार्शनिकों ने ऐसे-ऐसे सिद्धान्तो का निरूपण किया है जो प्राचीन काल के ही नही, वरन् आधुनिक काल के दार्शनिक सिद्धान्तो के लिए भी चमत्कारी हैं। दूसरी विचारणीय बात यह है कि सामन्त युग की कुव्यवस्था मे ही चीन के दर्शन एव काव्य का अभ्युदय हुआ। यह कहना अभी तक सम्भव नही कि चोउ वश (११२२ ई० पू० से २५० ई० पू०) के पहले चीन के लोगो के सामाजिक अथवा धार्मिक विचार और विश्वास क्या थे। चोउ युग मे जिस प्रकार से उनका प्रस्फुटन हुआ उससे प्रतीत होता है कि पहले से ही विचारो और विश्वासो की प्रबल धाराएँ चली आ रही होगी। उस युग के विचारको मे सम्भवत. छः नहीं तो चार मत तो अवश्य ही स्पष्ट रूप से प्रचलित हो गये थे जो विचार की दृष्टि से गम्भीर और महत्त्वपूर्ण थे। उन विचार-धाराओ का सम्बन्ध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से है। उन युगों के इतिहास की रूप-रेखा पहले लिखी जा चुकी है इसलिए इतना सकेत करना काफी होगा कि उन युगो मे एक प्रकार की राज-सत्तात्मक सामन्तशाही थी और हूण, तुर्क तथा तिब्बती लोगों के आक्रमण होते रहते थे जिससे साधारण श्रेणी और किसानो, मजदूरो की दशा अच्छी न थी। उन पर मुसीबतो के काले बादल मँडराया करते थे।

उपर्युक्त परिस्थिति मे विचारको के सामने कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। पहली यह कि सामाजिक सगठन किस ढग का हो जिससे लोग शान्ति और सुख का जीवन व्यतीत कर सके। दूसरी यह कि उस आदर्श समाज की रचना के क्या लक्षण और साधन होने चाहिए। तीसरी यह कि मनुष्यो के आपस मे क्या कर्तव्य है और उनका समाज तथा प्रकृति से क्या सम्बन्ध है? चीनियो की ये समस्याएँ लौकिक थी, पारलौकिक नहीं, और उनके समाधान के लिए लौकिक साधन ही आवश्यक थे। लौकिक ज्ञान का मापदण्ड प्राकृतिक सृष्टि की व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। प्रकृति निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका व्यापार व्यवस्थित है उसके नियम स्थायी रूप से विभिन्न क्षेत्रो मे काम करते रहते हैं। इसीलिए प्रकृति मे अन्योन्याश्रयिता और सहयोग का नियम अबाध रूप से काम करता है। अत. प्रकृति को ही शिक्षक और गुरु मानना चाहिए। चीनियो का यह भी विश्वास था कि प्रकृति और उसके अवयव एकदम जड नहीं है, वे सब अनुप्राणित है। हर एक हिस्से का अपना-अपना प्राण, तेज तथा स्थान है। उन सब मे सामजस्य तथा सहयोग की स्थापना एक विश्वात्मा द्वारा होती है जिसकी अपनी विशिष्ट

सत्ता है और जिसे चीनी त इ एन अथवा शांग तो कहते थे। सृष्टि रूपी प्राकृतिक साम्राज्य का वही अधिष्ठाता और सम्राट् है। उसका प्रतीक आकाश है जो सारे प्राकृतिक जगत् को घेरे हुए है और जिसकी गोद में सारा प्राकृतिक व्यापार व्यवस्थित ढग से चल रहा है। साधारण लोग तो विशिष्ट व्यक्ति के रूप मे उसकी कल्पना करते होगे, किन्तु शिक्षित विचारक उसको एक व्यापक सत्ता अथवा व्यापक तत्त्व मानते थे। वह तत्त्व व्यापक होने पर भी अपनी स्पष्ट एकाकी स्वतन्त्र सत्ता रखता था। अन्य देवताओं की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता त इ एन जैसी थी। प्रकृति की विभिन्न शक्तियो और उपर्युक्त सर्वव्यापक तत्त्व के अनुकूल मानव समाज की रचना होने से सर्वोदय, शान्ति, सुख की स्थापना हो सकती है। समाज का प्रत्येक अंग और व्यक्ति अपनी-अपनी सीमा अथवा परिधि में अपने स्थान के अनुकूल अपना कर्तव्य पालन करे तो मानव समाज के श्रेय और प्रेय के लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

चीनियो का विश्वास था कि मनुष्य का व्यक्तित्व मृत्यु के वाद भी कायम रहता है और उस व्यक्तित्व को भी सुख और दुःख का अनुभव होता है। उसकी भी मानव समाज की ही नही, वरन् अपने-अपने वैयक्तिक कुल, वश, कुटुम्ब और परिवार की भलाई मे सक्रिय दिलचस्पी रहती है। उसकी बुराई से उसको वेदना होती है। अतः उसका आशीर्वाद और सहयोग प्राप्त करने के लिए उसको प्रसन्न रखना उसके परिवार वालो का आवश्यक कर्तव्य है। चीनियो का यह विश्वास जीवित लोगों का दिवगत लोगो से अथवा यो कहिए कि मृत्यु लोक का पितृलोक के साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित करता था। इसीलिए चीनियो की अपने पूर्वजो और पुरखो में सदा वडी श्रद्धा रही है।

प्राकृतिक शक्तियो तथा पूर्वजो को स्वानुकूल रखने और उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए दो वातो की आवश्यकता मानी जाती थी। पहिली यह कि समाज का सगठन प्रकृति के प्रतिरूप होना चाहिए। समाज के प्रत्येक अग अथवा व्यक्ति को अपनी-अपनी परिधि मे अपने निर्दिष्ट कर्तव्यो का पालन श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। दूसरी यह कि प्रकृति की शक्तियो तथा पूर्वजो को स्वानुकूल वनाये रखने और उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए श्रद्धा एव विधिपूर्वक यजन-याजन, कर्मकाण्ड और सस्कार आदि करने चाहिए। पूर्वजो के निर्दिष्ट विधिनिषेध मार्ग का अनुकरण श्रद्धापूर्वक करना सफलता का एकमात्र साधन है।

उपर्युक्त सक्षिप्त वर्णन से यह अनुमान किया जा सकता है कि चीनियो और भारत के आर्यो के विश्वासो मे पर्याप्त मूलगत समानता है। उनकी विश्वात्मा,

दैविक शक्तियो तथा पितृलोक की कल्पनाएँ, मानव-जगत् का उनसे सम्बन्ध, पारस्परिक सहयोग, यज्ञादि, आचार-विचार सम्बन्धी विचारधाराएँ परम्परागत नीति-रीति के निर्वाह, व्यक्ति के कुटुम्ब, वंश और कुल से सम्बन्ध, श्रद्धा, विनय तथा शिष्टाचार की कल्पनाएँ आदि सब बाते परस्पर मिलती-जुलती है। ऐसा जान पडता है कि या तो अति पुरातन काल मे, जब उनके मूल पुरुप मध्य एशिया अथवा तिब्बत मे रहते थे, परस्पर दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा या दोनो को एक ही सस्कृति के कोप से अपनी-अपनी विचार थाती प्राप्त हुई होगी। इस अनुमान में सत्य की सम्भावना किसी अश तक है, किन्तु पर्याप्त प्रमाणो के अभाव मे दृढतापूर्वक कुछ कहना अभी सम्भव नहीं। उपर्युक्त समानताओ के रहते हुए भी कुछ विचारणीय और गम्भीर विभिन्नताएँ भी प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि वैदिक विचारको मे यह विश्वास था कि सर्वोपरि दैविक सत्य मे ईश्वरत्व का गुण स्वभाव से है जिससे प्रेरित होकर वह सृष्टि की रचना करता है जिसमे जड-जगम, देव तथा मानव जगत् आदि सब कुछ है। वह सर्वव्यापक ही नही, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। उसी के इच्छानुकूल विश्व का सारा व्यापार चलता है। मनुष्य के उपकार के लिए उसी ने आवश्यक कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान वेदो के रूप मे अवतरित किया। उसकी आज्ञाओ के प्रतिपालन से मनुष्य का ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो सकता है। दूसरी बात यह कि चीनी सस्कृति का ध्येय मुख्यत. लौकिक ही रहा, किन्तु भारत की सस्कृति का प्रवाह धीरे-धीरे पारलौकिकता की ओर हो गया। लोक की ओर से विरक्त होकर आध्यात्मिकता की ओर भारतीयो की प्रवृत्ति बढती चली गयी। तीसरी बात यह कि चीन मे पुरोहितो अथवा याज्ञिको की विशेप श्रेणी या वर्ग न था, किन्तु भारत के वर्ण-धर्म मे उन्हे विशिष्ट स्थान बाद को दिया गया। यद्यपि समानता और असमानता के बहुत-से अन्य रोचक विपय भी है, किन्तु उनके विस्तार के लिए यहाँ स्थानाभाव है।

चीनियो के सिद्धान्त के अनुसार शक्तियाँ दो प्रकार की है, अधिकतर उपकारी और कुछ अनिष्टकारी भी। उन शक्तियों के प्रतीक बनाकर वे उनको प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। वहाँ गृह-देवता, ग्राम या नगर के देवता तथा कुल-वश-देवता के सिवा अनेकानेक देवता विभिन्न क्षेत्रो, कार्यों और अवसरो के लिए प्रतिष्ठित थे। देवताओ के लिए देवालय, वेदियाँ, विशेप स्थान आदि स्थापित कर दिये गये थे। हर एक प्रान्त और स्थान के अपने-अपने देवता थे। त इ एन का पूजन और उसके निमित्त यज्ञादि कृत्य एक ऊँचे विशाल खुले हुए चबूतरे पर प्रायः राजा ही करता था।

त इ एन के मित्रा व्योम, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारक, राशि, पृथ्वी, वायु, अग्नि, वर्षा, मेघ, जल, पर्वत, खेती आदि के अनेकानेक देवता थे। बहुतो के लिए देवालय बने हुए थे और अन्यों के लिए स्थान, वेदियाँ आदि बना दी गयी थी। सबसे कुतूहलवर्धक वे देवालय थे जिनमे साहित्य देवता, संस्कृति देवता, विधान के देवता, प्रतिष्ठित विचारक तथा प्रख्यात सेनापति, नेता, शहीद आदि प्रतिष्ठित कर दिये जाते थे और उनका भी पूजन किया जाता था। अनिष्टकारी शक्तियो को भी आलयो म प्रतिष्ठित किया जाता था क्योकि उनकी भी तुष्टि करना आवश्यक था। कभी-कभी मन्दिरो मे पाठशाला अथवा न्यायालय के लिए भी स्थान बना दिया जाता था।

सुगन्धित द्रव्य तथा धूपदीप से तथा विविध प्रकार के बलिदानो द्वारा जिनमे भोज्य और पेय तथा पशु और नरबलि भी शामिल थी, देवताओ का पूजन होता था। पूजन मे यज्ञ, मन्त्रपाट, स्तुति के अलावा गाने-बजाने का भी सिलसिला रहता था। अनेक प्रकार के आसनो द्वारा वन्दना की जाती थी।

चीन के धार्मिक विधान मे कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ मिलती है। पहली यह कि उनके धार्मिक विचारो मे जटिलता अथवा मनोवृत्ति मे असहिष्णुता या कट्टरपन नही पाया जाता। सब सम्प्रदायों के प्रति उनके भाव उदार थे जिससे उनकी धारणाएँ बहुमुखी और मिश्रित रही। दूसरी यह कि उनमें पुरोहितो अथवा धर्माधिकारियों का कोई विशेष वर्ग अथवा वंशानुगत श्रेणी न थी। तीसरी यह कि शिष्टाचार और यज्ञादि पूजन-विधान की विविध क्रियाओ एव विधियो के अक्षरशः पालन पर बहुत जोर दिया गया। कर्तव्याकर्तव्य तथा नैतिकता का भाव उनके धर्म का मुख्याधार गिना जाता था। उसकी सहायता से वे व्यवस्थित ही नही, वरन् आदर्श समाज का निर्माण करने का प्रयत्न करते रहे। चौथी यह कि पूर्वजो, गुरुजनो और बडे-बूढ़ो के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा रही। उनका सम्मान करना और उनके अनुशासन का प्रतिपालन करना कुटुम्ब, समाज तथा लोक-कल्याण के लिए अनिवार्य गिना जाता था। फलतः सहानुभूति, सुहृद्भाव, वफादारी, निर्मल व्यवहार आदि गुणो को सामाजिक जीवन में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। पाँचवी यह कि राजनीतिक और व ्मिक संगठनो मे भिन्नता न होने के कारण उनमें पारस्परिक संघर्ष होने का प्रश्न ही नही उठता था।

चीन मे एक सम्प्रदाय दैवज्ञो अथवा शकुनज्ञानियों का था जो विविध प्रकार की रेखाओ पर विचार करके भविष्य बतलाता था। उसका विश्वास था कि बिन्दु या तो एक साथ सटे होते है जिससे लकीर बन जाती है या पृथक्-पृथक् होते है जिससे

रेखा टूट जाती है। उनके भेदों और प्रभेदों का विचार कर उन्होंने चौंसठ छः कोने वाले चक्र बनाये जो विश्व के सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन करने मे समर्थ समझे गये। भग्न रेखा स्त्रीलिंग, अकर्मण्यता, सहिष्णुता तथा आधीनता की और सीधी लकीर पुल्लिंग, सकर्मता और सबलता की प्रतीक मानी गयी। इन्हीं दोनों के अगणित संयोजन और वियोजन अथवा योगायोग से विश्व का सब व्यापार चलता बताया गया क्योंकि उन्हीं में विश्व की जड़ छिपी हुई थी। आकाश और पृथ्वी जिन्हें चीनी ऐंग और यिन कहते हैं क्रमशः पुल्लिंग और स्त्रीलिंग बताये गये।

यद्यपि चतुर्थ शती में विदेशियों की सत्ता के कारण कनफ्यूसिअस तथा लाओत्से के मतों की अवनति हो गयी थी तथापि बौद्ध धर्म ने चीन में उन्नति की। उसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि चीनियों का शिष्ट और शिक्षित वर्ग जो उपर्युक्त चीनी विचारकों का अनुयायी था, बौद्धों को निम्न श्रेणी का समझता था। फलतः चीनी बौद्ध मध्य और निम्न श्रेणी में मिलकर काम करने लगे। महायानी बौद्धों ने चीनियों को मनुष्य की मरणोपरान्त गति और कर्मानुसार फल का सिद्धान्त सिखाया। लोगों को यह आश्वासन हुआ कि अन्यायी को अन्ततोगत्वा दंड और दलितों का उद्धार होगा। यह विचार चीन की दलित और पीड़ित जनता को धर्य और आशा का सम्बल प्रतीत हुआ जिससे वह प्रभावित हो गयी। इसके सिवा बौद्धों के विहार, व्यापारियों के लिए बैंक, मालगोदाम एवं क्रय-विक्रय के स्थान भी बन गये। व्यापारियों की सहानुभूति पाकर विहारों को धन और भूमि प्राप्त होने लगी। अपनी जमीन पर बसने वाले लोगों से बौद्धों ने अन्यों की अपेक्षा अच्छा बर्ताव किया। यदि असली चीनियों के हाथ में राजसत्ता होती तो शायद बौद्धों को उतनी सुविधा या अच्छा अवसर न मिलता। किन्तु हूणों, तुर्कों और तिब्बतियों को बौद्धों के कामों में अधिक दिलचस्पी न होने के कारण उन्होंने उनके रास्ते में कोई बाधा न डाली और वे फूलते-फलते रहे। यही नहीं, चीनियों की राज्य के प्रति उदासीनता के कारण उन्होंने शिक्षित बौद्धों मे से ही राजकर्मचारी नियुक्त किये जिससे बौद्धों का महत्त्व और भी बढ़ गया और अपने मत के प्रचार करने का अमूल्य अवसर भी उन्हें प्राप्त हो गया। खोतान बौद्धों के धर्म का बड़ा केन्द्र बन गया।

पाँचवी शती के दूसरे चरण में तोबा वंश ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया जिससे चीनियों का महत्त्व बढ़ता गया। किन्तु तोबा सम्राट् ने बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग दिखाया जिससे चीनी भी अधिकाधिक उस ओर झुकने लगे। बौद्धों ने सम्राट् को अवतारी होने की प्रतिष्ठा दी जिससे उसे ईश्वरत्व की प्रभा उसी प्रकार

प्राप्त हुई जैसी कि चीनियो के देवपुत्र की कल्पना द्वारा हुई थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि चीन मे बौद्ध धर्म भारतीय बौद्ध धर्म से बहुत कुछ भिन्न हो गया था। उसने श्रमणो तथा चीनियो के सिद्धान्तो से लेकर जादू, टोना, आदि अनेक विश्वासो को आत्मसात् कर लिया था। अतएव चीन मे इस धर्म का प्रचार करने की उनको अधिक सुविधा भी हो गयी।

कन्फ्यूसिअस (५५१ से ४७९ ई० पू० तक)

ससार के इतिहास मे छठी शती ई० पू० का विशेष महत्त्व है। उस युग मे भारत, फारस तथा यूनान आदि सभी देशो मे बड़े-बडे महात्मा और विचारक प्रकट हुए। चीन के सन्त कनफ्यूसिअस का भी उन महात्माओ मे ऊँचा स्थान है। किंवदन्ती है कि लू शान्तुग प्रान्त मे चीन के प्रसिद्ध सम्राट् ह्वाग ती के वंश मे उनका जन्म हुआ था। जब वह तीन वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। अत: वृद्धा माता के पोषण के लिए उन्हे विद्याध्ययन के साथ-साथ धनोपार्जन के लिए भी परिश्रम करना पड़ता था। उन्नीस वर्ष की उम्र मे उनका विवाह हुआ तथा एक पुत्र भी हुआ। कहा जाता है कि चार वर्ष के बाद उनका वैवाहिक सम्बन्ध टूट गया। बाईस वर्ष मे उन्होने अपना स्वतन्त्र विद्यालय स्थापित कर इतिहास, काव्य तथा सदाचार की शिक्षा देना शुरू कर दी। धीरे-धीरे तीन सहस्र विद्यार्थियों को उन्होने शिक्षित किया। यद्यपि कन्फ्यूसिअस को उन्नति की आकाक्षा थी तथापि वह किसी की कृपा के अभिलाषी नही रहे, अपितु स्वतन्त्र प्रवृत्ति के ही रहे। तीस वर्ष तक शिक्षा देने के बाद वह एक नगर के मजिस्ट्रेट नियुक्त किये गये (५०१ ई० पू०)। वहाँ से बढ़ते-बढते मन्त्री के पद तक पहुँच गये। कहा जाता है कि प्रत्येक स्थिति मे उनका आचरण एवं शासन शुद्ध, न्यायमूलक एव आदर्श था। जब कभी वह अपने स्वामी को आचार-भ्रष्ट पाते तब उसकी नौकरी छोडकर अन्यत्र चले जाते थे। तेरह वर्ष तक वह इधर-उधर भ्रमण करते रहे, अपमान भी सहते रहे किन्तु अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष उन्होने साहित्य, इतिहास तथा दर्शनो की रचना मे व्यतीत किये। कनफ्यूसिअस ने नौ प्रामाणिक ग्रन्थो की रचना की जिनका सम्मान चीन मे ही नही, वरन् ससार मे आज तक होता आया है। तेहत्तर वर्ष की आयु मे उनका देहावसान हो गया। तब तक उन्हे अपने देशवासियो का चरम आदर तथा अभूतपूर्व सम्मान प्राप्त हो चुका था।

कनफ्यूसिअस की धारणा थी कि चीन के पुरातन युग मे लोगों का जीवन

और उनके आचार-विचार आदर्श थे। तदनुकूल आचरण करने से सर्वथा कल्याण की आशा की जा सकती है। शिष्टाचार में ही समाज दृढ़, दीर्घजीवी और सुखी हो सकता है, अन्यथा दुखी होकर नष्ट हो जाता है। पूर्वजों का सम्मान, आराधन और अनुकरण मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। कनफ्यूसिअस का विचार था कि सम्राट्, सामन्त, कर्मचारी, शिक्षित जन, कृपक तथा मजदूरों को चाहिए कि अपने-अपने वर्ग में रहकर अपना-अपना कर्तव्य करते रहे। उसी में सबका कल्याण है। किसी भी वर्ग अथवा व्यक्ति को वह जन्मना ऊँचा-नीचा नहीं मानते थे। सबका अपना-अपना स्थान और महत्त्व समझते थे। उनके विचार से अपनी परिधि मे रहकर कर्तव्य पालन करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य था, तथा वर्गानुसार कर्तव्य करना ही धर्म। वर्ग की मर्यादा को तोडने और वर्गो को तोड़-फोडकर व्यतिक्रमण करने से सामाजिक व्यवस्था विगड़ जाती है जिससे क्लेश और अन्त मे विनाश हो जाता है। उनके इस सिद्धान्त से यह न समझना चाहिए कि वह अव्यवस्थित, अनियंत्रित, स्वेच्छाचारी या अत्याचारी सामाजिक विधान या शासन के पोपक थे। वास्तव में वह उसके विरोधी थे। उनके कथन का साराश यह था कि जहाँ व्यक्ति अथवा वर्ग अपनी मर्यादा के अनुकूल आचरण करते हैं वहाँ जीवन मधुर, सुखी और शान्त होता है। वह सरल एव स्वाभाविक जीवन के पक्ष में यहाँ तक थे कि रहन-सहन के अलावा वोलने-लिखने-पढ़ने में भी सरल स्पष्ट भापा का प्रयोग कृत्रिम शैली की अपेक्षा श्रेष्ठ समझते थे। उनके मत में अपने गुणों और कर्मो के अनुसार बिना उपद्रव अथवा क्रान्ति के कोई भी व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे में जा सकता है, पर जहाँ कही भी वह हो उसे उस वर्ग के कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

कनफ्यूसिअस ने किसी नवीन धर्म या दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचार नही किया। जीव मृत्यु, अलौकिक शक्तियो आदि विषयक ऊहापोह से वह बचते रहते थे। किन्तु उनका विश्वास था कि अनेकता में एक गम्भीर एकता निहित है। उसका समझना और जीवन में स्थापन करना शिक्षा-दीक्षा का मुख्य ध्येय है। प्रत्येक व्यक्ति को समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। कौटुम्विक जीवन मे ही उसकी साधना हो सकती है। मनुप्य की सफलता समाज के द्वारा हो सकती है, विलग होकर नही। समाज या राष्ट्र भी तो अन्ततोगत्वा कुटुम्ब का ही एक विशाल रूप है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति आचार और कर्तव्य का शुद्ध भाव से प्रतिपालन करे तो निश्चय ही समाज और राष्ट्र सुखी तथा समृद्धिशाली हो सकता है। मनुष्य को वौद्धिक ज्ञान से अधिक आचरण की आवश्यकता है। अतएव प्रत्येक

व्यक्ति को छोटी-छोटी बातो जैसे उठना-बैठना, बोलना-चालना, खाना-पीना, पहनना, चलना-फिरना आदि मे भी शिष्टाचार का ध्यान रखना आवश्यक है। कर्तव्य के यथार्थ पालन मे ही अधिकार की रक्षा होती है। कनफ्यूसिअस यद्यपि शान्तिप्रिय थे तथापि आवश्यकता पडने पर बल के प्रयोग के वह विरोधी न थे। फिर भी उनकी धारणा थी कि नैतिक बल के सामने शस्त्रास्त्र बल अन्ततोगत्वा नही चल सकता, किन्तु नैतिक बल की आधार शिला दृढ विश्वास, निष्ठा, शुद्धाचरण और सहिष्णुता है।

चीन में पुरातन काल से 'ताओ' की कल्पना चली आती थी। कनफ्यूसिअस के समय मे उसका अर्थ था 'मार्ग' यानी 'आचरण का पथ'। आगे चलकर उस शब्द की परिभाषा बदलती गयी। कनफ्यूसिअस की धारणा के अनुसार 'ताओ' का ध्येय आचरण द्वारा सफलता की ओर जाना था जिससे इसी जीवन मे सुख प्राप्त हो सकता है। व्यक्ति के सम्बन्ध मे उसका चरम लक्ष्य था नैतिक सदाचार। समाज के सम्बन्ध में वही लक्ष्य था न्याय तथा सदाचारपूर्ण विधान। दोनो स्थितियो मे वह सहानुभूति तथा प्रेमसहित कर्म-मार्ग पर चलने का प्रतिपादन करते थे। उन्हे ज्ञान की उतनी आवश्यकता न थी। वह सत्ता की नही, वरन् सिद्धान्त की, निष्ठा के साथ उपासना तथा सेवा करना सिखाते थे। कनफ्यूसिअस ने देव (व्योम) शब्द का भी प्रयोग किया है। उससे उनका अभिप्राय चीनियो के प्रमुख देव तत्त्व से था जो अशरीरी होते हुए भी सदाचार, न्याय और विश्वबन्धुत्व पर आरूढ व्यक्ति अथवा समाज की सदैव सहायता करता है। कनफ्यूसिअस ऐहिक जीवन को सार्थक और सफल बनाना ही परम धर्म समझते थे। पारलौकिक चिन्तन मे उनकी कोई दिलचस्पी न थी और न उस प्रसग को उन्होने कही भी उठाने का प्रयत्न किया। उनकी राय मे जो सिद्धान्त विश्व मे स्थापित है और जिससे प्रकृति का नियन्त्रण होता है वही मनुष्य तथा समाज पर लागू है। अतः सामाजिक विधान चाहे वह धार्मिक हो अथवा राजनीतिक उसी सिद्धान्त का प्रतिरूप है। इस धारणा के अनुकूल सम्राट् का स्थान दैव (तिएन) का है। मन्त्री आदि अन्य सत्ताओ और कर्मचारियो का स्थान विश्व व्यापार के अनुरूप है और उनका वह स्थान और कर्तव्य निश्चित है। जो कुछ इस लोक मे है सत्य है। इसमे किसी निहित रहस्य की कल्पना भ्रमात्मक वितण्डा है। इसलिए समाज अथवा शासन का मुख्य ध्येय मनुष्य को सुखी रखने के सिवा अन्य कुछ नही हो सकता। ताओ को छोडने से हानि के सिवा कोई भी लाभ नही है। जब कभी कही भी अव्यवस्था, अनाचार, अत्याचार या दुराचार दिखाई पडे तब यही समझना

चाहिए कि ताओ का उल्लंघन हो रहा है और उस पर यथाशीघ्र फिर आरूढ़ हो जाने की आवश्यकता है, अन्यथा विनाश अवश्यम्भावी होगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव-जीवन को भली-भाति समझना ही बुद्धिमत्ता है। प्रेमसाधना ही सदाचरण का मुख्य लक्षण है।

लाओत्जे (६०४ ई० पू०)

कुछ लोग कहते है कि लाओत्जे एक कल्पित प्रतीक है, व्यक्ति नहीं। अधिक लोगो का विचार है कि उसका जन्म होनान प्रान्त मे ६०४ ई० पू० एक गरीब घर मे हुआ था। वह कनफ्यूसिअस का समकालीन और चोऊ साम्राज्य के पुस्तकालय का अध्यक्ष था। उसका नाम एह्ल, उपनाम 'तन' और वश ली था। वह चू राज्य का निवासी था। यद्यपि उसकी विचारधारा भिन्न थी तथापि कनफ्यूसिअस उसका आदर करते थे। लाओत्जे ने सम्भवतः सबसे पहले 'ताओ' का उल्लेख किया। उससे उसका आशय था कि मनुष्य विश्वतत्त्व का जिससे ससार व्यवस्थित ढग से चल रहा है, फिर आश्रय ले। उसने ताओ विचार का सूत्रपात मोटे तौर पर किया था। उसके सिद्धान्त मे वस्तु-स्थिति और आदर्श मे भेद करना भारी भूल थी। जो कुछ है वही तथ्य है। मनुष्यो ने अपनी अल्प बुद्धि और विधानो के आधार पर अच्छा-बुरा घोषित कर प्राकृतिक जीवन के स्वाभाविक और सरल प्रवाह को दूषित कर दिया है और वे उसी भँवर मे उछलते-तैरते हैं। दोष से मुक्त होने पर प्रवाह स्वाभाविक रूप से चलने लगेगा। अपनी चेष्टा और प्रयत्न को छोड़कर यदि मनुष्य निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाय तो सब बाधाएँ आप-से-आप विलीन हो जायेगी।

'ताओ' विश्व का मूल तत्त्व है, किन्तु उससे दो तत्त्व उत्पन्न होते है जिनकी सृष्टि के प्रवाह के लिए आवश्यकता है। एक तत्त्व है 'यंग' और दूसरा है 'यिन'। 'यग' द्योतक है प्रकाश, पुरुषत्व तथा सक्रियता का और अन्धकार, निष्क्रियता तथा स्त्रीत्व का द्योतक है 'यिन'। इन दोनो तत्त्वो की उत्पत्ति मूल तत्त्व 'ताओ' से ही हुई है अतः सिद्धान्तानुसार असली सत्ता तो एक ही है। इस विषय का सूक्ष्म विवेचन इ चिग अर्थात् 'परिवर्तन' (विवर्तन) की पुस्तक मे किया गया है। कनफ्यूसिअस तथा अन्य चीनी विद्वान् तो उसका महत्त्व मानते ही है, आधुनिक मनोविज्ञानी युग का भी कथन है कि उक्त ग्रन्थ में चीनियो की सस्कृति का सार पाया जाता है। आधुनिक यूरोपीय परिभाषा मे उसके प्रतिपाद्य विषय के लिए 'साइकिक पैरेललिज्म' नाम उपयुक्त है।

इन सिद्धान्तों का विशिष्ट विवेचक त्सोऊ एन, ह्वानयुग में च इ राज्य का निवासी था। उसका मत था कि उपर्युक्त दोनों तत्त्वो के पारस्परिक व्यवहार से ही विश्व में परिवर्तन होता रहता है, ऋतुएँ बदलती रहती हैं और प्रकृति एव मनुष्य पर प्रभाव डालती हैं।

लाओत्जे ने उससे एक बार कहा कि पूर्वजो की अस्थियाँ गल-सड़ गयी, उनके शब्द-मात्र रह गये हैं। उनके आचारो तथा व्यवहारो के कल्पित चित्रो के पीछे दौडना मरु-मरीचिका का अनुसरण करना है। जीवन को कृत्रिम विधान पर चलाने से विशेष लाभ नही। उसका निर्माण प्रकृति के सिद्धान्त पर होना चाहिए। प्रकृति के नियम के लिए उसने 'ताओ' शब्द का प्रयोग किया। ताओ अनादि काल से अनन्त काल तक अक्षुण्णरूपेण चलता रहता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष सभी व्यापार उसी के प्रसार मात्र रहे हैं और रहेंगे। उसके अनुकूल जो कुछ है वह सफल और प्रतिकूल विफल होगा। जिस प्रकार जड़-जगम उसके प्रभाव से चल रहे वैसे ही मनुष्यों को भी उसी प्रवाह मे अपने को छोड देना चाहिए। उसके प्रवाह को रोकना सरासर मूर्खता ही नही, वरन् अनिष्टकारक है। मनुष्य जब अपनी बुद्धि और ज्ञान-विज्ञान, विधान का सहारा लेता है तभी वह ताओ से बहक कर भटकने और बिखरने लगता है। ज्ञान, कर्म, इच्छा, सम्पत्ति, पद, इन्द्रियो के सुख और दु ख, जीवन-मरण सब सारहीन विडम्बना मात्र है। वे सब स्वप्न के सदृश मिथ्या है। यदि धर्म, शास्त्र, ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार, स्वार्थ और परमार्थ की आकाक्षाओ के काल्पनिक भँवरजाल मे न फँसकर 'ताओ' के प्रवाह को स्वाभाविक प्रवाह में चलने दिया जाय तो फिर न तो कोई समस्या ही रहेगी और न किसी आवश्यकता की पूर्ति का ही प्रश्न रहेगा। समस्याएँ तथा आवश्यकताएँ भ्रमात्मक कल्पनाएँ हैं, फलतः उनकी पूर्ति या अपूर्ति भी स्वप्नवत् नि सार है। प्रकृति के स्वर मे स्वर मिलाकर, ताओ से सगति जमाकर, प्रकृति का प्रवाह चलने दिया जाय। शान्ति और कल्याण का यही नैसर्गिक मार्ग है। सुख उसी मे है। लाओत्जे का सिद्धान्त इतना सूक्ष्म और गूढ़ है कि व्यवहार मे उसको लाना असभव-सा है। वह समाज शासन, सगठन, विधि-निषेध को अमगलकारी कहता था। अत्यन्त क्रान्तिकारी होने के कारण उसके मत का चीन के बाहर प्रचार सम्भव न हो सका। चीन मे भी वह एक सकुचित सम्प्रदाय के समान अविकसित ही रह गया। व्यवहार का विषय न होकर वह विश्वास का ही विषय बना रहा। अलौकिक कल्पनाओ से आवेष्टित होने के कारण कालान्तर मे वह गुप्त रहस्यात्मक भाव बन गया जिससे

अन्ततोगत्वा वह अव्यवस्थित, विलक्षण और विचित्र विचारों का एक चों-चों का मुरब्बा मात्र बन गया। हान युग मे बौद्ध धर्म के सम्पर्क से उसका प्रचार हुआ जिसमे सिद्धों तथा मौनी बाबाओ की भरमार और मठों की स्थापना हो गयी। लाओत्जे ने 'ताओ' और 'त' विपयक दो भागो के एक ग्रन्थ की रचना की। कहा जाता है कि उसकी मृत्यु सत्तासी वर्ष की आयु में हुई।

मो ती (४५० ई० पू० ?)

तीसरा उल्लेखनीय दार्शनिक मो ती है जिसका कार्यकाल ई०पू० पाँचवी शती के अन्तिम दशको से लेकर चतुर्थ शती के आठवे दशक तक होना अनुमान किया जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि वह भी कनफ्यूसिअस का कनिष्ट समकालीन था। कहा जाता है कि सुंग राज्य के सैनिक विभाग में वह रक्षा मन्त्री और एक अर्थशास्त्र-विशेपज्ञ था। उसका मत था कि किसी भी कार्य अथवा योजना का उद्देश्य उसकी उपादेयता और लाभ पर आश्रित होना चाहिए। परम्परागत विधानों या सम्थाओं की सफलता का भी वही सिद्धान्त मापदण्ड हो सकता है। निसर्ग लीला अत्यन्त दुरूह तथा अगम्य है। उसी प्रकार अच्छे-बुरे की शाश्वत परिभापा भी या तो स्वरचित हो सकती है अथवा काल्पनिक। अतः उसका आश्रय ढूंढना युक्ति-संगत् नही प्रतीत होता। वस्तु की उपादेयता और उससे प्राप्य लाभ व्यावहारिक ही नहीं, अपितु इस परिवर्तनशील जगत् का वास्तविक प्राप्य सत्य है। मो ती की दूसरी धारणा यह थी कि सहानुभूति, सहयोग एव प्रेम का पूरा परिपाक कुटुम्ब या वंश मे नही हो सकता। वस्तुतः बिना विश्वबन्धुत्व के भाव के मनुष्य में प्रेम का प्रकाश अधूरा रहेगा। विश्वबन्धुता के भाव से कुटुम्ब, वंश, कुल आदि लाभ उठा सकते हैं। इसलिए उसकी साधना ही उचित और युक्तिसगत है। उसमें प्रेमी तथा प्रेमपात्र दोनो को लाभ होता है। अज्ञान तथा स्वार्थके कारण साधारण मनुष्य प्रेम के महत्त्व को नही समझ पाता। इसीलिए उसमें प्रेम भावना जगाने एव निष्ठा के साथ उस पर उसे आरूढ रखने के लिए प्रेममय तथा न्यायमूर्ति परमात्मा के प्रति धार्मिक चेतना जागृत करना चाहिए जिससे यह विश्वास हो जाय कि प्रेम का प्रसाद श्रेय है और उसकी अवहेलना का परिणाम किसी-न-किसी रूप मे दण्ड है। यही भावना पाप और पुण्य की रक्षा कर सकती है। केवल राज्यवर्धन अथवा अपहरण के लिए युद्ध छेडने का वह विरोधी था। मो ती के सिद्धान्त मे एक खास आपत्ति यह उठायी गयी कि वह व्यावहारिक ऐहिक

लाभ के साथ स्वार्थहीन प्रेम का सामंजस्य बैठाना चाहता है जो व्यवहारतः दुःसाध्य है।

मेसिअस अथवा मेंगत्जें (३७२ ई० पू०)

कनफ्यूसिअस के अनुयायियो में मेन्सिअस का अच्छा स्थान है। उसका विश्वास था कि मनुष्य जन्म से अच्छा होता है, किन्तु वह यह नही मानता कि वह सर्वदा अच्छा ही रहेगा और सत्य का प्रतिपालन करेगा। हाँ, यदि वह चाहे तो ऐसा कर भी सकता है और न चाहे तो उसकी उपेक्षा भी कर सकता है। उसकी राय में मनुष्य को विनयपूर्वक मध्य मार्ग का प्रतिपालन करना चाहिए। यदि राष्ट्र में मनुष्य मुख्य और शासक गौण है, यदि शासक जनता के हित की हानि करता है तो जनता को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। मेन्सिअस की दृष्टि में माता-पिता के प्रति आदर-सम्मान का भाव रखना सबके लिए आवश्यक है। पत्नी और राजा का भी स्थान उनसे उतरकर है।

मेन्सिअस की धारणा का कि मनुष्य प्रकृत्या अच्छा होता है ह्युनत्जे (मृ० २३५ ई० पू०) ने घोर विरोध किया। उसकी राय मे मनुष्य की प्रकृति दुष्ट होती है क्योंकि उसमे सम्पत्ति एकत्रित करने तथा प्रभुत्व प्राप्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है। राग, द्वेष, ईर्ष्या से दूर रख कर उसको ठीक रास्ते पर चलाने के लिए सिवाय कानून के बन्धन के कोई दूसरा उपाय नहीं है। सदाचार और शिष्टाचार की मर्यादाओं की परिभाषा और रक्षा कानून द्वारा ही हो सकती है।

उपर्युक्त दार्शनिक विचारों मे से कनफ्यूसिअस और मेन्सिअस के विचारो का चीन पर विशेष प्रभाव पडा। तो भी यह न समझना चाहिए कि अन्य विचारको के मतो का चीनियो ने परित्याग कर दिया। सभी सिद्धान्तो का चीन में कमोबेश आदर किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि साधारण लोगो मे उदारता, सहिष्णुता और गुणग्राहकता का सचार हुआ और साथ ही प्रत्येक मत का कुछ-न-कुछ सद्विचार उनकी विचार परम्परा मे मिला-जुला पाया जाता है।

बौद्ध धर्म के प्रचारक मध्य एशिया तथा अनाम तक पहुँच चुके थे। यह असम्भव नही कि वे ईसा की प्रथम शती से पहले ही चीन पहुंच गये हो किन्तु उत्तरकालीन हानवश के सम्राट् मिग ती ने एक विद्वान् सेनाध्यक्ष चि इन चिग को नियुक्त किया कि वह बौद्ध धर्म के ग्रन्थो और विद्वानो को भारत जाकर ले आये। दो वर्ष तक खोजने के बाद वह यूची (कुषाण) राज्य से कश्यप मातग और धर्मरक्षक को कुछ

बौद्ध ग्रन्थों के साथ ले गया। दोनों विद्वान मध्य भारत के निवासी थे। कठिनाइयां झेल कर भी धर्म प्रचारार्थ वे मध्य एशिया गये। वहां से चीनी सेनापति के साथ वे हान सम्राट् की राजधानी लोयांग पहुंचे (६८ ई०)। सम्राट् ने उनका आदर-सत्कार किया और उनके रहने के लिए श्वेत अश्व नामक एक विहार बनवा दिया। काश्यप ने एक और धर्मरक्ष ने पांच बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिनमें बुद्ध-चरित्र, जातक, धर्म-समुद्र शामिल थे। आरम्भ में बौद्ध धर्म की ओर चीनी विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुए। उसको वे अपनी संस्कृति और विचारों से भिन्न समझते थे। इसका कारण सम्भवतः यह था कि चीनी जीवन की ओर से निराश न थे, उनके विश्वास के अनुसार जीवन न तो पाप ही है, न दुःख अथवा बन्धन ही, जिससे छुटकारा पाकर निर्वाण हो जाना चरम आदर्श हो। चीनियों के जगत् में स्वर्ग या आत्म-संसार की कल्पना नहीं थी। वे इसी लोक में जीवन को सन्तुष्ट और सुखी बनाने का प्रयत्न करते थे। भारतीय जीवन में चीनियों को अभाव था। नैतिक आदर्श तथा सदाचार के वे पक्षपाती न थे। यद्यपि ताओ सम्प्रदाय जीवन को अमर बनाने की चेष्टा करता था फिर भी कुछ लोग उसे 'ताओ' सम्प्रदाय से सम्बन्धित समझते थे। चीनी धर्मानुयायियों ने ताओ की विचारधारा का स्वागत किया क्योंकि बौद्ध धर्म में कुछ बातें उनके विचारों से मिलती थीं। उदाहरण के लिए दोनों धर्म सदाचार और विनय पर जोर देते थे। वैयक्तिक स्वार्थ-साधन के दोनों विरोधी और लोककल्याण के समर्थक थे। सृष्टि के कर्ता-धर्ता सर्वज्ञ, सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का इन धर्मों की कल्पना में कोई स्थान न था। चीनियों के अनुकूल विचारों के उपलब्ध होने के कारण बौद्ध धर्म के प्रति उनका विरोधात्मक भाव न था। वे लोग आरम्भ में बौद्ध धर्म को ताओ सम्प्रदाय से सम्बन्धित ही समझते थे।

धीरे-धीरे मध्य एशिया से बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, किन्तु उसका कोई सिलसिले-वार वृत्तान्त नहीं मिलता। केवल कहीं-कहीं झलक मिल जाती है। सन् १०० ई० का बना हुआ एक बौद्ध मन्दिर (चैत्य) लहुई नगर में मौजूद था। ईसा की दूसरी सदी में लोयांग में बौद्धों की संख्या बढ़ने तथा उनकी संस्थाएं खुलने का संकेत मिलता है।

कानून का मत

उपर्युक्त मतों के सिवा एक और उल्लेखनीय मत है जिसको कानून का मत

कह सकते हैं। उनके प्रचारको मे कुअनत्जे, शंगयंग और हान फ़ीइत्ज़े के नाम लिये जाते हैं। उनका कहना था कि मनुष्य स्वभावत: दुष्ट और अज्ञानी है, किन्तु उसमे सुधरने तथा ज्ञानोपार्जन करने की शक्ति है। इसीलिए उसका नियन्त्रण कानून द्वारा होना आवश्यक है। उनकी धारणा थी कि मनुष्य तो आते-जाते और बदलते रहते है, किन्तु कानून स्थिर रहता है। बिना कानून के समाज का बनना और चलना, भले-बुरे की पहचान तथा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होना असम्भव है। इसलिए व्यक्तियो का ध्यान छोडकर कानून का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। हाँ, समय-समय पर आवश्यकतानुसार कानून मे परिवर्तन अवश्य हो सकता है। इस सिद्धान्त म पहला दोप तो यह है कि वह ऐसे कानूनो की कल्पना करता है जो सर्वथा अच्छे और अटल हो। मनुष्य ही कानून बनाते, बदलते, उनका प्रतिपालन अथवा उल्लंघन करते हैं। उनका प्रभाव और उनकी प्रतिक्रिया के महत्त्व की, कानून वालो का मत अवहेलना करता है। यह कहना कि बुरे कानून भी कानूनो के एकान्त अभाव मे अच्छे हैं सर्वथा चिन्त्य और भ्रमात्मक है। उस मत का विशेष महत्त्व केवल इतना हो सकता है कि वह कानून के राज्य की बनिस्बत व्यक्तियो के राज्य को अच्छा मानता हे।

इस प्रसग मे यह भी जानना आवश्यक है कि प्राचीन चीन मे प्रकृतिवादियो का भी एक मत था जिसका अच्छी तरह विकास नही हो पाया। इस मत के प्रचारक का नाम त्सूयेन हे जो शान्यग का निवासी था। उसके अनुसार काष्ठ, अग्नि, मिट्टी, जल और धातु ये पाँच मुख्य तत्त्व हैं जिनके उलट-फेर से उत्पत्ति तथा विनाश की विभिन्न व्यवस्थाएँ होती रहती हैं। भू-मण्डल मे केवल एक ही महाद्वीप नही हे जिसके अन्तर्गत चीन हे। उसमे नौ महाद्वीप हैं जिनके मध्य मे एक विशाल पर्वत है। सृष्टि तथा संहार के सिद्धान्त को उसने ज्योतिप तथा राजनीति के क्षेत्र मे लागू बनाकर उसकी सत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

कनफ्यूसिअस तथा मो ती के सिद्धान्तों का घोर विरोधक यग चू (३९०ई०) हुआ। उसका मत था कि मनुष्य का जीवन ही दूषित और व्यर्थ है। अत: यही ठीक जान पडता है कि उसमे जहाँ तक सम्भव हो सके सुख की अनुभूति प्राप्त की जाय। उसके साधन में किसी अन्य के विचारो और भावनाओं का लिहाज न करना चाहिए। प्रशसा अथवा निन्दा से अन्त मे व्यक्ति को कोई लाभ नही होता, सभवत: हानि ही होती है। ये केवल नि.सार शब्द-मात्र हैं। अपनी इच्छाओ, अभिलापाओ, आकांक्षाओं, वासनाओं की यथाशक्ति और यथासाध्य इसी लोक मे पूर्ति कर सुख

प्राप्त करना ही समझदार मनुष्य का कर्तव्य है। कहने-सुनने वाले जो चाहे कहें सुनें। इस मत की भारत के चार्वाक के मत से बहुत कुछ पटरी बैठती है।

तृतीय शती ई० तक बौद्ध धर्म ने चीन में काफी प्रभाव जमा लिया था। उसके प्रचारक भारत के सिवा सीलोन, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान से भी गये थे। भारतीय विद्वानों में 'प्राप्ति-मोक्ष सूत्र' के अनुवादक धर्मकल (२५०ई०), योगाचारी, श्रीमित्र (३०७ ई०), नागार्जुन-मत-प्रचारक प्रकाण्ड विद्वान् कुमारजीव (३४४—४१३) आदि थे। बौद्ध धर्म की हीनयान तथा महायान शाखाओं के अनेकानेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। सैकड़ों विहारों और चैत्यों की स्थापना हुई और बौद्ध धर्म, विशेषतः उसकी महायान शाखा ने चीन में शीघ्रता से उन्नति करना आरम्भ कर दिया। चीनियों में भी बौद्ध धर्म के अच्छे-अच्छे विद्वान् उत्पन्न हो गये। सिन वंश के राजत्व काल में (२६५—४२० ई०) बौद्ध धर्म को राज्य की ओर से काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। साधारण लोगों तथा विद्वानों के सिवा चीन के कुछ राजे भी बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर प्रचार कार्य करने लगे। उनमें से लिअंग वू ती का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। स्वयं प्रवचन करने के सिवा उसने बौद्ध धर्म के त्रिपिटकों के चीनी रूपान्तरों का संग्रह कराया। अहिंसा के सिद्धान्त से प्रेरित होकर पशु बलि बन्द करने की आज्ञा भी उसने प्रचारित की। वह स्वयं मांस तक न खाता था। उसके सिवा कई अन्य सम्राटों ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में उत्साह दिखाया। दक्षिणी चीन में भी जोरों के साथ प्रचार होता रहा। वहाँ की राजधानी नानकिंग में सात सौ चैत्य थे और सहस्रों बौद्ध रहते थे। चतुर्थ शती के समाप्त होने तक पश्चिमोत्तर चीन के नब्बे प्रतिशत निवासी बौद्ध-धर्मानुयायी हो गये थे।

बौद्ध धर्म के कारण भारत की संस्कृति का चीन पर भारी प्रभाव पड़ा। यद्यपि चीनियों ने उसमें ताओ, कनफ्यूसिअस आदि के कुछ सिद्धान्तों को मिलाकर उसे और भी सुबोध और लोकप्रिय बना दिया तथापि उसकी मौलिक रूपरेखा मिटने नहीं पायी। महायान का वहाँ विशेष आदर हुआ क्योंकि बोधिसत्व और अमिताभ की कल्पनाओं से चीनी बहुत प्रभावित थे। कुछ नये बौद्ध सम्प्रदायों की भी चीन में उत्पत्ति हुई। चीन के स्थापत्य, मूर्तिकला और साहित्य पर भी बौद्ध धर्म की छाप लग गयी। चीन में अनेक देवताओं की कल्पना, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, जंगम प्राणियों के प्रति सहानुभूति और दयाभाव, योग, ध्यान, साधन, भक्ति, नाम स्मरण आदि का प्रचार बौद्ध धर्म द्वारा हुआ। भारत की चीन को देन जितने महत्त्व की थी चीनियों ने उतनी ही उदारता और सम्मान के साथ उसका स्वागत भी किया।

शब्दानुक्रमणिका

शब्दानुक्रमणिका

झ

ट

ड

त

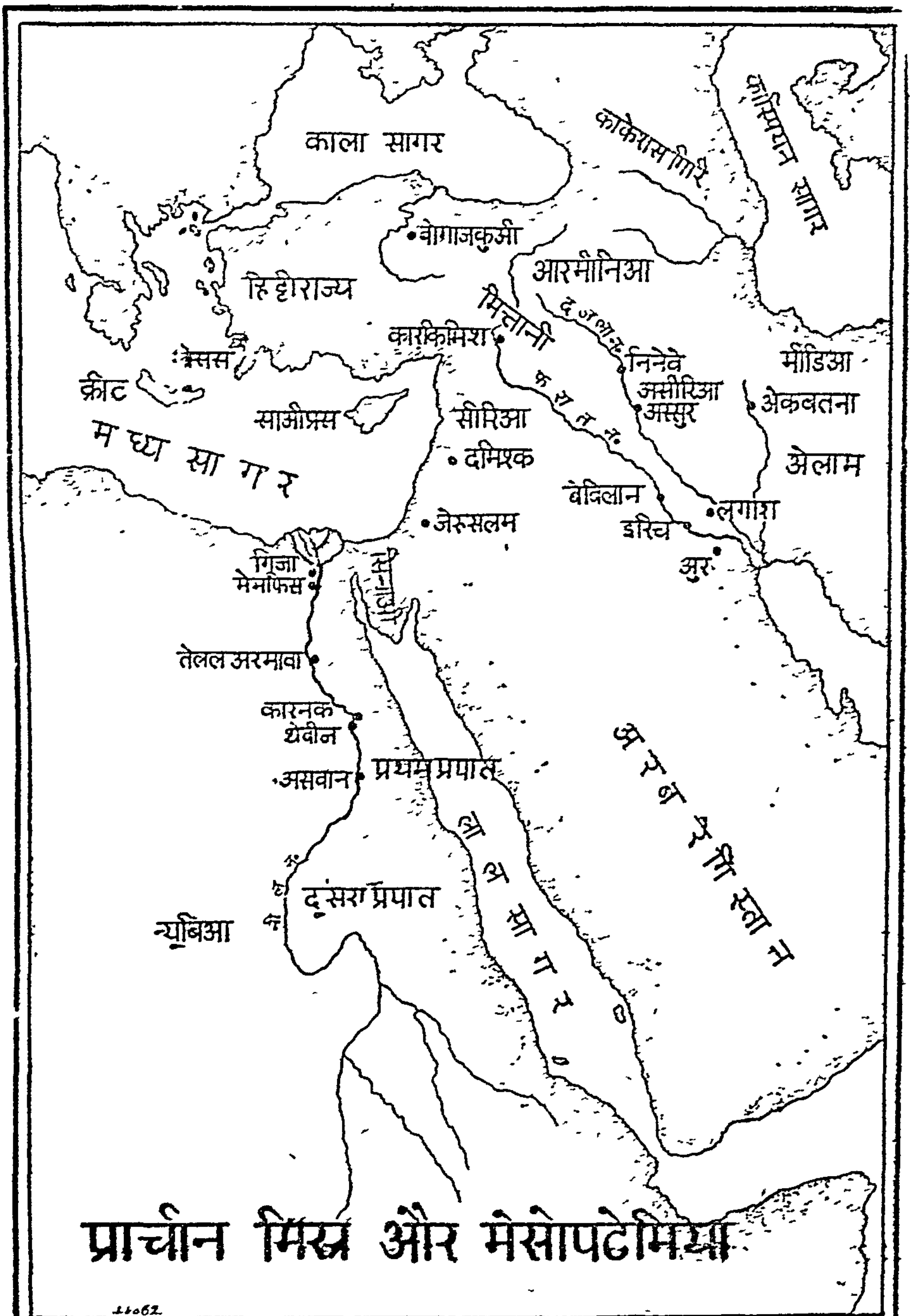
थ

द

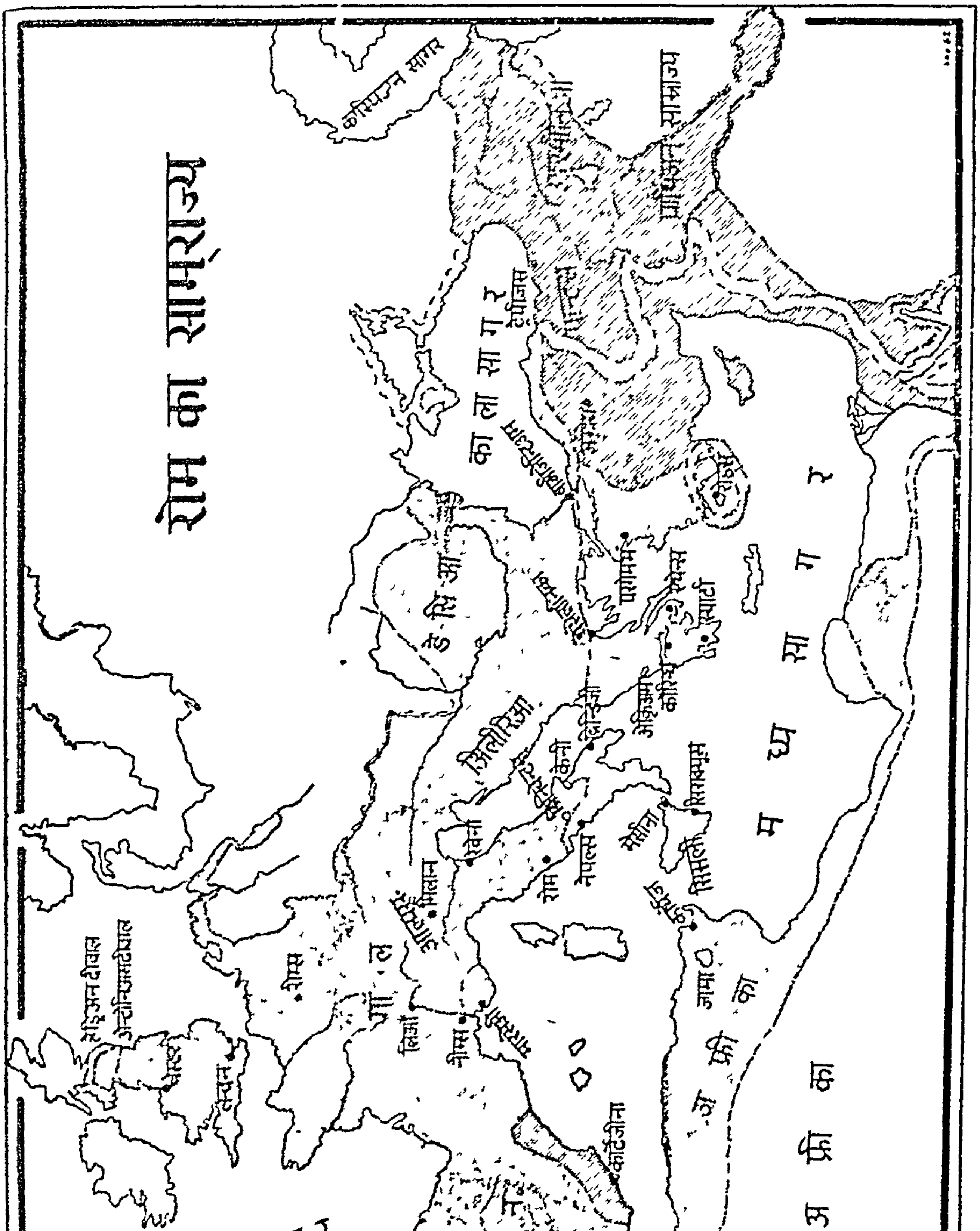
ध

न

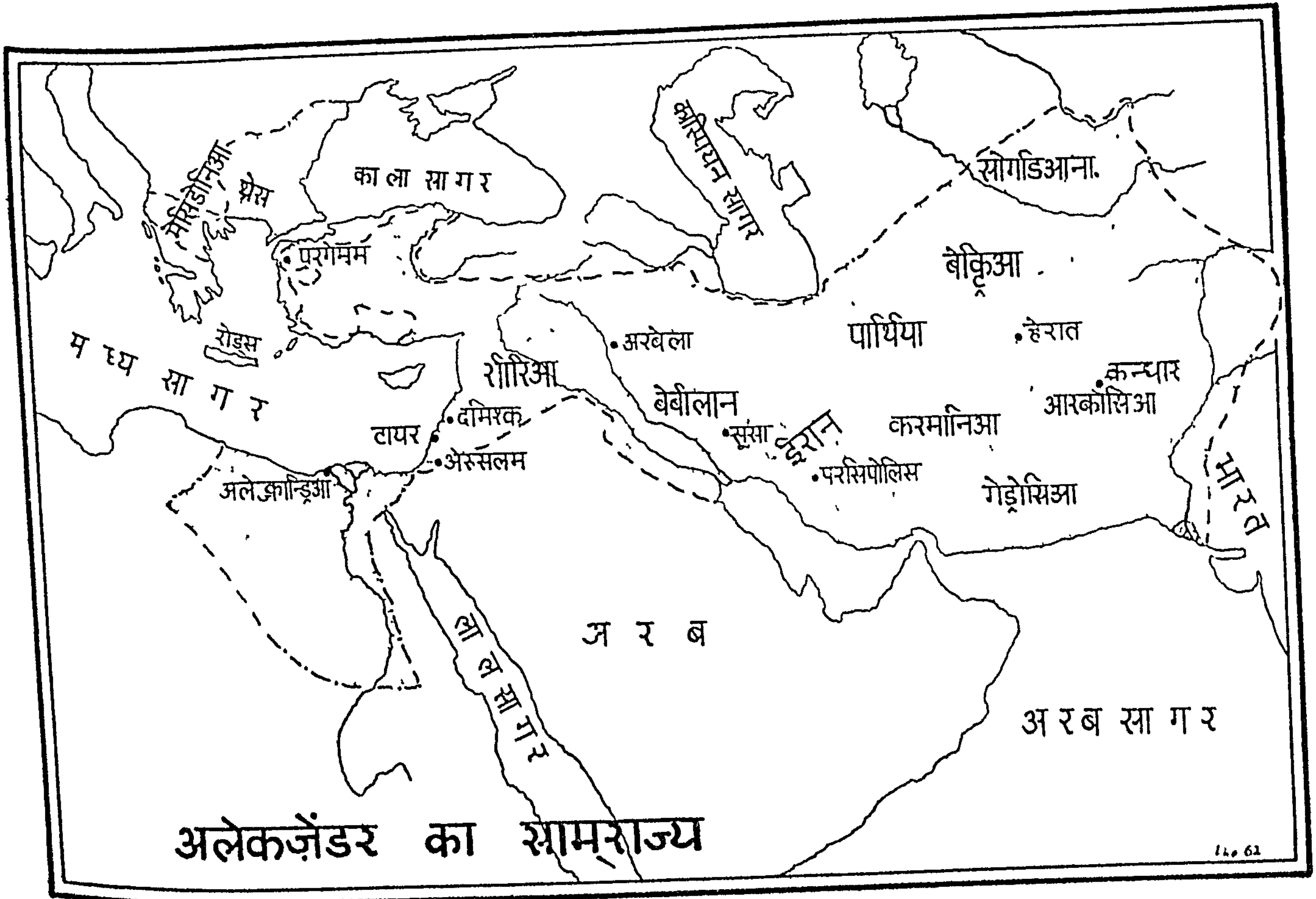
स


काला सागर
कॉकेशस गिरि
कास्पियन सागर
बोगाजकुई
आरमीनिआ
हिट्टीराज्य
मित्तानी
कारकिमिश
निनेवे
मीडिआ
क्रीट
असीरिआ
असुर
एकबतना
सीरिआ
मध्य सागर
दमिश्क
एलाम
बेबिलान
लगाश
जेरूसलम
उर
गिजा
मेमफिस
तेलल अरमावा
कारनक
थेबीन
प्रथम प्रपात
असवान
अरब रेगिस्तान
दूसरा प्रपात
न्यूबिआ
प्राचीन मिस्र और मेसोपटेमिया

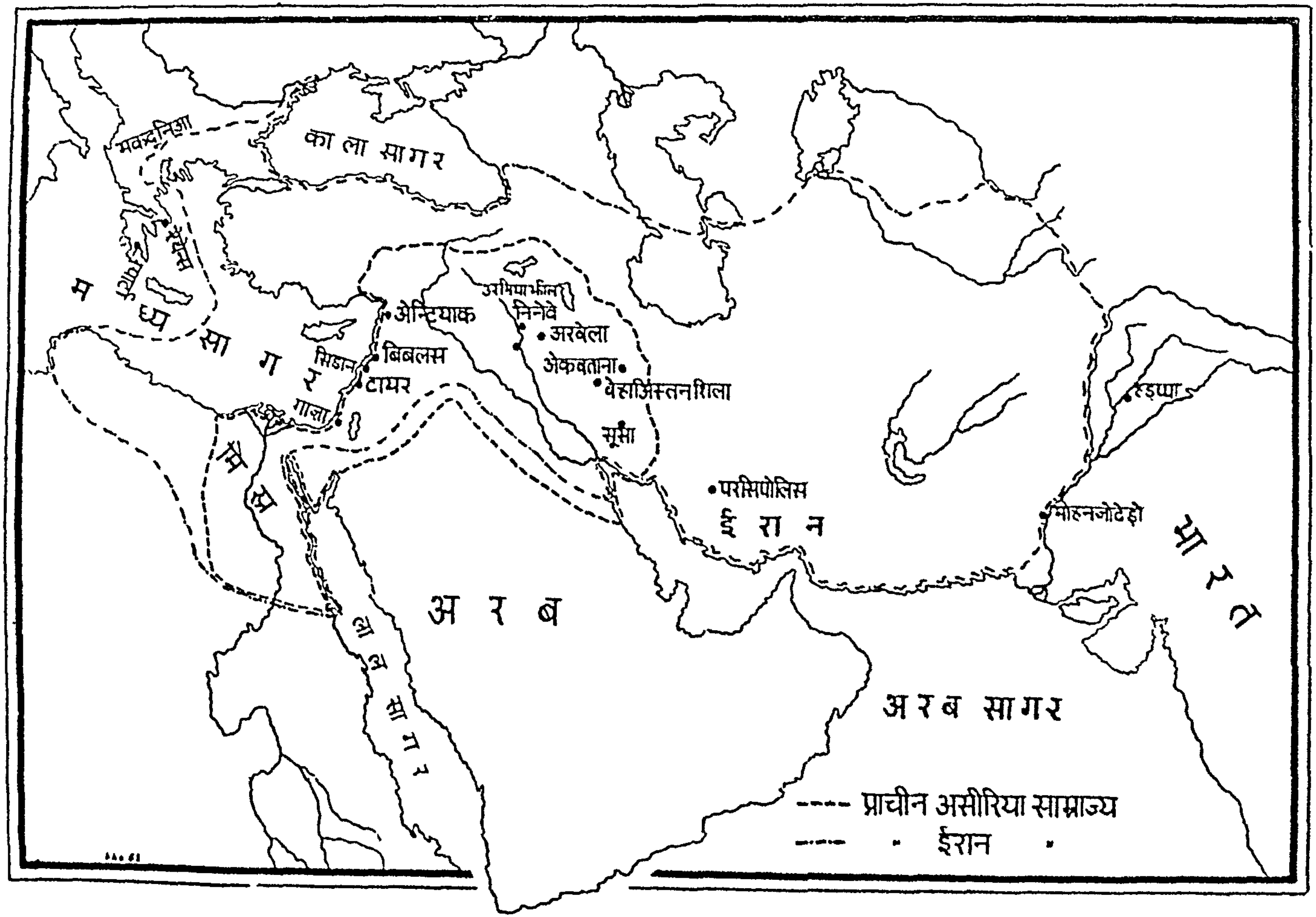
मान चित्र सं० १


रोम का साम्राज्य
अटलान्टिक सागर
कास्पियन सागर
काला सागर
मध्य सागर
अफ्रीका
गॉल
इलीरिआ
रोम
नेपल्स
मिलान
सिसली
सिराक्यूस
मेसीना
एथेन्स
स्पार्टा
कोरिंथ
परगेमम
रोड्स
कार्टेजीना
जामा
पार्थियन साम्राज्य

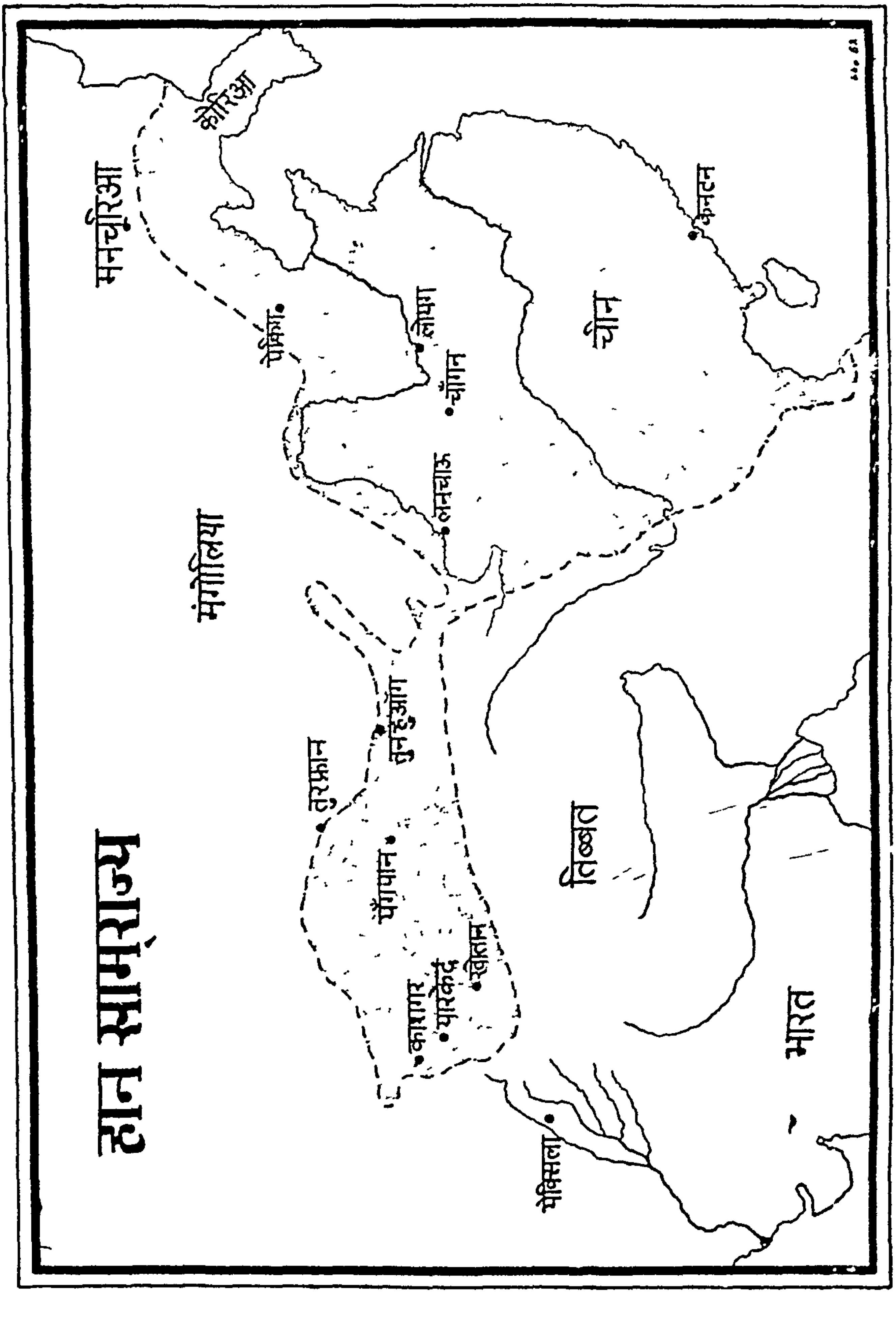
मान चित्र सं० २


अलेकज़ेंडर का साम्राज्य
काला सागर
कास्पियन सागर
मैसेडोनिआ
थ्रेस
परगेमम
रोड्स
मध्य सागर
सीरिआ
अरबेला
बेबीलान
दमिश्क
टायर
अेरूसलम
अलेक्ज़ान्ड्रिआ
सूसा
ईरान
परसिपोलिस
पार्थिया
बेक्ट्रिआ
सोगडिआना
हेरात
कन्धार
आरकोसिआ
करमानिआ
गेड्रोसिआ
भारत
अरब
लाल सागर
अरब सागर

मान चित्र सं० ३


मकदूनिया
काला सागर
एथेन्स
स्पार्टा
मध्य सागर
अन्तियाक
सिडान
बिबलस
टायर
गाजा
मिस्र
निनेवे
अरवेला
ऐकवताना
बेहिस्तनशिला
सूसा
परसिपोलिस
ईरान
अरब
लाल सागर
अरब सागर
हड़प्पा
मोहनजोदड़ो
भारत
---- प्राचीन असीरिया साम्राज्य
-·-·- " ईरान "

मान चित्र सं० ४


हान साम्राज्य
मनचूरिआ
कोरिआ
मंगोलिया
पेकिंग
लोयांग
चाँगान
लनचाउ
चीन
कनटन
तुरफान
तुनहुआँग
खोतान
काशगर
यारकंद
तिब्बत
भारत

मान चित्र सं० ५